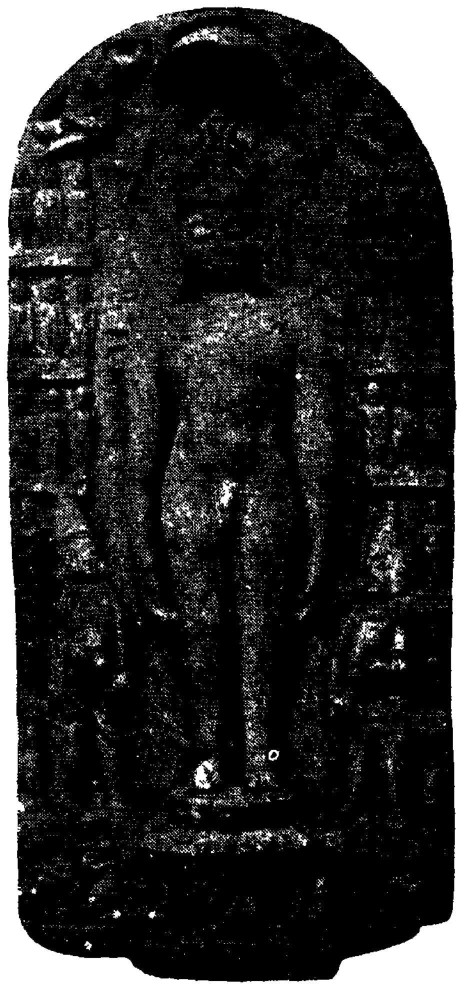
द्वैमासिक अप्रैल, १९७०

अनेकान्त



श्री ऋषभदेव की प्राचीन मूर्ति, राजगिर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ श्रीवर्द्धमान जिन स्तुति—आचार्य समन्तभद्र	१
२ 'जंबू सामिचरिउ' में वर्णित गुर्जरत्ता प्रदेश की स्थिति—रामवल्लभ सोमाणी	२
३ भारत में वर्णनात्मक कथा साहित्य—डा० ए०एन० उपाध्ये ए. एम. डी. लिट्	३
४ इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पवा जी (पावागिरि) डा० भागचन्द जैन 'भागेन्दु' एम.ए.पी.एच.डी.	१२
५ भीमपुर का जैन अभिलेख—कस्तूरचन्द जैन 'सुमन'	१५
६ चित्तौड़का जैन कीर्तिस्तम्भ—नेमचन्द धन्नूसा जैन	२०
७ ढूंढाडी भाषा की जैन रचनाएं—डा० गगाराम गर्ग	२२
८ ब्रह्म साधारण की पहली कृति कोइल पंचमीकहा—डा० भागचन्द्र जैन भास्कर	२५
९ वैदेही सीता (कहानी)—श्री सुबोधकुमार जैन	२५
१० सत्य के आदर्श की ओर (कहानी)—परमानन्द जैन शास्त्री	३१
११ कवि रूपचन्द का एक गीत	३५
१२ धर्म की कहानी : अपनी जबानी—डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'	३६
१३ तमिल व कन्नड़ साहित्य के निर्माण मे जैनाचार्यों का विशेष योगदान—डा० आर. वी. के. राव	३९
१४ साहित्य के प्रति उपेक्षा क्यो ?—परमानन्द शास्त्री	४०
१५ 'प्रमाण प्रमेय कलिका' के रचयिता नरेन्द्रसेन कौन ?—रायप्पा धरणप्पा टीकण्णवर	४१
१६ आत्म-विश्वास—पूज्य वर्णी जी	४५
१७ सर्वोषधि दान (कहानी)—परमानन्द शास्त्री	४६
१८ साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	४८

★

अनेकान्त में प्रकाशित विचारो के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के उन सदस्यो या ग्राहकों से **सानुरोध** निवेदन है कि जिन ग्राहकों ने अपने **पिछले वर्ष का** वार्षिक शुल्क ६) रुपया अब तक नहीं भेजा, कृपया उसे भिजवाएँ। ६) रुपया पिछले वर्ष का और ६) रुपया २३वें चालू वर्ष का कुल मिलाकर १२) रु० भिजवाने की कृपा करे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर २१, दरियागंज
दिल्ली।

★

अनेकान्त के प्रेमियों से

अनेकान्त की संचालक समिति ने पत्र में कुछ ऐसी सामग्री देने की योजना की है, जिससे पत्र रुचिपूर्ण हो, और सभी तरह के पाठकों को उसमें यथेष्ट लाभ मिल सके। इसके लिए अनेकान्त मे आधा मैटर तो पुरातत्व, साहित्य, इतिहास आदि का रहेगा, और शेष २४ पेज के मैटर मे कहानियाँ, कविता, और हिन्दी भाषा में लिखे गये धार्मिक दार्शनिक लेख रहेंगे। इससे सभी पाठकों को दिलचस्प सामग्री मिलेगी। आशा है अनेकान्त के प्रेमी सज्जन उसकी ग्राहक सख्या मे वृद्धि करनेका प्रयत्न करेगे। स्वयं ग्राहक बनें और अपने मिलने वाले मित्रो और रिश्तेदारो को ग्राहक बनने के लिये प्रेरित करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली।

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९६, वि० सं० २०२७ | अप्रेल १९७०

श्रीवर्धमान-जिन-स्तुति

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्वामितवित्तृषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥१०२

—**आचार्य समन्तभद्रः**

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन् ! आप अत्यन्त बुद्धिमानों—चार ज्ञान के धारी गणधरादिकों—के द्वारा वन्दनीय और पूज्य हैं। आप ने ज्ञान की तृष्णा को बिल्कुल नष्ट कर दिया है—आपको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया है जिससे आपकी ज्ञान-विषयक समस्त तृष्णाएं नष्ट हो चुकी है। आप अन्तरंग-बहिरङ्ग लक्ष्मी से युक्त हैं और आप के शत्रु भी आपको नमस्कार करते है—आपकी अलौकिक शान्ति तथा लोकोत्तर प्रभाव को देखकर आपके विरोधी वैरी भी आपको नमस्कार करने लग जाते हैं। अतः हे प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार हो ॥१०२॥

—: ० :—

"जंबू सामि चरिउ" में वर्णित गुज्जरत्ता प्रदेश की स्थिति

श्री रामवल्लभ सोमाणी

"जंबू सामि चरिउ" वि० सं० १०७० में वीर कवि द्वारा विरचित किया गया था। इसका हाल ही में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशन हुआ है। इसमे गुज्जरत्ता प्रदेश के सम्बन्ध में बडी महत्वपूर्ण सूचना दी है कि इसकी स्थिति सपादलक्ष[1] के पास थी। वस्तुत: 'गुज्जरत्ता' शब्द का उपयोग घटियाले के वि० सं० ६१८ के लेख मे भी आता है जहाँ प्रतिहार राजा कक्कुक का वर्णन करते समय लिखा गया है कि उक्त राजा के सच्चरित्र के कारण 'मरु माड़ वल्ल तमणी और गुजरात प्रदेश के लोगों का अनुराग मिला था[2]। अतएव प्रश्न यह था कि इस लेख मे वर्णित "गुर्ज्जरता" वस्तुत: वर्तमान गुजरात प्रदेश है अथवा अन्य। कठिनाई यह थी कि कुवलयमाला आदि में जालोर भीनमाल प्रदेश को गुर्जर मंडल आदि लिखा गया है। इसके साथ ही साथ जोधपुर के उत्तर मे स्थित मगलाना गाँव के एक ६वी शताब्दी के लेख मे उसको गुर्ज्जर प्रदेश के अन्तर्गत लिखा है। इसी प्रकार प्रतिहार राजा भोज के ६०० वि० के ताम्रपात्र मे "डीडवाडा" गाँव को गुर्जर प्रदेश के अन्तर्गत बतलाया गया है। अतएव क्या समस्त पश्चिमी राजस्थान के भू भाग को गुज्जरत्ता की संज्ञा दी जाती थी अथवा यह एक व्यापक नाम था अथवा राजस्थान मे गुर्ज्जरत्ता नाम का एक अन्य प्रदेश और था। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी मिल नहीं रही थी। अब इस ग्रथ की सूचना के अनुसार "गुर्ज्जरत्ता" प्रदेश सपादलक्ष के पास स्थित रहा होगा। इसकी पुष्टि के लिए निम्नांकित सामग्री और है :—

(१) धर्मोपदेशमाला में नागोर प्रदेश को गुजरात प्रदेश से सम्बन्धित बतलाया है[3]।

(२) अल बरुनी ने नरेणा को गुजरात की राजधानी लिखा है[4]। उसने इस नरेणा के दक्षिण में मेवाड़ और चित्तौड आदि माने हैं।

(३) मगलाना और डीडवाणा के लेखो मे स्पष्टत: गुर्जर प्रदेश नाम दिया गया है[5]।

(४) "जबू सामि चरिउ" मे भीनमाल को गुर्जर[6] प्रदेश से भिन्न लिखा है जिसकी पुष्टि समसामयिक शिलालेखो आदि से भी होती है जो भीनमाल क्षेत्र से प्राप्त हुए है। इनमे इस प्रदेश को "मरु मडल" लिखा गया है।

(५) कुवलयमाला मे मरु प्रदेश को भिन्न लिखा है। अतएव सपादलक्ष के पास वाले गुजरात और भीनमाल वाले गुजरात के मध्य मे मरु प्रदेश और स्थित था।

अतएव इस सारी सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १०वी और ११वी शताब्दी तक सपादलक्ष के पास गुर्जरत्ता नाम का एक भू भाग था और इसी का संकेत कक्कुक के लेख मे भी किया गया है। अतएव जम्बू सामि चरिउ की सूचना महत्वपूर्ण है। ●

---

१. उत्तरेण य सायंभरी गुज्जरत्ताए रवस बब्बर टक्क···"

२. 'मरुमाण वल्ल तमणी परि अंका अज्ज गुज्जरित्ता सु' [जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी १८६५ पृ. ५१३-५२१]

३. नगरेसु सयं वुच्छो भुत्तु वा जाव गुज्जरत्ताए।
नागउराइसु जिणमंदिराणि जायाणि णेगाणि ॥१४॥

४. हिस्ट्री आफ इडिया—(इलियट एण्ड जोनसन) Vol. I पृ. ५८-६०)

५. "गुर्ज्जरत्रा भूमौ ड्ण्डवानक विषयसम्बद्धसिवा ग्रामाग्रहार······।" एपिग्राफिया इडिका Vol. V पृ. २७७
श्रीमद् गुर्ज्जरत्रा मण्डलान्त: पाति मंगलानक विनिर्गति···" (उपरोक्त)

६. "पच्छिमेणं थली मंडलं बालभं सोम सोरट्ठं–कच्छं मह भिल्ल मालं विसाल च सोवण्ण दोणी सम। अब्बुयं लाडदेसं च मेवाड़-चित्तउड़ मालव य तलहारियं। पारियत्तं अवंती तदा तावलित्ती भडं दुग्गमं। उत्तरेण य सायं भरी गुज्जरत्ताए खस बब्बरं टक्क-करहाड़-कसमीर हम्मीर कीरं तुरक्कं तहा ताइयं।' जंबू. च. ६, १६,७-१८

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

डा० ए एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्

[गत किरण ६ से आगे]

४. जैन साहित्य :

(अ) आगम-स्तर का—

अब हम जैन साहित्य का सर्वेक्षण करें। जैनों के अर्धमागधी आगम ग्रन्थों को यद्यपि वर्तमान रूप बहुत बाद में ही प्राप्त हुआ है फिर भी, उनमे ऐसा प्राचीन अंश निःसन्देह ही है कि जिसको जैनों के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर के युग के सन्निकट का समय ही दिया जा सकता है। इन आगमों में वर्णनात्मक अंश भी पर्याप्त है जो कि औपदेशिक और उन्नायक दृष्टि का कहा जा सकता है। इस अंश मे धर्मवीरों जैसे कि तीर्थंकरों और उनके त्यागी अनुयायियो की जिनमें शलाका पुरुष भी है की जीवनियां है। इनमें अर्थ-प्रकाशक उपमाये हैं, दृष्टान्त और सवाद हैं। औपदेशिक और अनुकरणीय कथाएँ है और उन नर एवम् नारियों की आदर्श कथाएँ है कि जो भिक्षु और भिक्षुणी हो गए थे और जिनने परभव में अच्छा जीवन पाया था।

दो याने आचारांग और कल्पसूत्र[१०] में भिक्षु जीवन में सहे परिषहों के विशद वर्णन सहित महावीर की जीवनी दी हुई है। भगवती सूत्र के भिन्न-भिन्न सवादों में महावीर के व्यक्तित्व की, विशेषकर विवादों में, उनकी चतुराई और अपने शिष्यो की शंकाओं व प्रश्नों के उत्तर मे की व्याख्याओं मे उनके व्यक्तित्व की कुछ झांकियां मिलती हैं। अन्य तीर्थंकरों की जीवनियां जो कल्पसूत्र में दी है, वास्तव में जीवनियां वे है ही नहीं। वे तो पाठकों को एक नामावली मात्र प्रस्तुत कर देती है जिनसे उसकी वांचना देने वाला वाचना देते समय विस्तृत वर्णन दे सके। दूसरे शास्त्र या ग्रथों से हमे नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि की जीवन झाकियां भी मिल जाती हैं।

आदि मे जो सामान्य उपमाएं या रूपक होगे, वे ही कालान्तर मे वर्णात्मक कथाओ का रूप पा गये है ताकि उपमा या रूपक की सभी दृष्टियां उसमे प्रस्फुटित हो जाएँ और पुण्यात्माओं के लिए उनमे से शिक्षासार भी निकाला जा सके। नायाधम्मकहाओं में हमे कतिपय अच्छे उदाहरण मिलते है। कच्छप अपने हाथ-पैरो मे पूर्ण सुरक्षित होता है ऐसा माना जाता है। तूंबा मिट्टी से सना हुआ हो तभी डूबता है और नन्दीवृक्ष के फल हानिकर होते हैं। इन भावों का कोई न कोई उपदेश देने मे उपयोग किया गया है। इनके दृष्टान्त से समझाया जाता है कि असावधान भिक्षु कैसे नष्ट हो जाता है? कर्मों के बोझ से भारी हुए जीव कैसे नरक मे जाते हैं? और जो जीवन के सुखोपभोगो मे आसक्त रहते है अन्त मे वे दुख क्यों उठाते है? बिल्कुल इसी प्रकार रूपकाख्यानों को या तो वर्णात्मक कथा के रूप मे या सजीव सवाद-विवाद के रूप मे पल्लवित किया जाता है और उसका प्रत्येक विवरण कुछ न कुछ औपदेशिक या शिक्षादायी होता है सूयगडांग में दिया कमलसर का रूपक बड़ा जटिल है। कमलों से भरे एक सरोवर के केन्द्र मे एक बहुत बड़ा कमल खड़ा हुआ है। चारो दिशाओं से चार व्यक्ति उस सरोवर पर आते है एवम् उस केन्द्रस्थ बड़े कमल को तोड़ लेने का प्रयत्न करते है। परन्तु कोई भी उसे तोड़ लेने में समर्थ नहीं होता है। फिर एक भिक्षु तट पर खड़ा खड़ा ही कुछ शब्द उच्चारण करता है और उसे तोड लेने मे सफल हो जाता

---

१०. इन ग्रन्थो के सस्करण आदि विवरण के लिए पाठक को विन्टरनिट्ज की (ए हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर) भाग २ (कलकत्ता संस्करण १९३३) और शुब्रिग की डी. ए. लेहे डे जैनास (बर्लिन और लेपजिग १९३५) देखने की साधना है। स्थानाभाव के कारण *यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ निर्देश ही दिये गये है।*

है। यहां सरोवर यह संसार ही है। कमल जो उसमें हैं, वे मानवप्रजा हैं और केन्द्रस्थ बड़ा कमल उस प्रजा का राजा है। जो चार पुरुष उसे तोड़ने को आते हैं, वे मिथ्यात्वी है और जो कमल को तोड लेता है वह एक जैन साधू है जो सच्चा धर्म सुना कर राजा को मुग्ध कर लेता है और इस प्रकार उसका धर्म विजयी होता है। इस रूपक के निहिताशय के अतिरिक्त भी एक बात मुझे बिलकुल स्पष्ट यह प्रतीत होती है कि राजा की छत्रछाया में ही धर्म प्रचार पाते हैं और इसलिए राज्याश्रय प्राप्त करने में पूरी-पूरी प्रतिद्वन्द्वता या होडा होड़ होती थी। नाया-धम्मकहाओ मे चार वहुओं का एक रूपक है। यह एक सामान्य लोक-कथा ही है जिसका उपयोग धार्मिक लक्ष्य के लिए बड़ी चतुराई से किया गया है। एक चतुर श्वसुर अपनी चार पुत्रवधुओं को शालि के पाच-पांच दाने दे कर कहता है कि ये दाने मागने पर उन्हें उसे लौटाने होंगे। सबसे बड़ी पुत्रवधू अभिमानी और चिन्ता-रहित है, अतः वह उन दानो को यह सोचते हुए तुरन्त फेंक देती है कि घर के भण्डारों मे शालि ही शालि भरे हैं। दूसरी भी कुछ ऐसा ही सोचती है, परन्तु फेंक देने के एवज वह उन दानों को खा जाती है। तीसरी बड़ी सावधानी से उन्हे अपने आभूषणों के डब्बे में सुर-क्षित रख देती है। और चौथी उन्हें बो देती है और फिर उनसे अच्छी फसल काटती है जिसके परिणामस्वरूप पाँच वर्ष के अन्त में उसके पास धान की एक बड़ी राशि इकट्ठी हो जाती है। श्वसुर अंत में दोनों बड़ी बहुओं को दण्ड देता है, तीसरी को समस्त सम्पत्ति की सुरक्षा का भार सौंप देता है और चौथी को गृहस्थी का सारा ही प्रबन्ध। चारों बधुएं चार भिक्षु हैं और शालि के पांच दाने उनके पांच महाव्रत हैं। कुछ भिक्षु इनकी उपेक्षा करते हैं तो कुछ उनका सावधानी से पालन करते है। परन्तु कुछ ऐसे भी महान भिक्षु हैं जो केवल स्वयं ही उन पांच महाव्रतों का पालन नहीं करते, अपितु उनका उपदेश भी दूसरों की भलाई के लिए करते हैं। माकंदी राजकुमारों का कथानक नाविकों की ही एक कहानी है जिसे रूपक का रूप देकर धर्म में दृढ़ श्रद्धा रखने की आवश्यकता के उपदेश का लाभ उठाया गया है। उत्तरा-ध्ययन में भी इस प्रकार के कुछ रूपक हैं। मेष का रूपक (अध्याय ७) उस व्यक्ति की दशा का चित्रण करता है कि जो सांसारिक सुखों में ही रचापचा रहता है और यह शिक्षा देता है कि मनुष्य जीवन ऐसा धन है कि जिससे मोक्ष प्राप्त करना चाहिए; यदि पूंजी नष्ट कर दी जाती है तो जीव या तो नरक में जाता है या तिर्यंच होता है। वृक्ष का पत्र (अध्याय १०) मानवी भोग-सुखों की असारता बताता है। इसमे हृदयग्राही उपमाएं दी गई है और प्रमाद नही करने को मुमुक्षु को बारम्बार साव-धान किया गया है। अडियल बैल का दृष्टान्त यद्यपि एकदम सीधा और सादा है, परन्तु गुरु के अविनयी और झगड़ालू शिष्य की बड़ी हृदयस्पर्शी टीका उसमें है।

सिद्ध-पुरुषों की जीवन-कथाएँ भी अनेक हमारे सामने आती है कि जिनमे गुणों और अवगुणों के अच्छे और बुरे परिणामों के दृष्टात प्रस्तुत हुए है। कथा के पात्र न केवल अच्छे लोक में ही फिर जन्म लेते है अपितु महावीर पार्श्व और नेमि उपदिष्ट धर्म का आचरण करते हुए वे मोक्ष तक प्राप्त कर लेते हैं। अथवा उसके विरुद्ध आच-रण कर नीच योनि मे ही नहीं अपितु नरक मे भी जन्म पाते है। कितने ही मिथ्यात्वियों के तीर्थंकर के धर्म मे आ जाने को भी कहा गया है। इन कथाओं मे से कुछ तो बिलकुल मूल से ही जैन है और अन्य भारतीय कथा-साहित्य के साधारण पुंज में से जैनाचार का प्रचार करने के लिए चुन कर उपयोगी बना ली गई है और इनका हिन्दू एवम् बौद्ध दोनों ही साहित्य मे प्रतिरूप प्राप्त है। इनमें अनेक जीवनियां, कृष्ण, ब्रह्मदत्त, श्रेणिक आदि विख्यात व्यक्तियों से सम्बन्धित कथाओं के चक्रमाल से जुड़ी हैं। जैन धर्म के अनुसार धर्मिष्ठ गृहस्थ और गृहस्थिणी के गुण सर्व-त्यागमय वैरागी जीवन के अवश्य ही प्रेरक हैं। और यदि कोई गृहस्थ धार्मिक जीवन के पदों का निष्ठा से निरतर पालन करता रहे तो वह बिना प्रयास ही भिक्षु जीवन की स्थिति को अनायास स्वतः प्राप्त कर लेता है। स्वभावतः ही अधिकांश जीवनियां दृष्टिकोण में वैराग्य-प्रधान है। श्रमण धर्म और उसमें भी विशेष रूप से जैन धर्म ने वैराग्य पर बहुत बल दिया है और इसी का यह परिणाम है कि जैन साहित्य में वैरागी-वीरों की कुछ

जीवनियाँ ऐसी दी गई हैं कि जिनको देवों, मनुष्यों और नीच आत्माओं के हाथों अत्यन्त कठोर परिषह सहने पड़े और घोर तपश्चरण करते हुए जिनने मृत्यु के अन्तिम क्षणों में अपनी आध्यात्मिक-समाधि को स्थिर रखा एव पुनर्भव में वर्तमान से उच्च स्थिति का जीवन प्राप्त किया या बिताया। बहुत ही संभव है कि अनेक कथाएँ मूलत: वास्तविक ही हों; क्योकि वे ऐतिहासिक वैरागियों का ही उल्लेख करती है परन्तु समय पा कर जिनका विवरण जटिलता को प्राप्त हो गया होगा। कभी-कभी तो उनके नाम मात्र का ही कथा मे निर्देश है और टीकाकारों ने उनके जीवन का आवश्यक विवरण बाद में अपनी ओर से बढ़ाया या जोड़ दिया है।

शिशुपाल, द्वैपायन, पाराशर आदि के आकस्मिक उल्लेख के अतिरिक्त, सुयगडाग में आर्द्रक की कथा भी है। परन्तु उसके सम्बन्ध मे निर्युक्ति और टीकाओ मे बहुत कुछ मनोरंजक वर्णन है। सूत्र में यह बताया गया है कि आर्द्रक ने गोशाला, एक बौद्ध, एक वेदान्ती और एक हस्ति-तापस को कैसे निरुत्तर किया था? प्रतिवादियो को निरुत्तर कर वह महावीर वो वंदन करने जब जा रहा था तो एक हाथी बधन तोड़कर उसकी ओर झपटा। परन्तु निकट पहुँचते ही उसने उसके सामने नमस्कार करने को घुटने झुका दिये। राजा श्रेणिक जिसने यह सब दृश्य देखा था। आश्चर्य विभूत हो कर सोच रहा था कि उस हाथी ने साकलों के बंधन स्वत: कैसे तोड़ लिए? आर्द्रक कुमार ने उसकी जिज्ञासा शांत करते हुए कहा, इससे तो यह अधिक आश्चर्यकारी बात है कि मनुष्य अपने सांसारिक बंधनों को कैसे तोड़ फेंकता है? हम बहुधा पार्श्व और महावीर के श्रमणों के बीच हुए विवाद और सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण का विवरण उत्तराध्ययन जैसे शास्त्रों में पढ़ते हैं। परमार्थपेक्षी मनुष्य और स्त्रियाँ जैसे कि शिवराज, सुदर्शन, शंख, सोमिल, जयन्ती आदि [भगवती सूत्र में] महावीर के पास अनेक वार जाते हैं और उनसे सैद्धांतिक प्रकाश प्राप्त करते है।

कितनी ही कहानियों में जो कि स्पष्टतया उपदेश है, संयमों और व्यसनों के आचरण से होने वाले अच्छे और बुरे परिणाम दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किए गए है। नायाधम्मकहाओ मे राजकुमार मेघ को, जब कि वह बहुत ही अस्थिरमना हो रहा था, महावीर ने वैरागी जीनव के प्रति उसकी श्रद्धा उसके पूर्वभव की ही कथा सुना कर दृढ़ की थी। महावीर ने कहा था कि कैसे उसने हाथी के पूर्वभव में एक शशक को अपना पैर उठाए रखकर शांति के साथ रक्षा की थी। धन्न सार्थवाह को उसके पुत्र के घातक के साथ ही कारागृह में बेड़ी से बांध दिया गया था और अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के विचार से ही उस घातकी को अपने भोजन का आधा अंश उसे देना पडता था। इसी प्रकार भिक्षु को भोजन आदि केवल जीवन निर्वाह के, न कि जिह्वा स्वाद के लिए और शरीर पोषण या दृढ करने के लिए लेना चाहिए ताकि संयम का पालन भली प्रकार किया जा सके। राजा सेलग की जिसे भगवान अरिष्टनेमि के धर्म का बोध प्राप्त हुआ था, मद्यपी होने के कारण धर्माचार की उपेक्षा करने लगा था। परन्तु उसी के आज्ञानुवर्ती शिष्यो द्वारा फिर से उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। इस कथा मे भिक्षु को वैरागी जीवन के कर्तव्यो के पालन में सदा सजग रहने का अनुरोध किया गया है। किसी पूर्वभव मे धर्माचार मे कपटाचरण करने के परिणाम स्वरूप मल्ली का जन्म स्त्री रूप हुआ। विवाह करने के इच्छुक छह राजकुमारो को कि जो पूर्वभव मे भी उसके ही साथी थे, अपनी सुवर्ण मूर्ति मे भरे भोजन की दुर्गन्ध द्वारा अपनी प्रत्यक्ष दीखती अत्यन्त सुन्दर देहकी आभ्यन्तरिक घृण्यता को उनने उद्बोध कराया और उन्हे भी अपने साथ ससार-त्याग करने को कटिबद्ध किया एवम् सातो ही मोक्ष गए। राजा जियसत्तु को उसके मंत्री सुबुद्धि ने सद्धर्म मे श्रद्धा कराने के लिए गदे पानी के बारम्बार निर्मलीकरण द्वारा स्वच्छ पेय पानी बना कर यह प्रमाणित कर दिया कि पदार्थ मात्र परिणमनशील है और इसके फल स्वरूप राजा जियसत्तु सद्धर्म में श्रद्धाशील हो गया। नगरजनों के लाभ के लिए निज धन खर्च से बनाई पुष्करणी एवम् उसके क्रीडा-स्थलो व सामग्रियों के प्रति अतीव आसक्ति के कारण ही नन्द ने उसके मेडक रूप से अगला जन्म पाया। जब उधर महावीर का विहार हुआ तो वह उनके दर्शनों को जाते-जाते मार्ग में श्रेणिक राजा के अश्व के खुर तले कुचला जाकर

मृत्यु को प्राप्त हुआ था. परन्तु आलोचना पूर्वक मृत्यु होने से उसने देव रूप जन्म पाया। आमात्य तेयालिपुत्र की भार्या पोट्टिला ने यह देख कर कि पति का प्रेम वह गमा चुकी है, प्रव्रज्या ले ली और मरने पर वह देवलोक में उत्पन्न पति से की गई अपनी प्रतिज्ञानुसार उसने तेयालिपुत्र को सद्धर्म का प्रतिबोध देने के बार-बार प्रयत्न किए। परन्तु तेयालिपुत्र को ससार-त्याग के मूल्य की प्रतीति तब हुई कि जब राज का अनुग्रह खो कर वह पूर्ण दुर्भाग्य ग्रसित हो गया था और आत्महत्या का प्रयत्न तक उसने किया था। अन्त में वह भिक्षु हो गया और राजा को भी जब उसने सद्धर्म की प्राप्ति कराई तो राजा ने अपन किए उसके प्रति पूर्व-दुर्व्यवहार की उससे क्षमा याचना की और अन्त में दोनो ही को मोक्ष लाभ हुआ। धम्मरुई ने चीटियों का जीवन बचाने के लिए विषमय आहार का स्वयम् भक्षण कर लिया और उसके फल स्वरूप मर कर वह पहले देव हुआ और अन्त मे मोक्ष। परन्तु नागश्री कि जिसने उसे विषभोजन बहराया था, उसी जीवन मे रोग-ग्रस्त और दरिद्रिणी हो गई। मर कर वह सुकुमालिया नाम की स्त्री पैदा हुई और किसी भी द्वारा विवाही नही जाने पर वह भिक्षुणी हो गई। भिक्षुणी जीवन मे किसी वेश्या को देख कर उसकी सुप्त काम वासना जागृत हो गई और अगले जन्म मे उसकी पूर्ति हो यह कामना वह सदा ही करती रही। मरने पर इससे वह पहले तो देव-वारागना हुई और तदनन्तर वह दोवई [द्रोपदी] नामक राजकन्या हुई कि जिसका विवाह पाँचों पाण्डवों के ही साथ हुआ। फिर अवरकका का राजा पोमनाथ उसे हर कर ले गया क्योकि नारद ने उसके रूप की उसके सामने अति प्रशसा की। उसको हरा कर कृष्ण-वासुदेव द्रौपदी को लौटा लाया और पाण्डवो को सौप दिया। अरिष्टनेमि को वंदन-नमस्कार कर एवम् खूब तपस्या करके पाँचों पाण्डव मुनियो एवम् द्रौपदी ने भी यथाकाल मोक्ष प्राप्त किया। चिलाय लुटेरे ने सुसुमा का अपहरण किया और उसे बहुत ही कष्ट सहना पड़ा इतना ही नही अपितु उसका सिर काट साथ में लेकर जंगल मे भाग जाना पड़ा। विषय सुखो मे आसक्ति रखने वाले भिक्षु भी इसी प्रकार दुःख सहते हैं। उधर धन्न सार्थवाह अपने चारों पुत्रों सहित चिलाय का पीछा करते हुए भी वहाँ पहुँचा। उन सबने जीवन बचाने के लिए सुंसुमा के मस्तक रहित मृत शरीर के रक्त-मांस का भोजन किया। उसी प्रकार भिक्षु एवम् भिक्षुणियों को मात्र जीवन निर्वाह और संयम की आराधना के लिए ही भोजन करना चाहिए। ऐसे भिक्खू भिक्खुणी धन्न और उसके पुत्रों की भाँति सुख-शाति से अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते है। राजा पुण्डरीक अपने भाई कुण्डरीक को प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दे देता है और भिक्षु-जीवन बिताने मे उस समय सहायता भी करता है जबकि वह रुग्ण होकर दुख पा रहा है। परन्तु जब दूसरी वार वह ऐसा करने मे सफल नही होता है तो उसे राजपाट देकर वह स्वयम् ही प्रव्रजित हो जाता है। कुण्डरीक राजसुखों को भी अन्त मे दुखदाई पाता है और मरने पर वह नरक मे जाता है। पक्षान्तर मे पुण्डरीक एक पूर्ण श्रद्धेय भिक्षु ही नहीं हो जाता है अपितु अन्त मे मुक्ति भी प्राप्त करता है। इस कथा का यह उपनय बिलकुल स्पष्ट है कि भिक्षुओ को पुण्डरीक के आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। इन सब कथाओ मे साधक भिक्षु-भिक्षुणी के लिए कुछ न कुछ उपदेश है ही।

उवासगदसाओ में जो दस वर्णक है वे नमूने के ही है और उनमे ऐसे व्रती श्रावकों का गुण-कीर्तन किया गया है कि जो सब के लिए आदर्शरूप है। वे सब महावीर के समकालिक ही हैं। वे ही उनको ऐसे जटिल व्रत दिलाते है जिनका आचरण कर वे यथाकाल मुक्ति मे पहुँचते है। आनन्द एक आदर्श उवासग है जिसे व्रत आराधना का पालन करते हुए ही अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है। कामदेव, चूलनीपिय, सुरादेव और चुल्लसयय बाह्य प्रलोभनों और भयों के बावजूद भी अपने व्रतों में दृढ़ रहते है, जब कि उनका जीवन ही जोखम में था। उनके सम्बन्धियों पर घोर अत्याचार किए जा रहे थे और उनका स्वास्थ्य एवम् सम्पत्ति भी जोखम में थी। कुण्डकोलिय अपनी श्रद्धा मे पूर्ण दृढ़ रहता है और किसी भी प्रकार का लालच, गोशाला का धर्म उससे स्वीकार नही कराता है। सद्दालपुत्र आजीवक धर्म छोड़ कर महावीर का धर्म स्वीकार करता है और गोशालक उसको अपने धर्म मे लौटा लाने मे किसी प्रकार भी सफल नहीं होता है। महासयय

एक धर्मभीरू गृहस्थ है; उसकी विषयासक्त भार्या उसे अनुरक्त करने की भरसक चेष्टा करती है यहाँतक कि अंत में तंग होकर महासयय उसे यह शाप दे देता है कि उसका नरक में जन्म हो। महावीर उसे इसका प्रायश्चित्त करने को कहते हैं और वह प्रायश्चित्त करता है और यथाकाल उसे मुक्ति मिलती है। नन्दनीपिया और सालिहीपिया भी धर्मभीरु गृहस्थ हैं जो यथाकाल मुक्ति प्राप्त करते हैं। ये कहानियाँ उस साँचे में ढली हुई है कि सिर्फ नाम, ठाम बदल कर ही उन्हें कई गुणित किया जा सकता है। इन सब कहानियों का लक्ष्य एक ही है। इनमे नाम, ठाम आदि विवरण ही भिन्न-भिन्न है। 'दढ़पइया' आत्मा का प्रतीतात्मक एक नाम ही प्रतीत होता है कि जिसने दृढ़ श्रद्धा का विकास कर लिया है और इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करती है। ऐसी आत्मा की जीवनी उववाइय और रायपसेणइय दोनों मे ही दी गई है।

अपरिवर्तनीय नमूने के वर्ण की ओर उनका वर्गों मे विभाजन का विचार करते हुए, नायाधम्मकहाओ का द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अन्तगडदसाओ, अनुत्तरोववाइयदसाओ और निरयावलियाओ कि जिस मे अन्तिम पाँच उपाग सन्निविस्ट है, को एक ही वर्ग मे रखा जा सकता है। नाया के दूसरे स्कध मे दिए ढांचे, नाम और कथा के उद्-घोष-शब्द से ऐसी २०६ कथाए स्वतः ही आवृत्तिकार रच ले जैसी पूर्ण कथा काली की वहाँ दी गई है। ये सब इतना ही समझाने के लिए है कि किस प्रकार पूर्व जन्मों में की धर्माधना के कारण इन देवियों को ऐसी-ऐसी स्थिति प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ, काली पार्श्वनाथ का प्रवचन सुनती है और पुप्फचूला आर्या की नेश्रा में भिक्षुणी बन जाती है। जैसा उसके विषय मे सन्देह किया जाता था, भिक्षुणी होने पर भी वह शरीर की जरा भी उपेक्षा नही करती है, परन्तु न्हवण, विलेपन आदि मे वैसी ही रत रहती है और इसलिए अन्त में उसे गण से बाहर कर दिया जाता है। परन्तु वह उपवासादि तपस्या तो करती ही रहती है और मरने पर इसीलिए वह देवी रूप जन्म लेती है। यह देवी महावीर का दर्शन-वंदन करने आती है और महावीर गौतम को तब उसका भविष्य कह देते है।

अन्तगडदसाओ की कथाएँ भी दो भागों में विभक्त की जा सकती है, एक तो वे जिनका सम्बन्ध अरिट्ठनेमि और कृष्ण-वासुदेव के युग से है और दूसरी वे जिनका महावीर और सेणीय के युग से। इन ९२ प्रकरणों मे हमे ऐसे नर और नारियों की कथाएँ दी गई हैं कि जिनने तीर्थंकर के धर्म के अनुसार चलते हुए संसारचक्र का नाश कर दिया था और मुक्ति प्राप्त कर ली थी। हम इस विचार से कि राजवंशों के नर और नारी भी भिक्षुसघ मे अपने आपको दीक्षित करा लेते है, पराभूत ही हो जाते हैं। आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य की पुकार धार्मिक रगरूटों की मांग खूब जोरों से कर रही है और इस प्रकार वैरागी सेना की सैन्यपंक्ति बढती ही जा रही है। कुछ ही कथाएँ पूर्णरूप में दी गई है। शेष इतना सा कह कर ही समाप्त कर दी गई है कि नाम, ठाम आदि के सिवा वे पूर्ववत ही है। इनमे गजमुकुमाल की एक आदर्श वैराग्य कहानी है जिसमे क्षमा और प्रायश्चित्त-शौर्य का अपूर्व दृष्टान्त हमारे सामने आता है। देवकी के छह पुत्र जन्मते ही हरिणग-मेसी देव की कृपा से सुलसा की गोद मे पहुँचा दिए गए थे और बडे होने पर वे भिक्षु बन गए थे। जब देवकी इस बात से शीर्ण-क्षीण हो रही थी कि उसका कोई भी पुत्र उसके पास नही है और कृष्ण भी उससे छह छह महीने बाद ही मिलते है, तो कृष्ण ने किसी देवी को प्रसन्न कर यह वर प्राप्त किया कि वह स्वयम् गजसुकु-माल के रूप मे देवकी के गर्भ से जन्म ले और इस प्रकार समय आने पर देवकी के पुत्र रूप से गजसुकुमाल का जन्म हुआ था। अवस्था आने पर और बहुत कुछ समझाते बुझाते हुए भी गजसुकुमाल ने दीक्षा लेकर अपने श्वसुर सोमिल को बहुत ही अप्रसन्न और क्रुद्ध कर दिया; क्योकि वह यह मान बैठा था कि भर जवानी मे उसकी पुत्री का उसने जानबूझ कर ही तिरस्कार किया है। इसलिए एक दिन जब कि गजसुकुमाल श्मशानभूमि मे तप कर रहे थे, सोमिल ने बदला लेने की धुन में, उनके सिर पर मिट्टी का एक चूला बनाया और धधगते अंगारे चिता से उठा कर उसमें उसने लबालब भर दिए। युवक भिक्षु ने यह सब घोर परिषह पूर्ण शांति और समता के साथ सहन किया और उसे सहते हुए अपने अष्ट-कर्म दलिकों को

जला कर मोक्ष ही प्राप्त कर लिया। उधर सोमिल कृष्ण को देखते ही भय से अकाल-मरण कर गया। इस शास्त्र में ही हमें द्वारका और यादव कुल के नाश का भी वृत्त मिलता है। पूजकों को सताने वाले गुण्डों के विरुद्ध गदा उठाने वाले मुद्गर प्राणी यक्ष की, और अर्जुनक माली एवम् उसकी स्त्री बंधुमति की कथा ऐसे लोगो की लोक-कथा के अत्यन्त सुन्दर नमूने हैं कि जो देव और देवियों के भक्त है। परन्तु यह बात कि मुद्गरपाणी परमधर्मिष्ठ सुदर्शन के विरुद्ध कुछ भी नही कर पाता है, इतना ही नही अपितु एक दम असहाय ही हो जाता है, हमे बता रही है कि महावीर के अनुयायियो की उससे उच्चता और महत्ता स्थापित करने में इस लोक कथा का उपयोग पूरी-पूरी कुशलता से कर लिया गया है। अर्जुनक माली महावीर का भक्त अनुयायी बन जाता है और भिक्षु होने के पश्चात् वह शांति और समता के साथ लोगों द्वारा दी गई यातनाएँ, दुःख और दुत्कार-फटकार सभी कुछ सहता है। जिसका परिणाम यह होता है कि इस तरह पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करते हुए वह अन्त मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है। राजकुमार अतिमुक्तक की कथा यह बताती है कि आध्यात्मिक समस्याओ ने तब नवयुवकों को भी कैसा तीव्र प्रेरित किया था और वे भिक्षु जीवन स्वीकार कर तप-साधना से अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त कर सदा के लिए ही उस समस्या का हल निकाल लिया करते थे।

अनुत्तरोववाइय-दसाओ में उन लोगों की कहानियाँ हैं कि जिनने तप-साधना से अनुत्तर विमानों की प्राप्ति की। इनमें धन्न की कथा एक नमूना रूप ही है और वह यह प्रतिपादित करती है कि वैरागी जीवन की साधना में तप का कितना भारी महत्व है।

निरयावलियाओ मे हम चेल्लण राणी से राजा श्रेणिक का पुत्र, कुणिय, के जन्म की कथा का जीवन्त वर्णन पाते हैं। जब वह गर्भ में था तब चेल्लणा राणी को अपने पति ही का माँस खाने का अद्भुत दोहद उत्पन्न हुआ। इस दोहद को उसके सौत पुत्र अभय ने कौशलपूर्ण रीति से पूर्ण कराया था पर इस दोहद की घटना से चेहल्लणा रानी पूरी भयभीत थी और मान रही थी कि उसकी यह सतान अवश्य ही राज्यवंश का कलंक होगी। और इसलिए उसने शिशु को गर्भ में ही नष्ट कर देने का प्रयत्न तक किया था, परन्तु सब प्रयत्न विफल गए। जैसा कि उसे भविष्य भासा था, कुणिय निःसन्देह बड़ा दुष्ट कुमार हुआ। वह पिता के जीते ही उन्हें कैद कर राज्य-सिहासन हड़प लेना चाहता था। और उसने ऐसा ही किया। अपने सगे भाई बेहल्ल से राजा होने पर वह रत्न-हार और गजराज छीन लेना चाहता था कि जो उसे पिता श्रेणिक से ही इनाम रूप मे मिले हुए थे। वेहल्ल ने इसलिए अपने नाना चेटक के यहाँ जाकर शरण ले ली और चेटक ने नव मल्लिकों, नव लिच्छवियो के साथ वेहल्ल के सत्य-पक्ष की रक्षा करने के लिए सधियाँ कुणिय और उसके दस भाइयों के विरुद्ध की। जो घमासान युद्ध हुआ उसमें कुणिय के दसो भाई मारे गए और वे हेमाभ नरक मे गए। कप्पियाँ में काल आदि भाइयों के पुत्रों की कि जो महावीर के भिक्षु बन गए थे और जो धर्माचरण कर भिन्न भिन्न स्वर्गों मे गए, ही कथा चलती है। पुप्फिया मे सावत्थी के अगाई की कथा है कि जिसको भगवान् पार्श्वनाथ ने भिक्षु-दीक्षा दी थी और जो अपने साध्वाचारी अनुशासन का कठोर पालन करने के फल स्वरूप मरने पर चंद्र-क्षेत्र में चद्रमा के रूप में जन्म पाया। इसमें दूसरी मनोरंजक कथा वेदादि निष्णात ब्राह्मण सोमिल की है कि जिसको पार्श्वनाथ ने ही सम्यक-श्रद्धान प्रायः करा दिया था, परन्तु आगे चल कर वह श्रमण साधना में शिथिलाचारी हो गया और वृक्षादि रोपण करता हुआ फिर से ब्राह्मण धर्मानुसार ही जीवन यापन करने लगा एवम् अन्त में वह दिशापोक्खीय साधू या परिव्राजक हो गया। किसी देव ने प्रतिबोध देकर उसे अपनी स्थिति का भान कराया तो वह फिर से जैन साध्वाचार का पालन करने लगा। घोर प्रायश्चित्त करते हुए मृत्यु प्राप्त कर वह शुक्र ग्रह हो गया और यथाकाले वह निर्वाण प्राप्त करेगा। सुभद्रा की कथा में कहा गया है कि वह बच्चों के लिए बहुत ही लालायित रहती थी। परन्तु उसके कोई भी संतान नही हुई। पहले उसने श्राविका के व्रत अंगीकार किए और फिर वह भिक्षुणी आर्या भी हो गई। परन्तु उसकी बच्चों की तीव्र लालसा फिर भी नहीं भरी और इस लिए भिक्षुणी जीवन में भी वह दूसरों के बच्चों का

लाड-दुलार करने लगी। फलतः उसे भिक्षुणी संघ से बाहर कर दिया गया। फिर भी वह भिक्षुणी रहती हुई बच्चों को उसी प्रकार लाड-प्यार करती ही रही। इसके फलस्वरूप वह मरणोत्तर बहुपुत्रिका देवी रूप मे जन्म पाई। इस भव के अनन्तर उसने सोमा रूप से जन्म पाया जहाँ उसका विवाह राष्ट्रकूट ब्राह्मण से हुआ। उससे उसे १६ युग्म संताने १६ वर्ष के वैवाहिक जीवन मे ही हो गई। इसलिए इस जीवन से उसे घृणा हो गई और वह फिर जैन भिक्षुणी बन गई। यथाकाले वह मोक्ष लाभ करेगी। पुप्फचुला में उन नारियो के चरित्र है जो पुप्फचूला गुरणी की आज्ञाकारी शिष्याएं रही थी और उन्हें देवलोक प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ भूता पार्श्वनाथ की ही शिष्या थी और उन्होंने उसे भिक्षुणी-दीक्षा दी थी। परन्तु प्रत्येक वस्तु पानी से धोने का भिक्षुणी आचार के विरुद्ध इसका स्वभाव था। परिणामस्वरूप वह देवलोक तक ही पहुँच सकी और अब महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त यथाकाल होगी। वन्हिदसाओ मे १२ वृष्णि राजकुमारों की कथाएँ है जो कि बलदेव के पुत्र थे। राजकुमार निषध, नेमिनाथ के शिष्य, ने जो उन्नति की उसकी कथा उसके पूर्वभवो की कथाओं के उल्लेख पूर्वक उसमें कही गई है। जब वीरागद राजकुमार के भव म उसने पूरे ४५ वर्ष तक घोर तपस्या की तो उसके परिणास स्वरूप पहले वह देवलोक मे देव हुआ और उसके बाद निषध राजकुमार। उत्तरभव मे वह एक भिक्षु होगा और वही से वह देवलोक मे देव। तदनन्तर वह यथाकाल सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाएगा।

विवागसूयम्, जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है, में बुरे और भले कर्मों के बुरे एवं भले परिणामों की दृष्टातिक कथाएँ दी गई है। पहले स्कन्ध में बुरे कर्मों के बुरे परिणामों की दस दृष्टातिक कथाएं है। दूसरे स्कन्ध मे अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम बतानेवाली पूर्ण विवरण सहित कथा तो एक ही है और शेष यथावत् कही जानेवाली है। इक्काई सुबेदार बड़ा ही निर्दय स्वभाव का था और वह लोगों पर बहुत बड़े और भारी भारी कर डाल कर खूब ही सताया करता था। इस दुष्प्रवृत्ति के कारण उसके शरीर में अनेक प्रकार के रोग हो गए और मरने पर वह मृगापुत्र रूप से महान घृण्य शरीर वाला जन्मा। पशुओं, पक्षियों आदि के अनेक भव करने के पश्चात् यह मृगापुत्र का जीव एक धनी सार्थवाह का जन्म लेगा और उस भव में वह जैन व्रतों को अंगीकार करेगा एवम् मुनि जीवन बिता कर स्वर्ग मे जाएगा। कालक्रमे वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा। दूसरी कथा बधिक भीम की है जो अपनी स्त्री के गर्भावस्था मे हुए मास-मदिरा खान-पान के दोहद को पूरा करने के लिए अनेक जीवों की हत्या करता है। वह स्त्री यथा समय गोट्टासय नाम के एक पुत्र को जन्म देती है और जैसे-जैसे वह बड़ा होता है मांस-मदिरा का अधिकाधिक शौकीन होता जाता है। यहाँ से मर कर वह उज्झितक नाम से एक सेठ के घर में पुत्र रूप से जन्मता है। परन्तु वह कुलागार ही निकलता है। द्युत, वेश्या, मद्य, आदि सभी व्यसन उसमे है। व्यभिचार दोष के दण्ड स्वरूप राजा उसे सूली का दण्ड दे देता है। मर कर वह नरकादि अनेक नीच योनियाँ भुगतता हुआ सार्थवाह होता है और उस जीवन मे किये सत्कर्मों और सद्धर्म के प्रभाव से वह स्वर्ग में देव होगा और यथाकाले मोक्ष प्राप्त करेगा। तीसरी कथा निन्नय नाम के एक क्रूर अण्डों के व्यापारी की है और वह तरह तरह के अण्डे लाता और बेचता है। इस पाप से वह मर कर नरक मे जाता है और वहाँ से निकल कर अभग्गसेन रूप से जन्म पाता है। यह अभग्गसेन एक बड़ा क्रूर लुटेरा है। आसपास के सब क्षेत्र उसके भय से त्रस्त और दुखी होते हैं। राजा महाबल यह जान कर कि अभग्गसेन पर किसी प्रकार का काबू नहीं पाया जा रहा है, उसे अपने यहाँ भोजन का निमन्त्रण देता है और उस निमन्त्रण को स्वीकार कर जब वह भोजन के लिए राजमहल मे आता है तो राजा सारे नगर द्वार बन्द करवा कर उसको फासी देने की आज्ञा निकाल देता है और वह फाँसी पर चढ़ा दिया जाता है। यह अभग्ग संसार में भ्रमण करता करता एक बार फिर मनुष्य जीवन प्राप्त करेगा और तब वह दीक्षा लेगा, एवम् यथा काले मोक्ष प्राप्त कर लेगा। चौथी कथा चणिय, मांस व्यापारी की है जो रोज बहुत से पशु मारा करता और उनके मांस के पकवान बना कर स्वयं खाता और दूसरों

को भी खाने के लिए बेचता था। जीव-हिंसा के इस महान् पाप के फल स्वरूप वह नरक में गया और वहाँ से निकलने पर वह भद्रा के घर में सगड़ नाम से पुत्र रूप जन्मा। इस भद्रा के जितनी भी संतानें होती थी, मर जाती थीं। परन्तु सगड़ नही मरा, परन्तु उसके जन्म के बाद परिवार के बुरे दिन आ गये। सगड़ बहुत बड और व्यभिचारी हो गया। वह मंत्री की वेश्या सुदर्शना से जा फंसा। फल स्वरूप वह राजा के समक्ष पेश किया गया और राजा ने उसे तप्त-लोह नारी-पूतले के आलिंगन कराने का मृत्युदण्ड दे दिया। महावीर ने भविष्यवाणी की कि सगड और सुदर्शना अगले जन्म मे भाई-बहन के जोड़े रूप से पैदा होंगे और यथाकाल वे पति-पत्नी की भाँति ही जीवन विताएगे। फल स्वरूप वे मर कर दोनों ही नरक में जाएंगे और ससार में खूब ही जन्म-जन्मांतर तक भ्रमण करेंगे। सार्थवाह के जन्म में यह सगड़ भिक्षु बन जाएगा और यथाकाल मोक्ष भी प्राप्त करेगा। पांचवीं कथा राजगुरु महेसरदत्त की है जो नरमेध यज्ञ किया करता था। ताकि राजा के वैरियों का नाश हो जाए। इस पाप से वह मर कर नरक मे गया और वहाँ से निकल कर बृहस्पतिदत्त नामक राजगुरु रूप से फिर जन्म पाया। राजगुरु होने से वह रनिवास में बे रोकटोक जाता था। रानी के साथ व्यवभिचार करने के दोष में पकड़े जाने पर राजा ने उसे सबके देखते सूली पर चढ़ा देने का दण्ड दे दिया। महावीर ने उसका भविष्य कहा कि वह अनेक नीच योनियों मे जन्म लेता हुआ एकदा मनुष्य भव पाएगा और तब वह भिक्षु वैरागी हो जाएगा। यथाकाल वह मुक्त होगा। छठी कथा दुज्जोहन नामक फौजदार की है जो क्रूर था और बन्दियों पर सदा घोरतम जुलुम ढाया करता था। फलतः वह नरक में गया और फिर किसी भव में नन्दिवर्धन नामक राजकुमार हुआ। तब उसने अपने पिता राजा सिरिदास की हत्या एक नापित द्वारा कराने की चेष्टा की, परन्तु पकड़ लिया गया और उसे तत्काल मृत्यु का दण्ड सुना दिया गया। महावीर ने इसका भविष्य कहते हुए कहा कि वह उज्जियय की तरह भवोभव करते हुए अन्त में मोक्ष लाभ करेगा। सातवी कथा वैद्य धनवन्तरी की है जो स्वयं मांसाहारी था और रोगियों को भी मांस और मांस से बनी औषधियाँ और पथ्य दिलाया करता था। इस हिंसा पाप के कारण उसका जीव नरक में गया। वहाँ से निकल कर वह उम्बरदत्त नामक धनी सार्थवाह रूप से जन्मा। परन्तु वह अपने कुल का कलंक हुआ और रोगों से भरा शरीर लिए नगर में घूमता रहता था। उसके विषय मे महावीर ने भविष्य कहा कि उसके मियापुत्र के समान ही भव-भवन्तर होंगे। आठवीं कथा पाचक (रसोइया) सिरीय की है जो व्याधों, चिड़ीमारों, मछुओं आदि को राज-रसोडे के लिए पशु-पक्षी-मत्स्य आदि लाने के लिए नियुक्त करता था। वह स्वय मांस खाता और दूसरो को भी मांस पकवान खाने के लिए बेचता था। मृत्यु पर वह सोरियदत्त नामक मछुआ रूप से जन्मा। तब उसने लोगों को खाने के लिए न केवल खूब मत्स्य ही बेचे, परन्तु स्वयं भी खूब खाए। एकदा मत्स्य का एक कांटा गले मे अटक जाने से उसने घोर यत्रणा पाई और मर गया। महावीर ने उसका भविष्य कहा कि वह भी मियापुत्र के से भव-भवान्तर करेगा। नौवी कथा राजा सिंहसेन की है जिसने अपनी ४९९ रानियो एवं उनकी माताओ को इसलिए जीवित जला दिया कि उनने उसकी मनीता रानी सामा की हत्या का षडयंत्र रचा था। इस घोर पाप के कारण वह मर कर नरक में गया और वहाँ से निकल कर उसने परम सुन्दरी कुमारी देवदत्ता रूप से जन्म पाया। उसका विवाह श्री पुष्पनन्दी के साथ हुआ जो कि अपनी माता का बड़ा भक्त था। उसकी देवदत्ता को यह नही रुचा। इसलिए उसने लोह-शलाकाए गरम कर अपनी सास को हत्या कर दी। राजा ने देवदत्ता को इस हत्या के दण्ड मे सूली दिला दी। उसके भव भवान्तर भी मियापुत्र के से ही होंगे। दसवीं कथा गणिका पुढ़विसिरी की है कि जो गरीब-अमीर सभी प्रकार के अनेक लोगों को अपने प्रति आसक्त किया करती थी। यह वेश्या-जीवन समाप्त कर नरक में गई जहाँ से निकल कर वह अज्जू नाम सुन्दरी रूप से जन्मी। वह राजा की राणी हो गई, परन्तु असह्य योनि-पीड़ा से वह सदा ही दुखी रही। इस रोग का कोई इलाज ही नहीं लगा। महावीर ने इसके भव-भवान्तर भी देवदत्ता के से ही बताए हैं। विवायसूयम् के

दूसरे स्कन्ध में पुण्यों की कथाएं हैं। पहली कथा धर्मात्मा समूह की है जिसने भिक्षुक सुदत्त को प्रासुक विपुल आहार दिया था और उसके फल स्वरूप उसका भव-भ्रमण बहुत ही घट गया। एक भवान्तर मे वह विपुल धन-वैभववाला सुबाहु राजकुमार के रूप मे जन्मा। उसने महावीर से व्रत अंगीकार किए। यथाकाले वह अंगों का अध्ययन करेगा, खूब तपस्या के अनन्तर मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग में जाएगा और यथाकाल मुक्ति प्राप्त करेगा। शेष पुण्य कथाए नाम, ठाम फेर के सिवा इस सुबाहु जैसी ही है।

इन कथाओं की उपदेशिक ध्वनि बिल्कुल स्पष्ट है। साधु, साध्वियों, श्रावक और श्राविकाओं, चारो को धर्माचरण की शिक्षा देना ही इनका लक्ष्य है। पूर्व और उत्तर भवों की कथाए एव जन्म-जन्मातरण के दुखो का चित्र आस्तिकों को धर्म-मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। यदि कभी किसी से भूल हो भी जाए तो भी उसके लिए भविष्य उज्ज्वल है, यही विश्वास रखते हुए महावीर जैसे धर्मोपदेष्टाओं के बताए मार्ग का अनुसरण करते रहना चाहिए। इस भव और उत्तर भवो के सभी दुखों की अमोघ औषधि वैराग्य ही है। जिन पापों का इन कहानियों में उल्लेख किया गया है और जिन व्यवसायों की निन्दा की गई है, वे हमारे समक्ष ऐसी संहिता का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं कि जिसका जैनधर्म ने सदा ही आग्रह किया है।

उत्तराध्ययन के कतिपय आख्यानों में भी वैराग्य भावना को जोरदार काव्यमयी भाषा में प्रेरित किया गया है। राजा नेमि [अध्या० ९], उनकी श्रद्धा की परीक्षा करने को आए ब्राह्मण रूप में इन्द्र के सभी तर्कों का उचित उत्तर देकर, प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं। हरिकेशी की जीवनी में यज्ञ परम्परा का खण्डन किया गया है और संयम एवम् परिषह-सहन का बड़ा ही महात्म्य बताया गया है. [अध्या० १२]। चित्र और सम्भूति [अध्या० १३] का संवाद ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्बन्धी कथाओं के महान् चक्र का ही एक अंश है और यह जैन, बौद्ध एवं हिन्दू पुराणों में भी समान रूप से पाया जाता है[11]। राजा ब्रह्मदत्त नरक में जाता है जब कि साधू चित्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इससे भी वैराग्य की महानता ही प्रकट होती है। उसुयारिज्जं [इषुकारीय] अध्याय मे भिक्षु-जीवन के महत्व का इस दृढता के साथ समर्थन किया गया है कि उसके फल स्वरूप राजा-राणी सहित अन्य अनेक जन भी घर सम्पत्ति त्याग भिक्षु-भिक्षुणी हो जाते है [अध्या० १४] विवाह-भोज के लिए लाए हुए पशुओं की चीत्कार सुन कर अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो जाते हैं। उनके प्रति परम श्रद्धा राजीमति को भी भिक्षुणी बना देती है। फिर रथनेमि की सयम-शिथिल-वृत्ति को मर्मभेदी उपदेश से दूर कर वह उसको संयम मे स्थिर करती है एवम् सभी घोर तपश्चर्या के पश्चात् उसी भव में मोक्ष लाभ करते हैं। [अध्या० २२] में इस घटना का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है और वह वर्णन वैराग्य का एक चमत्कारी काव्य ही है। सजयइज्ज [अध्या० १८] को अध्याय में प्राचीन जैन वैराग्य वीरों की जीवनियों की पूंजी का कुछ-कुछ आभास मिल जाता है। इन प्रख्यात व्यक्तियों में से कुछ के नाम तो हमें अन्य ग्रन्थों द्वारा भी ज्ञात होते हैं। इस सूची में १२ चक्रवर्ती, चार प्रत्येक बुद्ध और उदयन, काशीराज, विजय और महाबल जैसे राजों के नाम भी हैं। मियापुत्र [अध्या० १९] की जीवनी जैसी जीवनियां शास्त्रकारों को उपदेशिक-शिक्षा, धार्मिक अनुरोध और सिद्धान्त-व्याख्या के अनेक अवसर प्रदान कर देती है। (क्रमशः)

---

११. देखो चार पेण्टियर का इन्ट्रो. पृ० ४४ आदि और टिप्पण पृ० ३२० आदि उनके उत्तराध्ययन ग्रन्थ का उप्पासला, १९२२।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पवा जी (पावागिरि)

डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री

दिनांक १४ अप्रेल से १८ अप्रेल १९७० ई० तक बुन्देलखण्ड में **पवा जी** (जिला झांसी) नामक तीर्थ क्षेत्र पर विशेष आयोजनों और समारोहों के साथ श्री बाहुबलि जिनेन्द्र पंच कल्याणक एवं गजरथ महोत्सव का आयोजन किया गया है।

पवा जी उ० प्र० मे झासी जिले की ललितपुर तहसील मे एक छोटा सा ग्राम है। यह ललितपुर और झासी के मध्य में स्थित तालबेहट से उत्तर की ओर नौ मील है। यह स्थान ललितपुर से तीस मील तथा झांसी से छब्बीस मील दूर है। मध्य रेलवे के झांसी, तालवेहट, बसई या ललितपुर मे से किसी भी स्टेशन से यहाँ मोटर बस या अन्य बाहनो द्वारा पहुँचा जा सकता है। बासी और कड़ेसरा से भी पवा पहुँचने के लिए साधन मिलते है।

जैन जगत् मे **'पावा'** नाम से प्रचलित चार स्थान प्राप्त है। उनमें से पहला है—

१. **पावापुर**—बिहार प्रदेश मे गुणावा से तेरह मील दूर स्थित यह स्थान चौबीसवें तीर्थंकर भ० महावीर स्वामी के निर्वाण स्थान के रूप में समादृत है। यहाँ तालाब के मध्य में एक विशाल जिनालय, जिसे 'जल-मन्दिर' कहते है, मे भ० महावीर, गौतम स्वामी एवं सुधर्मा स्वामी के चरण चिन्ह प्रतिष्ठित हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी जैन सम्प्रदाय इसे अत्यन्त श्रद्धा-भावना से पूजते हैं। दूसरा है—

२. **पावागढ़**—पश्चिम रेलवे के बम्बई-दिल्ली मार्ग पर बड़ोदा से २३ मील आगे चापानेर स्टेशन है। वहाँ से एक लाइन पानी माइन्स तक जाती है, इस लाइन पर चांपानेर रोड से बारह मील पर पावागढ़ स्टेशन है।

पावागढ़ क्षेत्र एक विशाल गिरि-दुर्ग के मध्य अवस्थित है। यह पर्वत-शिखर लनभग २५०० फीट ऊँचा है तथा दुर्ग के सात द्वार पार करने के पश्चात् तीर्थ-स्थल पर पहुँचते है।

प्राचीन अभिलेखों में इस स्थान का उल्लेख 'पावकगढ' नाम से मिलता है। प्रारम्भ में यह तोमर वशीय शासकों के आधीन रहा और १५वी शताब्दी के अन्त मे इस पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

यह स्थान सिद्ध क्षेत्र माना जाता है तथा सभी जैन सम्प्रदायो द्वारा इसकी उपासना की जाती है। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे कोई पुरातात्त्विक या अभिलेखीय प्राचीन साक्ष्य उपलब्ध नही है। तीसरा स्थान है—

३. **पावागिरि**—निर्वाणकाण्ड की तेरहवी गाथा[1] मे उल्लेख मिलता है कि पावागिरि नामक स्थान से सुवर्ण भद्र आदि चार मुनियो ने मुक्ति प्राप्त की। यह स्थान चलना नदी के तट पर था।

इसी सन्दर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि—'सस्कृत-निर्वाण-भक्ति' मे न तो चलना नदी का नाम आया है और न पावागिरि का ही। उसमे केवल उल्लेख है 'नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः।'

निर्वाण काण्ड की उक्त गाथा के प्रकाश मे, अब भी यह निर्णीत नहीं हो सका है कि—वस्तुतः चलना नदी कौन है? और उसके तट पर अवस्थित पावागिरि कौन सा है? इस सन्दर्भ में जो कुछ प्रयत्न हुए है, उनके अनुसार :—

(अ)—वर्तमान मध्य प्रदेश मे इन्दौर और बडवानी के निकट मौजूद **'ऊन'** नामक स्थान को भी 'पावागिरि' नाम से प्रसिद्ध किया गया। यद्यपि वहाँ बारही शताब्दी का जैन पुरातत्त्व उपलब्ध है, किन्तु किसी भी साक्ष्य से यह स्पष्ट नहीं है कि—इस स्थान का नाम कभी 'पावा' या 'पावागिरि' रहा है। जैन परम्परा में प्रचलित यह (ऊन) तीसरा 'पावागिरि' है।

---

१. पावागिरि वर सिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चलणा णई तडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

(ब)—इस सम्बन्ध में विचार करते समय कुछ विद्वानों ने टीकमगढ़ जिले मे मौजूद पपौराक्षेत्र से भी 'पावागिरि' नाम का समीकरण करने की चेष्टा की है। पपौरा में तेरहवीं शती से लेकर वर्तमान समय तक की मूर्तियाँ प्राप्त हैं, किन्तु किसी भी साक्ष्य से इसे पावागिरि नही माना जा सकता।

(स)—ऊन और पपौरा की अपेक्षा स्थान-नागसाम्य तथा अन्य बातें उक्त पवा जी को पावागिरि के अधिक निकट ला बैठाती हैं। अब, जैन परम्परा में यह चौथा पावागिरि है।

मेरा मत—ग्राम का नाम तो पवा है ही, निकटवर्ती पहाड़ी को भी 'पवा की पहाड़ी' नाम से जाना जाता है। अतः यदि पहाड़ी के वाचक सस्कृत के गिरि शब्द को अपना लें तो पवा को पवा गिरि कहा जा सकता है।

पवा ग्राम से लगभग एक किलोमीटर दूर स्थित भोंयरे, सिद्धों की पहाड़ी और उस पर निर्मित मढ़ियो, बावड़ी आदि में विद्यमान पुरातात्त्विक एवं अभिलेखीय साक्ष्यो से यह स्पष्ट है कि पवा बारहवी-तेरहवी शताब्दी मे जैनधर्म का एक जीवन्त सांस्कृतिक केन्द्र था। इस क्षेत्र पर और इसके आस पास ऋषभनाथ, अजितनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों की उपासना होती थी। यहां की मूर्तियो की कलागत विशेषताओं के आधार पर बारहवी-१३वी शती की निर्मितियाँ कहेगे। इसी समय के अभिलेख भी उत्कीर्ण पाये जाते है।

उपर्युक्त सभी सांस्कृतिक केन्द्रों पर वर्तमान मे उपलब्ध पुरातात्त्विक, अभिलेखीय एवं कलागत साक्ष्यों के आधार पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि—वे सभी प्रायः समकालीन हैं। पुराणों मे वर्णित उनके स्वरूप के विषय में यहाँ विचार नही किया गया है। अतः निर्वाण काण्ड की उक्त तेरहवीं गाथा के प्रकाश में, निश्चय पूर्वक यह कह सकना बहुत कठिन है कि वास्तविक पावागिरि कौन सा है।

इसी सन्दर्भ में श्री सागर मल जी वैद्य (विदिशा) के इन प्रयासों का उल्लेख भी प्रासंगिक होगा जो उन्होंने **"सत्य की कसौटी पर—पावागिरि सिद्ध क्षेत्र कौन ?"** नामक पुस्तिका लिखकर किये है। इसमें उन्होने निर्वाण काण्ड की पूर्वोक्त गाथा में आगत पावागिरि के प्रसग में ऊन को कल्पित पावागिरि बतलाकर अपने अनेक तर्कों द्वारा पावा (झांसी) को सिद्ध क्षेत्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि पुस्तिका के प्रारम्भ और अन्त में प्रकाशित किये गये विभिन्न विद्वानों एवं अन्य सज्जनो के पत्रों सम्मतियों आदि में से एकाध को छोड कर, प्रायः किसी से भी लेखक के अभीष्ट की पूर्ति नही होती, तथापि लेखक ने उन्हें अविकल दिया है, यह प्रशंसनीय है।

श्री सागरमल जी द्वारा लिखित उक्त पुस्तिका से निश्चित ही पवा जी का प्रचार-प्रसार तो बढ़ा ही है, विचार करने के लिए नयी दिशाएँ भी सामने आयी हैं तथा पावागिरि के उपर्युक्त सन्दर्भों में नवीन आयाम उद्घाटित हुए है।

ऊन पर पावागिरित्व का आरोपण नो निश्चित ही सन्देहास्पद है, किन्तु पवा जी पर पावागिरित्व और सिद्धक्षेत्रत्व प्रतिष्ठित करने के लिए वहां के सभी प्राचीन स्थलों—सिद्धों की दोनों मढ़ियो, पहाड़ियो, नायक की गढी बनाम विशाल मन्दिर के ध्वशावशेष, भोंयरे, मूर्तियों तथा उन पर उत्कीर्ण अभिलेख, बावडी और उसमे मौजूद सामग्री एवं निकटवर्ती नाला (जिसे कहीं वेला नाला, कहीं वेला ताल, कही बैंकोना और कही वेलना कहा जाता है) आदि का विधिवत् सर्वेक्षण, यथा आवश्यक उत्खनन, अनुशीलन एवं अध्ययन अनिवार्य है। सम्भवतः इससे उक्त दिशा मे आवश्यक प्रकाश पड़ेगा।

पुस्तिका में लेखक ने कुछ अटपटी बाते भी प्रस्तुत की है। जैसे—(१) पवा जी चौथे कालका तीर्थ है। (पृ. १०)

(२) बावड़ी से निकली हुई एक मूर्ति पर वि० स० २९९ अंकित है। (पृ० १०)

(३) देवगढ़ मे भोंयरे का अस्तित्व और उसे—वि० स० १२० का बताना। (पृ० ९-१०)

इन तथा ऐसी ही अन्य अपुष्ट बातो पर से सिद्धक्षेत्रत्व या क्षेत्र की प्राचीनता स्वीकरणीय नही हो सकती।

इतिहास तथा उपलब्ध साक्ष्य—दोनों ही पवा जी को १२वी-१३वी शती से पूर्व का सांस्कृतिक तीर्थ नहीं सिद्ध करते। देवगढ़ मे कोई भोंयरा नही है।

दिगम्बर जैन आम्नाय के तीर्थ क्षेत्रों का परिचय

श्री गणपतिदेव हुए थे।[१२] इसके बाद यह राजवंश सदा के लिए लुप्त हो गया और बाद में इस क्षेत्र पर मुसलमानों का अधिकार हो गया ज्ञात होता है।

प्रशस्ति-विवरण : धर्मज्ञ जैत्रसिंह ने उक्त मंदिर में एक नागरी लिपि द्वारा संस्कृत भाषा मे उत्कीर्णित अभिलेख लगवाया था। इस अभिलेख मे ४० पंक्तियां और ७० श्लोक है। यह अभिलेख अब ग्वालियर पुरातत्व संग्रहालय मे सुरक्षित है।

इस अभिलेख के सम्बन्ध मे मुझे जब यह ज्ञात हुआ कि यह अब तक अप्रकाशित है तो मैंने अपने अनुज डॉ० राजेन्द्रकुमार सिंघई को लिखा। उन्ही के सत् प्रयत्नो से प्रस्तुत अभिलेख की शिलाखण्ड से प्रतिलिपि तैयार की गई, जो मुझे प्राप्त हुई। इसके लिए वे बहुत बहुत धन्यवाद के पात्र है।

मैंने सम्पूर्ण प्रशस्ति को (अध्ययन कर उसे) लिपिबद्ध कर बार बार आवश्यक संशोधन किये और उसके उपरान्त उसे अन्तिम रूप दिया है। इस कार्य मे त्रुटियां शेष रह जाना संभावित है। अतः विद्वान् पाठको से निवेदन है कि आवश्यक सुधार लेखक को प्रेषित कर कृतार्थ करेगे। प्रस्तुत अभिलेख का हिन्दी अनुवाद भी मुझे आवश्यक प्रतीत होता है। अतः आशा है इस ओर भी विद्वान् ध्यानाकर्षित करने की कृपा करेगे। मूल प्रति मेरे पास है, जिसे विद्वान् चाहे तो देख सकेंगे। प्रस्तुत अभिलेख का भाषा शास्त्रीय अध्ययन अगले अंक में पढ़ियेगा। अभिलेख निम्न प्रकार है :—

भीमपुर अभिलेख

श्री स्वस्ति ॥

भामंडलीय मिषतः सवितारमेषा
मासंवितुं दिवस वासव नन्दिनीव(1)।
यस्यांशयेल्लसति कुन्तज कान्तलेखा
संश्रेयसे भवतुवः प्रभुरादिदेवः ॥१॥
उद्भासयन्ति यदुपं पुरगेन्द्रचूला
रत्नप्रदीप कलिकाः किल सप्त संख्याः।
तत्वानि सप्त नुदनेकुमताग्धकारं (रि)
पार्श्वं प्रभुर्भवतु संव वित्तवायत्र: ॥२॥
विसं(स्य) समान लवणोदधिमेखलेय(:)
माकप मान कुलशैल नितम्ब बिम्बा।
यस्मिन्नभूदवनियोषिदि वभुवेवः
श्रीवीरभ (व)र्द्धमरावल वालमंस्नात् ॥३॥
यस्याः प्रसाद मधिगम्यजडाशयस्या
प्याभाति सारसर्विशिष्ट निनाद संभ्या।
श्रीशारदीन शिशिरद्युति कौमुदीव (:)
साहन्निश मनास दांव्यतुशारदामे ॥४॥
स्याद्वादविद्यार्णव पार्वणेन्दवः
कारुण्यरत्नांकुर रोहणाद्रयः।
कीर्तिप्रभाकेन दिगम्बरश्रियः
श्रीमूलसघे मुनयः पुनन्तु वः ॥५॥
इतश्च ॥
यज्वपाल इति सार्थक नामा
संबभूव वसुधा धववंशः।
सर्व्वतः कलित कीर्तिदुज्ज्वल-
च्छद्मेकमसृजद्भुव नेयः ॥६॥
कुलेकिलस्मिन्न जनिष्टवीर (:)
चूडामणि श्री परमाडिराजः।
वारद्विवाभात्सत तारकश्री :
स्कंदोपि नास्कदति येन साम्य (:) ॥७॥
तत्र नाक युवतिमृनस्वली-
पत्रवल्लिघनडवरस्पृशि(:)।
चाहडः प्रतिनरेन्द्रकाननं-
प्लोषदद्रि शिखिमूर्ति उद्ययौ ॥८॥
तत्रस्वगपुरी पौर, गौरवंशमुपेयुषि।
नृवर्म्मविरिमर्म्माविन्महीजान्निरजायत ॥९॥
यस्मिन्विलाम कुशलेह्न दयाधिनाथ-
स्थानेक रक्षिपति सागरमेखलेयम्।
उत्कंठकानभ्रण् कंपवतीव जज्ञे
प्रौढांगनेव नद क्षीरविवर्णभावं ॥१०॥

---

१२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख : लेखांक—१५९, १६३, १७४, १७५, १७३।

नोट—श्लोक १ वसन्ततिलका छन्द

नोट : श्लोक २-४ वसन्ततिलका छन्द। श्लोक ५ इन्द्रवज्रा। श्लोक ६, ८ रथोद्धता। श्लोक ७ उपजाति। श्लोक ९ अनुष्टुभ। श्लोक १० वसन्ततिलका।

अस्मिन्नासेऽपिसूर्य, श्रीसंसर्गमहीभुजे
नंदत्यासलराजेन्द्र, मौलितारिमुखांबुजः ॥११॥
संग्रामेषु समग्रसाहसरिपु क्षामेभकुंभस्थल
मुक्तावंतुरिताकृपाण लतिका वाभाति हस्तेभव।
श्रीमन्नासलभूपकिंतु भवतो जेत्रश्रिया प्रेरित:
कंदर्पोत्यवलक्ष एष कदली पूति पविज्ञाक्षरः ? ॥१२॥
त्वयावधूत भूपाल, गोरक्षेणारियोषिताम्
लोचनेषु नृपासल्ल, वक्त्रे लक्ष्मीर्निरंजना ॥१३॥
अस्य प्रतापकनकं रमलैयशोभि-
र्मुक्ताफलैरखिलभूषणविभ्रमाया।
पावोन ऽक्ष विषयक्षिति पक्ष्म लाक्ष्या-
मास्तेपुरं नलपुरं तिलकायमानम् ॥१४॥
अथ ॥ च
भ्रमरहित विकासः प्रीतसच्चक्रवर्गः
परिचितघनपकं नालसत्ववधानः।
जयति भुवन लक्ष्मी विम्वमागारभूमिः
कमलवनसनाभिर्जैसवालान्ववाय ॥१५॥
एतद्वंससुधाम्नोधि, सुधादीधिति उद्ययौ
सादवेवः सुधीपूर्वमपूर्वमति वेंधवः ॥१६॥
अर्वाक भावं भुविभीरुवर्ग
यन्नामकुर्वन्नपियञ्चकारम्।
सश्रीकुमारः सुकुमारबंधो
पीयूषदायेतदपत्यमासीत् ॥१७॥
सोमणस्वहन तस्यनन्दन-
श्चन्दनं विवयशोभिरुज्ज्वलैः।
पूर्व्वपुरुष वियोगमेदिनी-
मेदिनी शशिमुखी मुपाचरत् :।
चेतः श्रिता केतकगर्भगौरं.
गिरः शरच्चन्द्र सुधांसुधर्म्माः।
शीलश्रियामंगलसौषमंग-
राजल्लदेवी गृहिणीव सूया ॥१८॥
वाकुक्षिरोहणक्षोणि, माणिक्यं द्योतवेभुवि
जैत्रसिंह क्षमापाल, सताद्युवति भूषणं ॥२०॥
नानादानंविसरविसरत्कल्पनावारिनिम्नं
भूयः यंकायवियमवनिवद्यशः श्री नमित्वा ।(?)
भोजेदेव प्रवरनयनं भव्र पीयूष काणुं-
धौताद्रिस्वन्मगमिवमहापंकितुं जैत्रसिंहः ॥२१॥
नाकेशवत्केशवदेवनामा
नित्यंसधर्म्मं श्रियर्वाहित श्रीः।
यस्याः पितासाकुलधर्महर्म्ये
वैराजतिश्री दयिता तवीया ॥२२॥
सासप्त गोत्रेभुविसप्तविम्बो
साक्षाकृतीन्सप्त संतानभूत(:)।
मेहारत्रेश्रीजिनधर्मभानो
राविभ्रतः सप्त तुरंग धं(भं)गी ॥२३॥
तेषामुदयसिंहाख्यो-
मुख्यसिंह इवंधते।
निर्भिद्य कलिका तेयं
कान्ति (कीर्ति) मुक्तावली किरन् ॥२४॥
अद्यापि किं वहति दूर दरिद्रमद्यं-
विश्वं वितातिमयिदोस्त्र्यवनैकवीवि।
किं दक्षिणस्त्वनयाणिरितीव कोपं
दुर्द्धर जलीत्युदयसिंह सत्त्वोण शोधिः ॥२५॥
त्यश्चर सोमर मन्दिराल गरलं-
नित्यं जलात्कोस्तुभ
स्वाहावल्लभमाविहाय भुजयो-
र्माशंमुरावेरपि।
सेवत्या विशिली मुखालि विषमा
दाम्नोरुहाधिन्यती
धावत्योदयसिंह मन्तदुरितं
धामाप्रति श्री ध्रुवम् ॥२६
शृंगारसिंहस्वदमद्धि होते
शृंगाररत्नं सु विवेकभाजाम्
तत्तोऽनु भू राजति राजसिंहः
केलीवयं नंसकितेकतानः ॥२७॥

नोट; श्लोक १४ वसन्ततिलका। श्लोक ११, १३, १६ अनुष्टुभ। श्लोक १२ शार्दूलविक्रीडित। श्लोक १५ मालिनी। श्लोक १७, १८ इन्द्रवज्रा। श्लो. १८ रथोद्धता।

नोट: श्लोक २०, २४ अनुष्टुभ। श्लोक २१ मंदाक्रांता। श्लोक २२, २३, २७ इन्द्रवज्रा। श्लोक २५ वसन्त-तिलका। श्लोक २६ शार्दूलविक्रीडित।

तस्यानुजन्मासुकृतार्थजन्मा
जन्मानसः खेल्लति वीरसिंहः।
यशः पराभूत सुधांशु धामा
तस्यानुजोलक्षणसिंहनामा ॥२८॥
अस्ति विपश्चितारत्न
रत्नसिंह तदन्तिमः।
लघुनयन सिंहाख्य
तस्मात् दप्पलघुर्गुणैः ॥२६॥
(भ्रातरि) राजसिंहस्य,
सारिष्टाऽजगुणिष्वंघु
चतुरश्चतुराम्भोधि।
विश्रुतान्सुश्रुवेसुतान् ॥३०॥
कर्मसिंहः पुराभूषा, देवसिंहभ्रातानुजः
तृतीय पद्मसिंहाख्यो, धर्मसिंहश्चतुर्थकः ॥३१॥
आर्यभूभारसिंहस्य आभालेवुप्रडाभिधि।
प्रेयश्री राजसिंहस्य, पद्मोपि पद्म आकृतिः ॥३२॥
नाम्नाविजयदेवीति वीरसिंहस्य मेदिनी।
पवित्रर्वैरिलस्तस्याः, धर्मसिंहश्चतुर्थकः ॥३३॥
अन्यदाधन्यधी स्वाक्षै (स्वान्ते),
जैनसिद्धान्तपावित्ति।
जैत्रसिंहः प्रबुद्धात्मा
[चिन्तयामासिवानिति] ॥३४॥
नित्येक जैनेन्द्रकृत प्रतिष्ठो
विष्णुस्वतोभूवणगेन्द्रणेन्द्रः।
साकेतकंनाथ कृतप्रसिद्धं
संकटाख्यः पुरुषोत्तमः प्राक् ॥३५॥
अस्मत्कुलालंकृतयेवभूव
रत्योपि धन्याः मन्नि जैत्रसिंहः।
विमृश्य तन्नामनवीचकार
.........कृत जैनसोधः ॥३६॥
व्योमोरागात्किमयमर-
द्या(द्री)पिनीवारिपूरः।
पृथ्वीपीठे पतति यदि वा
तुंगमीशाद्रिशृंगं ॥

वेलः सैलः किमुतधवल
क्षीरसिन्धूर्मिधौत-
न्नानेयामजिनवरगृहं
राजते जैत्रसिंहः ॥३७॥
श्रीपौरपाढान्वय जैनवर्गः
धुरंधरः श्रीधरबन्धु सूनुः
अखंडधीः खंडित चंडरादे
खंडश्रिये हंसति नागदेवः ॥३८॥
तस्यानुजो चाहडनागदेवौ
स्वकीर्ति वाचालित नागदेवः
सुतान् भावाद्रिम आम्रदेवः
कर्माकृति सन्लघुसोमदेवः ॥३९॥
श्रियं माहेन्द्रमद्रेण, नागदेवमनीषिणा
प्रतिष्ठा चाकृताधीत्य, निधीन्द्वग्नीन्दुवत्सरे ॥४०॥
गुर्वाद्रि गुर्वंगुरुपर्वतवन्धवंडः
श्रीखंड कीर्तिमहिमामरकीर्तिदेवः।
सौधामृतार्णवविधुश्चवसन्नदेवः
प्रातिष्ठकृत्यविषयेऽगुरुर्बभूव ॥४१॥
श्री जैसवालान्वय पारिजातं
वाल प्रवालचरितार्थनामा
प्रफुल्लयनुल्वण कीर्तिमलजोः
श्रेष्ठीधनीराजतिमाधराङ्कः ॥४२॥
तत्सूनुदेवसिंहाख्य
श्रीणां लीलानिकेतनं।
गुणाकरवर्पाब्विन्दुः। ?
श्रद्धावल्लिनवाम्बुदः ॥४३॥
वीराख्या गृहणी तस्य......।
प्राक्सलक्षणसिंहाह्वः कृत्यसिंहसुतः परः ॥४४॥
जसे साधू तनूजन्मा, साधुविजयदेवकः।
शृंगारदेवी तज्जाया, निर्माप्याधर्मकर्मह(सु) ॥४५॥
तद्गर्भसंभवोशोभा, वैभवध्वस्तमन्मथो...(या)।
संतनयो तनयो जयोभ्रात ?,.. देवायदेवको(?) ॥४६॥

नोट: श्लोक ३७ मन्दाक्रान्ता। श्लोक ३८, ३९ उपेन्द्रवज्रा। श्लोक ४०, ४३ से ४६ अनुष्टुभ। श्लोक ४१ वसन्ततिलका। श्लोक ४२ इन्द्रवज्रा।

जैनश्रेष्ठीसंतांश्रेष्ठः परवाडकुलाग्रणीः ।
कलिसन्तापितक्षोणि, चन्दनाकृत कीर्तिकः ॥४७॥
सहदेवसुमाधुर्य, वाचावर्षः कलापितां
अनर्थाय कुकृत्यानां मसत्यानामतापदा ॥४८॥
सव्येतरं प्रवरपाणिसरोजरंध्रं
निःसांवमागगनदानजलेन जाने ।
जंवालभूमनियशः श्रितपंकजाली
येनाकसाधुरनुवर्द्धयतेघरित्र्याम् ॥४९॥
श्लोक ५०……अपठनीय है।
सुवर्णं चरितं येन, कलिकालकार्षोपले
शुद्धि दधाति साधूनां, चाहडः शेष शेखरः ॥५१॥
श्लोक ५२……अपठनीय ।
गम्भीरनादः कृतनीरजाश्चः
स्वर्थेण सन्तूर्जित (चा) रुचूलः ।
दानावदातैर्वलिराजकल्पं
स्वल्पंश्रियांतश्चनुसाधु वाचे ॥५३॥
साधराजः पराभूत
कुतीर्थयक्षसंकृक्षः ।
हृदिसर्वज्जराक्षापि
धात्रो वेमलानहतम् ॥५४॥
मांढचाहनामानो
गाढरागोजिनाधने ।
गुणकेलकविस्मर
तानवर्षागमोषमो ॥५५॥
शक्रः सावकदस्य ग्रामणी गुणशालनां
पण्डितः पंडिताशेष, भिषवीथी कुलाभिधः ॥५६॥
तमश्छेद विधिच्छेक गाविदार्णसुदर्शनम्
सत्यो नारायणः श्रीमान् भाति माथुरवंशजः ॥५७
…कुलंवरः गंधं वन्धश्च भृगुनन्दनः ।
सौजन्य वल्लि पर्जन्यं सव्यसाखिल दूषणो ॥५८॥
जैणापालः कृपालुनाम् सद्धर्मासुधाम्बुधिः
प्रङ्गस्ति क्षुधापालनाङ्कुः श्रीजैनाराधने धनी ॥५९

नोट : श्लोक ४७,४८ अनुष्टुभ । श्लोक ४९ वसन्ततिलका । श्लोक ५१ एवं ५४ से ५९ [तक अनुष्टुभ छन्द । श्लोक ५३ इन्द्रवज्रा ।

ससव्यसनसप्तार्वि संतापशमनांबुदौ
गंगाकर्मणि धौरयो साधूमाध……॥६०॥
कृतावतति जीमूतः पूतधी (वीरवि) विधः
तव्ननामासुधीः पाद यशसांशिशितेजसा ॥६१॥
साधुभालूसुतो सत्य शीलोछीहलुवीहलो
प्रणँति विवुधानादौ गंधिण भेषजाविव ॥६२॥
पौरपाटकुलविंद्यभूधरे
भद्रजातिमहिमन्युदीपतौ
उद्यशः कुसुम सौरभेदिसा
मर्पयन्नवित थोय……॥६३॥
एतस्मिन्नाहतेवाचं जिनाच्चालियकारिणः
वर्द्धन्तां गोम्निकाः ? पुण्य, वनकंदलनांवुदः ॥६४॥
चन्द्रांशुमत्कागुलिमंडितेयं
तारालि मुक्ताफल हारयष्टिः
चक्राद्धियावद् गगनस्य लक्ष्मी
जैनालयं नन्दतु तावदित् नु ॥६५॥
अस्यौकेशगणारविन्द तरणिः श्रीदेवगुप्तः प्रभुः
यास्यानक्षण तोषितक्षितिपतिः श्वेताम्बराखावुलः ।
आसीदग्रसमग्र वादिकरटि क्षादैक पक्षानतं-
सूत्पादागुजरान्नदेशमहिमा श्रीवीरचन्द्रः कविः ।:६६।:
तस्माज्जगमभारतीति जगति, ख्याताभिधानाद्गुरो-
र्वीररेन्वोग्धि (म) गत्य सत्यमहिमं, वाजिष्ट सारस्वतम् ।
संसिद्धावरसिंधुचंदवगिरा शुद्धिः सुधानीरजो
श्रीषः प्रोतपदाप्रप्रशास्तिमकृत श्रीदेवचन्द्रकृति ॥६७॥
वास्तव्यान्नय कायस्थ, शेखरः शरदात्मजः ।
प्रशस्तिमालिखद्वेषे, विमातोजा समुद्भवः ॥६८॥
ततः कस्यपगोत्रंसो पापेकः सूत्रधारक-
श्चामदेवो सुतस्तस्य प्रशस्तिवोचकारसः ॥६९॥
श्रीमान श्रीजयमलोर्भुववश्रीजलेशं-
लोकोपकारकरणे अनुरक्त नन्दिः ।
शंमाव्वकामण गलोसिखिला कलानां
साहंसधर्मलख…………॥७०॥
संवत् १३(१९) ।

नोट : श्लोक ६० से ६२ तक अनुष्टुभ । श्लोक ६३ रथोद्धता । श्लोक ६४, ६८, ६९ अनुष्टुभ । श्लोक ६५ इन्द्रवज्रा । श्लोक ६६, ६७, शार्दूलविक्रीडित । श्लोक ७० वसन्ततिलका छन्द ।

चित्तौड़ का दिगंबर जैन कीर्तिस्तंभ

श्री नेमचन्द धन्नूसा जैन

अप्रैल १९६९ के अनेकान्त के अंक में पृष्ट ३६ पर रामवल्लभ सोमानी (जयपुर) ने चित्तौड़ के दि. जैन कीर्तिस्तंभ के बारे में पूरा और निश्चित प्रकाश डालने वाले तीन शिलालेख प्रकाशित किये हैं। तीनो लेख अपूर्ण होते हुए भी अपना-अपना वैशिष्ट्य स्वतंत्रतया प्रतिष्ठापित करते हैं।

(१) एक लेख के अन्तिम श्लोक में बताया है—

'तेन सुवा (स्तुता) नत जिने (ना) ना, मुनिगणानां च।
स्थानानि निवृत्येः पान्तु, संघ जोजान्वितं सदा ॥'

यह श्लोक सस्कृत निर्वाण काड के बाद लिखा है और इसका अर्थ भी स्पप्ट है कि—इस तरह स्तुत अनत जिन और मुनिगण तथा उनकी निर्वाणभूमि साहु जीजा संघ के साथ निर्वाण क्षेत्रों की वदना करते-करते यहाँ आये थे। या वह यात्रा उन्होने यहाँ खतम की होगी। उस समय जो वंदना-भक्ति हुई उसका प्रकाशन यहां हुआ है। निर्वाण क्षेत्रों का स्तवन जैसा यात्रा का दर्शक है वैसा ही सघ की कामना साहु जीजा के अन्य जगह से यहाँ ससंघ पधारने का दर्शक हो सकता है। इस लेख की खुदाई साहु जीजा के सामने की गयी होगी, निदान इस लेख का समय जीजा के जीवनकाल है ही।

(२) दूसरे लेख के अन्तिम श्लोक के उत्तरार्ध मे लिखा है—

.... स्थितिकृते स्वर्गापवर्गात्तयोः ॥
यः प्राज्ञैरनुमीयते स्वीकृतिना 'जीजेन निर्मापितः'

स्तंभः सं(व) ...... ॥ शुभा लोकैर्न कैः ख्याने 'बघेरवाल जातीय सा 'नायकसुत जीजाकेन' स्तंभः कारापितः। शुभं भवतु ॥

इस लेख से ऐसा लगता है कि, यह लेख साहु जीजा के निदान एक शताब्दी बाद ही लिखा गया है। जब कि प्राज्ञ लोग भी केवल अनुमान ही करके ही रह जाते थे कि साहु नायक के सुपुत्र साहु जीजा ने यह मानस्तंभ निर्माण किया। साहु जीजा के जीते जी ही या इस कार्य को आँखों देखनेवाले के जीते जी ही 'अनुमीयते' याने अनुमान करना उचित नही लगता। अतः साहु जीजा के सैकड़ों वर्ष बाद यह लेख लिखा गया है, यह कहना उचित ही होगा।

(३) तीसरा लेख बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण है। इस लेख के प्रारम्भ के २० श्लोक चले गये हैं। तथा बीच-बीच मे कुछ श्लोक अधूरे ही उपलब्द हो या असावधानी के कारण मुद्रण से छूट गये हों। ऐसे श्लोक २८, २९, ३० तथः ४० व ४१ है। इस कारण अगर यह लेख गौरव से देखकर वापिस छपाया जाय तो, कम से कम त्रुटियाँ रह जायगी और लुप्त प्राय इतिहास को फिर से उजाला आ जायगा। देखिये—"...उसका पुत्र दिनाक हुआ, इनके धर्मपत्नी का नाम वाच्छी था।:२१।। इनके नाम या नायक नाम का पुत्र हुआ। वह हमेशा धर्मकार्य मे नायक (अग्रणी) ही रहता था ॥२२॥ यह विशाल कच्छ (देश) का रहने वाला था। वहाँ उसने अपने प्रासाद के साथ-साथ ऐसे श्री जिन मदिर निर्माण किये, मानो वे छत्रध्वजादि से तथा उत्तुग शिखरो से नृत्य ही करते हों। ये जिनमदिर सम्यक्त्वी जीवों को आकर्षक-रमनीय और कमनीय भी थे ॥२३-२४॥ मुमुक्षु जीवो को मानो भगवान ही स्वर्गसोपान का उपदेश दृष्टव्य करा रहे है। ऐसे मदिर की सीढ़ियां तथा भव्य सभा-मडप ऐसा लगता था मानो मुक्ति स्त्री को वरने के लिए यह विवाह मडप ही है। इसके उत्तुग शिखर तथा ध्वजादि से ऐसा लगता था, मानो सिद्ध देवता प्रभुपद का जय जयकार करती हुयी नृत्य ही कर रही हो ॥२४॥ इसकी धर्मपत्नी का नाम (शायद) नागश्री था, जो इनके हमेशा साथ रहती। कैसा था यह नाम—अशुभप्रवृत्तिरूप इंधन को अग्नि जैसा, तथा विष या संसार संतति को

छेदने वाला इस कलियुग में मानो साक्षात् धर्ममूर्ति ही था ॥२६॥ इनके—हाल्ल, जीजु, न्योट्टह, असममिध, श्रीकुमार, स्थिराख्य ऐसे छह पुत्र थे। ये ससी—विजयी तथा चक्रवर्ती थे। इनमे जीजु नाम के पुत्र का ख्याल जीव दया तथा जीर्णोद्धार की तरफ ज्यादा था। ये त्रिवर्ग के प्रभु और जैनधर्म के अनुरागी थे ॥२७॥......... चित्रकूट में श्रीचन्द्रप्रभ का उत्तुग शिखरबद्ध प्रासाद बनाना, निर्जन प्रदेशों को नष्टकर—सूरिजी के आश्रम में, तलहट्टि भाग में, खोहर, सांचोर, बूढा डोंगर (गढ़), सुमिर, जाने (फल) आदि स्थानों में श्री चैत्य विराजमान करके, महादिमगल ऐसे इस मानस्तभ को प्रारम्भ कर निवृत्त हुए, पुत्र पूर्णसिंह के ऊपर उसकी जिम्मेदारी डालकर यह धर्मानुरागी महात्मा सुमंगल के लिए इद्रिय-जयी होकर समाधिमरण को प्राप्त हुआ ॥३०॥ यह पुण्यसिंह भी धर्मधुरा को अच्छी तरह से बहनेवाला, जयबन्त हो ॥३१॥ जिम्मेदारी आने पर दिनोदिन अभ्यास बढ़ता गया, और विषम परिस्थिति मे भी वे कीर्तिसपन्न बने ॥३८॥ परंपरा से मिले सद्धर्म को बढ़ाते समय अनेक आपत्तियो का सामना करना पड़ा और उस धर्मधुरा को अद्भुत रीति से चलानेका विक्रम किया ॥३३॥ जिसका पुण्य शिरोभागी शोभता है, चक्रमडल में जिसकी वाणी, त्रिजगत्प्रासाद में जिसकी कीर्ति तथा निर्मल कमल मे जिसकी धर्मलक्ष्मी शोभती है ऐसा—॥३४॥ यह धनिक साहुकार अपूर्व है, क्योंकि याचको को इच्छित दान देने पर भी अहर्निश यह अपनी सम्पत्ति को बढ़ाता गया। सत्पुण्य संचय ही श्रेष्ठ है ॥ ३५ ॥ सपद और शान्तिरूप ही यह अगीकृत कार्य बहता हुआ विग्रह को भेद कर अमरपद को प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥ दानी लोगों में सिंह ऐसा यह पुण्यसिंह जयवन्त रहे, जिसकी कीर्ति कामिनी नेत्र मे अंजनि जैसी स्पष्ट झलकती है ॥ ३७ ॥ ...क्या मेरु क्या सुवर्ण, क्या हरि, क्या चन्द, जिसके पुण्य प्रताप के आगे फीके हैं, ऐसा धर्मधुराधर पुण्यसिंह इस कलियुग में जयवन्त हो ॥ ३८ ॥ एक-सुमेरु, सुरगुरु, हरिमुरारी, रुद्र-समुद्र, चन्द चन्द्रिका, इन सबसे पुण्य मे उन्नत तथा बुद्धि से निर्मल है, तथा स-पूर्ण रत्नों के सहित होने से पृथ्वी पर यह पूर्णसिंह नाम से प्रसिद्ध है ॥३६॥

पुण्यसिंह हमेशा विशालकीर्ति यति (संवत १२६६-७१) को भजते थे। ये कुंदकुंदाम्नाय और सरस्वती गच्छ के थे। स्याद्वाद विद्यापति (अजमेरगादि के पट्टाधीश) और इस धरत्री पर उत्कृष्ट तपोनिधि थे ॥ ४० ॥ वे कवि, उपन्यास के कर्ता परवादिमद को नष्ट करनेवाले, प्रचुर प्रेमरस को बहाने वाले थे। इनका श्रुतभंडार विपुल तथा समृद्ध था ॥४१॥ ये योगशास्त्र के अभ्यस्त, मीमासक-साख्य आदि कुवादि सर्पों का दर्प हरण करने वाले गरुड़ थे, और विद्युत जैसी चंचल तथा दिव्यवाणी के धारक थे ॥४२॥ इनके शिष्य शुभकीर्ति थे, जो तपोनुष्ठान में निष्ठा रखने वाले, संसार-विकार से भयभीत स्वभावतः ही गुणारागी थे। प्रारब्ध के अनुसार मृत्यु महोत्सव के समय अदेह दशा प्राप्ति के हेतु यह निसारदेह छोडते समय इन्होने पचाक्षरी मत्र का मध्यस्थ भाव से ध्यान किया था ॥ ४३ ॥ इनके शिष्य धर्मचंद मुनि (सवत् १२७१ से १२६६) थे, जो सिद्धान्त सागर के पादगामी, विख्यात तथा शुद्ध चरित्र थे। इनकी यशः-कीर्ति नारसिंह से भी बढकर थी, और हमीर भूपाल ने इनका सत्कार किया था ॥४४॥ इनके चरण सानिध्य में प्रतिष्ठा योग्य मानस्तभ को धनिक श्रीपूर्णसिह प्रगट करते भये ॥ ४५ ॥

इस तरह तीनो लेख स्पष्ट करते है कि (१) साहु जीजा के पूर्वज मूल चित्तोड के निवावासी न थे। वे कच्छ देश की किसी नगरी के रहने वाले थे और यात्रा निमित्त साहु जीजा का आगमन यहा हुआ था। (२) साहु जीजा ने सिर्फ चित्रकूट में ही कार्य नहीं किया था तो यह उनका अन्तिम कार्य था। इसके पूर्व मे मूर्तिलेख मे उद्धृत—अष्टोत्तरशतमहोत्तुग शिखरप्रासाद समुधरणधीर-त्रिलक्षश्रीजिनमहाबिंबोधारक — अष्टोत्तरशत श्रीजिन-महा प्रतिष्ठाकारक—अष्टादशस्थाने अष्टादशकोटि-श्रुतभंडार संस्थापक—सवालक्षबदीमोक्षदायक—आदि अनेक विशेष गुणों पर इन शिक्षालेखों से प्रकाश पड़ा है। अकोला के सेनगण दि० जैन मदिर मे मूर्तिलेख को प्राप्त होने पर मै सोचता था कि, चित्तौड़ के गौरव का उल्लेख करने वाली सामग्री वहां से सैकड़ों-हजारो मील दूरी पर पर प्राप्त हो सकती है, तो क्या उसके इर्द-गिर्द प्राप्त न

होगी ? जरूर होगी। और उसी भावना से मैंने उस मूर्तिलेख (स० १५४१) को प्रकाशित किया था। उक्त शिलालेखों से नष्ट हुयी सामग्री को अन्य जगह का संशोधन करके तथा भाटो के पास की वंशावली से प्राप्त हो सकती है। वहां के विद्वानों से इसकी उपेक्षा करना अनुचित होगा।

तथा लिखते समय समाधान होता है कि, जिन मूर्तिलेख से मुनि कांतिसागर ने इस कीर्तिस्तभ को १५-१६ सदी का ठहराने की कुचेष्टा की उस मूर्तिलेखकों को मुझे देखने का सुअवसर मिला। और उसमे 'श्रीमत् वृद्धसेनगण घरान्वये' न होकर' श्रीमन वृषभसेनगणाथरान्वये'...श्रीमेदपाटदेशे चित्रकूटनगरे श्रीचंदप्रभजिनेन्द्र चैत्यालयस्याग्रे निजभुजोपार्जितवित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तंभ आरोपक साहु जीजा सुत साहु पुर्नसिहस्य 'आम्नाये'... आदि स्पष्ट लेख है। 'आम्नाये' इस शब्द को टालकर संवत् १५४१ के मूर्तिलेख मे उद्धृत सभी घटना को उसी कालीन बताया त्यागी तथा सत्यशोधक ऐसे मुनि जी को कितना उचित है, इसका वे ही विचार करे। 'खण्डहरों का वैभव' किताब में भी ऐसी अनेक बातें उल्लिखित हैं। उन सबका वे स्वयं परीक्षण करेंगे और सही घटनाओं पर प्रकाश डालेंगे ऐसी मैं उनसे प्रार्थना करूंगा। साथ ही साथ साहु जीजा तथा पूर्णसिंह के मूल स्थान, कार्य गुरु परपरा इसके ऊपर विद्वान अधिक प्रकाश डालेंगे। ऐसी शुभ कामना के साथ मैं इसको समाप्त करता हूँ।

★

ढूंढाड़ी भाषा की जैन रचनाएँ

डा० गंगाराम गर्ग

राजस्थान की मारवाड़ी, ढूंढाड़ी, मेवाती, हाड़ौती आदि विबिध बोलियो मे प्रथम दो बोलियाँ ही साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित हो सकी हैं। मारवाडी (मरु भाषा) और ढूंढाड़ी को साहिहिक गौरव प्रदान करने में क्रमशः श्वेताम्बर वौर दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों का बड़ा योग है[1]। मारवाड़ी के समान ढूढाडी मे भी पिछले चार-पांच सौ वर्ष तक की पर्याप्त रचनाएं गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं में उपलब्ध है किन्तु प्रसिद्ध विद्वान अगरचंद नाहटा द्वारा संवत् २०१० मे ही इस ओर संकेत दिये जाने पर भी[2] ढूढाड़ी के साहित्य की तरफ अधिक ध्यान न जा सका। प्रस्तुन निबध में पाच मन्दिर टोंक मे उपलब्ध दो गुटकों मे विद्यमान कुछ ढूढाड़ी रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है :—

१. नेमनाथ कल्याणक वर्णन :—इसकी रचना पौष शुक्ला ११ सदत् १७५४ को ईसरदा ग्राम में हुई। ग्रथ के रचयिता अनूपचन्द वरवतराम सघी के पुत्र थे। इसमे ६३ दोहे और सोरठे है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे तीर्थंकर नेमिनाथ जी का गुण गान किया गया है—

तेरे गुन सुमरन करै, नति प्रति मन वच काय।
सो नर सुर सुख भुगति कैं निसचै सिव सुष पाय।

पचकल्याणको के वर्णन में जन्म कल्याणका के उत्सव की भांकी अधिक आकर्षक है—

अठ जोजन ऊंचो करयो, एक कलस को भेव।
षीर समुद जल ल्यावहीं, इन्द्रादिक सब देव।२३
प्रभु के सिर पर ढारिक, करे कल्याणक सार।
अपनी बुधि सम वीनवै, मघवा बारंबार।२४

१-२. राजस्थानी जैन साहित्य मरुभाषा मे बर्णयो है। इसमे श्वेताम्घर सम्प्रदाय के खरतर गच्छीय विद्वानों द्वारा रचित साहित्य अधिक है।···दिगम्बर विद्वानां ढूंढाड़ी भाषा मे भी साहित निर्माण किया है।
राजस्थानी गद्य साहित्य : उद्भव और विकास, ५, पृ० १८९।

पीछै इन्द्राणी सब, प्रभु को रूप निहारि ।
भणिमय ग्राभूषण सबै, पहराये ग्रतिसार ।।

'नेमनाथ कल्याणक वर्णन' तेरहपथी मन्दिर टोंक में प्राप्त गुटका नं० १०० ब के पृष्ठ ३१-३८ पर सग्रहीत है।

२. **नेमीसुर जी की बीनती**—इसके रचयिता मोहनसागर के शिष्य मनरूप है। कवि ने ग्रपने गुरु को सकल कलाग्रों में प्रवीण कहा है। नेमिनाथ जी के वैराग्य की कथा में राजमती विरह का प्रसंग बड़ा मर्मस्पर्शी है—

राणी तो राजत बीनवै थान्हा ग्रादि सनेह ।
नवभव केरी प्रीतड़ी हो नेम जो, थंजिन छांड़ो नेह ।
लाग शाहिमी जेम कहै, ग्रोर वरो भरतार ।
नवभव ग्रेहो ग्रा ाडो, हा नेमजो, सावलियो सरदार ।
समझाई समुझै नहीं, राजल राज कुवारि ।
वोछै जल ज्या माछली, हा नमजी, करती दुष ग्रपार ।

यह रचना तेरहपंथी मन्दिर टोंक मे विद्यमान ग्रंथांक १०० ब के पृ० १४५-१४६ पर सगृहीत है।

३. **बोनती मलूकदास**—मलूकदास की यह विनती उक्त ग्रन्थ के पृ० १४६-१४८ पर ग्रकित है। कवि ने प्रारम्भ में शारदा ग्रोर गुरू की स्तुति करते हुए जिनेन्द्र की महिमा का वर्णन किया है—

जिण जी गढ़ गिरनारि सुहावणं, जिण जी जीठै है
सध्या नेमकुवार ।
जिण जी तप कीयो केवललीयो, जिण जी पहुच्यो है
मुकति मुझारि ।
जिण जी इन्द्रादिक सेवा करै,
जिण जा इन्द्राणो गावै छै गोत,
जिण जी मलूकदास की वोनती,
जिणजो रासो चरना पाति ।

४. **रिषभ जी को मगल**—उक्त ग्रन्थांक के ही पृ० १०३-१०५ पर रूपचंद कृत 'रिषभ जी को मंगल' संगृहीत है। ढा० प्रेमसागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य ग्रौर कवि' में पृ० १६८-१७४ पर पाण्डे रूपचन्द के कई ग्रन्थों की चर्चा करते हुए उन्हे हिन्दी का समर्थ कवि माना है। 'रिषभ जी कौ मगल' उन रचनाग्रों के ग्रतिरिक्त ढूढाड़ी में ११ छद की छोटी सी रचना है। इसमें ग्रादि तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म से लेकर समवशरण तक का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। समवशरण की छवि दृष्टव्य है —

समोसरण ग्रति है वड़ो, दीठड़ो, चउमुख देव ।
ग्रमर सचर नर सेवक बाजो, नर ग्रति बय्या जो ।८
हाटकवणो सरीर हौ, उतर्या जण भवतीर,
गरिवा हो गणधर धारक, चौरासी बण्या जी ।।६

५. **सवा सौ सीष** :—तेरहपंथी मन्दिर, टोंक के ग्रन्थाक ५० ब के पृष्ठ ११६-१२२ पर यह रचना सग्रहीत है। इसके लेखक विजयहर्ष हैं। श्री विजयहर्ष ने इसमें ३५ छदों मे सवा सौ शिक्षाये लिखी हैं—

भोजन उपमा न कहै भूडो,
ग्रपणी जाति बिचारै ऊडी ।
जिण सांभलता उपजै लाज,
एहौं मैं कहै बयण ग्रकाज ।

६. **कलियुग महिमा**—उक्त ग्रन्थांक के पृ० १२६-१३० पर १० छद का 'कलियुग महिमा' उपलब्ध है। इसके लेखक करमचद हैं। कवि के ग्रनुसार कलियुग के दोषों ने ही उसे रचना लिखने के लिए प्रेरित किया है। कलियुग की विडम्बनाग्रो के सम्बन्ध में कवि तुलसीदास जैसे विचार ही प्रकट किये गये हैं।

नीच तणाइ घरि लिषमी लोला,
उत्तम घर उडायौ ।
निरधन नै घरि बेटा बेटी ।
धनवत एको न पायौ रे ।६
न मिलै बाप संघातै बेटो,
घणो मनोरथ जायौ ।
हाथ उपाड़ै, मानै ताड़ै,
रमणी नै उम्हायो रै ।७

७. **हितोपदेश वैराग्यरूप**—उपर्युक्त ग्रन्थाक के पृ० १३८-१३६ पर यह रचना सगृहीत है। इस रचना के लेखक महमंद है—'महमद कहै वस्तु बौरीय, जे क्यों ग्रावे रे साथ। ससार की नश्वरता का बोध कराना ही रचना का उद्देश्य है—

भूलौ मन भमरा काई भमौ भमौ दिवस नै राति ।
माया नौ बांध्यो प्राणियौ, भमै परमल जाति ।२

कौ ना छोरू कौ नां वाछरू कौ न माय नै बाप।
प्राणा जायै छै एकला, साथें पुन्य नै पाप ।।३

८. वीनती मनोहर—मनोहर कवि द्वारा लिखित ८ छंद की 'वीनती' तेरहपथी मन्दिर के ग्रन्थांक ५० ब के पृ० ६७-६८ पर अंकित है। मनोहर ने इसे चाकसू (चम्पावर्ती) में लिखा। 'वीनती' में कवि ने भगवान् शान्तिनाथ के दर्शन की उपलब्धि का वर्णन किया है—

रोग सोग दुष द्वंद गया, जिण के देषता रे हां।
रोम रोम आनंद भयो, प्रभू पेषतां,
चरण सफल करि जात, घात करि पाप की।
पुंनि भरे भंडार सार करि आपकी
मंगला कोड़ि कल्याण हुवा जिण गावतां,
मंदिर देषि जिणंदा सुभावन भावता।

९. 'वधावो'—उक्त ग्रन्थाक में उपलब्ध हर्षकीर्ति की इस रचना मे भगवान ऋषभदेव के जन्मोत्सव का वर्णन किया गया है। इस रचना मे ११ छद है—

श्री बाजा बजिया घरां जहां जनम्या है श्री
रीषभकुमार।
बाजा बाजिया घरां राजा नाभि वधावरणां घरां,
मरुदेवी कुषि लीयो अवतार ।।२

१०. वीनती चन्द्रप्रभ की—हर्षकीर्ति की 'वधावो' रचना के के बाद उपलब्ध ८ छदों में यह रचना भोनराज की है। रचना का प्रारम्भ सरस्वती और सद्गुरु की वंदना से करते हुए कवि ने चन्द्रप्रभु के गुणो का गान किया है—

ता कौ तो ग्यांन अनंत हो भव्य प्राणी,
जी हों पार न को पावै नहीं जी,
सुरनर करही विचार हो भव्य प्राणी,
जी हो जिनका गुण गावै सही जी ।।

११. श्री नोकार :—ग्रन्थांक ५० ब के गुटको मे ही पृ० ४६-४७ पर अज्ञात कवि की रचना 'श्री नोकार' संगृहीत है। इसमें ११ छंदों मे श्री नमस्कार मंत्र से तारे गये प्राणियों का नामोल्लेख करते हुए उसका चमत्कारी प्रभाव कहा है—

हो आगै जी मुकत्या वै गया,
अरु और भी वं ही जाइ।६
श्री नौकार का परभाव सैं
अर कटै करम की पासी ।।१०

१२. जिनवाणी :—तेरहपंथी मन्दिर टोंक के गुटका नं० ५० ब के पृ० ४४, ४६ पर किसी अज्ञात कवि की यह रचना उपलब्ध है। इसमें ससार की नश्वरता बतलाते हुए जिन वाणी को धारण करने का उपदेश दिया गया है—

लष चौरासी रै जीवड़ा तु जोनिनों में जी,
तु तौ फीरीयो छे बार अनंतौ।
दुष दुरगति का रै जीवड़ा तै भोगिया जी,
तै तो जाण्यो नै जीण को महंतो।

१३. जीणवाणी—उक्त गुटके के पृ० ४७-४६ पर ६ छद की एक दूसरी 'जीणवाणी' भी है। 'इसमें 'कुमति' को प्रतारणा दी गई है—

तेरी संगति कौन भलै री, मीथ्या ममता सषी तेरी।
जा कै घट न बैठ न पावै, वाकौं दुरगति लै पहौचावै।८

१४. जिन भक्ति—उसी गुटके के पृष्ठ ४२-४४ पर एक रचना 'जिनभक्ति' है। इसमे जिनभक्ति के द्वारा तरे हुए प्राणियो की चर्चा करते हुए जिन भक्ति की महिमा गाई गई है—

सिंह स्याल सम ह्वै चलै, मदगल मद तजि जाय।
जिनवर नाम प्रभाव स्यौं, सरप माल सम काय।

१५. सहेल्यो गीत :—उक्त गुटके के पृ० ८२-८४ पर अकित 'सहेल्यो गीत' सुन्दर कवि की रचना की है। डा० प्रेमसागर जैन से सुन्दरदास कवि की रचनाओं की चर्चा हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि मे पृ० १६१-१६४ पर की है। उन्हे ७ पद्य की रचना 'धर्मसहेली' वधीचंद मन्दिर जयपुर मे प्राप्त हुई थी। किन्तु 'सहेल्यो गीत' में १० छद है। फिर भी दोनों रचनाए एक भी हो सकती है। कवि ने सख्य स्थापित करके मन को प्रबोधन दिया है—

सहेल्यो हे नरक निगोद्या मांहि,
रुलि आयै चौरु काल कौ जी,
सहैल्यो है जहां कोई अपणौ नांहिं,
दुष सहै तहां एकलौ जी ।।३

★

ब्रह्म साधारण की पहली कृति कोइलपंचमी कहा

डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

कवि ब्रह्मसाधरण अपभ्रंश भाषा के कवि हैं। उनके द्वारा लिखित कोइलपंचमीकहा, मउड सत्तमीकहा, रवि-वयकहा, तियालचउवीसी कहा, कुसुमंजलिकहा, निद्दुसि-सत्तमीवयकहा, णिज्झरपंचमीकहा और अणुपेहा उपलब्ध हैं। संभव है, उन्होंने और भी ग्रन्थ निर्मित किए हों। जैन मन्दिर व शास्त्र भण्डारों को देखने से अन्य ग्रन्थों की प्राप्ति संभावना बढ़ सकती है। उपलब्ध रचनाओं को रच कर विराम नहीं ले सकता। निश्चित ही उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिख कर साहित्यिक क्षेत्र में विशेष योगदान दिया होगा।

कवि की उक्त रचनाएँ एक ही जगह संग्रहीत हैं। अभी तक एक ही प्रति उसकी उपलब्ध हुई है, जो कि श्रद्धेय पं० परमानन्द जी के पास है। उनकी कृपा से यह प्रति मुझे सम्पादन के लिए प्राप्त हो सकी। तदर्थ मैं शास्त्री जी का अत्यन्त आभारी हूँ। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी व भारतीय इतिहास के मूर्धन्य विद्वान हैं। पाठादि निर्धारण में उन्होंने यथावश्यक सहयोग दिया है।

प्रस्तुत कथासंग्रह की प्रति अच्छी है, अक्षर सुवाच्य हैं। कुल पत्र वीस हैं। प्रत्येक पत्र १०॥ इच लम्बा और ४॥ इच चोड़ा है। पत्र में प्रायः १२ पक्तियाँ हैं। हर पंक्ति में प्रायः ३५ अक्षर है। प्रत्येक पत्र के बीच में वृत्ताकार ताडपत्रीय प्रतियों के सदृश कुछ जगह छोड़ दी गई है जो प्रति की सिलाई के निमित्त रही होगी। कहीं-कही छेवा लगाकर प्रति को सुधारा भी गया है।

ब्रह्म साधारण ने इन कथाओं के आदि-अन्त में अपना परिचय नही दिया और न रचनाकाल का समय ही दिया है। मात्र उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का निर्देशन अवश्य किया है। तदनुसार वे आचार्य कुन्दकुन्दान्वयी परम्परा मे हुए थे। उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—रत्नकीर्ति, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, हरिभूषण, नरेन्द्रकीर्ति, विद्यानंदि और ब्रह्म साधारण।

प्रस्तुत कथासंग्रह की यह प्रति वि० सं० १५०८ की (सन् १४३०) की लिपि की हुई है। अतः कवि १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान हो सकता है[1]।

यहाँ कोइलपंचमीकहा को मूलरूप देने के साथ ही उसका संक्षिप्त हिन्दी भाषान्तर दिया जाता है—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्रान्तरगत कुरु जंगल देश स्थित रायपुर नामक नगर में वीरसेन राजा राज्य करते थे। उसी राज्य मे धनपाल सेठ अपनी धनमति के साथ सुखपूर्वक रहते थे। उनका पुत्र धनभद्र और पुत्रवधू जिनमति थी। जिनमति कुशलगृहिणी और दान पूजा में अभिरुचि रखने वाली थी, परन्तु उसकी सास धनमति को जैनधर्म से अधिक प्रेम नही था। दोनों के बीच यही एक खाई का कारण था।

कालान्तर में धनपाल काल कवलित हो गया। कुछ समय बाद विषण्णवदना धनमति का भी देहावसान हो गया और पापकर्म के कारण उसने अपने ही घर में कोयल का जन्म धारण किया। दुर्भाव वशात् वह जिनमति के शिर मे हमेशा टक्कर मारकर उसे दुःखित करती रही।

एक दिन श्री श्रुतसागर नामक मुनिराज वहाँ आये। वे अवधिज्ञानी थे। धनभद्र व जिनमति ने उन्हें आहार दान देकर कोयल की गतिविधियों के सन्दर्भ में प्रश्न किये। मुनिराज ने बताया वह तुम्हारी जननी है। मुनि के आहार दान में अन्तराय डालने के कारण वह कोयल हुई। धन व लब्धि प्राप्त करेगी। इसके बाद संसार की असारता का वर्णन किया और पाँच वर्ष तक आसाढ़

१. शास्त्री पं० परमानन्द जी, प्रशस्ति संग्रह भाग २, प्रस्तावना, पृ० १२८।

कृष्ण पक्ष में उपवास करने पर उद्यापन करने को कहा।

यह सब सुनकर कोयल मूर्छित हो गई। जल सिंचन कर उसे सचेत किया गया। पश्चात् वह धर्मोपदेश श्रवण कर सन्यास पूर्वक दिवगत हुई।

दम्पति ने भी कोकिल पंचमी व्रत विधिपूर्वक पूरा किया और समाप्त होने पर उसका उद्यापन किया। कालान्तर में वे भी सलेखना पूर्वक स्वर्गवासी हो गये।

जीव दया पालन करने का यह फल है। कोकिल पंचमी व्रत इसकी प्राप्ति का साधन है।

कोइलपंचमीकहा

रिसहपमुह जिण पणविवि सरसइ चित्त धरि।
कुंदकुंदगणि पह-ससि 'पंकयणंदि' भरि॥
गुरु भायर हरि भूसण णिज्जिय पंचसरे।
गुरु 'णरिंद कित्ती' सर विज्जाणदियरे॥
वंदभि वयंविहि भासमि णिसिणउ भाउकरि।
जंबुदीउ भरहंतरि 'कुरु जंगल' वरिसे॥
सुरसरि जल कल्लोलहि धवलिय रायपुरे।
'वीरसेण' णिव पालिय वज्जिय चोरणरे॥
पट्टघरिणि सुहमइ मिग-णयणि।
वणि धणवालु पुरंधिणि धणमइ ससि-वयणि॥
तणरुहगुणसंपण्णउं धणभद्दो पवरु।
वणिजिण भत्तहो णंदणि जिणमइ गहियकरु॥
पुज्जमहिम मुणिभोयण साविय दिढ कुसलि॥
सुण्हा चरणु ण भावइ सासुहि विहिय कलि।
दाणुपुज्ज विरयंतहं कलहु जि होइ घरे॥
जिणमइ दाण विहूणी अच्छइ दुक्खभरे।
ता धणवालु वणीसरु कालेचत्त तणु॥
परिदेवणु दंपइ किउ जाय विसण्णमणु।
धणमइ भज्ज अलक्खणि पोसइ अप्प तणु॥
भत्तारहो ण विरोवइ सो सुणकरइ खणु।
सुण्हा सासुहि भासिउ पियरह मेलि धम्रो॥
कत्तियकिण्ह चउद्दसि भोयणु वहुलु कम्रो।
देव पियरजण छडिवि अप्पुणि भुत्तिकया॥
णिसि अज्जीण करालिय दुक्खहि पाण गया।
सावयकुलु छंडेप्पिणु झत्तितिरिक्खि हुआ॥
गिह अग्गेंदु मडालहि कोइल पाव कया।
जिण पुज्जा धणभद्दो जिणमइ दाणरया॥
त्रिविह पहावण विरयहि पालहि जीवदया।
पडहु देखि ण सक्कइ दुब्भासहि रज्जइ॥
कोहाणल संजुत्तो सुण्हहि सिरे पडइ।
पवरि वि सतहु लोयहं टंकर देइ खणे॥
जिणमइ वहु संताविय जाणिय अप्प मणे।
तहि अवसरि सुयसायरु पत्तउ तासु घरे॥
अवहीसरु पडिगाहिउ जिणमइ भत्तिकरि।
उच्चासणि पय-खालिय भोयणु भत्तिकउ॥
अलयदाणु भणि मुणिवरु पवरासणि ठियउ।
वंदिवि जिणमइ पूंछिउ पक्खिणि वावरिउ॥
गेह कवाडे लीणो पेक्खइ मुणिचरिउ॥
अवहीसरु मुणि भासइ दंपइ सुणहि थिरु।
एह जणणि तुवणाह हो धणमइ मुइयचिरु।
अन्तराय मुणि दाणहो पाविय दुक्खभरु॥
मुणिवरवयणं देहि मपच्छत्तावसरु।
हाहा माणुसु णिग्घिणु सावय मग्गचुउ॥
हिंडइ भव सरिणाहे दुक्खम णेयजुम्रो।
सामिय तह उवएसहु जह मणुयत्तभवे॥
पक्खिणि तुव गिर पाले वि गच्छइ लद्धजवे।
मुणिवरु भासइ कोइल पंचमि विहि करहु॥
तिमिरपक्खि आसाढहि उववासे चरहु।
पञ्च वरिस कत्तिय तम उज्जवणउ णिसुणि॥
साम वण्ण जिणणाहहो पुज्जाण्हवणु मुणि।
झल्लरि कलसभिंगारा चामर पवरहिं॥
घंटाघय कंसाला जिणचेयालयहिं।
किज्जइ विविह पहावण णच्चणतूरविहि॥
गीय सद्दभेरी खदंसिय परमदिहिं।
जल चंदण कप्पूरहि अक्खयमल्लयहिं॥
चरुदीवावलि धूवहि बहुफल थुत्तयहिं।
भुत्ति पुराण मुणीसहो वच्छलेण सहु॥
विमल गुणेहि पसाहिय सजय वित्तिजहु।
पच भेय पक्वण्णइ पंचा सुथाल भरि॥
कुंभपचातिलमाणाविज्जहि भविय घरे।
इय मुणि वयण सुणंती कोइल मुच्छ गया॥
अप्प भवंतरि जाणेवि कंदती घुलिय।

जल पवणहि ग्रासासिव चेयणपत्तपिय ।।
भवहीसर संबोहिय वय विहिसंगहिय ।
सण्णासें तणु छंडिवि पक्खिणि सग्ग गया ।।
सुयसायरु उवएसेविगिरि कंदरह ठिया ।
वयविहिकरि उज्जवणउ दंपइ परम सिया ।।
काराविउ जणमणहरु मंगल विविह किया ।
दाणु पुज्ज विरयंतहं णिर ग्रावासठिया ।।
सत्थपुराण सुणंतह सीलालंकरिया ।
परियणु पुत्तहिं मडिय सुहसायरे रमहिं ।।
जिणवर जत्तकरावहि भोयण विहि समहिं ।
तामकाल ग्रवसाणें सल्लेहण मुणिवि ।।
जिणवरिंदु ग्रच्चेपिणु ग्राराहण सुणिवि ।।
परम मंतु झायंतहं दंपइ ग्रमरपुरे ।
संपत्ते सुह पावहि सेविय विविह सुरे ।
पवर विलासकर तहं सायर काल गया ।।
मेरु जिणालय वंदहिं दसण मूलरया ।
ग्रण्णजि वयविहि पालहि ते ग्रमरिंद तणु ।।
पुणु णरिंदकित्ति तणु पालिय जीवगणु ।
मुणिवरिंद वय पालि वि पावहि, मुत्तिसिया ।
पुव्व मुणिदहिं भासिय, जह तह एह किया ।।
सरसइ खमउ भडारी सुरणरथुवचरणा,
महु परमत्थपयासउ भवसायरतरणा ।
विज्जाणंदिय दंसण साहारणभणिया ।
पंडिय सोहि पयासहु कोइल पचमिया ।।

इति श्री नरेंद्रकीर्ति शिष्य ब्रह्मसाधारण कृत कोकिला पंचमी समाप्तः ।

★

वैदेही सीता

श्री सुबोधकुमार जैन

राम ने सीता को स्वयंवर मे पा ही लिया। दोनों का विवाह हो गया और वापस अयोध्या पहुँचते-पहुँचते सचमुच में राम बदल गये। आत्मा-परमात्मा, अध्यात्म, कर्मवाद, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की महत्वपूर्ण गोष्ठियाँ उनके प्रासाद में होने लगीं।

गुरु वशिष्ठ की भृकुटी चढ़ी। और जब राम को यह सूचना मिली कि राजा दशरथ, माँ कैकयी के कोपभवन में बेहोश पड़े हैं तो वे दौड़ पड़े।

दरवाजे पर ही चिन्तित सीता मिलीं।

राम ने पूछा—'क्या हुआ ?'

सीता ने बस इतना ही कहा—'आत्मशक्ति और त्याग की परीक्षा का समय आ गया है, चूकना मत। शीघ्रता करो पिता जी की हालत खराब है।'

राम को पूरा उत्तर नहीं मिला, वे असमंजस में दौड़े।

दशरथ का माथा राम के कन्धे पर। दशरथ बेहोश। राम वैद्यों द्वारा बतलाई प्राथमिक परिचर्या में संलग्न।

जब वैद्यों ने बताया कि होश आ रहा है तो कुछ चैन से राम ने मां कौशल्या से पूछा—'मां यह सब कैसे हुआ ?'

क्रोधित होते हुए जब कौशल्या ने चुपचाप बैठी कैकयी की ओर देखते हुए कहा—'इससे पूछ।' तो राम और भी चिन्तित हो गये।

उन्हें इशारा मिल गया कि कोई गोपनीय और गूढ़ बात हुई है।

गुरू वशिष्ठ और परिवार के व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी कमरे के बाहर हो गए।

दरवाजा बन्द होते होते फुंकार मारती हुई कैकयी बोली—'मुझे बात बनानी नहीं आती। मैं सीधी बात करना जानती हूँ।'

फिर दशरथ की ओर अंगुली से दिखाते हुए वह

बोलती रही—'मैंने इनसे कौन सी ऐसी भीख माँगी हैं कि सुनते ही ये बेहोश हो गये। मैंने इनसे इन्हीं के दिये हुए वर की मांग की है। अगर हिम्मत नही थी तो वर क्यों दिया था? क्या राम ही उनका बेटा है? भरत उनका बेटा नहीं है? तुम्हारी मां कहती हैं कि वर वापस ले लो, इनकी दशा देखो, फिर कभी मांग लेना! परन्तु फिर मांग कर ही क्या होगा, जब कल तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाएगा?'

कुछ सांस लेकर वह बोलती गई—'मैं सीधी बात जानती हूँ, तुम्हें १२ वर्षों का वनवास और भरत का राज्याभिषेक। इस शर्त को मैं वापस करने को किसी दशा में तैयार नहीं हूँ।'

इतना कह उसने गुरु वशिष्ठ की ओर विजयिनी की भांति देखा और फिर गर्विणी की भांति मुह फेर कर बैठ रही।

इतनी सारी बातें और इस प्रकार सुनने को, राम तैयार नही थे। एक क्षण उन्होंने सीता की ओर देखा। सीता के मुखमण्डल पर चिंता की एक भी रेखा नहीं थी। उसके गौरवपूर्ण मुख पर एक हल्की सी मुस्कराहट थी। बिना बोले ही सीता ने जो कहना था कह दिया और राम हँस पड़े।

जब तक कि हँसते हुए राम की ओर कैकयी मुड़कर देखे, राम की संयतपूर्ण वाणी ने सब को आश्चर्य मे डाल दिया। स्वयं केकयी हतप्रभ हो गई। केकयी से राम संपूर्ण विनय पूर्वक बोले—'मां! बस इतनी सी बात थी?' और वे फिर हंस पड़े।—'पिता जी को इतनी सी बात के लिए आपने क्यों कष्ट दिया? आपकी दी हुई आज्ञा, क्या कभी राम अस्वीकार कर सकता है? मा, आप तो मुझ पर कभी क्रोधित नहीं हुई। अपना क्रोध छोड़ दें। मुझे आपकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार है।'

और इतना कह कर राम इस प्रकार फिर पिता की परिचर्या में लग गये, जैसे कि कुछ हुआ ही नही हो।

गुरु वशिष्ठ ने आवाज दी कि वैद्यों को शीघ्र फिर अन्दर आने दिया जाए। कौशिल्या ने गुरू वशिष्ठ की ओर देखा। जब उधर से किसी सहारे की आशा नहीं रही तो उन्हें काठ मार गया। वे दशरथ के चरणों में गिर कर चेतना शून्य हो गईं।

सारा राज प्रसाद चेतना शून्य हो गया था। नगरवासी विक्षिप्त की भांति इस असम्भव समाचार को सुन कर बड़ी संख्या में राजप्रसाद के चारों ओर एकत्रित हो कोलाहल कर रहे थे।

राम जब सीता के कक्ष में पहुँचे तो सीता को देख कर वे स्तब्ध हो गए। सीता एक वनवासिनी के वस्त्र में वनवास के लिए तैयार खड़ी थी। उनकी दासियां सभी सुबक सुबक कर रो रही थीं।

संयमी राम ने मुस्करा कर पूछा—'यह क्या हो रहा है?'

सीता ने राम की बात सुनी अनसुनी करते हुए मुस्कराते हुए कहा—'आप भी शीघ्र राज वस्त्र उतार फेंकिए।'

राम ने उसी प्रकार हंसते हुए कहा—'पोशाक बदलने से क्या होने को है? इसी प्रकार भी तो मैं जा सकता हूँ। अच्छा, इस बात पर फिर गौर करेंगे। परन्तु तुम्हें किसने वनवास दिया है? क्या मां कैकयी ने तुम्हें भी जाने को कहा है?

सीता ने गम्भीरता से कहा—मुझे किसी ने वनवास नहीं दिया है, मैने स्वयं यह निश्चय किया है।

राम सोच में पड़ गए।

तभी तेज चलते हुए और क्रोध से भरे हुए लक्ष्मण आ पहुँचे। सीता को देखते ही वे ठिठक कर खड़े हो गए। राम ने लक्ष्मण को देखा और फिर कुछ विचारते हुए आसन पर बैठ गए।

लक्ष्मण, भाई से लड़ने आए थे। उनसे कैकयी की अवहेलना करने को कहने आए थे। भरत को ननिहाल से बुला कर उसे युद्ध के लिए चुनौती वे चाहते थे। वे राम से कहने आए थे कि युद्ध से ही फैसला होना चाहिए कि कौन अयोध्या का नृप होगा। पर यहाँ आते ही उन्हों ने जो देखा उससे उन्होंने समझा कि यहाँ तो राम के स्थान पर सीता से लड़ाई करनी पड़ेगी। वे कई बार वैदेही सीता से त्याग और बलिदान के महत्व को सुन चुके थे। सीता के इस विश्वास पर वे शंका प्रकट कर चुके थे कि—'कर्मकाण्ड, आत्मशक्ति से ऊपर नही है।'

पर सीता की निष्ठा को वे किसी भी प्रकार डिगा नही सके थे। वे जानते थे कि वैदेही सीता अपने पिता जनक के विचारों से कितनी ओत-प्रोत है। हा, कभी-कभी स्वय लक्ष्मण को ऐसा आभास मिलने लगा था कि सीता के विचारों से वे भी प्रभावित होने लगते है। वे दौड़ कर गुरू वशिष्ठ के पास जाने और सीता के विचारों के प्रभाव को दूर कराने की कोशिस करते, पर गुरू वशिष्ठ केवल जनक को जली कटी सुनाते एव कहते कि सीता का इस घराने में आना शुभलक्षण नहीं है। महाराज दशरथ न जाने कैसे विश्वामित्र की चाल में फंस गए।

तो लक्ष्मण की हिम्मत सीता से कुछ कहने को नहीं हुई। सीता से बहस में वे जीत सकेंगे इसमें उसे शका थी। उन्हें याद आ गया, सीत का अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और इन सिद्धान्तों पर सीता का गहरा अध्ययन और उनकी सम्यक्दृष्टि। वे जानते थे कि राम सीता के विचारों का कितना आदर करते हैं। लक्ष्मण का क्रोध काफूर हो गया। वे नतमस्तक हो राम के चरणों में बैठ गए।

राम सम्यक्दृष्टि थे। आठ प्रकार के भय उनमें नहीं थे। सम्यक्दृष्टि के आठो अंग उनमें पूर्ण थे। और जो ऐसा सम्यक्दृष्टि हो उसे सत्य को जानने में विलम्ब नहीं होता। सत्य पालन करने में किसी प्रकार का डर नहीं लगता।

राम ने उस स्थान की नीरवता भंग की। बोले—"सीते! क्या तुम वनवास के अपने सारे कष्टों को दिखा कर मुझे भी दु:खी देखना पसन्द करोगी?'

निश्चल मन से सीता ने कहा—'आप जैसे व्यक्ति की छाया में क्या कभी मैं दु:खी रह सकती हूँ। और जब मुझे ही किसी बात का कष्ट अनुभव नही होगा तो आप के दु:खी होने का प्रश्न ही नही उठता।'

राम ने अन्तिम प्रश्न पूछा—'तो क्या तुम्हारा यह अन्तिम निश्चय है?'

सीता ने हल्की मुस्कान लाकर कहा—'बिना आपकी आज्ञा के मैं इस विषय पर अन्तिम निश्चय कैसे कर सकती हूँ? हाँ, अगर आपने आज्ञा नहीं दी तो बाद में मैं क्या करूँगी, उसका निश्चय कर चुकी हूँ।'

राम ने भृकुटि सिकोड़ते हुए पूछा—वह क्या?'

वैदेही सीता ने उसी सरलता से उत्तर दिया जैसे कि कोई बिल्कुल महत्वहीन बात हो—'बोली, मैं देह त्याग दूगी।'

राम और लक्ष्मण आश्चर्य से उठ खड़े हुए। राम ने पूछा—मतलब?'

सीता ने उसी सरलता से उत्तर दिया—'मतलब साफ है, मैं शरीर का त्याग कर दूंगी।'

राम ने महान् आश्चर्य से पूछा—'क्या आत्मघात करोगी?'

सीता ने उत्तर दिया—'छि: छि:—क्या किसी अच्छे व्यक्ति को आत्मघात करना चाहिए। मैं तो धर्म पूर्वक सल्लेखना ले लूगी।'

राम ने पूछा—सल्लेखना?

सीता ने कहा—'जी, इस विषय पर आपसे अपने पूज्य पिता जी के विचारों को कहने का कभी अवसर ही नहीं मिला। सल्लेखना धर्म पूर्वक, बिना कषाय भाव के देह त्याग कर विदेह होने की एक विशेष विधि है।'

अब लक्ष्मण से नहीं रहा गया। उन्होंने अपना मौन तोड़ते हुए व्यंगपूर्वक कहा—'वाह! आत्मघात के स्थान पर सल्लेखना शब्द का प्रयोग कर उसे धर्म की ओढ़नी से आप ही ढक सकती हैं। दूसरे में ऐसी शक्ति है यह तो मैं नहीं जानता।'

सीता के उत्तर में हल्की फटकार की पुट थी, बोली—'लक्ष्मण अभी तुम्हे बहुत कुछ जानना बाकी है। अभी तुम बालक हो।'

लक्ष्मण को निरुत्तर कर वे श्री राम की ओर मुड़ीं, बोलीं—'अगर सल्लेखना की विधि में आप को शंका हो तो हम पिता जी के पास मिथिला चल कर निवारण करा लें।'

राम ने कहा—'इसके लिए हमारे पास समय कहाँ है? पर क्या तुमने इस पर उनका संपूर्ण विवेचन सुना है।

सीता—'जी, सुना है और समझा है।'

राम—'जब तुमने सुना है और समझा भी है तो शंका करने का कोई कारण भी नही है। चलो अच्छा हुआ, यह अमोघ अस्त्र भी अपने काम मे आयेगा। वनवास के रास्ते मे ही तुमसे जान लूंगा।'

सीता प्रसन्न हो उठी। राम की आज्ञा उसे मिल गई।

वे तुरन्त राम के चरणों की धूलि लगा कर उनके वस्त्रों को उतारने लगी।

अब तक तो लक्षमण किंकर्त्तव्य विमूढ़ थे, पर, सीता द्वारा राम के वस्त्रालंकार का उतारना उनसे नही सहा गया।

वे चीत्कार कर उठे। राम और सीता के बीच में आकर सीता को रोकते हुए बोले—'बस अब बहुत हो गया इन वस्त्रालंकारों को छुआ तो·········।'

सीता आश्चर्य चकित सी बोलीं—'तो क्या करोगे?'

राम ने हँसते हुए लक्षमण को अपने बाहुओं में भर लिया और सीता से बोले—'तो क्या पूछती हो? तो लक्षमण फूट-फूट कर रो उठेगा।'

और, सचमुच लक्षमण जोर से फूटफूट कर रोने लग गए। उन्हें हिचकी बँध गई। सीता और राम उन्हें बच्चे की तरह पुचकारने और समझाने लग गए। जब किसी प्रकार राम, लक्षमण को चुप कराने में समर्थ नही हुए तो उनके नयनों से भी अश्रु धारा वह निकली।

सीता ने स्थिति सम्हाली। उन्होंने लक्षमण को सम्बोधित करते हुए कहा—'तो, अब सँभालो अपने प्यारे भैया को, ये भी तुम्हारे साथ रो रहे है। लक्षमण ने चौंक कर भैया राम का मुखड़ा देखा तो लगे अपने आंचल से उनके नयनों को पोछने और राम लगे लक्षमण के नयनों को पोंछने।

सीता खिलखिला कर हँस पड़ीं।

लक्षमण ने खीजकर कहा—'मुझे जितना चाहो चिढ़ा लो, पर देखता हूँ मुझे भी भैया के साथ वनवास में जाने से कौन रोकता है।'

इतना कहते हुए लक्षमण राम से अपने को अलग करते हुए वहां से चल पड़े। चलते हुए उन्होंने अपने सारे अलंकारों को जहां तहां फेंकना शुरू कर दिया और दरवाजे तक पहुँचते-पहुँचते उनके शरीर पर सिवा धोती और चादर के और कुछ नही रहा।

राम और सीता दोनों अवाक् हो देखते रहे।

इतने ही में उन्होंने देखा कि माता कौशल्या दासियों का सहारा लिए झुकी हुई चली आ रही है। कुछ ही घंटों में वृद्धा सी दीखने लगीं थी।

राम और सीता के वस्त्रों को देख कर वे अचंभित जहां थी वहीं खड़ी हो गई। राम और सीता तब तक उनके पास पहुँच चुके थे।

कौशल्या का शरीर कांप रहा था, उनके पांव लड़खड़ाने लगे थे। राम ने झट उन्हे सम्हाल लिया सीता आंचल से हवा करने लगी।

तभी कौशल्या आवेश पूर्वक सभी सहारों को छोड़ती हुई खड़ी हो गई। उनके पलकों में स्पन्दन हुआ और पल भर में वे संयत पर गम्भीर दीखने लगी।

राम ने पूछा—'पिता जी अब कैसे है?' कौशल्या ने रूखी हंसी से राम को देखा पर बोली सीता से। आंखों से भर भर आंसू बह रहे थे। '—बेटी मैं सब समझ गई। तू जनक की पुत्री है। तू देह को, राज्य को परिवार को कुछ महत्व नही देती। मैं क्या समझू इन बड़ी बातों को। सोचा था, कुछ दिन तुम्हारे साथ रहना होगा तो शायद मेरे अन्दर का मोह ममत्व भी कम हो जाय। —तू राम के साथ है तो मै निश्चिन्त हूँ' और, कौशल्या अचेत हो गई। ●

अनेकान्त के ग्राहक बनें

सत्य के आदर्श की ओर

परमानन्द जैन शास्त्री

आखिर चोरी हो ही गई। अर्ध रात्रि का सन्नाटा छाया हुआ था। कहीं से कोई आवाज नहीं आ रही थी। नगर शान्त और स्तब्ध था। जनता निद्रा देवी की गोद में विलुप्त हो रही होगी। कोई चोर राजमहल मे गया और वहाँ से बहुमूल्य हीरे जवाहरात लेकर चम्पत हो गया। प्रात:काल राजमहल में चोरी होने की घटना नगर में बिजली की तरह फैल गई। राजमहल से रत्नों की चोरी की घटना असाधारण है इससे चारों ओर नगर में आतक छा गया। सदस्यगणों और राज्य मे निवास करनेवाले श्रेष्ठिजन इस आकस्मिक घटना से तलमला उठे। किसी को भी विश्वास न होता था कि परिचारिकों और सैनिकों से संरक्षित राजमहल से बहुमूल्य हीरे चले जायंगे। जो सुनता वही आश्चर्य करता। महाराज वामरथ भी स्वयं इस घटना से चकित हो रहे थे। उनके राज्यकाल में आज तक किसी चोर को चोरी करने का दु साहस नहीं हुआ था। इतने संरक्षकों और परिचारकों के रहते हुए भी चोर का रहस्य अज्ञात ही रहा, वह किसी के दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। पकड़े जाने की तो बात ही दूर थी।

रक्षकों की व्यवस्था और उपेक्षा वृत्ति पर महाराज का क्रोध बढ़ता जा रहा था। इस तरह की उपेक्षा वृत्ति और आलसी वृत्ति से तो लोग राज्य भी लुटा सकते है। शत्रु को आक्रमण का अवसर भी प्रदान कर सकते है। यह नगर रक्षकों का ही सम्पूर्ण दोष है। यह विचार कर महाराज ने यमदण्ड नामक नगर रक्षक को उपस्थित होने की आज्ञा दी।

नगर रक्षक उपस्थित हुआ, उसे देख कर महाराज का क्रोध उबल पड़ा। चोर का पता लगा? उसके आते ही महाराज ने प्रश्न किया। "अभी तक नही लगा महा-राज!" नगर रक्षक ने कम्पित स्वर मे उत्तर दिया। "तुमने प्रयत्न किया'" राजा ने दूसरा प्रश्न किया। चारों दिशाओं में चरों को नियुक्त कर दिया है श्रीमान्! ऐसा विचित्र चोर आज तक भी नहीं देखा।' यमदण्ड ने अपनी असफलता का कारण चोर का विचित्र होना बतलाया।

चोर विचित्र नही है यमदण्ड! तुम्हारा प्रबन्ध विचित्र है। जागृत व्यक्ति ही चोर को पकड़ सकता है। महाराज ने व्यंग किया।

मेरे प्रबन्ध में कोई त्रुटि नहीं है श्रीमान्! यमदण्ड ने दृढता से उत्तर दिया।

महाराज का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि नगर रक्षकों की उपेक्षा के कारण ही यह दुर्घटना घटी। अन्यथा इतने रक्षकों के रहते हुए किसका साहस था कि वह राजमहल मे प्रविष्ट हो सके। राजमहल एक संरक्षित एवं सुरक्षित स्थान है, वहाँ साधारण जन तक का बिना किसी कारण के प्रवेश पा सकना अत्यन्त दुष्कर है। वहाँ बिना किसी आज्ञा के प्रविष्ट हो जाना अति साहस का कार्य है। वह रक्षकों की असावधानता का स्पष्ट द्योतक है यदि रक्षक जागते और सावधान रहते तो चोरी का सवाल ही नहीं उठता। राजमहल मे प्रविष्ट होना तो दूर की बात है। राजमहल में रात-दिन का कड़ा पहरा होते हुए भी किसकी मजाल थी जो अन्दर प्रवेश पा सके। रक्षकों को उपेक्षा ही चोर के प्रविष्ट होने का प्रबल कारण है।

जिस नगर का राजा प्रेमपूर्वक प्रजा का पालन करता हो, नगर धन-धान्य से समृद्ध हो, राज्यकर्मचारियों और नगरवासियों का व्यवहार सरस हो, गरीबी, दरिद्रता और अमीरी का अभिशाप सन्तापजनक न हो। प्रबन्ध मे त्रुटि होना इसका प्रबल प्रमाण है, रक्षा की कमी का सबूत और क्या हो सकता है?

'मैं तुम्हारा ही अपराध मानता हू। तुम्हारी उपेक्षा के कारण ही राज्य को हानि उठानी पड़ी।' राजा ने निर्णय दिया।

चोर अवश्य ही मेरे चंगुल में फसेगा महाराज ! यमदण्ड ने आशा व्यक्त की।

बस, चुप रहो, निरर्थक दम्भ अच्छा नही होता, राजा ने उत्तर दिया।

'मैं सच कहता हू महाराज, चोर मेरी दृष्टि से छिप नही सकता, मेरी शिक्षा असमर्थ नहीं हो सकती।' यमदण्ड ने महाराज के निर्णय पर अविश्वास प्रकट किया।

"सुनो, मैं तुम्हें सात दिन का अवसर देता हूँ। सात दिन में ही चोर उपस्थित किया जाना चाहिए। अन्यथा चोर के स्थान पर तुम्हे दण्ड का भागी होना पड़ेगा।" महाराज ने क्रोध भरे स्वर में आज्ञा दी।

यमदण्ड चुप रहा।

सुन लिया न। जाओ, महाराज ने दुबारा तीक्ष्ण स्वर में उत्तर दिया। यमदण्ड मस्तक झुकाकर चल दिया।

यमदण्ड की चिन्ता अधिक बढ गई। चोर का पता नही लगा तो निश्चय ही मुझे दण्ड भोगना पड़ेगा। इसी चिन्ता में मग्न यमदण्ड नगर के एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक चक्कर काटता रहा। बहुत ही जोर से उसने चारों तरफ दृष्टि डाली, परन्तु चोर का कही कोई सुराग तक न मिला। चोर मिलना तो दूर की बात है। छह दिन बीत चुके थे, और आज उसका अन्तिम दिन था। चोर का पकड़ा जाना असम्भव-सा प्रतीत होता था। यमदण्ड युवक था, धीर था, उसने कभी प्रमाद नहीं किया। बड़ा ही फुर्तीला था, उसकी दृष्टि मे चोर को पहचानने की कला थी। चोर उससे छिप कर कही जा नही सकता था। परन्तु निरपराध दण्ड उसे असह्य था। यह कहना तो अनुचित ही होगा कि वह चोर को ढूढने मे सलग्न न रहा हो, इतना प्रयत्न करने पर भी यदि चोर न पकडा जाय तो उसका क्या दोष ? सभव है वह राज्य छोड़ कर अन्यत्र भाग गया हो, और यह भी सभव है कि वह कही भय के मारे आत्महत्या न कर बैठा हो। यमदण्ड यही सोचता-विचारता व्यर्थ ही यहाँ से वहाँ टहल रहा था। चोर के आत्मघात करने या भाग निकलने पर उसे विश्वास नही हो रहा था। वह सोचता था कि राजमहल मे चोरी करने का दुःसाहस करनेवाला इतना कायर नही हो सकता, वह अवश्य ही यही कही छिपा होगा। यह भी हो सकता है वह मेरा कोई शत्रु हो और मेरे विरुद्ध ही उसने यह षड्यन्त्र रचा हो। अथवा वह अपना भेष बदल कर किसी दूसरे ही भेष में छिपा हुआ हो। जिसपर मेरी दृष्टि न पड़ सकी हो, मैंने नगर के सभी शून्य स्थान भी देख डाले, जिनमे चोरों के ठहरने की संभावनाए हो सकती थी, पर उनमे भी कही किसी चोर का पता नही चला। आज का दिन मुझे दुर्भाग्यसूचक जान पड़ता है।

शत्रु का विचार आते ही यमदण्ड का उत्साह दुगना हो गया, उसका क्रोध उमड़ आया और उसने उसी क्षण निश्चय किया कि मैं चोर को अवश्य पकड़ूंगा। उत्साहित यमदण्ड पुनः अपने कार्य मे सलग्न हो गया।

× × ×

एक स्थान पर उसने देखा, एक भिक्षुक फटे-पुराने चिथड़ों मे लिपटा, क्षुधित, असहाय पड़ा हुआ है। नागरिकों ने उसे चारो ओर से घेर रखा है। नागरिकों को देखते ही वह दीन स्वर मे भिक्षा के लिए प्रार्थना करता है, गिड-गिडाता है, किन्तु भिक्षा मिलने पर उनकी आँख बचा कर उपेक्षा से एक ओर डाल देता है।

यमदण्ड भिक्षुक की यह क्रिया बड़ी देर से गौरपूर्वक देख रहा था, पर भिक्षुक यमदण्ड को अब तक देख नहीं पाया था। उसकी दीन और दुखित अवस्था मे किसी को संशय नही हो सकता था, पर यमदण्ड ऐसे असमर्थ प्राणी पर भी सन्देह कर बैठा।

'चोर यही है' न जाने क्यो उसके मन में विश्वास होने लगा। भिक्षुक की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक स्वर और उसके प्रत्येक आचरण मे यमदण्ड को सन्देह होने लगा। उसकी आर्त वाणी और दीन आचरण सब ढोंग और छल प्रतीत होने लगे। उसे भिक्षुक के कातर चेहरे पर धृष्टता और धूर्तता के स्पष्ट दर्शन हुए। मन ही मन उसने निश्चय किया और दूसरे ही क्षण भिक्षुक के सम्मुख जा खड़ा हुआ। भिक्षुक ने यमदण्ड को एक बार देखा और फिर सदा की भांति दीन स्वर में याचना करने लगा। इस बार उसके स्वर मे कम्पन था। यमदण्ड से वह छिप न सका। उसे निश्चय हो गया कि चोर यही है। उसका क्रोध उमड़ पड़ा। कठोर पाद प्रहार से वह चिल्लाया।

"धूर्त तूने यहाँ भी मेरा पीछा नही छोडा" अनवरत प्रहारों से भिक्षुक के शरीर को जर्जरित कर दिया।

निरीह और असहाय भिक्षुक को पिटना हुआ देख कर नागरिकों की ओर भी अधिक भीड जमा हो गई। भिक्षुक पर नगर रक्षक की निष्ठुरता का आभास हो रहा था। नागरिक परस्पर मे कानाफूसी करने लगे। कोई कुछ कहता और कोई कुछ।

उनमें से एक बोला—यह नगर रक्षक इस दीन एवं असहाय व्यक्ति को क्यों पीट रहा है, ऐसे व्यक्ति पर इसे क्या सन्देह हो गया, इसका कोई कारण ज्ञात नही हुआ। यह तो दया का ही पात्र है। दूसरा बोला—नगर रक्षक बिना किसी सन्देह के कुछ नही कहता, कोई न कोई बात अवश्य होगी। इसका रहस्य बाद में ज्ञात होगा। तीसरा बोला—ऐसा भी हो सकता है कि नगर रक्षक इसकी किसी हरकत से नाराज होकर कर रहा है। चौथा बोला—ऐसे असमर्थ व्यक्ति पर नगर रक्षक विना कारण ही सदेह कर बैठा, इस तरह परस्पर बाते हो ही रही थी, किन्तु किसी ने भी नगर रक्षक के विरुद्ध कुछ भी कहने का साहस नही किया। एक वृद्ध सज्जन बोले—नगर रक्षक की परख अनोखी होती है, यह भिक्षुक बनावटी भेष मे नजर आता है। हो सकता है कि इसका सम्बन्ध राजमहल की चोरी से हो। पर विना किसी प्रमाण के कोई विचार संभव नही जंचता।

भिक्षुक महाराज के सम्मुख उपस्थित किया गया। यमदण्ड ने अनेक प्रकार से यह प्रयत्न किया कि यह अपना अपराध स्वीकार कर ले। पर भिक्षुक उसे बरावर अस्वीकृत करता रहा। 'मै दीन हूँ महाराज, मेरी सामर्थ्य ऐसी कहाँ', उसने प्रार्थना की।

महाराज और अन्य सामन्तो को उसके चोर होने मे विश्वास नही होता था। उसकी दीन अवस्था देखकर तो उसपर विश्वास करना किसी तरह भी संभव नही जचना। सब यही सोचते थे, कि यमदण्ड ने अपने प्राणो की रक्षा के निमित्त इस बेचारे भिक्षुक को पकड लिया है।

यमदण्ड यह चोर नही है, महाराज ने कहा। अवश्य है महाराज,' चोर यही है, यमदण्ड ने दृढता से उत्तर दिया। महाराज ने बिचार किया कि यमदण्ड अपनी रक्षा के लिए ही असत्य पर दृढ है। वे बोले "हम तुम्हे यथेच्छ समय दे सकते है यमदण्ड! इस बेचारे को छोड दो।"

महाराज! राजमहल मे चोरी करके निर्बाध भागने वाला इसके अतिरिक्त अन्य कोई चोर नही हो सकता। 'यमदण्ड ने दृढतापूर्वक निवेदन किया।'

"पर हमे विश्वास नही होता।" महाराज ने उत्तर दिया।

"मुझे दो दिन का अवसर दीजिए, मैं इसी के मुख से स्वीकृत कराऊँगा।" यमदण्ड ने प्रार्थना की।

"स्वीकृत है" महाराज ने यमदण्ड को अवसर देने की स्वीकृत दे दी और जाने की आज्ञा दी।

चोर की ओर ज्वाला भरी दृष्टि से देखता हुआ यमदण्ड उसे निर्दयतापूर्वक घसीटता हुआ अपने गृह ले गया।

इन दो दिनों मे यमदण्ड ने सैकडो उपाय किये, कि भिक्षुक अब भी अपना अपराध स्वीकार कर ले, कशाघात से भिक्षुक के शरीर से रक्त बहने लगा। मारने-पीटने से उसकी हड्डिया टूट गई, पर उसने स्वीकृति-सूचक सिर भी नही हिलाया, चुप रहा। जैसे वह मौनधारी हो।

यमदण्ड का क्रोध क्षण-क्षण बढता गया। उसने भिक्षुक को अनेक प्रकार से पीडा पहुँचाई पर उसका कोई सफल परिणाम न निकला, भिक्षुक के मुख से स्वीकृति का वह एक शब्द भी नहीं कहला सका।

"विद्युच्चर! अब तुम मेरे हाथ मे हो, बच नही सकते" अन्त मे हार कर यमदण्ड ने कहा।

पर जिसे विद्युच्चर कहा गया, उसने इन शब्दो पर कोई ध्यान ही नही दिया। जैसे ये वाक्य उससे नही कहे गये हो, या वह विद्युच्चर से अपरचित है।

निश्चित अवधि के बाद यमदण्ड ने उसे राजसभा में उपस्थित किया अवश्य, पर स्थिति मे कोई सुधार नही हुआ, वह पूर्ववत अपने वक्तव्य पर दृढ था।

राजा ने यमदण्ड की ओर उसकी असफलता-सूचक दृष्टि फेकी।

महाराज! यह स्वीकृति करे या न करे चोर यही है। मैने भरसक चेष्टा की, पर इससे स्वीकृति न करा सका। इसकी हड्डियाँ टूट गईं, शरीर से रक्त बहने लगा।

पर इसने स्वीकृत नही किया" यमदण्ड ने हाथ जोडकर निवेदन किया।

"तुम भ्रम मे हो यमदण्ड" महाराज ने मुस्कराकर उत्तर दिया, वे भिक्षुक की रक्षा के लिए उसे भी क्षमा देने को तैयार थे।

'मुझे चोर परीक्षा मे भ्रम नही हो सकता महाराज ! चोर यही है, यमदण्ड अपने विचार पर दृढ रहा।

महाराज विस्मित थे। नगर रक्षक जिसे विश्वास और दृढ़तापूर्वक चोर कहता है : वह व्यक्ति सैकड़ो प्रयत्न करने पर भी अपना अपराध स्वीकृत नही करता। यमदण्ड इस कला मे विशेष दक्ष था अवश्य। पर उससे भी तो भूल हो सकती है ? यह सम्भव है कि वह असफल होने पर भी निरपराध को ही दंड दिला कर अपनी रक्षा करना चाहता हो।

महाराज ! अन्त तक किसी भी निर्णय पर नही पहुँच सके। हार कर उन्होने चोर की ओर देखा।

"मै तुम्हे मुक्त करता हूँ" उन्होने कहा।

चोर की ओठो पर हास्य की एक हल्की-सी रेखा प्रस्फुटित हुई और अपनी व्यंगभरी दृष्टि से यमदण्ड की ओर देखा।

"महाराज, यही ख्यात चोर विद्युच्चर है" यमदण्ड ने घबडा कर निवेदन किया।

"विद्युच्चर !" महाराज ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

'वही' विकट चोर जिससे पराजित होकर मुझे आप के राज्य मे आश्रय लेना पडा था। यमदण्ड ने उत्तर दिया।

"विद्युच्चर !" महाराज ने भिक्षुक की ओर मुख फेरा, 'मै तुम्हे क्षमा करता हूँ, पर तुम सत्य स्वीकार कर लो। राजमहल से रत्न तुम्ही ने चुराये है न।

"विद्युच्चर फिर भी चुप रहा।"

निर्भय होकर कहो विद्युच्चर ! मै तुम्हे अभय वचन दे चुका हूँ। महाराज उसे चुप देख कर बोले।

"यमदण्ड सत्य कहता है श्रीमान," विद्युच्चर ने स्वीकृत किया।

महाराज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, सभी सामन्तगण भी दग रह गये, और यमदण्ड प्रसन्नता से फूल गया।

"तुम विद्युच्चर हो ! ख्यात चोर विद्युच्चर।" राजा ने अविश्वास प्रकट किया।

"हाँ श्रीमान, कुख्यात चोर विद्युच्चर मै ही हूँ।" विद्युच्चर ने विश्वास प्रकट करना चाहा।

"तुमने इसके पूर्व अपराध क्यो स्वीकृत नही किया" महाराज ने प्रश्न किया।

"इसका उत्तर यमदण्ड दे सकता है श्रीमान्" उसने उत्तर दिया।

महाराज ने यमदण्ड की ओर देखा और यमदण्ड ने सारी कथा सुना दी। यमदण्ड और विद्युच्चर मे कैसे होड लगी। और किस प्रकार से उसने यमदण्ड को पराजित करने का प्रयत्न किया। यमदण्ड ने सभी वृतान्त सुना दिया।

"फिर इतना त्रास क्यो सहा ? महाराज ने दूसरा प्रश्न किया।

'नरक और निगोद मे मैंने इससे भी अधिक त्रास सहा है महाराज, उसकी तुलना मे इसकी क्या गणना हो सकती है ? विद्युच्चर ने सरलवाणी मे उत्तर दिया।

महाराज विद्युच्चर के इस उत्तर से गदगद हो गए, विद्युच्चर से उन्हे स्नेह हो गया। महाराजने निश्चय किया, कि उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह-सस्कार कराने और अपना राज्य समर्पित कर देने का। विद्युच्चर से उन्होने इसके लिए स्वीकृति मागी।

"मुझे राज्य की अभिलाषा नही है महाराज, ! मुझे इससे घृणा है" विद्युच्चर ने उपेक्षापूर्वक उत्तर दिया।

"क्या कहते हो विद्युच्चर !" महाराज को विश्वास न हुआ।

"मै सत्य कहता हूँ महाराज, मै भी राजकुमार हूँ, मेरे पिता ने मुझे राज्य देना चाहा था, पर मै उसे अस्वीकृत कर आया हूँ" विद्युच्चर ने आगे कहा।

'तुम राजकुमार हो' राजकुमार होकर भी घृणित चौर कर्म करते हो। महाराज ने आश्चर्य प्रकट किया।

'यमदण्ड को दिए गए वचन की पूर्ति के लिए मैंने चोरी की है महाराज ! मुझे धन की आवश्यकता नहीं,

विभव भी नही चाहता सुख और विलास से मैं तृप्त हो चुका हूँ। भोग-विलास देखने में सुन्दर प्रतीत होते है, पर इनमें कोई सार नही है। मैने भोग विलास मे जीवन यों ही बिता दिया। ये नीरस है, इन्हे जितना भोगो, उतनी ही अधिक लालसा बढती है। भोगो को भुजग के समान डसने वाले बतलाया है। भुजग तो एक बार ही डसता है, पर इनसे जीव अनन्तबार डसा जाता है। जैसे ईधन से आग की तृप्ति नही होती, और नदी जल से समुद्र की भी, वैसे ही भोगो से भी जीव की तृप्ति कभी नही हो सकती। मुझे तो अब इससे घृणा हो गई है। मै इन सबको त्याग कर आत्म-साधना करना चाहता हूं। मैने निश्चय कर लिया है कि बिना तपश्चरण और ज्ञान के कर्म की निर्जरा नही हो सकती। सयम ही जीवन का सर्वस्व है। उससे ही आस्रव-भीम से रक्षा हो सकती है। जो तपस्वी और सयमी है वे महान है, उन्हीं के पद चिह्नो पर चलकर मै जीवन को सफल बना सकूगा। मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।" विद्युच्चर ने नम्र होकर प्रार्थना की।

"यमदण्ड मुझे क्षमा करो" वह यमदण्ड के गले लिपट गया, दोनो की आंखो से अश्रुधारा बहने लगी।

आज दीर्घकाल के अनन्तर दो मित्रो का मिलन हुआ था।

"राजकुमार स्थिर हो, अभी तुम्हारी अवस्था अल्प है, तपस्वी जीवन तुम्हारे योग्य नही" महाराज ने करुणा भरे स्वर मे कहा।

'नही महाराज, मैं ससार की बिडम्बना देख चुका। अब मै सत्य की खोज करूगा'। संसार कितना दुख रूप है, यह ज्ञानियो और विवेकीजनो से छिपा नही है। उसकी विषमता और बिडम्बना का आभास पद-पद पर होता है, उसने हाथ जोडकर प्रार्थना की और चल दिया।

दूसरे दिन निर्जन पर्वत की एक गुफा मे वह दिगम्बर मुद्रा मे स्थित आत्मध्यान मे सलीन था। वह अन्य कोई नही, राजकुमार विद्युच्चर ही था। उसकी ध्यान मुद्रा देखने से पता चलता है कि वह आत्म-साधना मे कितना निष्ठ है।

कवि रूपचन्द का एक गीत

कवि रूपचन्द का यह आध्यात्मिक पद जहाँ सम्बोधक और उपदेशिक है, वहां घट के अन्तर्पट खोलने की प्रेरणा देता है। और मानव जीवन के मापदण्ड को सुधारने या व्यवस्थित करने की ओर भी संकेत करता है। कवि का विचार है कि विषय विकार तज कर सद्गुरुओ द्वारा निर्दिष्ट पथ अपनाने से सफलता प्राप्त हो सकती है।

मन मानहि कि न समझायो रे।

जब तब आजु काल्हि जु मरण दिन, देखत सिर पर आयो रे ॥१
बुधि बल घटत जात दिन दिन, सिथिल होत यह कायो रे।
करि कछु लै जु करउ चाहत है, पुनि रहि है पछितायो रे ॥२
नर भव रतन जतन बहुतनितें, करम करम करि पायो रे।
विषय विकार काच मणि बदले, सु अहले जनम गवायो रे ॥३
इत उत भ्रम भूल्यौ कित भटकत, करत आपनो आयो रे।
रूपचन्द चलहि न तिहि पथ, सद्गुरु प्रकट दिखायो रे ॥४

धर्म की कहानी : अपनी जबानी

डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

वह बाला अपनी छुटकी-सी पत्ते की झोपड़ी से बाहर निकल गई और सारा दारिद्रय साथ ढोती हुई आगे बढ़ती गई।

इधर गाव के बाहर रहनेवाली मा अपनी पाप की गठरी बाँधे निस्तेज पड़ी थी। उभरी हुई जवानी और फिर सौन्दर्य का तकाज़ा। सूर्य का क्रोध भी उबलता जा रहा था और मा की आखो से गर्म आँसू अविरल रूप से झरते जा रहे थे। प्रशान्त वातावरण मे उसका मन धधक रहा था। यह धधकन क्यों और कैसे ?

प्रश्न जटिल नही था, फिर भी मन मे बार-बार आता था, चला जाता था। उत्तर मिल जाता था, पर रास्ता नही। नदी का पूर आता था। मां नन्दा किनारे खड़ी हुई अदृश्य चिन्तन करती रहती थी। कभी आत्म-हत्या करने का विचार आ जाता अवश्य पर वह क्षणिक रहता।

आत्महत्या जैसी घिनौनी और कोई चीज नही। यह अपने उत्तरदायित्वो से पलायनवाद की मनोवृत्ति का प्रतीक मात्र है। जीवन सघर्षों की कहानी ही तो है। इन संघर्षों से ऊब कर, विना उनसे लड़े, आहूति दे देना मूर्खता नही तो और क्या हो सकता है। पापो का प्राय-श्चित्त तो भोगना ही पडेगा, चाहे मर के भोगो या ज़िन्दा रह के।

समझदारी से भरे ये विचार नन्दा को पल-पल पर सहारा देते। कठोर और घिनौने वातावरण मे भी उसे ऐसी चिन्तनधारा से बल मिल जाता। लिहाज़ा वह अभी तक अपनी बेटी सुनन्दा को लिए जीवित थी।

सभी के दिन सदैव एक से नही रहते। कभी उनमे वसन्त आता है तो कभी पतझड। नन्दा की कहानी हर प्राणी की कहानी थी। जवानी अवश्य उसकी अपनी थी।

कहाँ उसका वह राजसी ठाठ और अब कहा यह दारिद्रय का फटा-टूटा टोकना ! राजमहल के ऐयाशी जीवन मे पली-पुसी नन्दा आज फूस की झोपड़ी में गुजर-वसर करनेवाली भिखारिन नन्दा थी।

× × ×

सुनन्दा जब से पेट मे आई, अजित का जीवन दुखी रहने लगा। एक-एक करके सारी सम्पदा मुंह फेरने लगी। सम्पदा की यह चंचलता प्रत्यक्ष देखी जा सकती थी। सोना भी भारी हो रहा था। सब कुछ चला गया। मात्र रहा परिवार। अजित था कि वह यह जीवन वहन न कर सका—अपने सुकुमार कदम इन बीहड़ परिस्थि-तियो के कठोर कदमो से न निकाल सका। और एक दिन काली कोठरी के अन्दर चल बसा।

सुनन्दा छोटी थी पर समझदार थी। वह चार-पाँच ठिठुराते ठँठ और उबलते ग्रीष्म को अपने शिर से निकाल चुकी थी। इसलिए उसे गाँव के वे कटकाकीर्ण मार्ग और विषम तथा चुभते हुए नदी-नाले नये नही थे।

मुंह को देखती दिखाती सुनन्दा गाव पहुँच चुकी। वह तब तक भूख-प्यास से बेहद व्याकुल हो चुकी थी। गाव से कुछ कहना चाहती पर सुननेवाला कोई नही था। सभी अनसुनी करते हुए बगल झाँकते निकल जाते।

दुनिया इतनी आत्म-केन्द्रित हो चुकी कि उसे पड़ोसी का भी ध्यान नही।

कन्या मुंह पर आत्मनिवेदन लिए बढ़ती गई। एक जगह देखा लोगों की भीढ लगी थी। महल मे अच्छी-खासी दावत हो रही थी और दावत की पत्तले और कुल्हड़ नीचे फेके जा रहे थे। शहनाई की आवाज में यह फेके जाने की आवाज भैरव सगीत को उत्पन्न कर देती थी।

सुनन्दा ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति का साधन पा लिया। ऊपर से गिरती पत्तले और कुल्हडों की मार को वह अपने छोटे-से बदन पर झेलती जाती और जूठन-जाठन से पेट भरती जाती।

बड़े लोगों की दावत जो थी। कुछ ही पत्तलों मे उसे पर्याप्त मिल गया। मां का भी ख्याल था उसे। वह अपने चिथड़े कन्धे पर लटकती फटी झोली में थोड़ा-सा ही रख पाई थी कि अन्य भिखारी पहुँच गये। वे कहाँ इसे देख सकते थे।

वह उनकी मार खाती गई और मां के लिए भोजन इकट्ठा करती रही।

× × ×

उसी रास्ते से जैन श्रमण आहार लेकर आ रहे थे। उनके ललाट पर तेज और मुंह पर शान्ति टपक रही थी। आत्मध्यान का जो फल था।

आचार्य की दृष्टि लड़की पर गई और वे एकायक ठिठक कर रह गये। शिष्य ने उनका अन्तर भाप लिया। पूछा—

फटे-चिथड़ों मे सौन्दर्य और उज्ज्वलता को छिपाये यह लड़की कौन है !

अन्तर्ज्ञानी मौन रहे। वे कर्म और संसार के स्वरूप में घूम रहे थे और सुनन्दा के जीवन को उनकी पगडंडियो मे खोजने का प्रयत्न कर रहे थे।

शिष्य ने पुन: अपना प्रश्न दुहराया।

आचार्य का अन्तर्ध्यान हो चुका था। अपने आप मे कुछ खोये से बोले—यह लड़की भाग्यशालिनी है। निकट भविष्य मे महाराज्ञी होगी।

बात थी, कह दी गई। वे जैन श्रमण थे। इससे अधिक उन्हे मतलब भी क्या !

पीछे से आते हुए बौद्ध श्रमण ने यह सब सुन लिया। तपे-तपाये जैन श्रमण की बाते असत्य नही हो सकती थी। यह उसने अनेक बार अनुभव करके देख लिया था।

स्थिति से लाभ उठाने वाले बौद्ध श्रमण ने दूरदर्शिता दिखायी। उसने बच्ची से प्रसन्नतापूर्वक बात की, सहलाते हुए उसकी कहानी समझी और साथ ले आया।

बौद्ध धर्म के विस्तार की कहानी बौद्ध श्रमण के पास थी। उसमे क्रिश्चियन मिशनरी स्प्रिट थी।

सुनन्दा को नहलाया-धुलाया। अपना भोजन कराया। फलत: पितावत् स्नेह पाकर थोड़े ही समय मे वह भिक्षु मे अपनापन देखने लगी।

अब भिक्षु का दूसरा चरण भी आरम्भ हो गया। सुनन्दा के साथ वह उसकी मां के पास गया। उसे समझाया-बुझाया। विश्वस्त किया। और भाई बहन का सम्बन्ध स्थापित कर मां-बेटी को अपने विहार में ले आया। यथाशक्ति उनकी सेवा-सुश्रूषा की।

अब वे सब एक परिवार के सदस्य जैसे हो गये थे। सारी जनता भी उन्हे ऐसा ही मानकर चलती थी।

इस बीच सुनन्दा काफी बड़ी हो गई। उसका यौवन निखरने लगा। ललाट पर घुघुराली लटकती लटें, सिर पर सुन्दर सुपुष्प कबरी बंध, कजरारे मृगनयन, उभरे हुए वक्षस्थल पर पतली-सी गर्दन लिए शशिमुख, कृश कटि पर बलखाती चाल, इन सब ने मिलकर उसे षोड़श वर्षीया कोमलांगी नवोढा बना दिया। रूप की रानी सुनन्दा शकुन्तला से भी दो कदम आगे हो गई। सखियों सहित वसत की बहारे लेती शृगार भरे उद्यानों में मस्त झूलो के साथ क्रीड़ा करती हुई जीवन के उतार-चढ़ाव का आनन्द लेने लगी।

सुनन्दा का संगीत अपने ताव पर था। लगता था जैसे कोई किन्नरी नृत्यगान कर रही हो। नगर का यह बाह्य उद्यान सगीत से सजीव हो चुका था।

इसी सगीत से आकृष्ट राजकुमार शिकार से वापिस उद्यान की ओर आया। जीवन उसका प्यासा था। कुछ समय तो बाहर से ही सुनता रहा। असहनीय होने पर प्यास बुझाने उद्यान के अन्दर कदम रखे। देखते ही रूप की लक्ष्मी पर मोहित हो गया। इधर पानी पीने का निवेदन उधर पानी पिलाने का आराधन।

सुनन्दा कोई वर्तन लाने दौड़ती है पर राजकुमार के इस आग्रह पर, कि वह हाथ से ही पी लेगा, सुनन्दा वापिस आ जाती है और घड़े से राजकुमार के बंधे हाथों मे पानी उड़ेलने लगती है। राजकुमार के बंधे हाथ नीचे से खुल जाते है मात्र ऊपर रूप की ओर निहारता हुआ वह अपने हाथ मुह मे लगाये है। घड़ा खाली हो गया। प्यास बुझी अवश्य पर वह और अधिक वेदनादायी हो गई।

उद्यान की उस मनोहर भूमिका पर प्रेम का बीजा-

रोपण हो चुका। एक दूसरे एक दूसरे के स्नेह के प्यासे हो गये।

राजकुमार के हृदय की पीड़ा किसी को अज्ञात नही रही। एक-एक क्षण उसे भारी-भरकम-सा हो गया।

"उद्यान वाला वह कौन थी ?"

"भिक्षु की पुत्री।"

भिक्षु को सम्मानपूर्वक विविध सम्पदा दान से सन्तुष्ट किया गया।

विवाह की रश्मे पूरी हुई। राजकुमार तेज ने तुरन्त ही पट्टराज्ञी का पद देकर सुनन्दा का सम्मान किया।

दम्पत्ति अठखेलियां करते हुए जीवन का रसपान करने लगे। रमणीक स्थानो की सैर, उद्यानक्रीड़ा, जल-क्रीड़ा आदि से मनोरंजन उनके दैनिक कार्य थे।

सुनन्दा से पूर्ववर्ती पट्टराज्ञी सुषमा यह सब देखकर ईर्ष्या से जल उठती है।

सौत के साथ डाह होना स्वाभाविक है। उपेक्षित और निरादर की स्थिति मे नारी का जीवन दूभर हो जाता है। दुर्भरता के इस पास से बचने के लिए उसके पास मात्र एक अध्यात्मिक शरण रह जाती है।

सुषमा का जीवन धार्मिक परिवेश मे व्यतीत होने लगा। लक्ष्य बदल गया। मन की गांठ भी कुछ ढीली पढ़ने लगी। उसने जैन रथोत्सव कराने का आयोजन किया।

इस घोषणा को सुनकर सुनन्दा चौकी। उसका सौत डाह उसके चक्कर लगाने लगा। ईर्ष्या और क्रोध के बीच सुनन्दा जल उठी।

मेरा भी बौद्ध रथोत्सव होगा और वह जैन रथोत्सव से पूर्व होगा। सुनन्दा की कठोर घोषणा हो चुकी।

ईर्ष्या व क्रोध की सीमा अभी तक व्यक्तिगत ही थी पर अब वह साम्प्रदायिक देहली तक पहुँच चुकी। जैन और बौद्ध दोनो सम्प्रदाय अपने-अपने प्रयत्न करने लगे।

सीधे-साधे धर्म को आज भी कोई जल्दी स्वीकार नही करता। जब तक उसके अनुयायी जनता के समक्ष विशेष चमत्कारात्मक शक्ति का प्रदर्शन न कर दे, जनता सन्तुष्ट नही होती। चमत्कृति प्रधान इस युग मे आचार्य अपने-अपने दांव लगाने लगे।

जैन आचार्यों मे कौन आचार्य चमत्कार प्रदर्शन मे सर्वाधिक बलिष्ठ सिद्ध हो सकता है ?

वैर कुमार आवाज आई।

वैरकुमार आचार्य सोमदत्त का पुत्र था। सोमदत्त का मामा सुभूति भी विद्वान था। परन्तु ईर्ष्यावश सुभूति ने सोमदत्त को राजा से नही मिलाया। एक दिन सोमदत्त स्वय राजा के पास अपना बुद्ध चातुर्य दिखाने पहुँच गया। उसकी विदग्धता से राजा प्रसन्न हो गया और मत्री पद दे दिया। सुभूति ने सोमदत्त का राजसी वैभव देखकर अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया।

यज्ञसेना को वर्षाकाल मे आम खाने का दोहद हुआ। किसी जैन मुनिराज के प्रताप से उसे असमय मे भी सुन्दर व पके आम प्राप्त हो गए। आम तो भेज दिए यज्ञसेना के पास और स्वय ससार की नश्वरता का आराधन कर जैन दीक्षा ले ली।

यज्ञसेना रुष्ट हो गई। पुत्रोत्पत्ति होने के कुछ दिनो बाद वह तपस्वी सोमदत्त के चरणों में अपने उस शिशु को रख आई।

इस उपसर्ग को एक विद्याधर ने दूर किया। उसने उस लड़के को स्वय स्वीकार कर लिया और नाम रखा वैरकुमार।

वैरकुमार बड़ा हो गया। विद्याधर ने उसे अपने बहनोई के पास अध्ययनार्थ छोड़ दिया। समस्त विद्याओं मे वह अत्यन्त शीघ्र ही पारगामी हो गया।

जंगल मे एक दिन एक विद्याधरी विद्या सिद्धि कर रही थी। काटों से वह छिद चुकी थी। वैरकुमार ने उसे काटो से मुक्त किया। फलतः विद्याधरी को विद्यासिद्धि हो गई।

विद्याधरी से सात दिन के लिए राज्य पाकर वैर-कुमार ने अपने छोटे भाई से राज्य छीन कर पिता को राज्यासीन कर दिया।

वैरकुमार के साथ इसी बीच विद्याधरी का परिणय हो गया।

पिता को राज्यासीन कराने मे माता को असन्तोष हुआ। इसका सकेत वैरकुमार को मिल भी गया।

इस पर वैरकुमार को सशय हुआ। मेरे माता-पिता कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर उसका मन खोजने लगा। वास्तविकता का पता चलने पर वैरकुमार का मन ससार से उदास हो गया और उसने जैन दीक्षा धारण कर ली।

घोर तपस्या की उसने। और अनेक विद्याओ की सिद्धि कर ली।

जैनधर्म का प्रभाव अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से वैरकुमार मुनि की विद्याओ का स्मरण जनता को हो आया।

विद्या के प्रताप से अमरावती मे विद्याधरों ने अपने रूप भयकर बना लिये। आकाश पर वे सब छा गये। बौद्ध रथ उन्होने नष्ट-भ्रष्ट कर दिये और माणिक्यादि से सज्जित जैन रथ को सारे नगर में बड़ी धूम-धाम से निकाला।

सारी जनता प्रसन्न हुई और जैन धर्म की प्रभावना मे चार चाँद लग गये।

तमिल व कन्नड़ साहित्य के निर्माण में

जैनाचार्यों का विशेष योगदान

डा० आर. वी. के. राव

नयी दिल्ली-१७ अप्रैल, महावीर जयन्ती के पावन पर्व पर श्रमण जैन प्रचारक सघ द्वारा मावलकर हाल मे आयोजित सास्कृतिक सन्ध्या का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय शिक्षामंत्री डा० वी० के० आर० वी० राव ने कहा कि हमारे देश मे प्राचीन काल मे भजन को विशेष महत्व दिया जाता रहा है। भजन करने एवं सुनने से मन को अपार शान्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है। भजन मन की एकाग्रता के लिए अनुपम साधन है। डा० राव ने कहा कि भजन किसी भी धर्म का हो सभी का उद्देश्य एक ही है और वह है ईश्वर भक्ति। उन्होने कहा कि जैन धर्म एक अति प्राचीन धर्म है। उन्होने आगे कहा कि कन्नड भाषा मे प्रथम साहित्य जैन धर्म से आया। इसी प्रकार तमिल साहित्य के निर्माण मे जैन मुनियों का भारी योग रहा है। डा० राव ने सघ द्वारा किये जा रहे प्रयासों की प्रशसा करते हुए कहा कि आज आवश्यकता है कि तमिल भाषा और कन्नड भाषा मे पाये जाने वाले साहित्य का और दूसरी भाषाओ में अनुवाद करके उसे जन-जन तक पहुँचाया जाये।

पुरस्कार

इस अवसर पर डा० राव ने "शृंगार युग मे संगीत काव्य" की लेखिका सुश्री हेम भटनागर को उनके शोध-पूर्ण कार्य के लिए एक स्वर्ण पदक और २५०० रुपये तथा एक प्रशस्ति भेट की।

आरम्भ मे भाषण करते हुए स्वागताध्यक्ष सेठ सुल्तान सिह जैन ने कहा कि धर्म प्रचार मे सगीत का विशेष योगदान है। उन्होने सघ द्वारा किये जा रहे कार्यो की प्रशसा करते हुए आशा प्रकट की कि साहू जी की संरक्षता मे और उनके मार्गदर्शन मे यह सघ अपने उद्देश्य की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति करेगा।

साहू शान्तिप्रसाद जैन ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा कि उपदेश का अधिक प्रभाव भजन और सगीत के माध्यम से होता है। यही कारण है कि जैन धर्म मे भजन काव्य प्रचुर मात्रा मे मिलता है। हमारे मुनियो ने तत्व की बाते संगीत और भजन के माध्यम से ही कही है। उन्होने इस बात पर हर्ष प्रगट किया कि श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ इस ओर प्रयत्नशील है। उन्होने आशा प्रगट की कि सारे समाज का सहयोग इस पुण्य कार्य मे मिलेगा।

सुश्री हेम भटनागर ने इस अवसर पर कहा कि श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ द्वारा दिये गये आज के इस पुर-

स्कार में, मै आने वाली पीढी के लिए एक आश्वासन देख रही हूँ कि वह जो भी कार्य निस्वार्थ भाव से करेगा उसके कार्य की सराहना चाहे देरी से हो पर होगी अवश्य। उन्होंने कहा कि मुझे इतनी अधिक जैन राग-मालाएं देखने को मिली कि मैं उनका वर्णन अपनी पुस्तक में किए बिना नही रह सकी। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि हम लोग जैन मन्दिर की भव्यता को देखने तो जाते हैं पर जैन मन्दिरों के ग्रंथालयों मे अपार साहित्य का भण्डार भरा पडा है आज उनको प्रकाश मे लाने की आवश्यकता है। उन्होने कहा कि हिन्दी राग-मालाओं में है। इस श्रेत्र में भारी शोध की आवश्यकता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राजस्थान के ग्रन्थालयों में जो अमूल्य भण्डार भरे पड़े है उनका उद्घाटन किया जाना ही चाहिए।

पुरस्कार चयन समिति के अध्यक्ष व सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार जैन ने कहा कि इस गवेषणा से यह सिद्ध हो गया है कि हमारे मुनियों का कार्य केवल बौद्धिक ही नहीं बल्कि काव्यात्मक क्षेत्र मे भी उन्होने पर्याप्त योगदान दिया है। उन्होंने कहा कि मैं यह मानता हूँ कि काव्य संगीत के स्पर्श से आध्यात्मिक तट तक जा पहुँचता है।

इस अवसर पर संघ की ओर से महावीराष्टक का नया रेकार्ड रिलीज किया गया। रेकार्ड की प्रथम प्रति व श्री दि० जैन कालिज प्रबन्ध समिति बड़ौत द्वारा प्रकाशित "भरत और भारत" की प्रथम प्रति संघ की ओर से श्री राजेन्द्रकुमार जैन ने डा० राव को भेंट की। प्रारम्भ में संघ का परिचय संघ के मन्त्री श्री सतीश चन्द जैन ने श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया।

इस अवसर पर आकाशवाणी के कलाकारों द्वारा जैन भजनों का एक सुन्दर कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। सभी श्रोताओं ने कार्यक्रम की मुक्त कठ से प्रशंसा की। टेलीविजन आदि पर कार्यक्रम की झलक भी ब्राडकास्ट की गयी। समारोह मे दिल्ली के अतिरिक्त मेरठ सहारनपुर, देहरादून, रुड़की, शामली तथा मुजफ्फरनगर और ज्वालापुर, जगाधरी आदि अनेक नगरों से प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भाग लिया। ●

साहित्य के प्रति उपेक्षा क्यों ?

जैन साहित्य कितना विशाल, गम्भीर और उपयोगी है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। जैन जैनेतर विद्वान उसकी महत्ता से परिचित हैं। ग्रंथ भंडारों को देखने से उसको विशालता का सहज हो अनुभव हो जाता है। ऐसी कोई प्रौढ़ भाषा और विषय नहीं जिस पर जैनाचार्यों और विद्वानों ने कलम न चलाई हो। खेद है कि इस विशाल साहित्य की आज भी सुरक्षा नहीं की जा रही है। बहुत कुछ ज्ञान भडार ऐसे हैं जो उपेक्षित दशा में पड़े हैं, न उनकी कोई सूची है और न व्यवस्था। व्यवस्था के अभाव में ग्रंथ दीमक व कीटकादि के भक्ष्य हो रहे हैं। दिगम्बर समाज को जिनवाणो के प्रति यह महती उपेक्षा कसकतो है। समाज के नवयुवको! जागो! और अपनी पैतृक सम्पत्ति को विनष्ट होने से बचाओ। यदि तुमने जिनवाणी का संरक्षण कर लिया तो जैन संस्कृति का संरक्षण और प्रसार सभी सुलभ हो जायंगे। और वीर शासन का लोक में प्रचार और प्रसार हो सकेगा। आशा है समाज और समाज के नवयुवक पुरातन साहित्य के संरक्षण का दायित्व उठाने का प्रयत्न करेंगे।

—परमानन्द शास्त्री

'प्रमाण प्रमेय कलिका' के रचयिता नरेन्द्रसेन कौन ?

रायप्पा धरणप्पा टोकण्णवर

अनुवादक :—जी० ए० शेट्टर

पंडित दरबारीलाल कोठिया से संपादित, श्रीमाणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला मे ४७वें ग्रथ के रूप में प्रकटित—'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' नामक संस्कृत न्यायग्रंथ आचार्य नरेन्द्रसेन की कृति है। इसकी प्रस्तावना मे प० दरबारीलाल कोठिया ने सात नरेन्द्रसेनो का उल्लेख किया है।

उनमे १ला तथा दूसरा एक ही व्यक्ति; तीसरा एक अलग व्यक्ति; चौथा, पांचवाँ तथा छठा एक ही व्यक्ति और सातवाँ एक अलग व्यक्ति—इस तरह चार नरेन्द्रसेनो को उन्होने पहचाना है। इन चारो मे—अन्तिम-(सातवाँ) व्यक्ति ही सभवतया इस प्रमाण प्रमेय कलिका का रचनाकार हो सकता है। और रचनाकार का जीवितकाल सन् १७३०-३३ तक निर्धारित कर अन्त में यही सातवाँ व्यक्ति—'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' का रचनाकार होने का निश्चय करते है, पर उनका यह निश्चय निम्न कारणों से ठीक नही जँचता है।

उनके सपादन के लिए प्राप्त दोनों प्रतियाँ—अर्वाचीन काल मे प्रति की गयी है; इन्हीं प्रतियो के आधार पर उनका निर्णय अवलंबित होने से, (उनका निर्णय) ऐसा हुआ है।

कर्नाटक से अन्य प्रान्तीय लोग, मूल के प्रतिलिपि कर ले जाने का रूढि-प्राचीन काल से ही है। नरेन्द्रसेन की 'प्रमाण प्रमेय कलिका' भी इन्ही प्रतिलिपियों मे से एक क्यो न होगी ?

पहले नरेन्द्रसेन के बारे मे संपादक ने प्रस्तावना मे वादिराज सूरी का—न्याय-विनिश्चय-विवरण के अन्तिम प्रशस्ति दूसरे श्लोक का उद्धरण देते हैं—

विद्यानन्दमनन्तवीर्य सुखदं श्री पूज्यपादं दयापालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
शुद्ध्यन्नीति नरेंद्रसेनमकलंकं वादिराजं सदा-
श्रीमत्स्वामी समन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रमुदा ।।

—*न्याय वि० वि० अंतिम प्रशस्ति श्लोक* २

इस प्रशस्ति श्लोक में उल्लिखित विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, पूज्यपाद, दयापाल, सन्मतिसागर, कनकसेन और स्वामी समन्तभद्र जैसे आचार्यों की श्रेणी मे नरेन्द्रसेन को गिनकर उनके निर्दोष नीतिपालन को वादिराज सूरी ने श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। सपादक ने इनके सिवा दूसरे साधनो के अभाव मे—वादिराज सूरी के—पार्श्वनाथ चरित की अन्तिम प्रशस्ति में उल्लिखित शकवर्ष ९४७-(सन् १०२५)—को वादिराज का समय जानकर—*न्याय-विनिश्चय-विवरण* के *अन्तिम प्रशस्ति मे उल्लिखित*—नरेन्द्रसेन, वादिराज के समय से पूर्व हुआ होगा; ऐसा लिखा है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि वादिराज के इस प्रशस्ति मे आए हुए सभी मुनिगण, वादिराज से पूर्व के ही होना आवश्यक नही है; हो सकता है कि कुछ वादिराज के समकालीन भी रहे हो।

वादिराज के गुरु कनकसेन के शिष्य दयापाल के बारे मे शिवमोग्ग जिले के, नगर (होम्बुज) का क्रमांक ३५वें शिलाशासन में—"राजमल्ल देवरिगे-गुरुगलेनिसिद कनकसेन भट्टारक शिष्य शब्दानुशासनक्के-प्रक्रियेयेन्दु रूपसिद्धियं माडिद दयापाल देवरू"—(कन्नड़)—हिन्दी अनुवाद :—"कनकसेन के शिष्य, रायमल्ल के गुरू दयापाल ने शब्दानुशासन की प्रक्रिया की रूपसिद्धि को रचा है।" ऐसा वर्णन उक्त शासन में है। इस शासन का समय सन् १०५० है। शासनोल्लिखित दयापाल तथा वादिराज के न्याय विनिश्चय विवरण के अन्तिम प्रशस्ति मे उल्लिखित दयापाल एक ही व्यक्ति है ऐसा निर्धार कर सकते है। ऐसे निश्चय से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयापाल, वादिराज तथा नरेन्द्रसेन तीनों समकालीन थे।

अब नरेन्द्रसेन के लिए लिखित एक शिलाशासन देखेंगे। धारवाड जिला, गदग-तालुक के ग्राम मुलगुद के सन् १०५३ के शिलाशासन मे—नरेन्द्रसेन के शिष्य नयसेन के सन्मुख दिये गए दान शासन मे नरेन्द्रसेन को 'व्याकरण पडित' कह कर वर्णन किया गया। मूलः कन्नड़:—

चंद्रकातंत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासनं पाणिनीय।
सेन्द्र नरेन्द्रसेन मुनीन्द्रगे-ऽऽकाक्षर पेरंगिषु मोगगे ॥

हिन्दी अनुवाद :—चन्द्र, कातंत्र, शब्दानुशासनं—पाणिनी, इन्द्र आदि व्याकरण ग्रन्थ नरेन्द्रसेन के लिए एक अक्षर के बराबर है।

इसी शासन मे नरेन्द्रसेन के शिष्य नयसेन के बारे में ऐसा वर्णन है। मूलः कन्नड:—

निनगेनेंबेनो शाकटायन, मुनीशं ताने शब्दानु-।
सनदोल् पाणिनी, पाणिनीयदोल् चन्द्र, चान्द्रदोल्तज्जिनें॥
द्रन जैनेन्द्रदोला कुमारने गंड़ कौमारवोलाव्रवरें-।
तेने पोन्नतंन्नयसेन पंडितरोलन्यर्व्वार्धिविलोर्वीयोल् ॥

वचन :—इंतु समस्त शब्द शास्त्र पारगर्न्नयसेन पडितदेवर। हिन्दी मे अनुवाद :—नयसेन उपरोक्त सभी व्याकरण ग्रथों के ज्ञाता तथा निपुण विद्वान थे।

इसी शासन मे चालुक्य चक्रवर्ति त्रैलोक्य मल्ल सोमेश्वर (सन् १०४३-१०६७) के शासनकाल मे उसके सधिविग्रहाधिकारी बेलदेव के प्रार्थनानुसार सिन्द कचरस ने मुलगुन्द के जिनमन्दिर को भूदान देने का प्रस्ताव है। उसमें मुख्यत: बेलदेव के गुरू नयसेन और नयसेन के गुरू नरेन्द्रसेन का वर्णन आया है।

इस शासनोक्त नयसेन ने कन्नड़ भाषा मे "धर्मामृत" नाभक एक कथा काव्य लिखा है। इसका व्याकरण ग्रन्थ भिन्न नही।

सस्कृत भाषा में कन्नड व्याकरण ग्रन्थ "भाषा भूषण" के रचनाकार नागवर्मन अपने भाषा भूषण के ७४वे सूत्र में "दीर्घोनयसेनस्य" कहकर नयसेन के मतानुसार संबोधन प्रत्यय का दीर्घांत उदाहरण दिया है; इससे इस नागवर्म का समय सन् ११४५ ईस्वी है।

नयसेन मुनीन्द्र ने धर्मामृत में उसका समाप्तिकाल अक्षर संज्ञा से यो प्रकट किया है।—"गिरी शिखी वायुमार्गशशी सख्ययोलावगमोंदिर्वतिसुत्तिरे शककाल मुन्ततियनन्दनवत्सरदोल्"—यहाँ पर गिरी शब्द का संकेतार्थ सात होने से १०३७ शक वर्ष होने पर भी नन्दन सवत्सर शक वर्ष १०३४ मे आने से नयसेन द्वारा गिरी का सकेतार्थ (४) चार ग्रहीत हुआ है ऐसा समझ पडता है। शक वर्ष १०३४ अर्थात् सन् १११२ ईस्वी नयसेन के धर्मामृत का समाप्तिकाल टहरता है।

इन नयसेन द्वारा अपने धर्मामृत मे वणित कुछ पद्यांशों का अवलोकन कीजिए।

कन्नड़ :—

गुरु विद्याब्धिनरेन्द्रसेन मुनिपं- त्रैलोक्य चक्रेश्वरं।
परमश्रीजिन निष्टदेव नमलं श्रीजैनयोगीश्वरं ॥
परमार्थ तनगालदरुत्तम विनेयबंधुवर्ग निजा-
दर दिवेंदोड़े भापु धन्यने दिट वात्सल्यरत्नाकरं ॥५६॥

हिन्दी :—उपरोक्त पद्य मे नयसेन मुनीन्द्र ने अपने गुरु नरेन्द्रसेन का गुणगान किया है। साथ ही धर्मामृत के २५वे पद्य में नरेन्द्रसेन के साथ 'त्रैविद्य नरेन्द्रसेन' वाक्य द्वारा उन्हें त्रैविद्य भी सूचित किवा है। यह उनकी उपाधि मालूम होती है।

कन्नड़ :—**पड़ेदोड़े तपम श्रुतम।**

पड़ेयर तच्छ्रुतमनेये पड़ेदोड़े तपमम् ॥
पड़ेयरदं तवनेरेड्रुम्-।
नोड़वड़े नरेन्द्रसेन मुनिपते धन्य ॥२०॥
एनितोलवु तर्कशास्त्रम-।
वनितुमनतिशयदिनेशेये नयसेन मुनीं- ॥
द्र ने बल्लनेन्दु धारिणी-।
मनादरदिंदे पोगले कीर्तियनातम् ॥२१॥

नुत सिद्धन्तोकोप्पुवेत्तु जिनसेनाचर्यारं शास्त्रदु-।
न्र्नतियोल् भाविसे पूज्यपाद मुनिर्मो षट्तर्कदोल् धारिणी ॥
स्तुतनागिर्द समंतभद्र मुर्निधि मिविकर्दनुद्यत्तप-।
श्रुतवाराशी नरेन्द्रसेन मुनिप त्रैविद्य चक्रेश्वरं ॥२४॥
पोड़वीशर भुंवनंकमल्लनुत पादांभोजरत्यूजितर।
वृढचित्तर् गुणचन्द्र पडितरिला लोकैकपूज्यर मनं ॥
बिड़े त्रैविद्यमहाभिधानमनद कूर्तक्करि कोट्टरें।
दोडे त्रैविद्य नरेन्द्रसेन मुनिवोल् वाग्मीशरार लोंकवोल् ॥२५

हिन्दी :—उपरोक्त पद्यों में तप एवं श्रुत युक्त अपने गुरु नरेन्द्रसेन मुनि ने अपने को (नयसेन को) संपूर्ण तर्क शास्त्र पढ़ाकर प्रसिद्ध किया था। इतना ही नही, सिद्धांत में जिनसेनाचार्य, शास्त्र पांडित्य में पूज्यपाद, षट्तर्क में समन्तभद्र मुनि आदि से भी पारंगत तथा त्रैविद्य चक्रेश्वर था, ऐसा नयसेन अपने गुरु के बारे मे कहते हैं।

चालुक्य चक्रवर्ती भुवनैकमल दूसरे सोमेश्वर-(१०६८-१०७६) से पूजित-गुणचन्द्र देव ने नरेन्द्रसेन मुनि को बड़े प्रेम से त्रैविद्य महा अभिदान दिये तथा नरेन्द्रसेन अद्वितीय वागीश है ऐसा नयसेन के उपरोक्त पद्यों में लुम्य शब्द चित्र हैं। नरेन्द्रसेन अनूठा जैन न्यायशास्त्रज्ञ था। सन् १०५३ ईस्वी के इस मुलगुन्द शासन मे प्रथम बार नयसेन का नाम आया है। इन नयसेन के पूर्व एक पीढ़ी के वर्ष कम कर देखने से (एक पीढी=२५ वर्ष) सन् १०२८ ईस्वी होता है। इसलिए यह शासन, नरेन्द्र-सेन वादिराज का समकालीन था, इसका प्रमाण है। संस्कृत मे लिखित प्रमाण-प्रमेय कलिका का कर्ता यही नरेन्द्रसेन था ऐसा कहने मे कोई बाधा नहीं आती। कन्नड़ और जैन साहित्य तथा शासन साहित्य से अपरचित प्रमाण-प्रमेय-कलिका के सम्पादक का अभिप्राय ऐसा हो गया है जो असमर्पक है।

प्रस्तावना में सम्पादक महोदय ने मल्लिषेण सूरी कृत "नागकुमारचरित" की अन्तिम प्रशस्ति से उद्धृत अश जो दूसरे नरेन्द्रसेन से सम्बन्धित है वह यो है ;—

तस्यानुजश्चारु चरित्र वृत्तिःप्रख्यातकीर्तिर्भुवी पुण्यमूर्ति. ।
नरेन्द्रसेनो जितवादि सेनो विज्ञानतत्वो जितकामसूत्रः ।।४।।
तच्छिष्यो विभुदाग्रणीर्गुणनिधिः श्रीमल्लिषेणाह्वयः ।
सजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालंकृतिः ।।५।।

मल्लिषेण के द्वारा वर्णित इन पद्यों मे नरेन्द्रसेन को जिनसेनके अनुज बताया है। इतना ही नही नरेन्द्रसेन को उज्ज्वल चरित्रवान, तत्वज्ञ तथा काम विजयी कहा गया है। मल्लिषेण ने ५वे श्लोक मे मल्लिषेण अपने को कनकसेन का प्रशिष्य तथा जिनसेन का शिष्य बताने से जिनसेन तथा उसके सधर्मा नरेन्द्रसेन दोनों उसके गुरुजन होगे।

निपुण मत्रवादी मल्लिषेण अपने महापुराण के अन्त में उसका समाप्तिकाल शकवर्ष ९६९ (सन् १०४७) बताया है। वादिराज तथा मल्लिषेण के बताए गए समय मे २२ वर्ष का अन्तर है। पहले तथा दूसरे नरेन्द्रसेन... अभिन्न है, एक ही व्यक्ति है। सम्पादक महोदय के ऐसे अभिप्राय से हम सहमत है। अब हम मल्लिषेण के समय निर्धारण के लिए आवश्यक सन् १०९४ का एक शिलाशासन नीचे उद्धृत करते है।

कलबुर्गी जिला के-इगलिगे-ग्राम के उध्वस्त जिन-मन्दिर मे यह शासन प्राप्त हुआ है।

चालुक्य त्रिभुवनमल्ल छठा विक्रमादित्य......(सन् १०७६-११२६)-की रानी जाकल देवी-अरल्-३०० के-इगुणिगे-ग्राम मे राज्य भार करती थी।

एक बार एक व्यापारी, ने राजा विक्रमादित्य के दर-बारमे एक जिनबिम्ब दिखाया। राजाने अपनी राणी जाकल देवी की ओर देख कर कहा—आ हा कितनी सुन्दर मूर्ति है; यह तेरा कुलदेव है; इसे तेरे द्वारा शासित प्रदेश की राजधानी में प्रतिष्ठा करो। तदनुसार रानी ने अपनी कीर्ति चिरकाल तक स्थायी रहने योग्य जिनमन्दिर बनवा कर मूर्ति प्रतिष्टापन करवायी।

"माडिसिदप्पेंवि जिनगृहगल नेंबीवरी प्रकारदिं ।
माडिर्पुदितिदलते पडिचन्दमिलावलयक्केनलके ना-।।
डाडिगलंमप्प परिशोभेगे तायमनेयागे भक्तियिं ।
माडिसिद लिवयत्तकमनोत्तरिपतु जिनेंद्रगेहमं ।।

वचन : अतु माडिसी श्रीमद्द्रमिलसंघवन वसत समयरु सेनगण, मगणं नायकरु मालनूरान्वय शिर शेखर मेंनिसिद श्रीमन मल्लिषेण भट्टारकर प्रियाग्र-शिष्यरुं तन्नन्वयद गुरुगलुमेनिसिद श्री मदींद्रसेन भट्टारकर्गे-विनयदिंकरकमलगल मुगिदु—

एसे विनग समतु महुमाणी जिनेश्वर बिंबम प्रति-।
ष्ठिसिदे निदनत्यपूर्वमेने तज्जिनगेहमनर्ति इंदे मा-।।
डिसिदेनदक्के तक्क तलवृत्तियुमं समकट्टिदें-प्रसा-।
दिसी मनवोलदु कयको कुषदूजित मागिरे=।
=मालपुर्दितिद ।।

वचन : एन्दु तन्मुनीद्ररनेगोकिसी कालं कचींधारापूर्वकं माडी बिट्ट ईकेयुमनी, तोंटमुमनी, केरीयुमनी, जिनेद्र मंदिरमुमं कंड्ड;—

प्रणुत शिररागी कण्ग-।
लताणि विनेग जोडी योगदी स्थलदोलका-।।
-गिणिगासेगेय्दब का-।
-गिणियोप्पि रु ंड कोक्कुलगलनलिद-।।
वचन : वाग्वधूनन्दन जिनपादाभोज भृ गं
नागार्जुन पडित नरेन्द्र मगल माहा श्री ।।"

उपरोक्त शासन मे-त्रिभुवनमल्ल छठा विक्रमादित्य की रानी जाकलदेवी अपने-अन्वय के-(कुलके) गुरु द्रविड़ संघ के सेनगण के मालूरान्वय के सम्मुख मे अपने द्वारा निर्मित जिनमदिर को दान देते समय अपने गुरु के पाद-पूजा कर, यह चिरकाल तक चलें–ऐसा कहा गया।

इस शासनोक्त मल्लिषेण तथा प्रस्तुत लेख मे ही अन्यत्र आए हुए मत्रवादी मल्लिषेण दोनो एक ही व्यक्ति है। मल्लिषेण के शिष्य इन्द्रसेन का जीवित समय मे सन् १०६४ का शासन निर्माण हुआ है। सन् १०६४ से एक पीढी पूर्व मल्लिषेण का जीवित समय होता है। दो पीढ़ी पूर्व जाने से आने वाला सन् १०५३ का-मुलगुन्द-शासन से किंचित् पीछे सन् १०४४ ईस्वी होता है। इसी समय नरेन्द्रसेन अपने शिष्य नयसेन के अध्यापक बन कर, पाठ-प्रवचन देकर शास्त्रपांडित्य में उसे निपुण बना रहा था, ऐसा समझ सकते है। इसी समय गुरु नरेन्द्रसेन की सन्निधि मे, नयसेन तथा मल्लिषेण समवयस्क होकर अध्ययन करते थे।

इस शासन का-(सन् १०३४)-मूलनूत,-(ऊर, खेट, खेड़ इन तीनों का अर्थ कन्नड़ मे ग्राम होता है)-कोई भी नगर, नदी या पर्वत प्रदेश के आसपास हो तो उसे खेट नाम से जाना (पुकारा) जाता है। इस प्रकार मालनूर-कागिणी-नदी के किनारे बसने से मालखेट या मलखेड़ नाम से यह ग्राम परिचित हुआ है। माल+ऊर= मालनूर; माल+खेड़=मालखेड़ या मलखेड़ सभी एक ही अर्थ देने से मलखेड़ान्वय, सेनगण के जन्मस्थान बनकर प्रसिद्ध हुआ है।

ऐसा पूर्वेतिहास नरेन्द्रसेन का रहने से "प्रमाण-प्रमेय-कलिका" का कर्ता यही नरेद्रसेन है ऐसा कह सकते है। इस बारे में पीछे हम काफी विवेचना कर आये हैं और यही व्यक्ति प्रमाण-प्रमेय कलिका का लेखक है ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

यदि हम नरेन्द्रसेन त्रैविद्य के बारे मे स्पष्टीकरण नहीं देगे तो हमारा प्रयास अधूरा रह जायेगा। इसलिए हम पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहेगे।

नयसेन के समकालीन साहित्य में उपलब्ध शातिनाथ (सन् १०६०) के सुकुमार चरित के प्रथम आश्वास के २८वे पद्य को उद्धृत कर हम अपना स्पष्टीकरण यहां देते है। यह पद्य श्रवण बेलगोल के ११७ वा शासन में भी है:—

विदित व्याकरणद त-।
र्क्कद सिद्धांतदविशेषदिं त्रैविद्या-
स्पदरेंकी धरे बण्णिपुदु-दिवाकर नदिदेव सैद्धांति गल ।।

इस पद्य मे वर्णित व्यक्ति को अलग रखकर, त्रैविद्य के बारे मे विवेचन करने से त्रैविद्य नामक अभिधान की पात्रता क्या है यह स्पष्ट रूप से समझ मे आता है। त्रैविद्य का अर्थ. व्याकरण, तर्क और सिद्धान्त है। इन तीनों मे पारगत जिनमुनी को ही इस विशेष पदवी से अलकृत किया जाता था। इसी परपरानुसार चालुक्य चक्रवर्ती भुवनैकमल्ल दूसरा सोमेश्वर के समय मे भुवनैक-मल्लनुत पादाभोज गुणचन्द्र पडित देव से नरेन्द्रसेन ने त्रैविद्य नामक अभिदान पाया था ऐसा नयसेन के धर्मामृत मे आये हुए पद्य मे स्पष्ट आधार है। इस तरह नरेन्द्रसेन व्याकरण तर्क सिद्धात इन तीनो शास्त्र मे अद्वितीय पाडित्यवान होने से इन्ही के द्वारा प्रमाण-प्रमेय-कालिका नामक जैन न्यायग्रथ का निर्माण होना सिद्ध होता है।

प्रमाण प्रमेय कालिका का प्रारम्भिक मगलाचरण को नरेन्द्रसेन ने विद्यानन्दी आचार्यकृत-प्रमाण-परीक्षा से लिया है। प्रस्तुत ग्रथातर्गत विषयानुसार दिये गये उद्धरण श्लोक स्वामी समतभद्र के आप्त मीमासा और युक्त्यनु-शासन से लिये गये है। इससे यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन कर्नाटक के पूर्वाचार्य स्वामी समतभद्र तथा विद्यानन्दी जैसे महान आचार्यों के ग्रथो के अध्ययन के बल पर ही नरेन्द्रसेन ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है ऐसा हम निस्सकोच कह सकते है।

—: ० :—

आत्म-विश्वास

पूज्य श्री वर्णीजी

आत्म विश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिन मनुष्यो मे आत्म विश्वास नही, वे मनुष्य धर्म के उच्चतम शिखर पर चढने के अधिकारी नही।

२. जिस मनुष्य को आत्म विश्वास नही वह कभी भी महत्वपूर्ण कार्य नही कर सकता।

३. जो मनुष्य सिंह के बच्चे होकर भी अपने को भेड तुल्य तुच्छ समझते है। जिन्हे अपने अनन्त आत्मबल पर विश्वास नही, वही दुःख के पात्र होते है।

४. मुझसे क्या हो सकता है? मै क्या कर सकता हूँ। मै असमर्थ हूँ, दीन-हीन हूँ। ऐसे कुत्सित विचार वाले मनुष्य आत्म विश्वास के अभाव मे कदापि सफल नही हो सकते है।

५. जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नही, वह मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही।

६. आत्मा के प्रदेश मे अनन्तानन्त कार्मण वर्गनाएँ स्थित है, अतः कर्मबन्ध की भयङ्करता और ससार परिभ्रमण रूप दुःख परम्परा को देखकर अज्ञानी मनुष्यो का उत्साह भङ्ग हो जाता है। किसी कार्य मे उनकी प्रवृत्ति नही होती। निरन्तर रौद्र ध्यान और आर्तध्यान मे काल व्यतीत कर दुर्गति के पात्र बनते रहते है। "हाय इन कार्यो का नाश कैसे कर सकेगे।" यह विचार बडे-बड़े बलवानो को भी निर्बल और निरुत्साही बना देता है। किन्तु जब वे धर्मशास्त्र के दूसरे विचारो को रखते है तब पूर्व विचार द्वारा जो कमजोरी आत्मा मे स्थान पाई है वह क्षणमात्र मे विलीन हो जाती है। वे विचार करते हैं कि जिस कर्म का बन्धन करने वाले हम हैं उसका विनाश करने वाले भी हमी हैं। आत्मा की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। जिस तरह प्रचण्ड सूर्य के समक्ष घटाटोप मेघ भी देखते-देखते बिखर जाते है, उसी तरह जब यह आत्मा स्वीय विज्ञान घन और निराकुलतारूप सुख का अनुभव करता है तब उसकी शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि कितने ही बलिष्ठ कर्म क्यो न हो एक अन्तर्मुहूर्त मे भस्मसात् हो जाते है। मोह का अभाव होते ही यह आत्मा ज्ञानाग्नि द्वारा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, और अनन्तवीर्य के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणादि कर्मों को ईंधन की तरह क्षण भर मे भस्म कर देता है। इस प्रकार जब यह आत्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है तब हम लोगों को उचित है कि अनेक प्रकार की विपत्तियो के समागम होने पर भी आत्मविश्वास को न छोड़े।

७. श्री रामचन्द्र जी को वनवास मे दर दर भटकना पडा, अनेक विपत्तियाँ सहनी पडी। समन्तभद्र स्वामी को भी अनेक सकटो ने घेरा, परन्तु उन्होने अपने आत्मविश्वास को नही छोडा। अकलङ्क स्वामी ने छह मास पर्यन्त तारा देवी से विवाद कर इसी आत्मबल के भरोसे धर्म की विजय वैजयन्ती फहराई। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मविश्वास के होने से हम कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नही कर सकते। जितने महापुरुष हुए है उन सभी मे आत्मविश्वास एक ऐसा प्रभाविक गुण था जिसकी नीव पर ही वे अपनी महत्ता का ही महल खडा कर सके।

८. कवि-व्याख्याता, लेखक, छात्र-छात्राएँ, विद्वान विदुषियों, कर्जदार साहूकार, मालिक-मजदूर, वैद्य रोगी, अभियुक्त-न्यायाधीश, सैनिक-सेनापति, युद्धवीर, दानवीर, और धर्मवीर सभी को आत्मविश्वास गुण की आवश्यकता है। अन्य की कथा छोडिए। परम वीतरागी साधुवर्ग भी इस आत्मगुण के द्वारा ही आत्म कल्याण करने मे समर्थ होते है। सुकमाल मुनि प्रकृति के अत्यन्त कोमल थे, परन्तु इस गुण के प्रभाव से व्याघ्र द्वारा शरीर विदीर्ण किये जाने पर भी आत्मध्यान से रंचमात्र भी नही डिगे, उपसर्ग को जीत कर सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए और द्वीपायन मुनि इस गुण के अभाव मे द्वारका का विध्वस कर स्वय दुःखों के पात्र बने। (शेष पृ० ४८ पर)

सर्वौषधि दान

परमानन्द जैन शास्त्री

वह सर्वौषधि के दिव्य फल को प्राप्त हुई। उसने भक्तिवश औषधियों का दान जो दिया था। मुनिराज की सेवा की थी। उसी का दिव्य परिणाम था, जो उसके स्नान जल से विविध रोगों का विनाश हो जाता था, काया दिव्य बन जाती थी। कोढ जैसे भयंकर रोग भी क्षण भर मे चले जाते थे। पुण्य फल से ससार में क्या नहीं प्राप्त होता। जिन पूजा, साधु-सेवा, सयम, भक्ति, स्वाध्याय और दान आदि सभी श्रेष्ठ कर्म पुण्य फल के ही कारण है।

कावेरी नगरमे राजा उग्रसेन राज्य करते थे, जो राज-नीतिके अच्छे विद्वान थे और प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, उसी नगरमे सेठ धनपतिभी रहते थे और उनकी धर्मपत्नी धनश्री थी, उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई। वह जन्मकाल से ही लावण्यमयी थी, उसकी काया कंचनके समान दीप्यमान थी। वह पुण्यात्मा जो थी। उसका नाम था वृषभसेना। वह देखने मे जितनी सुन्दर और मनोहर थी, वह उतनी ही सरल और मृदुभाषिणी भी थी। वह किसी देवकुमारी से कम न थी। रूपवती धाय ने वृषभसेना के स्नान जल को एक गड्ढे मे इकट्ठा कर दिया था और प्रतिदिन का जल वह उसी गड्ढे मे डाल दिया जाता था। एक दिन महारोगी एक कुत्ता तडफता हुआ आया और उस गड्ढे मे बैठ गया। थोड़ी देर के बाद जब वह उसमे से निकला तब उसका सब रोग शान्त हो गया था। यह दृश्य देख कर रूपवती ने उस जल की और भी परीक्षा करनी चाही, जिससे विश्वास मे दृढता आ सके; और यह निश्चय किया जा सके कि इस पानी मे सचमुच ही रोग नाशक तत्त्व है। एक दिन वह उसके स्नान जल को लेकर अपने घर गई और अपनी मां की आँखो को उस जल से धो दिया, जिससे उसे शान्ति मिली। मां की आँखे कई वर्ष से खराब हो रही थी, इलाज करने पर कुछ भी लाभ नजर नही आता था, अतएव वह दुखी थी। पर इस जल से उसे भी आराम हो गया, इससे रूपवती के मन पर गहरा प्रभाव पडा। उसे उस जल की महत्ता का भान हुआ, वह समझती थी कि वृषभसेना बड़ी पुण्यशालिनी है, जिसके शरीर स्पर्शित जल से भयकर रोग दूर हो जाते है। इसके स्नान जल की रोगहारी विशेषता इसके विशेष पुण्य की द्योतक है। रूपवती अब उस जल से अनेक रोगियो को अच्छा करने लगी।

एक दिन एक कोढ़ी आया, कोढ़ से उसका शरीर गल रहा था वह उसकी वेदना से छटपटा रहा था। मक्खियाँ उसे बहुत तंग कर रही थी, शरीर से दुर्गन्ध भी आ रही थी। रूपवती ने उस जल को उसके शरीर पर डाल दिया, इससे उसे शान्ति मिली, उसका रोग चला गया। इससे लोक में रूपवती का नाम प्रसिद्ध हो गया। रोगी उसके पास आते और वह उन्हे उस जल से रोग-मुक्त कर देती थी।

उग्रसेन और मेघपिंगल मे पुरानी शत्रुता थी। समय पाकर उग्रसेन ने अपने मत्री रणपिंगल को मेघपिंगल पर चढाई करने की आज्ञा दी। रणपिंगल ने उसके नगर को चारों ओर से घेर लिया। मेघपिंगल ने शत्रु को युद्ध में परास्त करना असम्भव समझ एक दूसरी युक्ति से काम लिया, उसने योजनानुसार शत्रु की सेना को जिन जिन कुए बावड़ियों से पेय जल मिलता था उनमे अपने चतुर जासूसों द्वारा विष डलवा दिया। परिणाम स्वरूप रण-पिंगल की बहुत सी सेना मर गई, जो बची उसे लेकर वह स्वयं अपने देश को लौट गया। उस सेना पर विष का असर हुआ था उसे रूपवती ने उसी जल से दूर कर दिया। इससे सेना रोग मुक्त हो गई।

× × × ×

राजा उग्रसेन को जब मेघपिंगल की इस शरारत का पता चला, तब उसे उस पर बहुत क्रोध आया। वह स्वयं सेना लेकर गया, बहुत सावधानी वर्ती तो भी वह उस

विष जन के प्रभाव से बच नहीं सका और बीमार होकर उसे लौटना पड़ा। उसका बड़ा अपमान हुआ। रणपिंगल से उन्होने इलाज की बात पूछी तब उसने रूपवती का जल बतलाया। राजा ने तत्काल ही अपने आदमियो को रूपवती का जल लाने के लिए सेठ के यहां भेजा। अपनी लड़की के स्नान जल को लेने के लिए राजा के आदमियो को आया देख धनश्री ने अपने पति से कहा, अपनी वृषभसेना का जल राजा के सिर पर छिड़का जाय यह उचित नही है। सेठ ने कहा तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु इसके लिए अन्य उपाय है ही क्या ? उसमे अपने वश की कोई बात नही है। हम स्वय तो जानबूझ कर ऐसा कर नही रहे है। और न कोई वास्तविक तथ्य ही किसी से छिपा रहे है। तब इसमे अपना कोई अपराध नही हो सकता। यदि राजा साहब पूछेगे तो सब हाल सच-सच बतला देगे। सच है अच्छे पुरुष प्राण जाने पर भी झूठ नही बोलते। दोनो ने विचार कर रूपवती को जल लेकर राजा के महल पर भेज दिया। रूपवती ने उस जल को राजा के शिर पर छिडक दिया। राजा रोग मुक्त हो गया। इससे राजा को बडी प्रसन्नता हुई। रूपवती से उन्होने उस जल का हाल पूछा, रूपवती ने सभी बाते सच सच कह दी। सुन कर राजा ने धनपति सेठ को बुलाया और उसका आदर-सत्कार किया। वृषभसेना का हाल सुन कर राजा का मन उससे विवाह करने का हो गया। और इसीलिए राजा ने अवसर पाकर धनपति से अपनी इच्छा कह सुनाई। धनपति ने उसके उत्तर मे कहा —राज राजेश्वर ! मुझे आपकी आज्ञा मानने मे कोई रुकावट नही है पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्षदायी आष्टाह्निक पूजा करनी होगी। जिसे भक्ति वश इन्द्र, धरणेन्द्र चक्रवर्ती, विद्याधर राजा-महाराजा आदि करते है। जिन भगवान का अभिषेक भी करना होगा। इसके सिवाय, आपके यहां जो पशु पक्षी पीजरो मे बन्द है उन्हें और अन्य कैदियो को छोडना होगा। यदि आपको हमारी ये शर्तें मजूर हो तो वृषभसेना का विवाह आपके साथ हो सकता है। राजा ने अपनी स्वीकृति प्रदान की और वृषभसेना का विवाह राजा उग्रसेन के साथ हो गया।

वृषभसेना पट्टरानी के पद पर प्रतिष्ठित है, राजा, रानी दोनों ही सासारिक सुख मे मग्न है। राजा अब राज कार्य मे कम ही भाग लेते है। किन्तु अधिक समय अन्तःपुर मे ही व्यतीत करते है। किन्तु रानी वृषभसेना अपने दैनिक कर्तव्यो और जिन पूजा, दान आदि का प्रतिदिन ध्यान रखती है। उसे धर्म प्राणो से भी अधिक प्यारा है। उसे दृढ विश्वास है कि मानव जीवन की सफलता का मूल कारण धर्म ही है, धर्म ही जीवन का सहारा है। वही बन्धु है। शत्रु, अग्नि जल, विष, सर्प आदि के विघ्नो से बचाता है। जीव का रक्षक और दुःखों से बचाने वाला एक धर्म ही है। वही मुझे व अन्य जीवों के लिए शरण है।

राजा उग्रसेन के यहाँ बनारस का राजा पृथ्वीचद कैद था। यद्यपि वह बहुत दुष्ट था। पर तो भी उग्रसेन का कर्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विवाह के समय उसे भी मुक्त कर देते। पर ऐसा नही किया।

पृथ्वीचद की रानी का नाम नारायणदत्ता था। उसे आशा थी कि राजा उग्रसेन वृषभसेना के विवाह के समय मेरे स्वामी को अवश्य मुक्त कर देंगे। पर उसकी सब आशा व्यर्थ हुई। उसने अपने स्वामी को छुडाने के लिए मत्रियो से सलाह कर बनारस मे वृषभसेना नाम से अनेक दानशालाएँ बनवाई। कोई भी देशी या विदेशी जो भी यात्री आये उसे सरस एव स्वादिष्ट भोजन मिलता था, इससे दानशालाओं की प्रसिद्धि हो गई। जो व्यक्ति इन दानशालालाओ मे एक बार भी भोजन कर लेता वह उसकी प्रशसा करने से नही चूकता था। दानशालाओं की प्रशसा कोरी ही नही थी। उनमे यात्रियो को सब प्रकार की सुविधा मिलती थी। स्वादिष्ट भोजन पान की ऐसी सुन्दर व्यवस्था अन्यत्र नही थी। अतः उनकी प्रसिद्धि होना स्वाभाविक था।

कुछ समय मे इन दानशालाओ के सम्बन्ध मे रूपवती को आभास मिला कि वृषभसेना ने बनारस मे दानशालाए स्थापित की है। वह उसके पास आई और बोली तूने बनारस मे अपने नाम से दानशालाएँ स्थापित की हैं। वृषभसेना ने कहा माता जी मैंने तो नही खोली और न उनके सम्बन्ध मे मुझे कुछ जानकारी है। सभव है मेरे नाम से किसी अन्य ने वे दानशालाएँ खोली हो।

रूपवती ने गुप्तचरों द्वारा उनका पता लगवाया, तब सही हाल विदित हो गया कि पृथ्वीचंद की पत्नी नारायणदत्ता ने अपने पति को छुड़वाने के वास्ते तेरे नाम से ये दानशालाएं स्थापित की थी। वृषभसेना ने राजा से कह कर पृथ्वीचन्द को छुड़वा दिया। पृथ्वीचन्द ने विनयी बन राजा उग्रसेन का आदर किया और उनकी आज्ञा मानने के लिए तत्पर हो गया। महाराजा ने उसका समादर किया।

इस तरह वृषभसेना ने पूर्वोपार्जित पुण्य फल से लोक में यश प्राप्त किया और उसने अपने जीवन को सफल बनाने के लिए शुभ कृत्यों द्वारा लोक का कल्याण करते हुए भविष्य में शास्वत उस अक्षय पद को प्राप्त करने का श्रेय भी सम्पन्न किया। ★

(पृ० ४५ का शेष)

९. सती सीता में वही प्रशस्तगुण (आत्मविश्वास) था जिसके प्रभाव से रावण जैसे पराक्रमी का सर्वस्व स्वाहा हो गया। सती द्रोपदी मे यही वह चिनगारी थी जिसने एक क्षण के लिए ज्वलन्त ज्वाला बन कर चीर खींचने वाले दुःशासन के दुरभिमान द्रुम (अभिमान रूप विह वृक्ष) को दग्ध करके ही छोडा। सती मैना सुन्दरी मे भी वही आत्मतेज था जिससे वज्रमयी फाटक फटाक से खुल गया। सती कमलश्री और मीरावाई के पास भी वही विषहारी अमोघ मंत्र था जिससे विष शरवत हो गया और फुंकारता हुआ भयंकर सर्प सुगन्धित सुमन हार बन गया।

१०. बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्य, जिन पर ससार आश्चर्य करता है आत्मविश्वास के बिना नहीं हो सकते। अतः हमें अपने आत्मविश्वास को सुदृढ़ करके ही मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ●

साहित्य-समीक्षा

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग ५, लेखक अंबालाल शाह, सम्पादक दलसुख मालवणिया, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी-५। साइज डिमाई पृ० सख्या ३२० मूल्य पन्द्रह रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का ५वां भाग है। इसमे लाक्षणिक साहित्य (व्याकरण) का परिचय करते हुए कोश, अलंकार, छन्द, नाटय छन्द ज्योतिष और शकुन साहित्य का भी परिचय कराया गया है। यह सब परिचय दश प्रकरणों मे किया गया है। लेखक ने इस सम्बन्ध मे अच्छा श्रम किया है। प्रत्येक विषय का परिचय जहां अपने मे सक्षिप्त और शृखलाबद्ध है वहां वह उस विषय को सामान्य जानकारी भी कराता है। इससे विद्वानो को यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्याकरण साहित्य पर अब तक कितने ग्रंथ रचे गये और उन पर टीका टिप्पण कितने लिखे गये है। इन सबकी भी जानकारी सहज ही हो जाती है। इस दृष्टि से यह भाग भी अपने पूर्वभागो के समान ही उपयोगी है।

इस ग्रंथ की प्रस्तावना मे 'प्राचीन भारत की विमान-विद्या नाम का डा० एस० के० भारद्वाज द्वारा लिखित एक महत्वपूर्ण लेख दिया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व काल मे भारत मे विमान-विद्या थी और उसके सस्थापक विद्याधर कहलाते थे। विमान कई तरह के होते थे। उनके सचालन का सब भार वे वहन करते थे। लेखक ने अनेक, ग्रंथो, प्रमाणो के आधार पर विमान-विद्या के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है। इससे ग्रथ की उपयोगिता बढ़ गई है।

जैन साहित्यके सम्बन्ध मे जो ग्रंथ अभी तक प्रकाश मे आए है, वे बहुत सावधानी से लिखे गये हैं। विद्वानों और लायब्रेरियो को ग्रथ मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

—परमानन्द शास्त्री

आगामी वर्ष की जनगणना में अपने को 'जैन' लिखवाइये

अखिल भारतीय जनगणना समिति की ओर से आप से बार-बार निवेदन किया गया है कि फरवरी सन् १९७१ मे होने वाली जनगणना मे सब भाई-बहिन अपने को जैन लिखाएँ। जिससे आपकी संख्या का ठीक निर्धारण हो सके। और हम सरकार को यह दिखा सकें कि हमारी जनसंख्या बहुत अधिक है। आशा है समाज के नवयुवक आगे बढेगे और अपने आस-पास के मुहल्लों मे स्वय जाकर जनगणना कार्य मे सहयोग प्रदान कर सामाजिक एकता को स्थिर करने मे अपना योगदान देकर अनुगृहीत करेगे।

व्यवस्थापक
वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज
दिल्ली

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५०) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
२५१) श्री शिखरचन्द जी झाझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१ श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडया), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश–अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीक सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१९ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१९ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·१९

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७-००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वैमासिक जून, १९७०

अनेकान्त



वीर सेवामन्दिर के मंत्री बा० प्रेमचन्द जी वीरशासन जयन्ती के अध्यक्ष
डा० रामचन्द्र पाण्डे को माल्यार्पण कर रहे हैं।

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ नमि-जिन-स्तुति—समन्तभद्राचार्य	४६
२ भारत में वर्णनात्मक कथा साहित्य—डा० ए. एन. उपाध्ये	५०
३ देवगढ़ की जैनकला का सांस्कृतिक अध्ययन—गोपीलाल अमर	६१
४ गुणकीर्तिकृत विवेक विलास—डा० विद्याधर जोहरापुरकर	६४
५ तिजारा एक ऐतिहासिक परिचय—परमानन्द जैन शास्त्री	६५
६ माली रासो—परमानन्द जैन	६८
७ जैनों में सती प्रथा—चम्पालाल सिंघई	७०
८ कथनी और करनी—मुनि कन्हैयालाल	७१
९ गोम्मटसार की पंजिका टीका—परमानन्द शास्त्री	७२
१० आत्म समर्पण (कहानी)—बालचन्द एम. ए.	७६
११ शृगाल से सिंह (कहानी)—सुबोधकुमार जैन	७९
१२ हिन्दी भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ—पन्नालाल अग्रवाल	८२
१३ वीर-शासन जयन्ती—परमानन्द शास्त्री	८३
१४ ऊपर गाँव का अप्रकाशित जैन लेख—श्री रामवल्लभ सोमाणी	८६
१५ मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्व—अगरचन्द नाहटा	८९
१६ वीर-शासन जयन्ती—प्रेमचन्द जैन	९२
१७ भगत प्यारेलाल जी का समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास—बा० नन्दलाल जी	९३
१८ अखिल भा० जैन जनगणना समिति का आवश्यक पत्र—शीतलप्रसाद जैन	९४
१९ जैन जनगणना समिति की अपील—भगतराम	९५
२० साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	९६

★

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त को सहायता

२१) रा० ब० सेठ हरखचन्द जी पाण्ड्या रांची के सुपुत्र पदमकुमार और श्री रेखाकुमारी सुपुत्री प्रकाशचन्द जी सेठी के विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से अनेकान्त को इक्कीस रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

२०) बा० ज्ञानचन्द जी लखनऊ किराना कम्पनी सुभाष मार्ग लखनऊ की सुपुत्री ऊषा जैन, और भतीजी मंजुल जैन तथा सौभाग्यमल जी के विवाहोपलक्ष में निकाले गये दान में बीस रुपया अनेकान्त को सधन्यवाद प्राप्त हुए।

५) पं० गोपीलाल जी 'अमर' ५८ लक्ष्मीपुरा सागर से सधन्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली।

★

विलम्ब का कारण

अनेकान्त का यह अंक बहुत विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। अनेकान्त के कम्पोजिंग एजेंसी के मालिक सत्यनारायण शुक्ला कार्यवश अपने ग्राम चले गये, वे डेढ़ महीने के बाद विलम्ब से आये। अतः पत्र के छपने में असाधारण विलम्ब हो गया, इसके लिए पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। आगे इस बात की सावधानी रक्खी जायगी, जिससे पत्र समय पर प्रकाशित हो सके। व्यवस्थापक

अनेकान्त

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३ किरण २	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९६, वि० सं० २०२७	जून १९७०

नमि-जिन-स्तुति

नमेमाननमामेन माननमाननमानमा —
मनामोनु नुमोनाम नमनो ममनो मन ॥९३

—समन्तभद्राचार्यः

अर्थ—हे नमिनाथ ! आप अपरिमेय हैं—हमारे जैसे अल्पज्ञानियो के द्वारा आपका वास्तविक रूप नही समझा जाता । आप सबके स्वामी है । आप का ज्ञान सब जीवो को प्रबोध करने वाला है । आप किसी से उसकी इच्छा के विरुद्ध नमस्कार नही कराते । चूकि आप वीतराग है और मोहरहित हैं, अतः आपको सदा नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता हुआ आपकी स्तुति करता हूँ । प्रभो ! मेरा—मुझ शरणागत का—भी सदा ध्यान रखिए—मैं आपके समान पूर्ण ज्ञानी तथा मोह-रहित होना चाहता हूँ ।।९३

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्

[गत किरण १ से आगे]

अब पइन्नयो [प्रकीर्णकों] का विचार करें कि जिनमें से कुछ में धार्मिक व्यक्तियों एवं वैराग्य-वीरों की कथाओं के खब ही उल्लेख हैं[12]। पोयणपुर मे पुप्फचुला नामक एक आर्या थी। उसके धर्मशिक्षा गुरू थे अन्नियाउत्त। नौका में गंगा नदी पार करते हुए वे नदी में गिर गये। और उनकी समाधिपूर्वक मृत्यु हुई और उनने सर्वोच्च पद प्राप्त किया। [संथा० ५६–५७]। कयदी के अभयघोष ने अपने पुत्र को राज-पाट दे दिया और श्रमण होकर संयम आराधना करते एवं सामयिकादि ग्यारह अगों का पारगामी होकर उनने सारी पृथ्वी पर विहार किया। जब वे विहारान्त पाटवी-नगर को लोटे तो चंडवेग ने उनके शरीर का घात किया। हाथ-पैर आदि अग काटे जाते हुए उनकी मृत्यु हो गई। और उनने सर्वोच्च पद प्राप्त किया। [संथा० ७६–७८]। उज्जयनी के अवन्ती सुकुमाल ने एक दिन सायकाल नलिनी विमान का वर्णन सुना और तत्क्षण उस स्वर्ग का स्मरण उसे हो आया एवम् वह प्रव्रजित हो गया। श्मशान के बाँसकुज के एकान्त स्थान में जाकर उसने ध्यान लगा लिया। इस ध्यानस्थ मुनि के शरीर को तीन दिन-रात मांसभक्षी शृगाल नोचते, खाते और घसीटते रहे तो भी वह मुनि ध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुआ। शैल जैसा निश्चल रहकर उसने सब परिषह का सहन किया और इस समाधि अवस्था में ही उनकी मृत्यु हो गई और सर्वोच्च पद उसने प्राप्त कर लिया, तो देवों ने उस पर सुगंध जल की वर्षा की। उस जल से भरा गंधवटी का तालाब आज भी उस स्थान पर है। [म० १६०, म० ४३५–३६, संथा० ६५-६६]। इलापुत्त भी संसार अनासक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। [म० ४८३]। कुणाला का राजा वेसमण-दास के रिट्ठ नाम का एक मिथ्यात्वी मंत्री था। उसहसेण नाम के विद्वान गुरू का एक पढ़ा-लिखा और गुणवान सिहसेण नाम का शिष्य था। शास्त्र-विवाद में पराजित होकर बदला लेने की दुष्ट बुद्धि से इस मिथ्यात्वी मंत्री रिट्ठ ने एक रात्रि में उसहसेण को अग्नि में भस्म कर दिया। जब अग्नि चारों ओर से उन्हें जला रही थी, तो उनने पूर्ण समाधि मरण कर मोक्ष लाभ किया। [संथा० ८१–८८]। कण्डरीय और पुण्डरीय[13] जो क्रमशः नीच और उच्च गोत्र में जन्म लेने वाले थे, अपने एक दिन के ही दृढ निश्चय स्वरूप अणुत्तर-विमान में चले गये। [म० ६३७]। मित्रों में रहते हुए भी, मरण समय शरीर छोडने वाली जीव-आत्मा अकेली ही जाती है जैसे कि कान्ह की मृत्यु समय गई। कान्ह ने क्रोध को क्षमा से जीत लिया था। [म० ३७७, ४६६-६७][14]। राजा अग्गि का पुत्र भिक्षु कत्तिय शरीर से गदा, परन्तु हृदय का महान् था। जब वह रोहिडय नगर में भिक्षा के लिए चर्या कर रहा था, कुंच ने उसे बल्लम फेंक कर आहत कर दिया। उसका कष्ट सहते हुए उसने समाधि पूर्वक प्राण त्याग दिया और उच्च पद प्राप्त किया। [संथा० ६७-६६, काम्टुज ने म० १६० अ मे इसका उल्लेख देखा

१२ महत्व के नामों का विचार करते हुए, उन्हें यहाँ वर्ण-क्रम से लिया गया है। संदर्भ निर्देश आगमोदय समिति, बबई १६२७ के सस्करण के हैं। यहाँ म से भत्तपरिन्ना, म से मरणसमाही और संथा से संथारग निर्देश किया गया है। इस संबंध में कुर्तवान कैम्पट्ज का ऊबेर डीए वाम स्टर्बीभास्टन हैण्डलण्डेन आल्टर्न पाइन्ना डे 'जैन-कैनन'।

१३ तुलना करो नायाधम्मकहाओ, २० और देखो ऊपर पृ० १६।

१४ तुलना करो अन्तगडदसाओ, ५वीं वर्ग, पैरा ८१।

है]। मथुरा के जियसत्तु पुत्र भिक्षु कालवेसिय को उसकी अस्वस्थावस्था में मोग्गल पर्वत पर शृगाल खा गये थे। [म० ४२८]। गृहस्थ का पुत्र किढ़ी चोरी करना छोड कर सुखी हुआ था। [म० १०६]। जब आहार नही मिला तो भी किसि ने पूर्ण क्षमा भाव रखा था। [म० ३६७]। सार्थवाह कुबेरदत्त भी रागाध होकर वेसियाण की तरह ही गम्यागम्य का सब विवक खो बैठा था और इसलिए अपनी पुत्री को ही उसने अपनी स्त्री बना लिया था [भ० ११३]। कुम्भारकड नगर मे, खडय और उसके शिष्य मिला कर ५०० साधू थे जो बड़े तपस्वी और वैरागी थे। एक के सिवा सब घाणी मे पील दिए गए, और सब ने यह सब कष्ट-परिसह समाधि मे रहत हुए सहन किया और कुछ भी बुरा चिंतन नही करते हुए वह पूर्ण शाति से मृत्यु को प्राप्त हुए और सर्वोच्च स्थान को पहुँच गए। [म० ४४३, ४६५; सथा० ५८-६०]। युवक भिक्षु कुरुदत्त व्रतोपासन के लिए वन मे ध्यान करते हुए गजपुर में भस्म कर दिया गया और उसके फल स्वरूप उसन सर्वोच्च पद प्राप्त किया [म० ४६२, सथा० ८५]। आसक्ति से मुक्त और तपस्या से कृश एक साधू स्त्रियों के सहवास मे रहने पर उसी प्रकार पतित हो जाता है कि जैसे कोश के गृह मे रहने वाला साधू हो गया था [भ० १२८]। गंगादत्त, विस्सभूइ और चण्डपिगल क्रोध घृणा और राग का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। [भ० १३७]। सभवतया दो गजसुकुमाल हुए हों। पहले को तो उनके श्वसुर ने ही श्मशान भूमि[15] मे ही जला कर नष्ट कर दिया था। उनने अग्नि की ज्वाला को समाधि पूर्वक सहा और ध्यान से रंचमात्र भी बिचलित नहीं हुए। [म० ४३१-३२, ४६२]। दूसरे गजसुकुमाल को नई गीली खाल की भांति सब ओर से खीच कर जमीन पर कीलें ठोक दी गई थी, फिर भी वह विचलित नही हुआ और समाधिपूर्वक मरा [संथा० ८७]। राजा चडविडिसिया भी मरण काल में दृढ़ सयम में स्थिर रहा उसने सर्वोच्च पद पाया [म० ४४०-४१]। पाटलिपुत्र में सुप्रसिद्ध चाणक्य हिंसादि मूल पापों से विरत रहा और इंगिनी मरण स्वीकार किया। उचित मान-सम्मान प्राप्त कर और वैरी को पराजित कर, उसने अपना शरीर भस्म करा दिया [?]। जब वह गो ठाण में प्रायोपगमन कर रहा था, क्रूर सुबन्धु[सुबुद्धि] ने वहाँ सग्रहीत उपलों मे आग लगा दी। परन्तु चाणक्य उस आग में जलता हुआ भी दृढ रहा और मोक्ष गया। [भ० १६२, म० ४७८, सथा० ७३-७५]। चिलाइपुत्त एक धर्मनिष्ठ भिक्षु था और वह पूर्ण वैरागी था। रक्त-गांध पा कर चीटियो ने उसे घेर लिया और उसके सिर को खाना प्रारम्भ कर दिया। उनके खान से उसका सारा शरीर चालणी के समान छिद्र-छिद्र हो गया। ऐसा खाया होने पर भी उसने कोई दुर्भाव उन चीटियो के प्रति अपने मन मे नही आने दिया। फल स्वरूप उसे केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वह परम पद को पहुँच गया। [भ० ८८, म० ४२७-३०, सथा० ८६]। राजा जब एक श्लोक का पाद सुन कर मृत्यु के मुंह से बच गया और इसके बाद वह सफल भिक्षु बन गया। फिर जिन-भाषित सूत्रो के वचनो को सुनने के लाभ की बात को तो कहना ही क्या [भ० ८७]। परिव्राजको के भक्त हरिवाहन न कचनपुर[16] निवासी धर्मपरायण साहूकार जिनधम्म की पीठ पर पात्र रख कर किसी तापस को गरमागरम भोजन कराया। पात्र गरम हो जाने स उसके शरीर के मांस का उतना ही अश पात्र के साथ उखड़ कर निकल गया। ससार से विरक्त हो कर साहूकार भिक्षु हो गया। उसने अनशन व्रत ले लिया और प्रत्येक दिशा मे मुख किए वह एक-एक पक्ष तक ध्यानस्थ खड़ा रहा। उसके घाव को पक्षियों और कीड़ो ने निरतर कुरेदा और वह यह परीषह शांति के साथ सहता रहा, यही मानते हुए कि नरक-यत्रणा से तो यह कष्ट बहुत ही कम है और कर्मों का फल तो भुगतने से ही छुटकारा है। दो महीने के घोर परीषह सहन और तपस्या के अन्त मे वह जिनों का ध्यान धरता हुआ धराशायी होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ [म० ४१२-४२३]। भोगोपभोगों की आसक्ति और आकांक्षा ही आत्मा को गिराती है जब कि उनकी उपेक्षा संसार से त्राण प्राप्त

१५ तुलना करो वही, ३रा वर्ग।

१६ श्री उत्तराध्यननानि, बंबई, १६३७, के पृ० २३६-४० में अध्यक्ष १७ गाथा ३७ परकी नेमीचन्द्र की टीका में सनत्कुमार का कथानक देखो।

कराती है। दो भाई जिनपालिय और जिनरक्खिय[17] जिनकी भेंट एक द्वीप मे एक देवी और एक देव से हुई थी, इस तथ्य के उत्कृष्ट उदाहरण है [भ० १५७]। डण्ड बड़ा वैरागी और तपस्वी था। जब वह तप करते हुए खड़ा था, कहीं से आकर एक तीर ने उसे वीध दिया। जिनके शब्दों के ध्यान मे ध्यानस्थ होने के कारण उसने अपने शरीर की उपेक्षा की और दर्द सहता रहा। अन्त में उसे परम पद प्राप्त हुआ। [म० ४६५, संथा० ६१-६२]। जो मिथ्यात्वी है और सन्तो के प्रति घृणा रखता है, उसे तुरुमिणी के दत्त की भाँति बहुत दु:ख सहने पड़ते हैं [भ० ६२, म० ४६१ ?]। जिनकी भक्ति से सुख और उच्च कुल मे जन्म उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे कि राजगृह के दादुर[18] को प्राप्त हुए थे जो कि पूर्व भव में मणियार सेट्ठी था [भ० ७५]। संत दमदन्त, यद्यपि कौरवों द्वारा निंदित और पाण्डवों द्वारा प्रशसित था, दोनों के प्रति समभावी ही रहा [म० ४४२]। देवरई साकेत के राजा, ने राज्य और राज्यसुख सब ही खो दिया और अपनी ही रानी द्वारा नदी मे फेक दिया गया क्योंकि वह स्वयम् एक लगड़े व्यक्ति पर आसक्त थी [म० १२२]। दो भिक्षु, धन्न और सालिभद्द, जो घोर तपस्या से महमान्वित थे। नालंदा के निकटस्थ वैभारगिरि के निकट दो पाषाण शिलाओ पर प्रायोपगमन किया; उन्हे अपने शरीर पर जरा भी मोह नही रह गया था और इसलिए वे शीत एवम् उष्ण सहते-सहते मुरझाने लगे और नष्ट हो गए, और उन्हें अनुत्तर विमान प्राप्त हुआ। देवानुग्रह से उनकी अस्थियो के ढेर आज भी वहा देखे जा सकते है [म० ४४२-४६]। चन्द्रगुप्त, के पाटलिपुत्र में एक धम्मसिंह था जो चन्दगिरि को छोड़कर कल्लऊर में भिक्षु-जीवन बिताने लगा था। उसने गृद्ध्रपृष्ठ[19] प्रत्याख्यान बड़ी शांति के साथ पालन किया। हजारों कीड़ों से खाये जाने पर भी उसने शरीर की कोई परवाह नहीं की, और इसलिए अन्त मे परम पद प्राप्त किया। [संथा. ७०-७२]। नंद, परशुराम, पाण्डुराय और लोभानन्द क्रोध, मन, माया और लोभ के कारण ही क्रमशः नष्ट हुए [भ० १५३]। अयलग्गाम नगर के एक परिवार के पाँच व्यक्ति, सुरई, सय, देव, समण और सुभद्द ने बड़ी श्रद्धा के साथ खमग नामक भिक्षु की जो कठोर तप से हीन-क्षीण हो गया था। सेवा-सुश्रुषा को और पुण्य एवम् पाप के विषय मे उस भिक्षु से देशना सुन कर पाँचों ही ने श्रावक के १२ व्रत स्वीकार कर लिए। उनने बाद में वासुपूज्य स्वामी के तीर्थकाल मे, प्रव्रज्या भी ले ली और अनेक प्रकार की तपस्याये की। फल स्वरूप मरने पर वे पाँचों अपराजित विमान में गए। वहाँ से चय कर वे भरत देश के राजा पाण्डुके घरमें पांच पुत्रके रूप मे उत्पन्न हुए। कृष्ण की मृत्यु के दुखद समाचार सुन कर इन्हें भी वैराग्य हो गया और ये सुट्ठिय आचार्य के मुनिधर्मी शिष्य हो गए। सबसे बड़े ने १४ और शेष तीन ने ११ पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। वे समस्त ससार मे प्रसिद्ध हुए। वे सौराष्ट्र में आए और वहां भगवान नेमि जिन के निर्वाण को सुन कर, उनने भी अनशन कर लिया। भीम ने कठोर तपस्या की और शत्रुंजय पहाड पर उसने प्रायोपगमन स्वीकार कर लिया, और सब प्रकार के परिषह सहते हुए अन्त मे परिनिर्वाण प्राप्त हुआ। फिर शेष भाइयों ने भी उसका अनुगमन किया [म० ण४१-६४]। पाण [याने चाडाल] तक ने भी देवों की मदद प्राप्त कर ली। क्योंकि मगरमच्छ ताल मे गिरने पर उसने केवल एक दिन का अहिंसा व्रत पालन किया था [भ० ६६]। अपने आप्त जनों और सगे-सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति या राग एक क्षण के लिए भी नही होना चाहिए; क्योंकि ये हो तो जीव के दुश्मन हो जाते है। जैसे कि ब्रह्मदत्त की माता उसके लिए हुई थी। [म० ३७६]। मंखलि द्वारा[20] उसके तप-तेज बल से महावीर के शिष्य भस्म कर दिए गए थे और इस प्रकार भस्म होकर उनने परम पद की प्राप्ति की। [संथा० ८८]। राणी मियावाई ने सिर्फ वन्दना और अन्य धर्मानुष्ठान कर अपने पूर्व जन्मों के कर्म एक क्षण में नष्ट कर दिए थे। [भ० ५०]। परिग्रह या राग भयावह है। सन्त मेयज्ज क्रोच पक्षी सहित

---

१७ तुलना करो नायाधम्मकहाओ, अध्या: ६ पृ० १८, मायदी कुमारों का कथानक।

१८ नायाधम्मकहाओ, अध्या. १३।

१९ सत्तरह प्रकार के मरण का यह एक प्रकार है।

२० तुलना करो, भगवती, शतक १५।

[?], तब भी एक गृहपति द्वारा बहुत सताए गए जबकि धन उसका पुत्र ही ले गया था[१२]। मेयज्ज ने असीम करुणा के कारण क्रौंच पक्षी को कि जिसने दोष किया था, नहीं बताया। और जब उनकी आँखों मे शलाकाएं घुसा दी गईं तो भी वह मंदार पर्वत के समान अटल, अचल ही खड़े रहे। [भ० १३२, म० ४२५-२६]। उस दुष्ट मेण्ठा ने जिसे चोरी के अपराध मे फाँसी का दण्ड दिया गया था, मरण समय में भगवान् को वदन, नमन किया और फल स्वरूप वह मर कर कमलदल नामक यक्ष उत्पन्न हुआ। [भ० ७८]। कौसांबी के ललियघडा के ३२ सदस्यो ने नदी की बाढ़ का वीरता से सामना किया और स्वयम् प्रायोपगमन कर परम पद प्राप्त किया। [सथा० ७६-८०, म० ४८० ?]। संत वयर ऋषि के ५०० शिष्य थे। एक शिला पर तप करते हुए धूप मे वैर ऋषि खड़े रहे। कोमल शरीरी जैसे कि वे थे, उनका शरीर उस सूर्य के ताप में घी की तरह पिघल गया। जिस स्थान पर देवो ने उनकी पूजा उपासना की, उसे रहावट्ट गिरि कहा जाता है और जिस पर्वत पर उनकी अभ्यर्थना इन्द्र ने की वह कुजरावट्ट नाम से प्रसिद्ध हुआ। [म० ४६८-७३]। एक ही झूठ अनेक सत्य शब्दो को दूषित-कलुषित कर देती है। वसु एक बार ही असत्य बोल कर नरक-भोगी हुआ था। [भ० १०१[। चौथा चक्रवर्ती, सनत्कुमार सात हजार वर्ष तक १६ प्रकार के रोगों से दुखी रहा था और उसने यह कष्ट शांति और समाधि पूर्वक सहा था। [म० ४१०-१२]। चार महीने के उपवास के पारणे के दिन जब कि वह अपने व्रत मे सुदृढ़ था और पर्वत से नीचे उतर रहा था, श्रमण सुकोशल का उसकी माता ने ही गला घोट दिया जो कि तब चित्तकूड के मुग्गिलगिरि मे सिंहनीरूप जन्म पाई हुई थी। मुनि ने यह सब परिषह समाधि पूर्वक सहा और परम पद को प्राप्त किया। [भ० १६१, म० ४६६-६७, सथा० ६३-६४]। मूर्ख गोपालक लड़के ने भक्ति व श्रद्धा के साथ नमस्कार मत्र का स्मरण किया और उसके फल स्वरूप चंपा मे धनी गृहपति सुदंसण रूप मे जन्मा। [भ० ८१]। कोसाम्बी के नीच गोती भिक्षु, सोमदत्त आदि जब प्रायोपगमन किये हुए थे, समुद्र मे फेंक दिए गए थे। [म० ४६४]। शुद्ध सम्यक्त्व याने सम्यक्दर्शन के कारण यद्यपि वह सम्यक्चारित्र के साथ नहीं था, तो भी हरिकुलप्रभ, श्रेणिक और अन्य जनों ने तीर्थंकर गोत्र का बंधन कर ही लिया। [म० ६७]। सोदास को स्वाद याने जिह्वा का दास होने के कारण और राजा सोमालिया को स्पर्शेंद्रिय के कारण दुख भोगना पड़े [भ० १४५-४६]।

उपर्युक्त सर्वेक्षण आंशिक ही है और इसमें पइन्नयों की सभी कहानियाँ समाविष्ट नहीं हुई हैं। कुछ कथानक तो ननामे ही हैं। [म० ४२४, ५१० आदि]। और कुछ नाम वाले तो हैं परन्तु ब्योरे रहित हैं। [म० ४३२]। मैं ने गाथाओं का उल्लेख करने में बड़ी सावधानी बरती है, क्योकि कथानकों से भली प्रकार परिचित हुए बिना इन गाथाओ की व्याख्या करना कठिन होता है। कहीं-कहीं तो नाम का पता लगाना भी कठिन ही रहा है। दिट्ठीवाय मे एक कथानक संक्षिप्त किया गया है। [भ० ५१२ २०], परन्तु आवश्यक नामों का वहाँ ठीक-ठीक निर्देश नहीं किया गया है। भिन्न-भिन्न परिषहों को कि जिनका विवरण उत्तराध्ययन, अध्याय २ [म० ४८४] में किया गया है, सहने वाले प्राचीन त्यागी वीरों के उदाहरणों मे कितने ही नाम गिनाए गए हैं, परन्तु शास्त्र में उनका जीवन ब्योरा बहुत कम दिया गया है। [म० ४८५-५०३ आदि]।

अर्धमागधी आगमों के वर्णनात्मक विभाग का यह विहगावलोकन अवश्य ही कुछ निश्चित मोटी बातों का हमे निर्देश कर देता है। एक तो यह कि जीवनियाँ तीन ही तीर्थङ्करों याने नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर से ही मुख्यतया सम्बन्धित हैं। उनमें भी महावीर से सम्बन्धित सर्वाधिक और पार्श्वनाथ से सम्बन्धित न्यूनतम हैं। नेमिनाथ सम्बन्धित सभी जीवनियों में कृष्ण-वासुदेव ही मुख्य पात्र हैं। ये जीवनियां हरिवंश से सम्बन्धित हैं। महावीर युग के कथानकों में तात्कालिक राजवंशों और राजाओं के विषय की जानकारी बहुत कुछ दी गई है। यद्यपि ये कथानक भाव में औपदेशिक ही हैं, पर यह भी बिलकुल स्पष्ट है कि उनसे सम्बन्धित कुछ

---

१२ बहुत सम्भव है कि एक ही कथानक के ये दो संस्करण हैं।

व्यक्ति ऐतिहासिक भी हैं। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, कुछ जीवनियां विशेष रूप से जैन हैं तो अन्य जैनधर्म सापेक्षता रंगित भारतीय सामान्य कथा-जीवनियों का संस्करण विशेष है

आगमों में ही कुछ साक्षियां ऐसी मिल जाती हैं कि ये नमूने के कथानक किस प्रकार परम्परागत स्मरण रखे गये थे। अब तो ये सभी कथानक प्रायः गद्य मे ही प्राप्त हैं, परन्तु उनके बीच-बीच मे नामो की शृखला पद्य गाथाओ मे दे दी गई हैं। फिर उवासगदसाओ म भी कुछ गाथाए ऐसी मिलती हैं कि जिनसे उन गुरुओ को कि जिन्हे व कहानियां समय पर व्योरेवार सुनानी पड़ती थी, उन्हे स्मरण रखना सहल ही रहे। नायाधम्मकहाओ जस आगमो की टीकाओ म ऐसी सारगभित गाथाए दी गइ है कि जिनम कथानको का सक्षप भी किया हुआ ह आर उनका उद्देश्य या उपनय भी कह दिया गया ह। यह कहना कठिन है कि ये गाथाएं शास्त्रों के वतमान पाठो के बाद के सक्षेप हे या कि मूल पाठो मे ही एसी गाथाए पहले से थी। पहला विकल्प यद्यपि अविचाय ता नहा ही है, फिर भी दूसरे विकल्प का सामान्य नियम रूप स स्वीकार करने की ओर ही मेरा झुकाव है। समराइच्च-कहा का सम्पूर्ण कथानक हरिभद्र द्वारा उन कुछ गाथाओ के आधार पर ही रचा गया था कि जो हम आज भी आगमों में प्राप्त हैं। ऐसी गाथाएँ कहानियां को मौखिक परम्परा की यद्यपि पूर्व साक्षी देती ह, परन्तु व स्वयम् ही उन लिखित रचनाओं की आधारभूत है कि जो हमे आज प्राप्य हैं।

(आ) आगमोत्तर और आगमानुकूल स्तर का साहित्य

जैन साहित्य का अन्य स्तर जिसका हमे आदि कालीन वर्णनात्मक साहित्य के सर्वेक्षण में विचार करना चाहिए, निज्जुत्तियों[२२] का है जो कि कुछ-कुछ उन टीकाओं जैसी ही हैं कि जो मूल मे आए विषय-विशेष की ही व्याख्या नही करती है कि जो मूल के साथ अनुयोग-द्वार आदि से नियुज्य हैं, अपितु आवश्यक विवरण देकर मूल पाठ के विवरण को सम्पूरित भी करती है। दस आगमों पर निज्जुत्तियां है। कुछ स्वतत्र निज्जुत्तियां जैसे कि पिण्ड, ओघ और आराधना भी है। पहली दो तो दशवैकालिक और आवश्यक निज्जुत्तियों की सम्पूरक प्रतीत होती हैं, परन्तु अन्तिम का परिचय तो एक उल्लेख[२३] मात्र से ही मिलता है। और एसा सभव लगता ह। कि उसको भगवती आराधना, मरणसमाही[२४] आदि शास्त्रो मे अभिनिविष्ट कर लिया गया होगा। व्याख्यान-विशेष की परम्परागत परिस्थितियो का एक से अधिक बार उल्लेख निज्जुक्तियो मे दिया गया है। जैसे कि उस आर्द्रक [जिसका सुयगडाग मे अध्याय है] का कि जिसका गोसाल आदि से वाद-विवाद हुआ था जेसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, व्योरा निर्युक्ति ही से प्राप्त होता है। इन निर्युक्तियो मे कई महत्व के सदर्भ और उल्लेख है कि जिसके कारण बाद की चूर्णियो, भाष्यो और टीकाओं मे स्पष्ट और पूर्ण व्याख्या करने के लिए लम्बे-लम्बे कथानक देना आवश्यक हो गया था। उनके कुछ उदाहरण यहाँ देना उचित होगा। उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे धनमित्र, हस्तिमित्र, स्वप्नभद्र आदि का उल्लेख भिन्न-भिन्न परिषह, जो कि २२ है, वीरता से

---

२२ निर्युक्तियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए। लायमैन: दशवैकालिकसूत्र एण्ड निर्युक्ति, जैडडी एमजी, ४६, पृ० ५८१-६६३। और उबरशिक्ठ ऊबर डी आवश्यक लिटरेचर, हैम्बर्ग १९३४; घाटगे : दी दशवैकालिक, एण्ड सूत्रकृतांग-निर्युक्ति, इण्डियन हिस्टारिकल क्वारटर्ली भाग ११, सं. ४ और भाग १२ स० २; चारपेण्टियर उत्तराध्ययन, उप्पासल, १९२२, इन्ट्रो. पृ. ४८-५२; चतुरविजयजी: अनेकान्त भाग ३, पृ. ६७३-६८४।

२३ मूलाचार [माणिकचन्द्र दि० जै० ग्रन्थमाला स० १८, बंबई स० १९७७ सस्क.] अध्या. ५, श्लो. ८२ पृ. २३३।

२४ मरणसमाही की अन्त की गाथाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण और मनोरजक हैं। इस ग्रन्थ में न केवल भाव ही अपितु गाथा तक प्राचीन आठ ग्रन्थों से ले लिए गए हैं—१. मरण-भित्ति, २. मरणविसोही, ३. मरण-समाही, ४. संलेहणासुय, ५. भत्तपरिण्णा, ६. आउर-पच्चक्खाणं, ७. महापच्चक्खाणं और ८. आराहणा-पइण्णा।

सहने वालों के दृष्टांत रूप से किया गया है। ऐसी कथाएँ या दृष्टान्त अन्य सन्दर्भों में भी दिए गए हैं। दशवैकालिक निर्युक्ति में उदाहरण की [?] व्याख्या करते हुए महत्व के उल्लेख [गाथा ६१ आदि मे] किए गए हैं जो लिखित नहीं तो कम से कम मौखिक कथानकों की परम्परा की पूर्वता का निर्देश करते है। दूसरे संदर्भों [गाथा ७७, ८१, ८७, १६२, २३६ आदि] में या तो उचित नाम ही दे दिए गए हैं या प्रमुख शब्द घोष [कैचवर्ड्स] कि जिनका अर्थ तभी समझा जा सकता है जब कि उनके सम्बन्ध की कथाओं का पूरा-पूरा परिचय हो। नन्दी सूत्र में भी कुछ गाथाएँ हैं, कदाचित रूढ परम्परागत, जिनमे सेल-घण जैसे दृष्टान्तिक वाक्य, शिष्यों के गुण-दोष व्यक्त करने के लिए, की सूची दी गई है। और इनके कारण जटिल कथानक भी देना आवश्यक हो गया है। इन कथानकों के प्राचीन आधारों का अभी तक हमें स्पष्ट रूप से कोई पता नही है। परन्तु कुछ उल्लेखों से ऐसा मालूम पडता है कि कुछ कथानक तो दृष्टिवाद में जो कि आज अप्राप्य है, थे। फिर हाथी के जैसे कथानक का विवरण मरणसमाहि पइन्नय [गाथा ५१२-२०] मे भी दिया हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति भी एक विशेष महत्व का शास्त्र है या सुप्रसिद्ध आचार्यों की लिखी विस्तृत टीकाओं से उसे विशेष महत्व प्राप्त हो गया है। इसके मूल पाठ में कथाएँ प्रवेश करने के लिए अनेक अवसर प्राप्त होते हैं जैसे कि अनुयोगों के नियोजन में, बुद्धियों के दृष्टान्तों में, ताकि मूल पाठ का यथार्थ वाचन सम्भव हो[२५]। इसीलिए चूर्णि, भाष्य और टीका प्राकृत और संस्कृत दोनों ही के कथानकों से भरी हुई हैं, और इनकी सख्या चौंका देने जितनी अधिक है[२६]। लायमेन ने दशवैकालिक-निर्युक्ति के कथानकों को संक्षेप में पहले ही प्रकाशित कर दिया है। और आवश्यक चूर्णि और उसकी हरिभद्रीय टीका से कुछ कथानक संग्रह कर पृथक् से पुस्तक रूप में सम्पादित कर दिया है[२७]। आगमों में जो कथानक निर्देश किए गए हैं उनका ब्योरा संगतभावे देने के अतिरिक्त, हरिभद्र, शीलांक, शान्त्याचार्य, देवेन्द्र, मलयगिरि और अभयदेव जैसे टीकाकारों ने न केवल प्राचीन टीकाओं से ही सहायता ली है अपितु बाह्य साहित्य से भी, और इसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी टीकाएँ भिन्न-भिन्न परिणाम की और अनेक विषयों की जैन कथाओं का संग्रह या भण्डार ही बन गई है। इस दृष्टि से प्राकृत की ५४० गाथा का ग्रन्थ उपदेशमाला का नाम उल्लेख किया जा सकता है कि जो धर्मदास गणि रचित है और जिसे महावीर का समकालिक होने को भी कहा जाता है। सूक्ष्मदर्शी विद्वानगण इस ग्रन्थ को उतना प्राचीन समय देने को अभी तक तैयार नहीं हैं। सार-गर्भित और संक्षेप में औपदेशिक बातें कहने के सिवा भी यह ग्रन्थ ऐसे जीवन-घटना उल्लेखों की एक प्रसन्न खान ही है कि जिनमे से कितनी ही पइन्नयों में पहले से ही मिलती हैं। बहुतों ने इससे अपने ग्रन्थों में उद्धरण दिए हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ, ९वीं सदी ईसवी से अब तक इस पर अनेक टीकाएं रची जा चुकी हैं। यह ग्रंथ संग्रह-ग्रन्थ सा लगता है और आधारभूत गाथाएं निर्जुत्ति और पइन्नयों के अनुसारी प्राचीन जैन साहित्य के स्तर की भी हो सकती हैं।

दिगम्बरों ने अर्ध-मागधी आगमों को अधिकारित रूप से अपने लिए स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि प्राचीन आगम नष्ट हो चुके, फिर भी दिगम्बर परम्परा ने आगमों के विभागों सहित उनकी सूची और विषय अवश्य ही सुरक्षित रखी है। इसका नन्दीसूत्र में दिए विवरण और उपलब्ध अर्ध-मागधी शास्त्र एवम् उनके वर्गीकरण के साथ तुलना करना मनोरंजक है। नन्दीसूत्र की गिनती और दिगम्बर ग्रन्थों में प्राप्त वर्गीकरण, दोनों में ही, उपांग विभाग का नहीं पाया जाना और उनमें कुछ समान बातों का होना दिगम्बर परम्परा की यथार्थता को वल्लभी

२५ श्री विशेषावश्यक, गुजराती अनुवाद सहित, भाग १-२, आगमोदय समिति, बंबई १९२४-२७, पृष्ठ भाग १, ५०९, भाग १, ५१३ आदि।

२६ बृहत्कल्पसत्र जिसके कि पाँच भाग अब तक प्रकाशित हो चुके हैं [भावनगर, १९३३-३८], दृष्टान्तिक कथाओं में बहुत सम्पन्न हैं।

२७ दशवैकालिकसूत्र—एण्ड—निर्युक्ति ज़ैड़डी एमजी, ४६, लैपजिग १८९२; डीए आवश्यक बर ज़हलुंगन, लैपजिग १८९७।

वाचना से पहले की ही प्रमाणित करता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ज्ञाता धर्मकथा या नायाधम्मकहाम्रो में अनेक आख्यान और उपाख्यान थे, अन्तगड में नीम, रामपुत्र आदि का वर्णन था, अनुत्तरोपपातिकदसा या अनुत्तरदसा में ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय वारिषेण, चिलातपुत्र[२८] आदि-आदि के वर्णन थे। इनमें से कुछ कथानक वर्तमान अर्ध-मागधी आगमों में से कुछ मे प्राप्य है। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों के अभाव में यह कहना असम्भव है कि उनकी दिगम्बर कथाएँ कैसी थीं? आगमों के उपलब्ध दिगम्बर अंश ही कदाचित् उन तीन महान् टीकाओं की पृष्ठ-भूमि है कि जो उनके अन्तिम स्वरूप मे धवला, जयधवला और महाधवला के नाम से प्रख्यात है[२९]। अब तक के प्रकाशित इनके अंश अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और उनका विषय बिलकुल विशिष्ट है। इसलिए कथानको का, यदि उनमे कुछ कथानक प्राप्त हों तो भी, कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। उनमें कुछ ऐसी दृष्टान्त कथाएं भी है कि जिनमें शिष्यों का वर्गीकरण और विशष्टिकरण किया गया हो। प्राचीन दिगम्बर साहित्य का दूसरा स्तर कुन्द-कुन्द, यतिवृषभ, वट्टकेर और शिवार्य के ग्रन्थ है। कुन्द-कुन्द के माने जाने वाले ग्रन्थों मे निर्वाणकाण्ड नित्य-पाठ का स्तोत्र है और इसमें जैन परम्परा के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की उनके निर्वाण-स्थलों के नाम के साथ नामा-वली दी गई है एवम् उन सब को नमस्कार किया गया है। इससे हमें जैन पुराण और जिनमे जैन बड़ी पूज्य दृष्टि रखते हैं ऐसे व्यक्तियों की आदि पूंजी का कुछ कुछ आभास मिल जाता है। भावपाहुड उन कुछ व्यक्तियों का उल्लेख करता है जिन्हें अपने भाव या आध्यात्मिक स्वभाव में कुछ कलुषता आ जाने के कारण दुःख भोगना पड़ा था[३०]। जैसे कि बाहुबलि की आध्यात्मिक उन्नति उसके अभिमान के कारण अटक गई थी हालांकि शरीर का मोह उसे सर्वथा हो तब नहीं था। निदान के कारण, सन्त मधुपिंग मुनिधर्म स्वीकार नहीं कर सका और सन्त वशिष्ठ ने दुःख उठाया था। [४४-४६]। बाहु यद्यपि जैन मुनि था फिर भी अपनी आन्तरिक घृणा के कारण दण्डक नगर को भस्म कर दिया और रौरव नरक को प्राप्त किया। इसी तरह द्वैपायन भी यद्यपि बाहर से मुनि ही दीखता था परन्तु मुनि के यथार्थ गुण उसमें नहीं थे और इसीलिए वह अनन्त संसार भ्रमण करता रहा [४९-५०]। शिवकुमार, नवकुमारियो से वेष्ठित होने पर भी, अपने वीर और विशुद्ध मन के कारण संसार-चक्र का नाश कर सका था। भव्यसेन भावश्रमण नही हो सका, हालाकि उसने १२ अग और १४ पूर्व ही नहीं, अपितु संसार का सारा शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पक्षान्तर में शिवभूति ने जिसके कि भाव विशुद्ध थे, तुस-मास की माला जपते-जपते ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया [५१-५३]। मत्स्य शालिसिक्थ तक भी भावों की अपवित्रता के कारण नरक मे गया [८६]। यह बताने के लिए कि शील रहित ज्ञान से ही स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों में जाने का मार्ग प्रशस्त नही हो जाता है, शीलपाहुड मे सुरत्तपुत्त[३१] का दृष्टान्त उद्धृत किया गया है कि जो दस पूर्व का ज्ञानी होते हुए भी नरक में गया [३०]। यति वृषभ की तिलोयपण्णत्ति[३२] में ६३ शलाका पुरुषों की

२८ देखो प्राकृत श्रुतभक्ति; तत्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, १. २०, और उसी पर अकलंक का राजवार्तिक; धवला सहित षट्खण्डागम [अमरावती १९३९] भाग १, पृ. ९६ आदि; गोम्मटसार, जीवकाण्ड [बंबई १९१६], पृ. १३४ आदि।

२९ प्रो० हीरालाल ने धवला, भाग २ [अमरावती १९४०] के इण्ट्रोडक्शन, पृ. ४१-६८ में दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रों में उपलब्ध दृष्टिवाद के विव-रण का तुलनात्मक विचार विशद रीति से किया है।

३० उपाध्ये: प्रवचनसार [बंबई १९३५] इन्ट्रो. पृ. ३३।

३१ संभवतया सम्पादक द्वारा की संस्कृत छाया मे सात्य-कीपुत्र से इस नाम का तुल्यकरण किया गया है।

३२ इसका वक अंश परख के लिए मैने जैन सिद्धान्त भवन, आरा के लिए १९४१ में सम्पादन किया था जो पहले जैन सिद्धान्त भास्कर में और पीछे पृथक पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। अब मैं फिर से इसका सम्पादन कर रहा हूँ और वह छपने दे भी दिया गया है। मूल पाठ के साथ हिन्दी अनुवाद भी है।

जीवनी की वे आधारभूत बातें सभी दी गई हैं कि जिन पर उत्तर ग्रन्थों की रचना हुई है। ऐसी ही बातें आवश्यक-भाष्य आदि में भी हैं। वट्टकेर के मूलाचार मे [२, ८६-७] वर्णन है कि महेन्द्रदत्त ने कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता जैसी स्त्रियों को एवं सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक जैसे पुरुषों का एक ही दिन मे मिथिला में वध कर दिया था। इस गाथा पर वसुनन्दि टीकाकार ने व्योरेवार कथानक नही दिया है, अपितु इतना ही कह दिया है, 'कथानिका चात्र व्याख्यया आगमोपदेशात्'। फिर क्रोध, मान, माया और लोभ द्वारा कुछ मुनियो द्वारा आहार प्राप्त किया गया था, उनके दृष्टान्त के लिए हत्थिकप्प[33] वेणयड, वाणारसी और रासियाण नगरों से सम्बन्धित कुछ कथाओ का उल्लेख है। टीकाकार वसुनन्दि ने यहाँ भी कथाएँ नहीं देकर, इतना ही कह दिया है, 'अत्र कथा उत्प्रेक्ष्य वाच्या इति। आगे की गाथा [६. ३६] मे यशोधर को आदर्श दानपति कहा गया है। शिवार्य की "भगवती आराधना" में यद्यपि मुनि के मरणान्त समय के वैराग्यानुशासन को ही मुख्यता दी गई है फिर भी, कितनी ही जीवनियों का उल्लेख उसमें किया गया है जिन पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, हरिषेण प्रभाचन्द्र आदि के कथाकोशों मे संग्रहीत अनेक कथानक विकास पा गए है। मूल ग्रन्थ मे कितने ही प्रमुख व्यक्तियों का उल्लेख है कि जो अपने धर्माचरण, पापाचरण, वैराग्य-वीरता, या इह भव और परभव के परिणामों के प्रति बताई सहनशीलता के लिए स्मरणीय हैं[34]। कितने ही नाम तो पइन्नयो में मिलने वाले ही है और इनमें से कुछ का उल्लेख प्रायः वैसी की वैसी ही गाथाओ मे यहाँ भी है।

श्रामण्य जीवन सम्बन्धी प्रायः तादृश बातों के कारण ही, थोड़े शाब्दिक एवम् भाषाई हेरफेर वाली समान गाथा और उसी प्रकार की व्याख्या एवम् वाचना के कारण यह परिणाम अनिवार्यतः निकलता है कि "भगवती आराधना, मूलाचार, निज्जुत्ति जैसे कि आवश्यक, पिण्ड आदि, कम से कम कुछ अंशो मे, किसी एक समान श्रोत्र के ही आभारी है कि जो कभी दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों में ही अधिकृत माने जाते रहे होगे।" भाषाई और क्रियामूलक विभेद, पाठों के लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् की पारस्परिक आदान-प्रदान की सम्भावना को एक दम अमान्य कर देता है। वास्तव मे ये विभेद स्पष्ट बताते है कि वही गाथा कैसे, विषय को प्रभावित किए बिना ही, मौखिक सक्रमण के समय क्षुद्र परिवर्तन को तो प्राप्त हो ही गई। विषय की तादृश स्थूल रूपरेखा का सरक्षण प्राचीन जैन परम्परा की प्रामाणिकता और उसके इस काल तक ज्यों की त्यो हस्तान्तरित किए जाने की निष्ठा को ही प्रमाणित करती है। विभेदों के पीछे, जो कि बाद में जटिल हो गए, पक्षपात-शून्य अध्ययन-मनन जैन परम्परा की ठोस और समान पृष्ठ-भूमि ही प्रकट करता है। वैराग्य के लक्ष्य मूलतः दोनों मे समान भावार्थ है और दोनों एक से ही वैराग्य-वीरों की जयन्तियां या उत्सव मनाते है।

प्राचीन दिगम्बर श्रावकाचारों मे समन्तभद्र का रत्नकरण्डश्रावकाचार है और उसमें अंजन चोर[35], अनन्तमति, उद्दायन, रेवती, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णु और वज्र का उल्लेख सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन करने वालों के दृष्टान्त रूप से किया गया है [१, १९-२०]। फिर मातग, धनदेव, वारिषेण, नीली और जय अणुव्रतों के यथार्थ पालने वाले सुप्रसिद्ध कहे गये हैं, और धनश्री, सत्यघोष, तापस, आरक्षक और श्मश्रुनवनीत पाँच महापापों के दृष्टान्त रूप से उल्लेख किए गए हैं [३, १८-९]। अन्त में श्रीषेण, वृषभसेन और कोण्डेश का नाम आदर्शदाताओं के लिए दिया गया है (४, २८)। वसुनन्दि ने अपने उवासयज्झयण[36] मे सम्यक्त्व के आठ अंगों के

---

३३ जित कल्पभाष्य [अहमदाबाद संस्क. सं. १९९४] में एक दृष्टान्त हाथीकप्प के स्वमग का दिया गया है परन्तु अधिक विवरण नहीं दिया गया है [गाथा १३९५ आदि]।

३४ ये बातें अधिक व्योरा सहित आगे लिखी गई हैं।

३५ यशस्तिलक चम्पू [शक स० ८८१] के ६ठे आश्वास में भी ये कथानक दिये हुए हैं। नयसेन का धर्मामृत [कन्नड ई० ११११२] भी समक्त्व, व्रत आदि संबंधी कथाएं देता है।

३६ मैंने उस संस्करण का उपयोग किया है जिसमें प्राकृत मूल और हिन्दी अनुवाद है। उसका मुखपृष्ठ गायब है; संभवतः वह सूरजभान वकील, देवबन्द, द्वारा प्रकाशित किया गया था।

दृष्टान्त मे समन्तभद्र के दिए नाम ही दिए है, पर जिनेन्द्रभक्त के स्थान मे उसने जिनभक्त नाम दिया है। इसके सिवा उसने इन व्यक्तियों के नगरों के नाम भी दे दिए हैं (गाथा ५२-५)। वसुनन्दि ने सात व्यसनों के बुरे परिणामों के छाप पटकने के लिए नीचे लिखी अनेक कथाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है : द्यूत के कारण राजा युधिष्ठिर ने न केवल राज्य ही खोया अपितु १२ वर्ष तक वनवास भी भोगा था; उद्यान मे क्रीड़ा करते हुए प्यास लगने पर गन्दी मदिरा पीकर यादव नष्ट ही हो गये थे; एकचक्र का राक्षस बक, मास लोलुपी होने के कारण ही राज्यभ्रष्ट हुआ और मरने पर नरक में गया था; चतुर चारुदत्त वेश्याशक्ति के कारण ही दरिद्र हुआ और विदेशों मे दुःख पाया था; चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त आखेट के व्यसन के कारण ही नरक में गया था; श्रीभूति निक्षेप का अस्वीकार कर हड़प जाने के कारण ही संसार के अनेक चक्र करता रहा था; लंकापति रावण, प्रतिवासुदेव और विद्याधरों का अधिपति होने पर भी, परदारा-हरण के पाप के कारण नरक में गया और अनेक भवभ्रमण किये थे (गाथा १२५-३३)।

मूल पाठ इन व्यक्तियों के विषय में स्वतः कुछ भी नही कहते है, परन्तु टीकाकार ही इनके कथानको की पूर्ति करते है। प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्ड के उल्लेखों को स्पष्ट करने के लिए ही कथानक दिये है। कितने ही कथानक तो, यह स्पष्ट है कि, धर्मोपदेशिक ही हैं। कुछ कथानक उत्तरकालीन कथाकोषों में ही पाये जाते है और कथाओ के नायक-नायिका का भाग्य पाठक के मानस पर एक स्पष्ट छाप छोड़ देता है। यदि वे अपने दुष्कृत्यों या पापों से दुख पाते है तो पाठक को उन दुष्कृत्यों या पापों से बचते ही रहना चाहिए, और यदि वे अपने सुकृत्यों, धर्मकृत्यों से सुख पाते हैं तो पाठक इनकी सार्थकता का पूर्ण विश्वासी हो जाता है।

विशाल जैन कथानक या वर्णनात्मक साहित्य का पूर्ण अध्ययन ही हमें कहानियों के पहचानने और प्राचीन जैन साहित्य के विशाल क्षेत्र में प्रसंगवश उल्लिखित के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने में बहुत सहायता कर सकता है। यह बिलकुल निश्चित बात है कि कोई भी लेखक या ग्रन्थकार इस प्रकार नामों का उल्लेख कभी नही कर सकता है जब तक कि उसे मौखिक परम्परा से या लिखित उल्लेखो से उनकी कथाओं का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त न हो। कुछ कथाएं उनके विवरण सहित जो खोज ली गई है, यही बात समर्थन करती है कि इन नामों का सम्बन्ध सुप्रख्यात कथाओं के साथ बैठाने के लिए और भी गहन अध्ययन आवश्यक है।

इ. उत्तरकालीन प्रवृत्तियों और नमूने

प्राचीन जैन साहित्य के वर्णात्मिक तत्त्वों का सरसरा सर्वेक्षण कर लेने के पश्चात्, इन प्राचीन बीजों से ही अंकुरित और पल्लवित पीछे के जैन कथा-साहित्यों के खास-खास नमूनो का विचार करना अब आवश्यक है। प्रत्येक के विवरण के खोज की अपेक्षा, उनकी स्थूल धारा एव नमूनो का विचार करना ही हमारे लिए अधिक उपयोगी होगा।

त्रेसठ शलाका पुरुषों की जीवनी की सामग्री [२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, और ९ बलदेव] अंशतः कल्पसूत्र मे पाई जाती है और आधारभूत तत्वों मे तिलोयपण्णत्ति एवं विशेषावश्यक-भाष्य में, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, भी मिलती है। इन जीवनियो को एक विशिष्ट रूप ही प्राप्त हो गया है हालांकि ब्यौरे और विवरण प्रत्येक लेखक के एक दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न है। ऐसा मालूम पडता है कि कुछ प्राचीन ग्रन्थ, जैसे कि कवि परमेश्वर का, हम तक नहीं पहुंच पाए। परन्तु जिनसेन, गुणभद्र और हेमचन्द्र के संस्कृत ग्रंथ, शीलाचार्य और भद्रेश्वर के प्राकृतिक ग्रन्थ, पुष्पदन्त का अपभ्रंश ग्रंथ, चामुण्डराय का कन्नड ग्रंथ और तमिल के किसी अज्ञात लेखक का श्री पुराण हमें, आशाधर, हस्तिमल्ल आदि के छोटे-छोटे ग्रन्थों के साथ-साथ ही, प्राप्त है। इनके विश्वभौगोलिक एवं सैद्धान्तिक विवरणों के बीच-बीच मे दी गयी कथाओं और धर्म देशनाओं के कारण इन्हें प्रधान पुराणों में पूजनीय स्थान प्राप्त हो गया है और ये बड़े प्रामाणिक माने जाते हैं।

दूसरे नमूनों मे वैयक्तिक तीर्थंकरों की और उनके समय के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनियां हैं। ऊपर हम देख आए हैं कि निर्वाणकाण्ड में अनेक सुप्रतिष्ठित

व्यक्तियों को नमस्कार किया गया है जिनकी कि स्मृति-रक्षा उत्तर साहित्य मे की गयी है। तीर्थंकरों की उपलब्ध जीवनियों में से अधिकांश, चाहे वे प्राकृत, संस्कृत, कन्नड और तमिल आदि किसी भी भाषा में क्यों न लिखी गई हों, मे परम्परानुसार विवरण तो दिया ही गया है, परन्तु उनकी शैली संस्कृत-आर्ष काव्यों के अनुसरण पर अलंकारिक है। लक्ष्मणगणि[३७] और गुणभद्र रचित सुपार्श्व एवं महावीर के प्राकृत चरित्र, हरिचन्द्र और वीरनन्दि रचित धर्मनाथ एवं चन्द्रप्रभ के संस्कृत चरित्र, पप, रत्न एवं होन्न रचित आदिनाथ, अजितनाथ और शांतिनाथ के कन्नड चरित्र, इनके अच्छे उदाहरण है। जेन परम्परा राम और कृष्ण को मुनिसुव्रत और नेमिनाथ के समकालीन मानती है और राम एव कृष्ण की कथा के कितनी ही प्रकार के जैन सस्करण प्राप्त है। विमल का पउमचरिय और रविषेण का पद्म चरित्र, जैन दृष्टिकोण और पृष्ठभूमि के अनुसार ली गई छूटों का विचार करते हुए भी, रामकथा को मौलिक एवं महत्वपूर्ण वैशिष्ठ्य प्रदान करते है हालाकि ऐसा करते हुए भी, वे यह प्रच्छन्न नही रख सके है कि उन्हे वाल्मीकि रामायण का परिचय नही है। विद्याधरों और उनकी कारस्तानियो के प्रवेश के कारण इन ग्रथों को कितने ही स्थानों मे परी-कथाओं का सा मनोहर रूप प्राप्त हो गया है। कृष्ण-वासुदेव जैन साहित्य में भी पूर्ण प्रमुखता प्राप्त करते है। अर्धमागधी शास्त्रों मे उनके और उनके गण याने वृष्णिवंश के बाबत अनेक सूचनाए प्राप्त है। वे अपने गुण के सर्वप्रमुख वीर या नायक है। परन्तु उनके अवतारी पुरुष होने के चिन्ह, जो कि महाभारत मे असाधारण और प्रचुर परिमाण मे व्यक्त है, जैन उल्लेखो मे एक दम ही नहीं है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में पाण्डवों को इतना महत्व प्राप्त नही हुआ था जितना कि महाभारत में उन्हे प्राप्त है; और कृष्ण ने अवतारी पुरुष का नहीं, परन्तु एक साहसी एवं उदात्त क्षत्रीय का ही रूप उनमें पाया है। कदाचित यह चित्रण पाण्डव-कथा के विकास की प्रारम्भिक स्थिति का है कि जिसका परिवर्धित और साम्प्रदायिक रूप आधुनिक महाभारत में हमें प्राप्त है। भद्रबाहु का तथाकथित वासुदेव चरित्र हमे उपलब्ध नही हुआ है। परन्तु वासुदेव के देश-विदेश पर्यटन का वर्णन करने वाली और गुणाढ्य की बृहत्कथा के जैन प्रतिरूप का सुन्दरतम चित्र प्रस्तुत करने वाली सघदासगणि की वासुदेव हिण्डी वीर कथा, लोककथा, जन्म-जन्मान्तर के उन्नायक आख्यानो एव साम्प्रदायिक व औपदेशिक आख्यानिकाओ का एक स्मरणीय सग्रह ग्रथ हमे प्राप्त है। कई आख्यान जैसे कि चारुदत्त, अगडदत्त पीप्पलाद, सगरकुमार, नारद, पर्वत वसु, सनत्कुमार आदि आदि जिनकी उत्तरकालीन साहित्य मे लोकप्रियता मान कर बारबार पुनरावृत्ति की गई है, उस वासुदेवहिण्डी मे प्रायः उसी रूप मे पहले ही से स्थान पाए हुए हैं। कडारपिग की जैसी कहानियां जो कि लपटी पात्रों में सुप्रसिद्ध है, भी इसी श्रोत में हमे प्राप्त है। चाहे कहानी के पात्रों के नाम बदल गये हों, परन्तु लक्ष्य तो वहाँ का वही है। जिनसेन का संस्कृत हरिवश पुराण और अपभ्रंश का धवल कवि का वासुदेवहिण्डी से बहुतांशमे मिलता है। यह द्रष्टव्य है कि जिनसेन के ग्रन्थ मे कितने ही ब्योरे ऐसे दिए गए है कि जो ६३ शलाका-पुरुषों के चरित्र ग्रन्थ मे शोभा पा सकते हैं। इस नमूने के सैकड़ों ही, गद्य एवं पद्य ग्रन्थ अनेक भारतीय भाषाओं के उपलब्ध है। कुछ में तो जीवन्धर, यशोधर करकण्डु, नागकुमार और श्रीपाल जैसे धर्म-कर्म-वीरव्यक्तियों के ही जीवन वर्णन है तो दूसरों मे उन धर्मवीर श्रावक एव श्राविकाओ की उपदेशप्रद कथाएं है कि जिनने कुछ व्रतों और धर्म-क्रियाओं के पालन मे ही अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया। प्राचीन साहित्य के सुप्रख्यात वैरागी वीरों की सक्षिप्त जीवनियां भी है। इहभव और परभव मे अच्छे और बुरे कर्मों के फलो को दृष्टान्त द्वारा हृदयगम कराने वाली परिशोध कथाए भी है। इन कथाओं मे भावना और सिद्धान्तोपदेश ये दो ही प्रतिपाद्य विषय है। कुछ कथानक तो प्राचीन साहित्य से लिए गए हैं तो दूसरे लोकजीवनियो से। कुछ काल्पनिक भी हो सकते है। परन्तु इन सबको जिस ढांचे में सजाया गया है वह अन-

३७ लेखक सम्यक्त्व के फल और बारह व्रतों के अतिचारो की दार्ष्टान्तिक अनेक उपकथाएं देता है और उनने कथा की प्रमुख धारा या प्रवाह को प्रायः आच्छादित कर दिया हैं।

ऐतिहासिक है। इस वर्ग मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की अनेक कथा, चरित्र और आख्यान सन्निविष्ट है। इनके लेखक का ध्येय घटना-वर्णन मात्र है और उनकी शैली महाकाव्य की है। गद्यचिन्तामणि, तिलकमजरी, यशस्तिलकचम्पू आदि ऐसे द्रष्टव्य उदाहरण है जो उच्च काव्य योग्यता और अलकारी भाषा के उत्तम नमूने हैं। जैन साधू का यह अनिवार्य गुण कहा और माना जाता है कि वह अनेक कथाए कह सके। स्वभावतः ही काव्य झुकाववाले अनेक जैन मुनियों ने साहित्य की इस शाखा को प्रचूर साहित्य प्रदान किया।

भारतीय साहित्य मे एक तीसरे नमूने ने भी मनोरंजन पथ अंकित किया है। और वह रोमानी शैली की धार्मिक कथा है। पादलिप्त का प्राकृत 'तरगलोला' आज अप्राप्य है, परन्तु 'तरगवती' नाम से उसका सस्कृत सार यह प्रकट करता है कि मूल ग्रन्थ मे अवश्य ही महान् साहित्य गुण रहे होगे। फिर समराइच्च कहा है जो एक सुन्दर गद्य रमन्यास है और जो श्री हरिभद्रसूरि के साहित्य और काव्य गुणो द्वारा रचा गया है। इसमे ऐसे परम्परागत नामो की हारमाला दी गई है कि जिनने निदान द्वारा अपना ससार-भ्रमण अत्यन्त बढ़ा दिया था। बहुत चतुराई और सावधानी से गूथा हुआ, सिद्धर्षि का जटिल रूपक, उपमितिभवप्रपचकथा, को भी इसी श्रेणी मे रखा जा सकता है। अन्यधर्मों के सिद्धान्तो और पुराण कथाओ का दोष बताने के लिए भी कभी-कभी काल्पनिक कथाएं रची गयी है। यह प्रवृत्ति वासुदेवहिण्डी के प्राचीन काल तक मे भी स्पष्ट दिखलायी पडती है। सीधीसादी रीति ही तब आदिरी गई थी। हरिभद्र का घूर्ताख्यान और हरिषेण, अमितगति और वृत्तविलास की धर्मपरीक्षा ने यह बता दिया है कि हिन्दू पुराण की अविश्वस्त जीवन-कथाओं का किस चतुराई से काल्पनिक कथा द्वारा व्यग चित्र खीचा जा सकता है।

अर्ध-ऐतिहासिक प्रबधो की एक चौथी श्रेणी या वर्ग है। भगवान महावीर के बाद युग प्रधान आचार्य, अद्भुत सत, महान ग्रथकार, आश्रयदाता राजा और व्यापारवीर कि जिनने जैन सघ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो और सदियो मे अपूर्व सेवा की, हुए है। बाद मे आने वाली पीढ़ियो ने इन्हे किसी भी तरह भुलाया नही है। हम देखते है कि नन्दीसूत्र मे भी प्रभावक युगप्रधानों का स्मरण किस श्रद्धा के साथ किया गया है। हरिवश और कथावलि मे भी महावीर के बाद के अनेक आचार्यों का उल्लेख है। ऋषिमंडल जैसे स्रोत मे भी महान सतो के नाम गिनाए गये है। बाद की सदियों मे इन सब तत्वो ने मिल कर खूब ही साहित्य रचवाया है। परिशिष्टपर्व, प्रभावक चरित्र और प्रबन्धचिन्तामणि ऐसे ही साहित्य के उत्तम नमूने है। यह सत्य है कि इतिहासज्ञ को इनकी अनैतिहासिक परिस्थितियों मे से तथ्य खोज निकालना पड़ता है। महान आचार्यो की ही भाति जैन पवित्र तीर्थों का भी तीर्थकल्प जैसे ग्रथो मे गौरवगान किया गया है।

सबसे अन्तिम श्रेणी या वर्ग मे कथाकोश या कथा-सग्रह है। हमने ऊपर देख ही लिया है कि कुछ आगम, निर्युक्ति, पइन्नय, आराधना शास्त्र आदि, औपदेशिक दार्ष्टान्तिक कहानियों का, आदर्श जीवनियो और वैरागी कथाओ का, किस प्रकार उल्लेख करते है। उपदेशमाला, उपदेशपद आदि जैसे अन्य ग्रंथों ने भी यही परम्परा चालू रखी है। इससे टीकाकारों को उनकी कथाओ का पूर्ण विवरण देने की आवश्यकता हुई। कहीं-कहीं सस्कृत टीकाओ मे पुरातन प्राकृत कथाए भी सुरक्षित कर दी गई है। टीकाकारों ने ही कहीं-कहीं प्राचीन सामग्री के आधार से, गद्य, पद्य या मिश्रित शैली मे सस्कृत मे ये कथाए लिखी है। इसने कतिपय टीका-ग्रथो को कथाओं का महान सग्रहालय ही बना दिया है। हमे ज्ञात है कि आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि की अनेक टीकाए इन कथाओं से पूरी सम्पन्न है। इन कथाओ का एक निश्चित धार्मिक वृत्ति का प्रचार करना ही लक्ष्य है और इसी लिए उपदेशक और प्रचारक अपने भाषणो, व्याख्यानो, धर्म-प्रवचनो मे स्वतत्र रूप से बिना किसी विशेष प्रसग के भी इनका उपयोग कर सकते और करते है। पंचाख्यान जैसे कहानियो के जैन सस्करण भी हुए है कि जो पचतत्र जैसे ग्रथ के अग्रदूत थे। इसी प्रवृत्ति ने कथाओ के छोटे और बड़े सग्रहो को भी जन्म दिया कि जिनका सदर्भ ग्रथ की भाँति निरन्तर उपयोग किया जा सके। कई आचार्य तो इन कथाओ का अपने ही ढग से, मूल कथा

का ढाँचा अस्खलित रखते हुए, कह देते थे। परिणामत: जैन भंडारों मे अनेक हस्तलिखित कथाकोश आज उपलब्ध है। इनमे से अनेक के लेखको का तो नाम तक अज्ञात है। बहुत ही थोड़े इस वर्ग के ग्रथो का तुलनात्मक सूक्ष्म परीक्षण किया गया है। कुमारपालप्रतिबोध जैसे ग्रथ विशिष्ट लक्ष्य से तैयार किए गए कथा संग्रह ही तो है। इन सग्रहों से कथा-विशेष स्वतत्र संकरण मे भी प्राप्त है। इन उपदेशी कथाओ के सिवा भी कुछ ऐसी कथाए है जिनका सबन्ध व्रतो याने धार्मिक और अनुष्ठानिक आचारो से है। व्रतो के फल का और उन व्यक्तियों का कि जिनने उनमे सफलता प्राप्त की, गौरवगान करने को एक अच्छी कथा रची जा सकती है। उत्तरकाल मे इनमे साहित्यिक-रग बिलकुल ही फीका पड गया था और वे मात्र यान्त्रिक एव निरस ही रह गई और उसी रूप मे वे सग्रहो मे भी सुरक्षित हो गई है।

उपर्युक्त सभी वर्गों के ग्रन्थो मे सिवा कुछ अर्ध-ऐतिहासिकप्रबन्धो की कतिपय धाराएँ हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है क्योकि वे न तो सामान्य ही है और न भारतीय साहित्य की अन्य शाखाओं मे ही इतनी बहुलता से पाई जाती है। इनमे पृष्ठ पर पृष्ठ पूर्वभवो के वर्णन से, चित्रण से रग दिये गए है। सर्व शक्ति सम्पन्न और सजग कर्म सिद्धान्त बड़ी सूक्ष्मता से सुकृतों और दुष्कृतो का लेखा रखता है कि जिनके परिणाम से कोई भी त्राण नही पा सकता है। जहाँ भी अवसर मिलता है सैद्धान्तिक बारीकियों और औपदेशिक आख्यानो के साथ धार्मिक उपदेश प्रस्तुत कर दिए जाते है। कथाओ में ही कथाएँ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इतनी अधिक दीख पड़ती है कि सावधान पाठक ही कथा के भिन्न-भिन्न तारो का ध्यान बराबर रख सकता है। दृष्टान्तिक कथाएँ यहाँ वहाँ दे दी जाती है और वे सामान्यतया लोक-कथाओं और पशु-पक्षियो की कथाओ से ही ली जाती है। सभी प्रसंगो मे कथाकार मानव-मस्तिष्क की प्रचालना मे सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि रखता हुआ प्रतीत होता है। वैराग्य की भावना सारे के सारे ग्रन्थ मे ओत-प्रोत रहती है और प्रत्येक ही कथा-नायक अगले जन्म मे अच्छी स्थिति पाने के लिए नियमत: संसार त्याग प्राय: करता ही है। (क्रमश:) ★

देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन

श्री गोपीलाल अमर

परिचय

दि० ६-२-७० को सागर विश्वविद्यालय ने प्रो० भागचन्द्र को 'पीएच० डी०' की उपाधि से अलंकृत किया। प्रो० जैन शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सीहोर (भोपाल म० प्र०) मे सस्कृत विभाग के अध्यक्ष है। संस्कृत और संस्कृति मे विद्वत्ता के अतिरिक्त समाज-सुधारके लिए भी उनकी प्रसिद्धि है। देवगढ़ पर शोधप्रबन्ध लिखकर डॉ० जैन ने विद्वानो को प्रबल प्रेरणा दी है कि वे समेत शिखर, गिरनार, शत्रुजय आदि जैसे तीर्थों का भी ऐसा अध्ययन करके उन्हे दुनिया भर के आकर्षण और उपयोग की वस्तु बनाएँ। इसीलिए, यद्यपि 'देवगढ़ की जैनकला का सास्कृतिक अध्ययन' शीघ्र प्रकाशित हो रहा है तथापि, उसका सक्षिप्त परिचय विद्वज्जगत् को देना आवश्यक है। तीनों परीक्षकों ने इस शोधप्रबन्ध की अत्यन्त प्रशसा की है, अत: यहा उन्ही के शब्द उद्धत करता हूँ (हिन्दी अनुवाद के रूप में)।

परीक्षकों की सम्मतियाँ

(१) प्रो० कृष्णदत्त वाजपेजी, टैगोर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग तथा निर्देशक, उत्खनन एवं अन्वेषण, सागर विश्वविद्यालय :

"मैंने शोधप्रबन्ध का परीक्षण किया। प्रत्याशी

ने देवगढ़ के सभी जैन स्मारको और मूर्ति-अवशेषो का उसी स्थान पर जाकर अध्ययन किया है। उसने देवगढ़ के समीपवर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण किया है और देश के विभिन्न सग्रहालयों मे प्राचीन भारतीय कलागृहो का अध्ययन किया है। "शोधप्रबन्ध नौ अध्यायों और पाच परिशिष्टों मे विभाजित है। प्राचीन मन्दिरो की रेखा-कृति दर्शाने वाला एक नक्शा, और विभिन्न इमारतों तथा मूर्तियों को चित्रित करने के लिए १२० फोटो आदि दी गयी है। शोधप्रबन्ध के अन्त मे सदर्भ ग्रन्थो की एक विस्तृत सूची भी है।

"यह देवगढ़ की जैन कला का प्रथम, व्यापक और समीक्षात्मक अध्ययन है। मन्दिरो तथा अन्य अवशेषो का विवरण सविस्तार है। इन स्मारकों पर आधारित सभी कला सम्बन्धी मुद्दे भलीभांति रखे गये है। जैन पूजा से से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओ, धार्मिक प्रतीकवाद, भट्टारक सस्था का उद्भव और विकास तथा कुछ मूर्तियों के समीकरण आदि पर वैज्ञानिक ढग से विचार किया गया है। साहित्यिक प्रस्तुतीकरण यथोचित है।

"यह रचना प्राचीन भारतीय इतिहास और सस्कृति के लिए एक मौलिक योगदान है। श्री भागचन्द्र जैन के लिए सागर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि समर्पित किये जाने की सस्तुति करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव होता है।"

(२) प्रो० सुधाकर चट्टोपाध्याय, विश्वभारती, शान्ति-निकेतन :

"मैने श्री भागचन्द्र जैन द्वारा सागर विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत 'दवगढ़ की जैनकला का सांस्कृतिक अध्ययन' शीर्षक शोधप्रवन्ध का परीक्षण किया है। यह शोधप्रबन्ध नौ अध्यायो और पांच परिशिष्टो मे विभाजित है जो उसी स्थान पर जाकर किए गए अध्ययन पर आधारित है जो (अध्ययन) संकेतो और व्याख्याओ से समृद्ध अगणित विवरणो से परिपूर्ण है। जिन्होने विभिन्न दृष्टिकोणो से (देवगढ़ का) अध्ययन किया है उन पूर्ववर्ती लेखकों का और अब तक लिखी गयी उसी (देवगढ़) सवन्धी उन संक्षिप्त पुस्तकों का जिन्हे अन्य विद्वान् लेखकों ने लिखा, लेखक (भागचन्द्र जैन) ने बराबर ध्यान रखा है। इस क्षेत्र का प्रागितिहास काल से आधुनिक काल तक का इतिहास सक्षेप मे लिखा गया है। इस सम्बन्ध मे मन्दिर स्थापत्य के विकास का इतिहास अपने आप आ गया है और उसी पृष्ठभूमि पर जैन मन्दिर लिये गये है। इस विद्वान् ने बहुत से उलझे हुए विषयों को स्पष्टता से सुलझाया है। प्रभावपूर्ण जैन केन्द्र मे हिन्दू मूर्तियों का पाया जाना स्वभावत: जिज्ञासा बढ़ाता है और इस सबन्ध में यह ध्यान देना होगा कि हिन्दू धर्म और जैन धर्म के बीच हमेशा सौहार्दपूर्ण संबन्ध रहे है, बौद्ध धर्म और खासकर उसकी महायान शाखा की तरह नही कि जिसमे ऐसी अनेक मूर्तियाँ बनायी गयी जिनमें हिन्दू देवों और देवियों को इरादतन हीन स्थिति में दिखाया गया है। जैसा कि एक श्रेष्ठ विद्वान् ने उल्लेख किया है, यही वह सच्चाई है जिसने जैन धर्म को अनेक असगतियों के बावजूद उसकी जन्म-भूमि मे बने रहने मे मदद की, जबकि विरोधी दिशा पकड़ने से बौद्धधर्म को अपने जन्म-स्थान से निर्वासित होना पड़ा। इस स्थान (देवगढ़) के धार्मिक जीवन पर लिखा गया अध्याय निस्सन्देह प्रेरणा-दायक और सूचनापूर्ण बन पड़ा है; संघों के गिर्द केन्द्रित सामाजिक जीवन भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। यह स्थान इतिहास के स्रोतों से समृद्ध है जिसका महत्त्व मुश्किल से कम किया जा सकता है।

"लेखक ने विपुल सामग्री एकत्र की है और उसे वैज्ञानिक ढग से सजोया है। शोधप्रबन्ध पर परिश्रम और मौलिक चिन्तन की छाप है और उस अध्ययन का प्रमाण है जिसे लेखक ने किया है।

"यह संस्तुति करने मे मुझे प्रसन्नता है कि श्री भागचन्द्र जैन को सागर विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि स्वीकृत की जाय।"

(३) श्री सतीशचन्द्र काला, निर्देशक, इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद, उ० प्र० :

"मैने श्री भागचन्द्र जैन के शोधप्रबन्ध 'देवगढ़ की जैन कला का सास्कृतिक अध्ययन' की परीक्षा की और उसे उच्चकोटि का शोध कार्य पाया।

"श्री भागचन्द्र जैन डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि पाने के योग्य व्यक्ति है।"

देवगढ़ की वर्तमान स्थिति

देवगढ़ उत्तर प्रदेश में, झाँसी जिले की ललितपुर तहसील की वेतवा नदी के किनारे स्थित है। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम में ३३ किलोमीटर की पक्की सडक से जुडा है। प्राचीन देवगढ विन्ध्याचल के पश्चिमी छोर की एक शाखा पर गिरिदुर्ग के मध्य स्थित था, जबकि आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका में बसा हुआ है। जनसख्या लगभग ३०० है। एक आधुनिक दिगम्बर जैन मन्दिर, जैन धर्मशाला, शासकीय विश्रामगृह और संग्रहालय है। जैन संग्रहालय भी बन रहा है। ग्राम के उत्तर मे प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर और शासकीय संग्रहालय तथा पूर्व में पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर प्राचीन जैन मन्दिर, मानस्तम्भ आदि है। इस पहाडी की अधित्यका को घेरे हुए एक विशाल प्राचीर है जिसके पश्चिम मे कुजद्वार तथा पूर्व में हाथी दरवाजा के खडहर है। इसके मध्य एक प्राचीर और है जिसे 'दूसरा कोट' कहते है। इसी में जैन मन्दिर है। इस कोट मे भी एक कोट था जो अब ध्वस्त हो गया है। इसके बीच एक प्राचीरनुमा दीवार बनायी गयी है जिसके दोनो ओर हजारो खंडित मूर्तियाँ जडी है। पहले प्राचीर के दक्षिण-पश्चिम मे वराह मन्दिर और दक्षिण में बेतवा के किनारे नाहरघाटी और राज-घाटी है।

शोधप्रबन्ध का सारांश

आरम्भ में सात पृष्ठ की भूमिका है :

प्रथम अध्याय मे देवगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के पश्चात् उन सभी प्रयत्नो का उल्लेख किया गया है जो शासकीय और सामाजिक स्तर पर विभिन्न विद्वानों एव संस्थानों द्वारा देवगढ की कला के अध्ययन के लिए किये गये है। देवगढ की प्राचीन स्थिति और नामों लुअच्छगिरि, कीर्तिनगर आदि पर प्रकाश डाला गया है और इतिहास लिखा गया है।

द्वितीय अध्याय मे देवगढ के प्रत्येक जैन स्मारक का विशद और सूक्ष्म सर्वेक्षण तथा वर्णन है। जैनेतर स्मारकों का संक्षिप्त वर्णन है।

तृतीय अध्याय में मन्दिर वास्तु के उद्भव और विकास तथा देवगढ के मन्दिरों की विशेषताओं को सवि-स्तार समीक्षात्मक विवेचन है।

चौथे अध्याय मे तीर्थकरों, यक्ष-यक्षियों, विद्यादेवियों, प्रतीकात्मक देव-देवियो आदि की मूर्तियों का सूक्ष्म वर्णन है।

पाचवे अध्याय मे विद्याधरों, आचार्य-उपाध्यायों, साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं आदि की मूर्तियो, पाठशाला-दृश्यों, युग्मों, मण्डलियों, पशु-पक्षियों तथा अन्य जीव-जन्तुओं, प्रतीको, आसनों, मुद्राओं आदि का अध्ययन है।

छठे अध्याय मे देवगढ़ के प्राचीन समाज के धार्मिक जीवन का विस्तृत विवेचन है।

सातवें अध्याय मे देवगढ़ के समाज और संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन है।

आठवे अध्याय मे वहा के जैन स्मारको पर प्राप्त अभिलेखो का वर्णन है।

नवें अध्याय मे इस शोधप्रबन्ध का उपसंहार किया गया है।

अन्त मे पाच परिशिष्ट, अभिलेखसूची और उनका सक्षिप्त विवरण, अभिलेखपाठ, सहायक ग्रन्थसूची, चित्रा-वलि का परिचय तथा चित्रावलि है।

प्रेरणा

यह शोधप्रबन्ध कितना महत्वपूर्ण है, इसका प्रमाण परीक्षक महोदयो की सम्मतियां हैं। देवगढ़ क्षेत्र के जैन प्रबन्धकर्ताओं ने इस ग्रथ के लिखने में बहुत उत्साहवर्धन किया जो अन्य तीर्थ क्षेत्रो के प्रबन्धको को अनुकरणीय है। नवोदित विद्वानों को भी ऐसे उपयोगी विषय शोध-कार्य को चुनने की प्रेरणा लेनी चाहिए। इस शोधप्रबन्ध के निर्देशक प्रो० कृष्णदत्त जी वाजपेयी से तो स्वयं जैन विद्वानो को भी बहुत कुछ सीखना चाहिए, जिनके निर्देशन मे अनेक विद्वान् जैन विषयो पर भी शोध कर रहे है।

गुणकीर्ति कृत विवेकविलास

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

ईडर के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य भुवनकीर्ति हुए। इनके गुरुबंधु ब्रह्म जिनदास की बहुत सी गुजराती रचनाएं उपलब्ध है। जिनदास के शिष्य गुणकीर्ति से मराठी में जैन साहित्य निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई। सन् १४५० से १५०० के बीच गुणकीर्ति ने मराठी में पद्मपुराण, धर्मामृत, द्वादशानुप्रेक्षा, रुक्मिणीहरण, रामचन्द्र फाग, नेमिनाथ पालना, नेमिनाथ जिनदीक्षा और धदागीत ये नौ रचनाएं लिखीं। पद्मपुराण के अध्यायों की पुष्पिकाओं से गुणकीर्ति की गुरुपरम्परा गुजरात के ईडर पीठ की है यह मालूम हुआ था तथा रुक्मिणीहरण के अन्तिम भाग में कवि ने अपना जन्म जैसवाल कुल मे हुआ बताया है यह ज्ञात था। हाल ही मे धर्मामृत की शक १५७१ मे लिखित हस्तलिखित प्रति का बारीकी से अवलोकन करते समय हमे गुणकीर्ति की एक गुजराती कृति प्राप्त हुई। इसका नाम विवेक विलास है तथा इसमे २१४ पद्य है। ससार मे मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताकर कवि ने धर्म की उपादेयता पर बल दिया है तथा व्रतो और सदाचार के नियमों का पालन करने का उपदेश दिया है। रचना अत्यन्त सरल भाषा मे है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति से कवि के धार्मिक परिवार का परिचय मिलता है—ज्ञानदास, नेमिदास, सिवराज धनश्री और राजमती इस ग्रन्थ का पठन, और प्रसार करेंगे ऐसी आशा कवि प्रकट करता है। अपना जन्म पूर्व देश के जैसवाल जाति के पुरिया गोत्र में हुआ था यह भी कवि ने बताया है। आगे हम विवेकविलास का प्रारम्भ और अन्तिम भाग दे रहे हैं जिससे ये सब बातें स्पष्ट होती है। गुणकीर्ति की मराठी रचनाओं का विस्तृत परिचय डा० सुभाषचन्द्र अक्कोले के शोधप्रबन्ध 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' (सुविचार प्रकाशन मंडल नागपुर-पूना द्वारा सन् १९६८ मे प्रकाशित) मे उपलब्ध है।

प्रारम्भ—

पहिलु अरिहंतदेव धर्माधर्म देखाड्यो भेउ।
दूजे प्रणमउ सिद्धसभाउ अष्ट करम हणि त्रिभुवनि राउ॥

अन्त—

सरसति गछी गण बलात्कार श्रीभुवनकीरति गुरु अवतार।
तसु गुरुबंधव ब्रह्म जिणदास तेहतणे परसादे गुणह निवास॥
पुरिया गोत्र विख्यात विशाल पुरव देश वसे जैसवाल।
तिणे कुले गुणकीरति हुवा सूरि परमानदे हियेडेलु पूरि॥
कही चोपई येह विवेकविलास पढो गुणो भवियण गुणवास।
बाई धनश्रीय करो प्रकास दिण दिण भणिजो ब्रह्म ज्ञानदास॥
भवियण जण भावे तम्हे भणो नेमिदास विस्तारो घणो।
सजन वरग मणो येक चित्त विवेकविलासे करो जीवहित॥
हित करो हवे जीवणो सुणो पंडित सिवराज।
पढो बहिनि राजमति जिम सरे तम्ह काज॥
इति श्रीविवेकविलासरास समाप्त॥

★

विवेक

सज्जन और दुर्जन अपने ही सुगुण और दुर्गुणों के कारण होता है। सर्प के दांतों में विष होता है, बिच्छू के डंक में और मक्खी के मुख में विष होता है। किन्तु दुर्जन के सब शरीर में विष रहता है। विषैले जन्तु अन्यों द्वारा पीड़ित होने पर अपने अस्त्र का उपयोग करते हैं। किन्तु दुर्जन बिना किसी कारण के उसका प्रहार करते हैं। अतः हमें दुर्जनों से बचने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। और आपद आने पर विवेक को नहीं भूलना चाहिए।

तिजारा : एक ऐतिहासिक परिचय

परमानन्द जैन शास्त्री

वर्तमान तिजारा अलवर जिले के उत्तर-पूर्व में दिल्ली और अलवर के मध्य अवस्थित है। यह एक प्राचीन नगर रहा है। इसे कब और किसने बसाया, इसका क्या प्रामाणिक इतिवृत्त है? यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका। आरक्योलाजिकल सर्वे भाग २० में लिखा है कि महाभारत काल में यादववंश के तेजपाल ने इस नगर को बसाया। यहां यादवों का बहुत काल तक शासन भी रहा है।

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट बोध होता है कि हिन्दू राजाओं का सभी धर्मों को आश्रय मिलता था। उन राजाओं ने कभी बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन कराने का उपक्रम नहीं किया। किन्तु दक्षिण भारत में शैवों और वैष्णवों के समय जैनों और बौद्धों को अनन्त कष्ट सहने पड़े और अपने धर्म की जो महान् क्षति उठानी पड़ी, तथा धर्मपरिवर्तन करना पड़ा, धर्म-परिवर्तन न करने पर अपने जीवन और सम्पत्ति दोनों से हाथ धोने पड़े, इन दुखान्त घटनाओं का विचार आते ही रोंगटे खड़े हो जाते है। बौद्धधर्म को तो भारत से निर्वासित होना ही पड़ा, किन्तु जैनधर्म अपनी महान क्षति उठाकर भी भारत मे बना रहा। कुछ राज्यवंशों के राज्यकाल में सभी धर्मवाले सानन्द रहे है।

उस समय अनेक सम्प्रदायों की तरह तिजारा में भी जैन धर्मावलम्बी अपने धर्म का अवलम्बन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। उस समय जिन मदिर को 'देहरा' नाम से सम्बोधित किया जाता था। मुस्लिम शासनकाल मे भी तिजारा का विशेष महत्व रहा है। यह उनका प्रादेशिक शासनकेन्द्र रहा है। मुगलों के शासनकाल में तिजारा शाही खानदान के रहने योग्य समझा गया, अतएव उसे 'हवेली तिजारा' के नाम से उल्लेखित किया गया। उस समय तिजारा एक सूबे का केन्द्र था और उसके आधीन १८ परगने थे।

सन् १४१५ (वि० सं० १४७२) में बहलोल लोदी जब दिल्ली का शासक बना, तब उसने मेवात के इलाके में से सात परगने तातारखां को प्रदान किये थे। उसने तिजारा को अपना केन्द्र बनाया था। तातारखां का मकबरा नगर से लगभग १ मील दूर पूर्व दिशा में मौजा कालिया में अवस्थित है।

बहलोल लोदी की मृत्यु के बाद सिकन्दर लोदी सन् १४८५ (वि० सं० १५३२) में दिल्ली के तख्त पर बैठा। उसने तिजारे का इलाका अपने छोटे भाई अलाउद्दीन (आलमखां) को दिया। सन् १४९८ में अलाउद्दीन ने अपने नाम पर 'अलावलपुर' नाम का गांव बसाया जिसके, भग्नावशेष आज भी तिजारा के उत्तर-पूर्व में उपलब्ध होते हैं।

तिजारा के शासक हसनखां मेवाती ने सन् १५२७ में मुगल सम्राट् बाबर के विरुद्ध कनवा के मैदान में राणा सांगा की सहायता की थी।

सन् १५३१ में हुमायूं ने अपने छोटे भाई हिन्दाल को मेवात का शासक नियुक्त किया। उसने तिजारा मे रहना प्रारंभ किया। हिन्दाल कलाप्रिय था। उसने काजी का बन्ध, लाल मस्जिद, अंधेरी उजाली नाम का एक बंगला बनवाया था और उसके पास ही एक बाग लगाया, जिसकी पक्की दीवारें आज भी वहां पाई जाती है।

सन् १५४० में शेरशाह सूरी ने मुगलों को भारत से भगा दिया था। उस समय हिन्दाल को भी तिजारा छोड़ कर बाहर भागना पड़ा था, जिससे उक्त लाल मस्जिद का निर्माण अधूरा ही रह गया था। इनने सन् १५३९ से १५४५ तक राज्य किया है।

सं० १५८७ से १५९६ तक शेरशाह ने राज्य किया है। और सं० १५९७ से १६०२ तक इस्लाम शाह ने शासन चलाया। इसके शासनकाल मे सं० १६०० फाल्गुन बदी दोइज शुक्रवार के दिन तिजारानिवासी काष्ठासंघ

माथुरन्वय पुष्कर गण के भट्टारक मलयकीर्ति गुणभद्र की आम्नाय में अग्रवालवंशी गर्गगोत्रीय साहूतोला भार्या रानी पुत्र जिनदास वली शोभा, उसके पांच पुत्र थे। महादास, गेल्हा, नुगेराज, जुगराज और साधुसिंह। इनमें अन्तिम पुत्र साधुसिंह के परिवारवालों ने (साधू लोनून और इन्दु श्री ने अपने पढ़ने के लिए एवं ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थ जयमित्र हल का वर्धमानकाव्य लिखवाया था, जिसकी प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है।[1]

अकबर के शासनकाल में रिवाड़ी निवासी हेमू (शेरशाह सूरी का भतीजा) का अकबर द्वारा बध करा देने पर तिजारा में मलानमीर मुहम्मद को भेजा गया। उसने हेमू की सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया, और तिजारा तथा अलावलपुर के सभी पठानों को मरवा दिया। अकबरने हसनखां मेवाती की भतीजी से शादी की, और मिर्जा हिन्दाल को पुन. तिजारा का शासक बनाया।

अकबर के शासनकाल में हजरत गदनशाह भी तिजारा आये। इनका भी मजार तिजारा के उत्तर में 'टपूकलां' सड़क के दाहिनी ओर बना हुआ दृष्टिगोचर होता है। गाजी मदन की दरगाह के लिए बादशाह ने १५० बीघा जमीन प्रदान की थी।

अकबर राजनीति का अच्छा विद्वान था, उसने अपनी सल्तनत को बढ़ाने और उसकी स्थिरता के लिए हिन्दू राजाओं से अच्छा सम्पर्क स्थापित किया था। राजपूतों से भी स्नेह बढ़ाया, उन्हें अपने शासन में अच्छे अच्छे ओहदों पर नियुक्त किया। इन सबके सहयोग से अकबर का साम्राज्य एवं विभव जहां वृद्धिगत हुआ, वहां उसने उदारता का भी आश्रय लिया। जैनधर्म पर उसकी गहरी श्रद्धा पड़ी, उसका कारण जैन साधु हीर विजयजी का सम्बन्ध था, वह उन्हें बहुत मानता था। उनके उपदेश से उसने अहिंसा पर यकीन किया, ओप अपने राज्यकाल में उसने कभी मांस व शराब को प्रेरणा हित नहीं दिया, जीवहिंसा को रोकने का प्रयत्न किया। और खास कर जैन पर्वों पर हिंसा न करने के फर्मान जारी किये। यह सब कार्य उसने मानवता की रक्षा के लिए किया। इसी से लोक में उसकी महती प्रशंसा हुई। उसके बाद शाहजहां दिल्ली का बादशाह बना। इसने भी अपने पिता की नीति पर चलने का प्रयास किया। यह भी एक कलाप्रिय शासक था। इसके शासनकाल में खलीलउल्ला खां को तिजारा का हाकिम बनाया गया। इसने गदनशाह की खानगाह का निर्माण कराया। शाहजहां ने सं० १६८५ से १७१५ मक राज्य किया था।

शाहजहां के बाद राज्य का शासनभार जहांगीर को प्राप्त हुआ। इसने भी अपने पिता की धार्मिक नीति का अनुसरण किया, जो उसकी सहिष्णुता और उदारता पर आधारित था। यह भी एक कलाप्रिय शासक था। इसके राज्यकाल में जैन संस्कृति पर अनेक कार्य सम्पन्न हुए। नये ग्रंथ भी बनाए गए। धार्मिक स्वतंत्रता भी रही।

किन्तु औरंगजेब के शासन समय में सन् १७०७ में चौधरी इकरामखां नामक खानजादा ने तिजारा के मुगल हाकिम के नक्कारा व निशान छीन लिए और उसे वहां से निकाल दिया। और सेना ने उसे पकड़ कर उसका वध

---

१ अथ सवत्सरेस्मिन श्रीनृपविक्रमादित्यराज्ये संवत्सर १६०० तव वर्षेफाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथो शुक्रवासरे श्री तिजारास्थान वास्तव्यो साहि आलमुराज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्रीमलयकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्रीगुणभद्रदेवाः तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहुतोल्हा भार्या रानी तस्य पुत्रः जिनदासः तस्य भार्या शोभा, तत्पुत्राः पञ्च। प्रथमपुत्र साधुः महादास, द्वितीयपुत्रः साधुगेल्हा, तृतीयपुत्रः साधु नुगराजः, चतुर्थ पुत्रः तेजगुः, तस्य भार्या लाडो, जिनदास द्वितीयपुत्रः गेल्हा तस्य भार्या खीमाही। तस्य पुत्रः दोमानु, तस्य भार्या भागो, तस्य पुत्रः नगराजः। तस्य भार्या धणपालही, पुत्राः चत्वारः प्रथमपुत्रो जोबन्दुः तस्य भार्या भील्यो द्वितीय पुत्रः अमियपालः। तृतीयपुत्रः गजः चतुर्थो दरगहमलुः। जिणदासपुत्रः चतुर्थः जगराजः, तस्य भार्या धीनाही, तस्य तृतीय वुच्छः तस्य भार्या धीनाही तस्य पुत्रः वुच्छा तस्य भार्या वादिनी, द्वितीयपुत्रः मैसक तृतीय तोतू। जिनदास पंचमपुत्रः साधुसिंह तस्य [ ] भार्या······। दूतस्य भार्या लक्ष्मणही तस्य···। चतुर्थ भार्या कपूरी। एतेषां मध्ये साधुसोनून इन्द्रश्री तासु ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं आत्मपठनार्थं च वर्धमानकाव्यं लिख्यते।

—प्रशस्तिसग्रह, आरा, पृ० १८७

कर दिया। इसके राज्यकाल में हिन्दुओं और जैनियों पर अनेक अत्याचार किए गए। अनेक हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। नहीं बनने पर उनकी हत्या की गई, मंदिरों का विनाश और मूर्तियों की तोड़-फोड़ कर जघन्य कार्य किया गया।

तिजारा का जैन मन्दिर भी औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उसके हाकिम की आज्ञानुसार विध्वंस कर दिया गया। देहरे की भव्य इमारत खंडित कर दी गई। जो मूर्तियां उस समय खंडित-अखंडित बच गई, उन्हें उसी में दबा दिया गया। देहरे के भग्नावशेष खण्डहर के रूप में परिणत हो गये। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। उस समय भरतपुर का राजा चूड़ामन जाट था। उसने तिजारा व अलावलपुर पर आक्रमण किया, उसमें जन-धन की बहुत क्षति हुई। शान्ति होने पर अलावलपुर निवासी भी तिजारा में आकर बस गए। उस समय से अलावलपुर वीरान पड़ा है।

सन् १७९१ में तिजारा में मराठों का शासन कुछ समय के लिए हो गया किन्तु सन् १७९७ में जाटों का पुनः अधिकार हो गया।

सन् १८०३ में आसावाडी की लड़ाई में अंग्रेजों की सहायता करने के परिणामस्वरूप सन् १८०५ में तिजारा और किशनगढ़ द्वितीय अलवरनरेश राव राजा बखतावर सिंहजी को मिले। और तिजारा राजपूत राजा बखतावर सिंह की राजधानी बना। इससे तिजारा के लोगों को राहत मिली, समय सुख और शान्ति से व्यतीत होने लगा। उस समय वहां के निवासी जैनियों में भी अपने धर्म की कुछ जागृति हुई और नगर में जैन मन्दिर के निर्माण करने का विचार स्थिर तो हुआ किन्तु नगर के के मध्य मे मन्दिर के लिए भूमि मात्र खरीद कर ही रह गए किन्तु मन्दिर निर्माण करने का साहस नहीं हुआ। लार्ड विलियस वैंटिग के शासन काल मे भारत में सब जगह शान्ति रही, जनता को कुछ राहत मिली तिजारा के शासक बलवंतसिंह जी ने वहां पहाड़ी पर एक किले का निर्माण किया, और अपने रहने के लिए चार मंजिल का एक महल भी बनवाया। अतएव सन् १८३८ में जैन मन्दिर के निर्माण का शिलान्यास किया गया। और मन्दिर की प्रथम मंजिल बन जाने पर, उसमें गोपनीय स्थानों में रखी हुई मूर्तियों को विराजमान कर दिया गया। उनमें एक मूर्ति सं० १५४८ की भ० जिनचन्द्र और जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित भगवान पार्श्वनाथ की भी है।

जैनमन्दिर प्रतिष्ठा और रथोत्सव

सन् १८५३-५५ (सं० १९१०-१२) के मध्य मन्दिर की दूसरी मंजिल बन कर तैयार हो गई। और उस पर विशाल शिखर का निर्माण किया गया। कहा जाता है कि इस मन्दिर की प्रतिष्ठा का कार्य सं० १९१६ में जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान पं० सदासुखदासजी से सम्पन्न करायी गयी थी। विशाल रथ का भी आयोजन किया गया था। पं० सदासुखदास जी के संतोषजनक वृत्ति के विद्वान थे। यदि उनके द्वारा यह प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न हुआ, तो एक बड़ी बात है। यद्यपि सदासुखदास जी का स्वर्गवास सं० १९२४ में हुआ है। इसलिए प्रतिष्ठा का कार्य उनके द्वारा होना सभव है।

प्राचीन देहरे का समुद्धरण

सन् १९४४ में सूरदास धनपाल जी खेखड़ा निवासी तिजारा पधारे, वे निमित्त शास्त्र के ज्ञाता थे। देहरे के सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने बतलाया कि—खण्डहर में जैन मूर्तियाँ दबी हुई हैं, परन्तु उनका इस समय निष्कासन कार्य व्यर्थ होगा। हाँ वर्तमान राज्य परिवर्तन के पश्चात् स्वयं ऐसे कारण बनेंगे, जिससे खुदाई करने से आपको मूर्तियाँ उपलब्ध हो जावेंगी। तदनुसार सं० २०१३ (सन् १९२६) में तीन प्राचीन खंडित मूर्तियां खुदाई मे मिलीं। और कुछ समय पश्चात् खुदाई करने पर चन्द्रप्रभ भगवान की एक सातिशय अखंडित मूर्ति भी प्राप्त हुई। जो सं० १५५४ वैशाख शुक्ला तृतिया की प्रतिष्ठित है। उसका लेख अभी तक भी ठींक रूप में नही पढ़ा जा सका, इसलिए उसे यहां नही दिया गया। आजकल तिजारा एक तीर्थ जैसा स्थल बना हुआ हैं।

तिजारा के पास ही इन्दउर (इन्दौर) नाम का गांव था, यह ग्राम भी सं० १५०० में अच्छा समृद्ध था। वहां बैठकर भ० यशःकीर्ति ने हरिवंशपुराण की रचना की थी।

माली रासो

[प्रस्तुत रचना एक रूपक खण्ड काव्य है, जिसमें आत्मा रूपी माली भव रूपी वृक्ष को सीचता है। उस वृक्ष की चार डालियां हैं जो चारों गतियों की परिज्ञायक हैं। उन चारों ही डालियों पर फल लगे हुए हैं। काल माली से कहता है कि रे माली! तू इस वृक्ष को मत सींच, इसके फल ऊपरसे सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमें अन्दर कुछ भी सार नहीं है। यह मिथ्या बीज उगा है, मोह के कारण बंधक है, इसके फलों का स्वाद भी अच्छा नही है। चतुर्गति का बंध करानेवाला है। अतः हे माली, तू इसको छोड़, किन्तु माली को फल चखने की भूख थी, अतः वह अपनी कमर को अच्छी तरह बाँध कर उस भवतरु पर चढ़ गया। उसने सुर डाली पर चढ़ कर हँस हंस के फल खाये अन्त समय में जब माला कुम्हलाई तो वह उस समय झुर झुर कर मरा। पश्चात् वह नर डाली पर चढ़ा, और उसके सुख दुख फलों का उपभोग किया। अन्त मे परिग्रह के वियोग में मैं मैं करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। फिर वह तिर्यंच डाली पर चढ़ा, वहा पर उसने सिर धुन धुन कर फल खाये, क्षणमात्र सुख के कारण सागरोपर्यंत दुःसह दुख सहे। अन्त में कुमरण किया, और भयावनी नरक डाली पर चढ़ा, अनन्त दुख सहे तो भी विश्राम नही मिला। इस तरह इस मालीरूपी जीव ने लोभवश चारों गतियों में भ्रमण किया, अनन्त दुख सहे, किन्तु उनसे छुटकारा नही मिला। माली रूपी लोभी मधुकर चारो गतियो के फूलों में रागी रहा। उसी तरह यह जीव भी शुभाशुभ कर्मोके पुण्य-पाप फल का अर्जन करता है, उनके सुख-दुख फलों का चारों गतियो मे उपभोग करता हुआ, ससार में परिभ्रमण करता है। श्री गुरु उसे बार बार समझाते है किन्तु उसके अन्तःकरण मे जब तक नही लगता तबतक वह दुख का ही पात्र बना रहता है। अतएव सुगुरु उसे समझा कर कहते है कि हे आत्मन्! अब तू इन दुःखों से यदि छूटना चाहता है तो सुदर्शन रूपी बीज को बो, और सीचने से वह धर्मअंकुर उत्पन्न होगा। वैराग कुदाली लेकर चारित भूमिमें कुआ खोद, और उसमें भावरूपी रहट लगा, व्रत रूपी बैलों के कन्धों पर श्रुत रूपी जुआ रखकर समता रूपी कल में अभय रूपी औगण देकर उसे चला, उपशम रूपी नेज लगा कर क्षमामय घटमाल लगा कर उसे सींच, दया रूपी जल काढ़ कर सीच, बीज की यत्न से रक्षा कर, संयम रूपी वाडी लगा शील की सदा रक्षा कर तथा क्रोध रूपी अग्नि से दूर रह। माया वेल पर मत चढ। उत्तम क्षमादि दश धर्मों का पालन कर। तब तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

इस रूपक काव्य के रचयिता कवि जिनदास हैं, इनकी कई रचनाए है। जोगिरासो भी इन्ही की रचना है। यद्यपि कविता अच्छी है, परन्तु उसमें राजस्थानी और गुजराती का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। इनका समय १७वी शताब्दी है। जिनदास नाम के कई विद्वान हुए हैं, जिनका परिचय फिर कभी कराया जायगा। —संपादक]

जिनदासकृत माली रासो

भव-तरु सींचइ मालिया तहिं तरु चारिजु डाल।
चहु डाल्या फल जुअ जुआ ते फल राखइ काल ॥१
काल कहइ सुण मालिया, सींचि न याहि गवार।
देखन ही को डहडहो, भितरि नांहि सुसार ॥२
मिथ्या बीजह ऊगियो मोह-महा जड बंधि।
फलमइं स्वाद जु जुअजुआ, चहुंगति केरउ बंध ॥३
माली बरज्यो ना रहइ, फल चाखण की भूख।
बांधि सुगाढ़ी गड़गदी कूंदि चढ़्यो भव-रूख ॥४
सुर-डाली चढ़ि मालिया, हंसि हंसि जे फल खाइ।
अति झुरइ कठिरइ जब माला कुम्हलाइ ॥५
पुन नर डाली सो चढ्यो, दुख-सुख फल ले भोग।
अन्त समय मैं मैं करै, परिग्रह तणउ वियोग ॥६

तिरियच-डाली फल घणा सिर धुणि माली खाइ ।
सुख लव-दुख-सागर-मरचो अंति कुमरण मराइ ।।७
नारय-डाल भयावणी फल केवल दुख देइ ।
उपरा उपरी खंडि गइ खिणि विश्राम म होइ ।।८
इय चहुंगति फल भोगवइ, खात न भाजइ भूख ।
सुख सुपनइ परतरवरइ बहुडि चढयो भव-रूख ।।९
जिम सु जुवारी जुवा बिना एक घडी न रहाइ ।
जिम जिम हारइ पापि यों तिम तिम तहिं फडि जाइ ।।१०
चहुंगति-कन्या कर ग्रह्यो लावो लगन लिखाइ ।
माली दुखको दोरड़ो जाणि कि भांवरि लेइ ? ।।११
माली मधुकर लोभियो चहुंगति कुसुमहं लोण ।
विषय तणइ वसि रुण-रुणइ फिरि फिरि दु:खह खीण ।।१२
कर्म मृदगी मांदल्यो जहिं छडि देसी अधाउ ।
नाचण हारो बापुडो नहिं छदि देसी पांउ ।।१३
जो जिह कइ वसि बधियो सो तिहं करचो करेइ ।
कर्महं वसिडा जीवडो किमहि न दु:ख सहेइ ।।१४
जइ दुखी वोहइ मालिया ! सुख की साध करेइ ।
तो सुणि एक कहाणरो जिम पुण पुण न मरेइ ।।१५
काया कयारो किन करइ बीज सुदर्शन बोइ ।
सींचण कारण मालिया धर्म अकुरो होइ ।।१६
गहि वैराग कुवालडी खोदिसु चारित कूप ।
भावं रहंट व्रत बैलकर दयाकंधइ श्रुत जूप ।।१७
समता कल विढ़ ढोकियो अभय सु ऊगण देइ ।
अनुभव हाथि जु टूपड़ो, सुरति करे कर लेइ ।।१९
उपशम (लेज-नेज) लगाइयो बांधि क्षमा घटमाल ।
काढ़ि दया-जल निर्मलो सीचिय काय कयार ।।२०
बीज रतन को जतन करि, करि दिढ़ संजम वाड़ि ।
शील सदा रख बालडो चरत मयण मृग ताड़ि ।।२१
क्रोध दवागिनि वरजियो वरजियो मान तुषार ।
माया वेली मति चढो जिनि देश्रो लोभ टपार ।।२२
जिम सु अंकुरो वरधतो अंतर करइ न कोइ ।
समय समय जीवमालिया धर्म महातरु होइ ।।२३
सत्यरु शौच तिहां जडी मद्दउ जाणि कि पान ।
अज्जउ साख सुहावणी तप तरुवर परिमाण ।।२४
त्यागसु चहु दिसि मोरियो आकिचन तनु मान ।
बंभ सुशीतल छांहडी ज्ञान कुसुम महकत ।।२५
धरम महातर होय थे वहु विस्तार लहेय ।
अविनाशी सुखकारणे मोख महाफल देय ।।२६
भणं जिणदास सुराषि ज्यों दरसण बीज संभाल ।
वछितफल जिह लागसी किसही भउ तवि काल ।।२७

जैनों में सती प्रथा

बम्पालाल सिंघई, 'पुरन्दर'

जैनधर्म की दृष्टि से पति के शव के साथ पत्नि का अग्निदाह अज्ञानजन्य आत्म-घात है। परन्तु राजपूतों तथा अन्य जातियों के निकट संपर्क में इस प्रथा ने जैन समाज में भी प्रवेश प्राप्त कर लिया था। मध्यकाल में अनेक जैन महिलाएं सती हुईं।

आधुनिक काल में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल *लार्ड विलियम बैंटिंग ने सन् १८२६ ई० में ७ दिसम्बर के* दिन सतीप्रथा को नियम विरुद्ध घोषित किया। किन्तु रूढ़िवश कहीं-कहीं सती होने के समाचार मिलते रहते है। परन्तु जैन समाज में तब से इस प्रथा का लोप हो गया और एक भी सती होने का समाचार नहीं मिला।

इन पंक्तियों के लेखक की जन्मभूमि चंदेरी (वर्तमान मध्यप्रदेश, भू० पू० ग्वालियर राज्य के गुना जिले में) है जहां चौबीसी मन्दिर है, जो भारत भर में विख्यात है प्रतिवर्ष उत्तर भारत तथा दक्षिण के सैंकडों तीर्थयात्री दर्शन लाभ लेते हैं।

इस मन्दिर में बचपन से एक स्तम्भ देखते रहे जिस पर एक अभिलेख भी है परन्तु उसे पढ़ने की कभी चेष्टा नहीं की। स्तम्भ का कुछ भाग भूमिगत है। सबसे ऊपर छोटीसी जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। जिसके नीचे एक पलंग पर कोई लेटा है। *बगल में एक नारी की मूर्ति है,* जिसके हाथ पलंग पर बैठे हुए नर के चरणों पर हैं। लेखक ने पलंग पर बैठे हुए नर को कभी ध्यान से नही देखा और उसे जिनमाता तथा नारि को देवी अनुमित करता रहा। इस वर्ष वाराणसी निवासी पं० फूलचन्द्रजी सिद्धातशास्त्री *(जो परवार जाति का इतिहास लिख रहे हैं) को लेकर* चंदेरी गया। मन्दिर के मूर्तियों के लेख लिये। उक्त स्तम्भ का लेख *लिया* जो इस प्रकार है—

"सिद्धि; सवत् १३५० अस्विन सुदि ४ शनो अग्रा[ग्रो]-तक सा० नागदेव सुत धमो...मणि सहगमनं वभूव..."

संवत् से *तात्पर्य संवत्, अस्विन से* आश्विन, अग्रोतक से अग्रवाल, भा...से भार्या, सहगमन से सती होना है।

उक्त शिला लेख को पं० फूलचन्दजी के साथ पढ़ कर लेखक का भ्रम दूर हो गया और अनुमान किया कि स्तम्भ सती के किसी चबूतरे से जिनेन्द्रमूर्ति देखकर कभी किसी ने जैन मन्दिर में गाड़ दिया होगा।

जैनों में सती होने का यह प्रबल प्रमाण प्राप्त हुआ किन्तु एक शिलालेख के बल पर तो सती प्रथा के अस्तित्व की घोषणा नहीं की जा सकती थी। आजकल मध्यप्रदेश और राजस्थान में भट्टारकों पर शोधकार्य हाथ में है। इसी क्रम में लेखक को प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ और इतिहासविद् श्री अगरचन्द्र नाहटा द्वारा सम्पादित बीकानेर जैन लेख संग्रह (प्रथमावृत्ति, वीराब्द २४८२) पढ़ने का अवसर मिला। इस संग्रह में २६१७ अभिलेख बीकानेर राज्य के और १७१ अभिलेख जैसलमेर राज्य के संग्रहीत हैं। आरम्भ में नाहटा जी की भूमिका तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का प्राक्कथन है।

नाहटा बंधुओं (अगरचंद्र–भवरलाल) ने लिखा है (पृ० ६४)—"ओसवाल जाति वस्तुतः क्षत्रिय कौम है। *उनकी वीर महिलायें देहमूर्च्छा को त्याग कर* शील रक्षा के निमित्त पतिदेह के साथ हँसते-हँसते प्राण न्यौछावर कर दें तो आश्चर्य ही क्या है।"......"सती स्मारकों में हमने सबसे बड़ा स्मारक झुंझणू में देखा है जो बहुत विशाल स्थान पर है। हजारों मील से यात्री लोग आया करते है। *यह राणी सती अग्रवाल जाति की है।"*

"बीकानेर में जितने सती स्मारक प्राप्त हैं, सबमें घुड़सवार पति और उसके समक्ष हाथ जोड़े स्त्री खड़ी है।"

"युगप्रधान जिनदत्तसूरि जी के समय में भी सती प्रथा प्रचलित थी। पट्टावलियों में उल्लेख मिलता है कि जब वे झुजणू पधारे श्रीमाल जाति की एक बालविधवा

सती होने की तैयारी में थी जिसे गुरुदेव ने उपदेश द्वारा बचाकर जैन साध्वी बनाई थी।"

इसके आगे संवतानुक्रम से ३० लेखों का वर्गीकरण दिया है, जिसे विस्तारमय से हम यहां नहीं दे रहे है। जिन्हें दे रहे है। रुचिवन्तजन उक्त ग्रंथ मे देखें।

एक बात बड़ी विचित्र जान पडी जिसका उल्लेख आवश्यक है; क्योंकि इसके पूर्व किसी इतिहास में पढ़ने में नहीं आयी थी।

"सं० १५५७ में जेठ सुदी ७ को वैद गोत्रीय माणक्दे ने अपने पुत्र के साथ सहमरण किया। सं० १८६६ मे जेठ सुदी १५ को सुराणागोत्रीय सवलादेवी ने अपने पुत्र चैनरूप के साथ सहमरण किया। जिस प्रकार पतिदेह के साथ सहमरण में प्रणय की प्रधानता है, उसी प्रकार मातृ-सती होने में पुत्र वात्सल्य की प्रधानता है।"

ऐसा नाहटाजी ने लिखा है किन्तु लेखक का अनुमान है कि पति के मृत्यु के समय उक्त महिलाओं ने सहगमन का हठ किया होगा, तो हितैषियों ने उनको पुत्र पालन का कर्तव्य बताकर सती होने से वर्जित किया होगा। दुर्भाग्य से पुत्र भी मृत्यु को प्राप्त हुआ तो माताओं को जीवन भाररूप प्रतीत होने लगा होगा। उस निराश अवस्था में मातृसती की नवीन परम्परा चली होगी।

श्री नाहटाजी को माता-सती का एक लेख माहेश्वरी (राजस्थान की एक वैष्णव वैश्य) जाति का भी मिला है। महामहोपाध्याय पं० गौरीशकर हीराचद्र ओझा ने बीकानेर के इतिहास में सं० १४२६ माघसुदि ५ का एक लेख दिया है (सा० रूदा के पुत्र सा० कणा की मृत्यु) जो उन्हें कोड़मदे सर पर मिला है। रावजोधा ने अपनी माता कोडमदे की स्मृति मे यह ताल सं० १५१६ में बनवाया था। यह बीकानेर से १५ मील पश्चिम मे है।

इस प्रकार ओसवाल, श्रीमाल और अग्रवाल जैनों में सती प्रथा प्रमाणित होती है। खोज करने से अन्य जातियों के भी प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। ●

कथनी और करनी

मुनि कन्हैयालाल

साधक! अपने अन्तस्तल में डुबकियां लगाकर स्वयं को टटोल। अपनी वाणी से जैसे तू दूसरों को सुन्दर-सुन्दर उपदेश देता है, वैसे वे उपदेश अपने जीवन में व्यवहृत होते हैं या नहीं? कहना जितना सुगम है, उसे जीवन-व्यवहार में लाना उतना ही दुर्गम है। जैसा मन में हो, वैसा वचन में और जैसा वचन में हो, वैसा क्रिया में; महापुरुष की यही अत्युत्तम कसौटी मानी जाती है।

सत्य, अहिंसा आदि धर्म को अच्छा बताने से, उनका नाम लेने से और केवल कंठाग्र करने से अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। अभीष्ट की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब वह आचरण में आ चुकेगा। वह पादप मनो-वांछित फल भी दे सकता है, जब उसको व्यवहार के क्षेत्र में पल्लवित किया जाये। कोई कितनी भी अच्छी और रोग-नाशक व स्वास्थ्य-पोशक औषधि का नाम लेता रहे और उसके गुणों का बखान कर केवल लेने की कामना करता रहे, उसे उसका लाभ नहीं हो सकता। रोग का उपशम या नाश तभी हो सकता है, जब वह उस औषधि का आसेवन करेगा।

ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें बनाते हैं, भाषणों में ऋषियों की वाणी पर बल देते हैं और मोटे रंग-रंगीले सुन्दर वर्णों में लिख कर दिवालों पर लटका भी देते हैं, जोर-जोर से उसका घोषकर धरा और आकाश को एक कर देते हैं, परन्तु वे सब परमार्थ से शून्य होते हैं। ऐसे मनुष्य दुष्प्राप्य नहीं हैं। दुष्प्राप्य वे हैं, जो आदर्शों को अपने जीवन व्यवहार में परिणत कर दूसरों को उपदेश देते हैं। उसी समय उनका कथन सार्थक बनता है। अन्तर का विवेक ही कथनी और करनी का भेद बतलाता है। विवेक की सफलता साकार बनकर अवश्य ही तेरा आलिंगन करेगी। कथनी और करनी की समानता ही व्यावहारिक क्षेत्र में आदर्शवाद की सच्ची कसौटी है।

गोम्मटसार को पंजिका टीका

परमानन्द शास्त्री

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा संकलित गोम्मटसार नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। जिसे उन्होंने गंगवंशीय राजा राचमल्ल द्वितीय के सेनापति एवं महामात्य रणरंगमल्ल आदि अनेक विरुद सम्पन्न राजा चामुण्डराय के लिए बनाया था। यह ग्रथ षड्खण्डागम और धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों का सार लेकर बनाया गया है[1] इस ग्रंथ के दो विभाग है, जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस समूचे ग्रंथ का नाम गोम्मटसार है। दोनों ग्रंथों की गाथा संख्या दो हजार के लगभग है। इस ग्रथ की पुरानी ताडपत्रीय प्रतियां मूडबिद्री के सिद्धान्त वसिदि के शास्त्र भण्डार में अवस्थित है। वर्तमान मे प्रकाशित गोम्मटसार की गाथाओं का उक्त प्राचीन प्रतियों से मिलान नहीं किया गया है, इसलिए ग्रंथ के कुछ पाठ स्थल शकास्पद बने हुए हैं। अत एक बार मूडबिद्री की प्रतियों से गोम्मटसार की गाथाओं का मिलान कराना आवश्यक है। उससे जहाँ ग्रंथ का मूल पाठ संशोधित होगा वहाँ उसका संशोधित पाठ भी प्रामाणिक होगा। और गोम्मटसार कर्मकाण्ड का जो अंश त्रुटित-सा है। मूल और उत्तर प्रकृतियों के नामादि सम्बन्धित जो गद्यसूत्र छूटे हुए हैं। वे यथा स्थान दिए जा सकते हैं।[2]

गोम्मटसार एक सैद्धान्तिक ग्रंथ है, उसमें जीवस्थान गुणस्थान आदि का, और कर्म बन्ध आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ पर अनेक टीका-टिप्पण लिखे गए है। प्राकृत टीका भी अपूर्ण रूप से अजमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है। अभचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की मन्द प्रबोधिका टीका है, एक टीका कनडी मे केशव वर्णी की है। उसका नाम जीवतत्त्व प्रदीपिका है, जिसका अनुवाद नेमिचन्द्र नाम के विद्वान ने संस्कृत में किया है। अभयचन्द्र की मन्द प्रबोधिका मे गोम्मटसार की 'पंजिका' टीका का उल्लेख है[3]। उसकी एक प्रति मेरे पास है। जो सवत् १५६० की लिखी हुई है। इस पंजिका टीका के कर्ता गिरिकीर्ति है। पंजिका की प्रति २८ पत्रात्मक है। आदि अन्त पत्र एक ओर लिखा हुआ है। एक पेज में १६ पक्तियाँ है। और अक्षरों की संख्या ५५-५६ है ग्रंथा सख्या ५००० श्लोक प्रमाण बतलाई है। इस पंजिका में गाथाओं का आदि वाक्य सूचित किया है, पूरी गाथा कही भी नही दी। कितनी ही गाथाओं को 'सुगमं' लिखकर छोड़ दिया है। उनकी कोई पजिका नही दी। ऐसी गाथाए बहुत कम है जिनका पंजिका में अच्छा विवेचन किया गया है। हां, पजिका में लिपि सम्बन्धि अशुद्धियाँ है, फिर भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। यदि इस ग्रंथ की कोई दूसरी प्रति उपलब्ध हो जाय तो इसके सशोधन करने मे सहायता मिल सकती है। संभवत:

---

१. श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासन गुहाभ्यन्तर निवासि प्रवादिमदांधसिंधुरसिंहायमान सिंहनंदि मुनीन्द्राभिनंदित गंगवश ललाम राजसर्व्वज्ञनेक गुण-नामधेय श्रीमद्राचमल्लदेव महीवल्लभ महामात्य पद विराजमान रणरगमल्लासहायपराक्रम गुणरत्नभूषण सम्यक्त्वरत्ननिलयादि विविध गुणनाम समासादित कीर्तिकान्त श्रीमच्चामुडराय भव्य पुण्डरीक द्रव्यानुयोग प्रश्नानुरूपं महाकर्म प्रकृति प्राभृत प्रथम सिद्धान्त जीवस्थानाख्य प्रथम खडार्थसग्रह गोम्मटसार नाम धेय पच संग्रह शास्त्र प्रारंभमाण; समस्त सैद्धान्तिक चूड़ामणि: श्रीमन्नेमिचन्द्र सैद्धान्त चक्रवर्ती तद्गोम्मटसार प्रथमावयवभूत। (मद प्रबोधिका टीका उत्थानिका से)

२. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ कि०

३. अथवा सम्मूर्छन गर्भोपपादानाश्रित्यजन्म भवतीति-गोम्मट पंचिकाकारादीनामभिप्राय:, गो० जी० मन्द-प्रबोधिका टीका गा० ८३

इसकी प्रति ईडर के भण्डार मे उपलब्ध हो जाय। पंजिका का प्रकाशन होना अत्यन्त आवश्यक है। आशा है विद्वान लोग इसका सम्पादन कर प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

पंजिका की विशेषता

प्रस्तुत पंजिका मे गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड की गाथाओं के विशिष्ट शब्दो या विषमपदों का अर्थ दिया गया है। भाषा संकृत प्राकृत है। कहीं-कही व्याख्या संक्षिप्त रूप में दी गयी है। सभी गाथाओं पर पंजिका नहीं है। पंजिका का पूरा अध्ययन करने पर उसकी विशिष्टता का अनुभव तो होगा ही। साथ मे सैद्धान्तिक बातो का जहाँ कही भी स्पष्टीकरण किया गया है। उसकी भी जानकारी मिलेगी।

जीवकाण्ड पंजिका में वस्तुतत्त्व का विचार करते हुए उसे पुष्ट करने के लिए ग्रथकारो के उल्लेख भी दिये है, जिससे ग्रंथ की प्रामाणिकता रहे।

चारो गुणस्थानो के भाव किस अपेक्षा से निरूपित है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्वादि गुणस्थानो मे भाव दर्शनमोह की अपेक्षा से कहे गये है, क्योकि अविरत गुणस्थान तक चारित्र नही होता। इसे स्पष्ट करते हुए उक्त च रूप से तत्त्वार्थसूत्र के निम्न सूत्र का उल्लेख किया है—वुत्त च 'तच्चट्ठयारेणं मोहक्षयात् ज्ञान दर्शनावरण मोहान्तरायक्षयाच्च केवलमिदि।'

मिथ्यात्व के भेदो का कथन करते हुए उनके नाम और लक्षण निम्न प्रकार दिए है—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व संशयित मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व।

एयंत मिच्छादि—अत्थिचेव, णत्थिचेव, अणिच्चमेव, एयमेव अणेयमेव तच्चमिच्चादि सव्वहावहारणरूपो अहिप्पायो एयत मिच्छत्तणाम।

अहिंसादिलक्खण सद्धम्मफलस्स सग्गापवग्गस्स हिंसादि पावफलत्तेण परिच्छेदणाहिप्पायो विवरीयमिच्छत्त णाम।

सम्मदंसणादि णिरवेक्खेण गुरु-पाय-पूजादि लक्खणेण-विणएणेव मोक्खोत्ति अहिप्पायो वेणइयमिच्छत्तं णाम।

पच्चक्खादिणा पमाणेण पडिगेज्जमाणस्स अत्थस्स देसंतरे कालंतरे च एय सरूवा वहारणाणुववत्तीदो, तस्स रूव परूवयाण मवचयन्त णिच्छयाभावादो इदमेव तच्चं मिद ण होदि त्ति परिच्छेउं ण सक्कमिदि उहय सावलंबी अहिप्पायो संसइदमिच्छत्तं णाम।

विचारिज्जमाणमट्टाणमवट्ठिदत्ता भावादो कथमिद मेवेरिसजेवेत्ति णिच्छिदित्ति अहिप्पायो अण्णाण मिच्छत्त-णाम।[1]

इस तरह पंजिका में कितने ही शब्दो के लक्षण दिए हुए है। उदाहरण के लिए कर्मकाण्ड के सभावोहिणाम—कारणांतर निरपेक्ष वस्तुस्वरूप'—कारणान्तरकी अपेक्षासे रहित वस्तुस्वरूप को स्वभाव कहते है।

गाथा न० ४८१ मे दर्शन का लक्षण करते हुए पंजिकाकार ने आचार्य वीरसेन द्वारा चर्चित दर्शन विषय का उल्लेख निम्न शब्दों मे किया है—ऐसो वीरसेण-भयवत्ताणस्सयलागमगहियसाराण च वक्खाणकमो परूवदो। पुव्वाइरिय वक्खाणक्कम पुण एसा गाहा परूवेदि। पत्र (३४)

---

१. धवला टीका मे मिथ्यात्वो के नाम और लक्षण इस प्रकार दिए है—जिससे दोनों मे बहुत कुछ साम्यता दृष्टिगोचर होती है।

मिच्छत्त पचविहं-एयतण्णाण-विवरीय-वेणइय-ससइय-मिच्छत्तमिदि। तत्थ अत्थिचेव णत्थिचेव एगमेव अणेगमे सावयवचेव णिरवयवचेव णिच्चमेव अणिच्चमेव इच्चाइयो एयताहिणिवेसो एयत मिच्छत्त।

विचारिज्जमाणे जीवाजीवादिपयत्था ण सति णिच्चाणिच्च वियप्पेहि, तदो सव्वमण्णाणमेव, णाण णत्थित्ति अहिणिवेसो अण्णाणमिच्छत्त।

हिंसालियवयणचोज्ज-मेहुण-परिग्गह-राग-दोस-मोह-ण्णाणेहि चेव णिव्वुई होइत्ति अहिणिवेसो विवरीय मिच्छत्त।

अइहिय-पारत्तियसुहाइं सव्वाइं पि विणयादोचेव, ण णाण-दंसण-तवोववासकिलेसेहिंतो त्ति अहिणिवेसो वेणइयं मिच्छत्तं। सव्वत्थ सदेहो चेवणिच्छयो-णत्थित्ति अहिणिवेसो संसय मिच्छत्त।

—(धवला ३, ६, पृ० २०, भा० ८)

पत्र ३३ पर सामायिक और छेदोपस्थापना संयम का वर्णन करते हुए पंजिकाकार ने दोनों की एकता का निरूपण करने के लिए भूतबली भट्टारक का उल्लेख किया है—'अदोजेय दोण्हयेगत्तस्स वि परूवणट्टं भूदबलि-भट्टारयेहिं दोण्ह एग जे गण सुद्धि गहण कद।

पजिका का पूरा अध्ययन करने पर अनेक विशेष बातो का ज्ञान हो सकता है।

संयमी जीवो का प्रमाण छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुण स्थान तक के जीवों का तीन कम नौ करोड़ बतलाया है, उन्हे मैं हाथ जोड कर नमस्कार करता हूं। वे सब गाथाएं नम्बर क्रम के भेद के साथ जीवकाण्ड मे पायी जाती है।

यह ग्रंथ चूंकि अप्रकाशित है, और इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है। अतः विद्वानो को ग्रन्थ भडारो मे दूसरी प्रति का अनुसंधान करना चाहिए। संभव है अन्य किसी भंडार मे वह उपलब्ध हो जाय। उससे ग्रथ के सम्पादनादि में सुविधा हो सकती है।

प्रस्तुत—पंजिका में गाथाओं के कुछ कठिन स्थलगत शब्दों का अर्थ उद्घाटन करने का प्रयत्न किया गया है।

कर्मकाण्ड की मंगलाचरण के बाद की दूसरी गाथा का अच्छा विवरण दिया है।

पयडी सीलसहावो जीवगाणं अणाइसबधो।
कणयोबले मलंवाताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥ २

पंजिका—पयडी सीलसहाओ—प्रकृति. शील स्वभावइत्येकार्थः स्वभावश्च स्वभाववंतमपेक्षते। तदविनाभावित्वात्तस्य। अतः कस्याय स्वभावः कथ्यतइत्याह जीवंगाण-जीवकर्मणोः कहमेत्थअंग सद्दे ण कम्मग्गहण। कम्मण्णसरीरसस्सेव अंगसद्दे ण विवक्खित्तादो। कटुकम्मकलावस्सेव कम्मणसरीरत्तादो य। अहवा अंगसद्दे ण कम्माकम्म शरीराणं गहणं। कम्मणोकम्मेहि पयोजणत्तादो। जीवगाणमिदि किमट्टं वुच्चदे। भावकम्मदव्वकम्मणोकम्माण पयडिपरूवट्टं। सभावोहि नाम, **कारणांतर निरपेक्ष वस्तु स्वरूपं**, यथाग्नेरुर्ध्वज्वलन वायोस्तिर्यक् पतनमम्भसो निम्नगमनमित्यादि। न चात्रैवं विधमुवलभामहे। जीव परिणति विशेषापेक्षया पुद्गलस्य तत्परिणत्यपेक्षया च जीवस्थोपजायमामाभिनवपरिणति विशेषस्य द्रव्य भावकर्म्मत्वस्यापनादिति न चोद्य। सहकारिकारण निरपेक्षस्यस्वरूप निमित्तकारणाभ्यांमेवोपजायमानस्येव, परिणति विशेषस्य सर्वत्रस्वभावत्वोपपत्तेः। एत्थवि सहकारिकारण निरवेक्खस्स जीवपोग्गलपरिणदि विसेसस्स परस्पर णिमित्तस्स सहावसद्दाहिधियत्ते। ण कोत्थि दोसो। तत्तारिस जीवपोग्गलपयडिमिहपरूवे मित्ति वुत्तं होदि। जदि जीव पोग्गलाण परप्पर णिमित्तेण विवक्खिद परिणदि विप्सेसा ससुप्पज्जतितो सव्व पोग्गलाणं सव्व जीवाण च तहा पसग इदि ण सकणीय सकसायंत कम्मइय वग्गणत्तादिपच्चासत्ति विसेसविसिट्ठाणमेवतहाभवद्भुपगमादो। कथमप्पणे! सकसायत्त परिणत्ति परिणामो, पिंडम्मि जहां मलमणादि ससलिट्ठ मुवलभंते तहा जीवम्मि कम्मस्स -वित्तिपुव्वपरिणामविसेस णिमित्तेण कम्मभावमुवगदप्पसंवंधि पोग्गलादो। कुदो तस्स वि तहाभावपरिणामो। सकसायप्परिणदि विसेसादो। जदि एवं नो इदरेदरा सयत्त। दो, ण एकस्स वि सिद्धित्ति। आह-अणाइ संबंधो अनादि सम्बन्धः कयोस्तयोरेव जीव कर्मणः, कथमेतदवसीयते वर्तमानसंबंधान्यथानुपपत्तेः। एत्थदिट्ठंतमाह—कणयो वले मलं वा कणयपरिणामजोग्ग पोग्गलपिंडम्मि जहामलमणादि ससिलिट्ठमुवलभंने, तहा जीवम्मि कम्मकम्मस्स वित्ति। जीवकम्माणमेवासंभवादो, ण तेसि संबंधचिंतये त्ति ण वत्तव्वं। तदत्थित्तस्स सयंसिद्धत्तादोत्ति आह—ताणत्थित्तं सयं सिद्धमिदि। धर्मात्सुखंपापाद्दुःखमिति सुखदुःख कारणतया शुभाशुभकर्मणोः सुख दुक्खानुभावकत्त्वेन सुख्यंह दुःख्यहं मित्यनुपहताहं प्रत्ययेनात्मनश्च सद्भावस्य सकलजन सुप्रसिद्धत्वादिति यावत्। एवं समत्थिय जीव परिणादिमसिद्दूण पोग्गलाण कम्मणोकम्म भावपरिणदिं परूवे दुमाह

रचनाकाल

प्रस्तुत टिप्पण कब रचा गया, इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही हैं। ग्रंथ की प्रशस्ति मे कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख करते हुए पंजिका का रचनाकाल शक सं० १०१६ (वि० सं० ११५१) कार्तिक शुक्ला बतलाया है जैसा कि उसकी निम्नगाथा से स्पष्ट है :—

सोलह सहिय सहस्से गयसककाले पवड्डमाणस्स।
भाव समस्स समत्ता कत्तियणंदीसरे एसा॥

ग्रन्थ के रचयिता का नाम गिरिकीर्ति है। कर्त्ता ने अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार की दी है। श्रुतकीर्ति, मेघचन्द, चंदकीर्ति और गिरिकीर्ति। श्रुतकीर्ति नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं, उनमे प्रस्तुत श्रुतकीर्ति कौन है? यह विचारणीय है।

एक श्रुतकीर्ति—मूलसंघ, बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के कुन्दकुन्दाम्नाय मे हुए है। इनकी आम्नाय मे भट्टारक प्रभाचन्द्र ने सं० १०११ वैशाखसुदी ५ को एक जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी, जो भूगर्भ से प्राप्त हुई थी, और भोमाव के जैन मन्दिर मे खण्डित अवस्था मे विराजमान है।

दूसरे श्रुतकीर्ति 'पंचवस्तु' नामक व्याकरण ग्रन्थ के कर्ता है जिनका उल्लेख कन्नड कवि अग्गलदेव ने अपने चन्द्रप्रभचरित मे, अपने गुरुरूप से किया है। और उन्हे त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि से अलकृत किया है। कवि ने अपना उक्त ग्रन्थ शक सम्वत् १०११ (वि० सं० ११४६) मे समाप्त किया है। नन्दिसघ की गुर्वावली मे भी—'त्रैविद्य श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्कर:' रूप से उल्लेख किया है। इससे ये श्रुतकीर्ति बडे भारी विद्वान जान पडते है। बहुत सभव है यही श्रुतकीर्ति गिरिकीर्ति के गुरु रहे हों। यदि यह विचार ठीक हो तो उनके समय के साथ सगति ठीक बैठ जाती है।

तीसरे श्रुतकीर्ति—मूलसंघ देशीयगण पुस्तक गच्छ कोण्डकुन्दान्वय के अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। शिलालेख का समय[1] शक स० १३०४ (वि० सं० १४४१) है। अतएव यह विक्रम की १५वीं शताब्दी के विद्वान् हैं।

चौथे श्रुतकीर्ति नन्दिसंघ बलात्कारगण के विद्वान भ० देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और भूवनकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। इन्होने अपभ्रंश भाषा मे अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हरिवंश पुराण सं० १५५२, धर्मपरीक्षा परमेष्ठी प्रकाशसार (सं० १५५३) और योगसार की रचना संवत् १५५३ में गयासुद्दीन के राज्यकाल में मालवा के जेरहठ नगर में की थी। मेघचंद का समय स्पष्ट है।

१. देखो, जैन लेख सं० भाग २, पृ० ४१६

आदि भाग :—

पणमिय जिणिंद चंदं गोम्मट संगह समग्गसुत्ताणं।
केसिंपि भाणिस्सामो विवरणमण्णेस मासिज्ज ॥

तत्थ ताव तेसिं सुत्ताणमादिए मंगलट्ठं भणिस्स मणट्ठ विसय पइण्णा करणट्ठ च कयस्स सिद्ध मिच्छाइ गाहा मुत्तस्सत्थो उच्चयेणट्ठ विवरणं कहिस्सामो तजहा बोच्छ—

अन्त भाग :—

जे पुव्वमणत्थ वति विसुहा साहिच्च मग्गच्चुवा,
दिट्ठ जेहि णयप्पमाणग्रहण जोण्ह ण सम्म मव।
ते णिंदतु थुवतु किं मम तदो अण्णारिसा जेइथो,
ते रज्जति जदीह साह सहलो सव्वो पयासो मम ॥

कर्मकाण्ड (पंजिका)

आदि भाग :—

णमह जिणचलणकमल सुरमउलि मणिप्पहा जलुल्लमिय। णह किरण केसरत तब्भमत देवी कयब्भमर।

अह कम्मभेद परुवेमाणो विज्जाए अब्बुच्छित्ति-णिमित्त मिदि कादूण मगल जिणिंद णयोक्कार करेदि—

अन्त भाग :—

सो जयउ वासपुज्जो सिवासु पुज्जासु पुज्ज-पय-पउमो।
पविमल वसु पुज्जसुदो सुदकित्ति पिये पियं वादि ॥ १
समदिग्र वि मेघचंदप्पसाद खुद कित्तियरो।
जो सो कित्ति भणिज्जइ परिपुज्जियचंदकित्तित्ति ॥ २
जेणासेसवसंतिया सरमई ठाणंत रागो हणी।
जं-गाढ परिरूंभिऊण मुहया सोअत मुद्दासई।
जस्सापुव्वगणप्पभूदरयणा लंकारसोहग्गिरि [ग्गिणा]
जाता सिरि गिरि कित्ति देव जदिणा तेणासि गंथोकओ ॥ ३
उप्पण्ण पण्णाण मिसी णमंसि पयोजणं णत्थि तहा विहेवे.
कज्ज भवे चेविमिणा बहूणं, बालाण मिच्चत्थ कयं ममेयं ॥ ४
अण्णाणेण पमाददोसगरिमा गंथस्स होदित्ति वा।
आलस्सेण व एत्थ जं ण संबन्धणिज्ज पि मे।
तं पुव्वावरसाहुसोहण सुही सोहंतु सम्मं सुही,
जं हा सव्वपरोवयारकरणे संतोगिहो बव्वदा ॥ ५
एसो बंधदि बंधणिज्जमिदि मे वेदस्स बंधो इमो।
एवं बध णिमित्त भरस समए भेदा इमेसिं इमे,

इच्चेउ कहि दक्कमेण इमिणा णच्चा जदी संगह
पंचण्ह परिभावश्रो भवभय णिच्चासी मं वच्चये ।। ६
श्रइ विमला गुण गुरुई बहुप्पिया श्रंति किय चमकारा ।
पंजी रंजिय भुवणा चिट्ठउ सुदकित्ति कित्तिव्व ।।
जाद जत्थ मुलद्ध मूलमहिम साहाहि सस्सोहिय ।
सच्छायं सगुणड्ढि वुढ्ढि विसयभूदेवमाण सया ।
धम्मारामुव राहवस्स कदिणो तत्थेस गयो कश्रो ।
गामे पुब्वलि............णांम सहिए कालामए ।। ८
सोलस सहिय सहस्से गयसगकाले पवढमाणस्स ।
भाव समस्स समत्ता कत्तिय णदीसरे एसा ।। ६
इमिस्से गय संखाण सिलोएहिं फडी कय ।
पण्णासेहि सम वुच्छं दसम दसहिगुणं ।। १०
ग्रंथ संख्या ५०००, श्रीपच गुरुभ्यो नमः ।
शुभमस्तु भव्य लोकाय। गोम्मट पंजिका नाम
गोम्मटसार टिप्पण समाप्त ।।

स० १५६० स्वस्ति श्रीमत्स्वसमय परसमय सकल विद्याकोविद वादि वृन्दारक वृन्द वंदित पद द्वंद्व श्री मत्कुंद कुंदाचार्योन्वयं श्री सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण देवाः तच्छिष्याचार्य वर्य्य श्री निर्ग्रन्थ श्रीविशालकीर्ति देवाः तच्छिष्या लघुविशालकीर्ति यतय· । श्रीमज्जिनधर्मध्यान घन धान्यादिभिरति सुन्दरे गधार मंदिरे हुवड़े वशे श्रावक सर भाइया कीका तस्य भार्या वाऊ तयोः पुत्री माणिक वाई तस्याः पुत्री चगाई। तत्र प्रशस्त सम्यक्त्वधरी दयाकरी समस्त जीवे संकुलाति सुन्दरी दानादिषु स्वर्द्धमतानु कारिणी माणिक्य वर वृत्ति धारिणी तया सद्भावनापूर्व लोखयित्वेद मुत्तयं। श्रीमद गोम्मट सारस्य पंजिका पुस्तकं मुदा। दत्त लघु विशालादि कीतिभ्यः कर्मछित्तये । प्राप्तये संपत्तेः सुखस्याने पुनः स्फुटमिति ।

× × ×

आत्म-समर्पण

(श्री बालचन्द जी एम. ए.)

राजा उग्रसैन की लाडली राजुल अपने भावी पति नेमिकुमार के चिन्तन में रत थी। अपने पति का कल्पित सुन्दर और सहृदय चित्र देखकर नारी के मुख पर जो प्रसन्नता होती है, राजुल उसी का अनुभव कर रही थी। नारी सुलभ लज्जा यद्यपि उसके आन्तरिक भावों के प्रदर्शन मे बाधक थी फिर भी उसका अनुराग छलक रहा था। अनेक चेष्टाएं करने पर भी वह उसे छिपा न सकी। औत्सुक्य, उमंग नवीन अभिलाषाओं की त्रिवेणी में स्नान कर उसका शरीर पुलकित हो रहा था।

दूसरी ओर सहेलियों के बीच ठठोलियां चल रही थी। बेचारी राजुल एक ओर और शेष मडली दूसरी ओर, कोई राजुल के अनुराग की कथा कह कर उसे रझाने की चेष्टा करती तो कोई नेमिकुमार के शौर्य और पिराक्रम की गाथाएं गाकर राजुल का हृदय नापने का प्रयत्न करती। भावी पति की गौरव-गाथा सुन-सुन राजुल का मन खिल उठता था।

यह क्रम चल ही रहा था कि अचानक हाफते-हांफते एक दासी आकर चिल्लाई 'राजकुमारी'...। शब्द उसके ओठों से निकलते ही न थे, वह विकट रूप से कांप रही थी, और आसुओ की धार उसकी दोनों आखों से बह रही थी।

'चन्दन !' राजकुमारी ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, क्यों? क्या बात हुई? उत्सुकता से उसने प्रश्न किया।

सहेलियों की मंडली चन्दन को घेर कर खड़ी हो गई सभी स्तब्ध थी, आश्चर्यचकित थी। चन्दन जो दुस्समाचार लाई थी, कहने का उसे साहस ही न होता था। वह अपने को असहाय अनुभव कर रही थी। सहेलियां समा-

चार सुनने को आतुर थी। नाना प्रकार के प्रश्न चन्दन मे पूछे जाने लगे पर वह कुछ न बोली। बस फूट-फूट कर रो पडी। अरे कुछ कह भी तो राजकुमारी ने उसे ढाढस बधाते हुए कहा।

नेमिकुमार विरक्त हो गये राजकुमारी, विवाहोत्सव रुक गया, चन्दन बड़े कष्ट से इतना कह सकी।

'बंधन मे पड़े पशुओ को देखकर उन्हे कर्म बंधन की स्मृति जाग उठी। उन्होने लोक कल्याण का व्रत ले लिया' चन्दन ने उत्तर दिया।

राजकुमारी पर वज्रपात हुआ। इस दुस्समाचार से त्रस्त वह मूर्छित हो भूमि पर गिरने को ही थी कि सहेलियो ने सम्हाल लिया।

मुझे आज्ञा दीजिये पिता जी, राजकुमारी राजुल ने महाराज उग्रसेन के चरणो मे गिर कर प्रार्थना की।

'तुम उन्हे कहा खोजोगी बेटी, पिता ने दुख भरी सास छोडते हुए कहा।

'वनो में, पर्वतो, कन्दराओ मे, जहा कही भी वे होगे' राजुल ने दृढता से उत्तर दिया।

'मार्ग दुर्गम है राजुल' पिता ने पुत्री को असमर्थता की ओर सकेत किया।

'पर मेरा निश्चय दृढ़ है, राजुल ने उत्तर दिया।'

'इससे लाभ क्या ? उन्हे जाने दो बेटी, अनेक पराक्रमी राजकुमार आज भी तुम्हारी अभिलाषा करते है, पिता ने फुसलाना चाहा।

आर्य नारी पतिव्रता होती है पिता जी ! हृदय जिसकी उपासना करता है वही आर्य नारी का पति है। मैने नेमिकुमार के चरणो मे अपना हृदय अर्पित कर दिया है, अब शरीर किसी अन्य को कैसे समर्पित किया जा सकता है। वह तो व्यभिचार होगा न ?' राजुल ने उत्तर दिया।

'पर नेमिकुमार तो विरक्त हो गए है, वे तुम्हे स्वीकार करेगे ?' पिता ने आगे कहा।

'मै तो विरक्त नही हुई। दो जीवन के पारस्परिक सहयोग का नाम ही तो विवाह है पिताजी। मेरी सम्मति के बिना इस सहयोग की डोर को काट देने वाले से पूछूँगी कि तुम्हे क्या अधिकार है मेरे जीवन को धूलि मे मिला देने का, मेरी आशाओ पर पानी फेर देने का' राजुल आवेश मे बोल रही थी।

'बेटी तुम भूलती हो तीर्थंकर नेमि का जन्म ही लोक कल्याण के लिये हुआ है' पिता ने उसे समझाया।

'पर मै इसमे बाधक न होती' राजुल का तर्क था।

'विवाह बन्धन मे फँसकर नेमिकुमार लोक-कल्याण में असमर्थ हो जाते बेटी, पिता ने आगे कहा।

यह उनकी दुर्बलता होती। नारी नर की सद्भावनाओ को जाग्रत करती है उन्हे उत्कठित करती है। यदि इतने पर भी कोई अपनी हानि कर बैठे तो इसमे दोष किसका' राजुल का भावावेश अभी शान्त न हुआ था।

'ठीक कहती हो बेटी, पर अब संभव नही' पिता ने पराजय होने पर भी जीतने की चेष्टा की।

'क्यो नही ! मै उन्हे अवश्य खोज लूगी, उन्हे मुझे अपनाना ही पड़ेगा। पशुओ की पुकार सुनने वाला क्या आर्त विरहिणी की आन्तरिक वाणी न सुनेगा ? मै उन्हें खोजूगी पिताजी, मुझे आज्ञा दीजिये' राजुल पिता के गले से लिपट गई।

'तुम स्वतत्र हो बेटी, मेरा आशीर्वाद ले जाओ' पिता ने पुत्री को आशीर्वाद देकर विदा किया।

सघन वन और अगम पर्वत दृढ निश्चय के आगे झुक गए थे, काटे फूल बन गए थे और मार्ग उसे उत्साहित कर रहा था। 'मै तो अपने पिया को खोजूगी' की ध्वनि वनो और पर्वत गुफाओ मे गूज रही थी। पवन भी उसी लय मे 'मै तो अपने पिया को खोजूगी' का स्वर दुहराता सा था। विरहिणी का विरह चारो ओर छा गया।

आज वह उसे खोज रही थी जिस पर उसने अपने को अर्पित कर दिया था, प्रतिदान की आशा न करते हुए जिसे सर्वस्व भेट कर दिया था, ममता, करुणा, वात्सल्य आदि सभी मानवी गुणों को जिस पर सर्तपित कर दिया था पर उस निर्मोही ने सब कुछ ठुकरा दिया, नारी के आत्म-समर्पण का उसने कोई मूल्य न आका, अलभ्य सम्पत्ति पाकर भी वह उसे त्याग कर चला गया।

'स्वामिन् मैं आ पहुंची' विरक्त नेमिकुमार के चरणों में गिर कर राजुल ने प्रार्थना की।

'शुभे ! तुम कौन हो ?' शान्त स्वर में नेमिकुमार ने प्रश्न किया।

'वही जिसकी रक्षा का भार आपने लिया था, मै राजुल हूँ मेरे देवता' राजुल ने उत्तर दिया।

'राजुल तुम यहां !' आश्चर्य से देखा नेमिकुमार ने।

'तुम्हे खोजते-खोजते आ पहुँची मेरे रक्षक, आर्य नारी की शरण उसका पति ही होता है, राजुल ने निवेदन किया।

तुम भूल रही हो राजुल, मै तुम्हारा पति नही, मै किसी का कुछ नही। सासारिक सम्बन्ध असत्य है देवी, मुझे क्षमा करो' नेमिकुमार बोले।

मैने तुम्हे हृदय सौपा था, अब तुम्हे कैसे भूलू मेरे स्वामी, राजुल ने प्रार्थना की।

'भूलना होगा भद्रे ! सत्य की खोज करो' नेमिकुमार ने उत्तर दिया।

असभव है नाथ ! आप पुरुष है, स्वतत्र है, पर मै स्त्री हूँ, अधूरी हू। मेरे तो आप ही सब कुछ है, मुझे शरण दीजिये' राजुल नेमिकुमार के चरणो मे गिर पड़ी।

'तुम्हारा मोह तीव्र है राजुल, लौट जाओ।' नेमिकुमार ने कहा।

'यह तुम कहते हो, हां तुम कह सकते हो। मेरा हृदय तोड़ने वाले पुरुष तुम्हारे ही मुख से ये वचन सभव है। पर मै तुम्हें नही छोड़ सकती' राजुल ने अपना निश्चय जता दिया।

मै विवश हू देवि, मैंने लोक-कल्याण का व्रत लिया है नेमिकुमार ने अपनी विवशता बतलाई।

'वही व्रत मुझे भी दीजिये' आचल पसार कर राजुल ने व्रत-दीक्षा की याचना की।

नेमिकुमार ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, क्या तुम सच कह रही हो ? उन्हें विश्वास न हुआ।

'नारी की क्रियाये दम्भ नहीं होती स्वामिन् ! वह सच्चे हृदय से कार्य करती है। विलास में पली नारी संयम और साधना की महत्ता अच्छी तरह समझती है' राजुल रो रही थी, तुमने मुझे धोखा दिया, तुम लोक कल्याण का व्रत लेकर स्वार्थी ही रहे। मेरी रक्षा का भार स्वीकार करके भी तुमने मेरी रक्षा से मुख मोड लिया, स्वय तो ससार समुद्र तरने चल दिये पर मुझे इसी बीच खड़ा रहने दिया, राजुल फूट-फूट कर रोने लगी।

'भद्रे ! तुम सच्ची हो' नेमिकुमार ने प्रशान्त स्वर में कहा।

पर तुमने नारी को न समझा नाथ ! उसे विलास कानन की रानी ही माना, अपनी साधना की बाधा माना। यह तुम्हारा भ्रम था। नारी का आत्म समर्पण सुख और दुख, महल और वन, विलास और विराग में सर्वत्र एक सा है देव ! तुम मुझसे पूछते तो कि तुम इन सघन वनो मे मेरा साथ दे सकोगी ? मै उत्तर देती अवश्य ! राजुल शान्त स्वर मे कह रही थी।

'तुम धन्य हो देवी' नेमिकुमार बोले।

'अब तो मै स्वय आ पहुची नाथ, आपकी शरण ही ससार मे मुझे अन्यतम वरदान है। आप मुझे स्वीकृत कीजिये, मै आपकी शिष्या बनूगी, हाथ जोड़ कर राजुल ने प्रार्थना की।

तुम दीक्षा के योग्य हो नेमिकुमार ने हर्ष पूर्वक राजुल को दीक्षित किया।

'अन्त मे आपको अपनाना ही पडा नाथ' मेरा आत्म समर्पण सफल ही हुआ, राजुल ने मुस्कराते हुए कहा।

'हा देवी' नेमिकुमार ने उत्तर दिया।

उपयुक्त अवसर यही था देव' राजुल ने उनके चरणों में मस्तक झुका दिया।

गिरनार के शिखर पर दो तपस्वी साधना कर रहे हैं, एक ओर दिगम्बर नेमिकुमार और दूसरी ओर एक श्वेत वस्त्र धारिणी आर्यिका राजुल।

पुराणों के आधार पर प्रद्युम्न कुमार की ऐतिहासिक रोचक कथा

शृगाल से सिद्ध

श्री सुबोध कुमार जैन

हजारों हजार वर्ष पहले की कहानी है। दो सियार थे। किसान अपने खेतो की चौकीदारी ऐसा करते थे, जिससे सियारो का पेट नही भरता था। एक रात भूख की पीड़ा से वे जहाँ तहाँ फिर रहे थे। जब कुछ भी खाने को नही मिला तो खेत के किनारे पड़ी एक रस्सी को ही दोनों चबाने लगे। रस्सी गन्दी और सड़ी होने से जहरीली हो गई थी।

आखिर दोनो ही तड़प-तड़प कर मर गए।

सबेरा होने पर उस खेत के किसान ने उनकी चमडी उधाड कर उसे काम मे लाने के लिए सूखने को डाल दिया।

दोनों ही सियार मरने के बाद मगध देश में एक के घर जन्मे और पढ लिख कर बडे हुए। ये दोनो अत्यन्त घमडी और पाखडी थे। अपने मिथ्या ज्ञान के घमड मे एक बार वे एक जैन मुनि से शास्त्रार्थ करने चल पडे। रास्ते मे उन जैन मुनि के एक शिष्य ने ही उन्हे शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। क्रोधित होकर वे उस शिष्य की हत्या करने रात मे उनके स्थान पर पहुँचे पर देवताओ से यह न देखा गया। दोनों भाइयो के तलवार उनके हाथों में ही रह गए और वे वही पत्थर की तरह कीलित हो गए।

कीलित होने के उपरान्त दोनो भाइयों को वास्तविकता का ज्ञान हुआ और अपने व्यवहार पर उन्हे बडा पश्चाताप हुआ। उन्होंने श्रावक का व्रत ले लिया और समय पाकर सद्ध्यानपूर्वक शरीर त्याग कर सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र और उपेन्द्र हुए।

देव लोक की आयु पूरी कर दोनों ही अयोध्या के समुद्रदत्त श्रेष्ठि के यहां पुत्र उत्पन्न हुए। उनका नामकरण मणिभद्र और पूर्णभद्र हुआ। दोनों धर्मकृत्य आदि मे लगे रहते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा अनुपम हुई थी। जहाँ अपना जीवन काल विताने पर वे मृत्यु उपरान्त फिर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

देवायु व्यतीत करके वे कौशल देश में राजा पद्मनाभ के पुत्र उत्पन्न हुए। पहले का नाम मधु और दूसरे का कैटभ था। बाद में मधु कौशल का राजा हुआ और कैटभ युवराज। एक बार एक दूसरे देश पर आक्रमण हेतु जाते हुए राजा मधु एक मित्र देश के राजा की रानी चन्द्रप्रभा को देख कर आसक्त हो गया। उसने छल-बल से चन्द्रप्रभा का हरण किया और चन्द्रप्रभा भी उसके मोह पाश में फस गई। उधर रानी चद्रप्रभा का पति, पत्नि के वियोग मे पागल हो गया। यह देखकर चद्रप्रभा को अत्यन्त दुख हुआ। उसने अपने को धिक्कारा। कारण पाकर राजा मधु को भी अपने किए पर इतना पश्चाताप हुआ कि वह वैरागी होकर मुनि हो गया। युवराज कैटभ भी मुनि हो गये। अन्ततोगत्वा रानी चन्द्रप्रभा भी आर्यिका हो गई।

राजा मधु का जीवन तपस्या के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ और तदुपरान्त देव जाति के दिव्य सुख को भोग कर आयु के अन्त मे वहाँ से चयकर पूर्व पुण्य के प्रभाव से द्वारिका नगरी मे यादवों के श्रेष्ठ कुल मे कृष्ण-नारायण की रानी रुक्मिणी के गर्भ में आया।

उधर रानी चन्द्रप्रभा का अभागा पागल पति मरकर नीच योनियो मे परिभ्रमण करता हुआ कर्म योग से मिथ्यादृष्टि मनुष्य हुआ। फिर वहाँ से आयु पूरी कर धूमकेतु नामक असुरों का नायक देव हुआ। जिस रात को रुक्मणि के गर्भ से राजा मधु का जीव जन्मा उसी रात वह आकाश मार्ग मे जा रहा था। अपने पूर्व भव के वैरी मधु के जन्म का उसे ज्ञान हुआ। वह उसी समय रुक्मणि के बगल से उस नन्हें बच्चे को उठा कर एक पर्वत शिखा

पर ले पहुँचा और उसकी हत्या करने के उद्देश्य से उसे एक भारी पत्थर के नीचे दबा कर चला गया।

उधर चन्द्रप्रभा का जीव समय पाकर मेघकूट नगर के विद्याधर राजा काल संवर की पत्नि कनकमाला बनी। ये दोनों उसी ओर से जा रहे थे और उस नन्हे बच्चे को पत्थर के नीचे दबा देख कर उन्होंने उसे निकाला और बच्चे को बिल्कुल स्वस्थ पाकर वे अचम्भित हुए। उन्हें ऐसे वीर बालक को पुत्र मानकर बड़ी प्रसन्नता हुई, यही नन्हा बच्चा लोक मे प्रद्युम्न कुमार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी शिक्षा-दीक्षा उत्तम हुई। वह बालकपन में ही अपने पराक्रम दिखलाने लगा। उसके पराक्रम की कहानियाँ मेघकूट नगर के घर-घर मे कही जाने लगी। प्रद्युम्न कुमार ने अपने नए पिता राजा कालसवर के लिए बड़ी-बड़ी लडाइया लड़ी। अपने अन्य ज्येष्ठ पुत्रो के रहते हुए भी कालसवर ने उसे युवराज घोषित कर दिया। जिससे उसके सभी भाई उसके दुश्मन हो गए।

उन्होने उसकी हत्या करने के कई आयोजन किए, पर सफल न हो सके। उसके सौन्दर्य की कीर्ति तो अद्भुत रूप से फैलती गई। जब उसके विवाह की बात हुई तो उसकी नई मा को यह बात पसन्द नही हुई। उसके मन मे विचित्र अन्तर्द्वंद चल रहा था। अपनी अधेडावस्था मे उसकी वासना उग्र हो उठी थी और उसकी परेशानी की सीमा न थी। उसे यह भी अनुभव हुआ कि उसकी वासना पुत्र प्रद्युम्न कुमार की ओर ही है। जब वह अपने को सभाल न सकी तो आखिर को उसने प्रद्युम्न कुमार को कपटपूर्ण वार्ता करते हुए बतलाया कि वह उनका वास्तविक पुत्र नही है, और वह किस प्रकार उनका पुत्र बना। सारी बाते जान कर प्रद्युम्न कुमार के दुख का ठिकाना न रहा। तभी उसके पूर्व भव की प्रेयसी उसके वर्तमान जीवन की नई मां कनकमाला ने उससे काम वासना की पूर्ति का प्रस्ताव किया तो वह अचभित रह गया। अत्यन्त लज्जा और क्रोधपूर्वक आखिर वह उसे धिक्कारता हुआ वहा से उठ कर चला गया।

अपना अपमान हुआ देख कर कनकमाला बहुत क्रोधित हुई और उसने अपने तन बदन को नोच डाला। कपटपूर्वक उसने चीखना-चिल्लाना शुरू किया एवं अपने पति राजा कालसवर से उसने प्रद्युम्न कुमान के दुष्चरित्र होने का महादोष लगाया।

आखिर पिता-पुत्र मे युद्ध हुआ और पुत्र विजयी हुआ। परन्तु वह दुःखी था अत्यन्त दुःखी था; क्योंकि उसका कोई माता-पिता नही था। और न संसार में उसका कोई भी अब अपना था।

तभी नारद मुनि से भेंट हुई और वह यह जानकर प्रसन्नता से विभोर हो उठा कि कृष्ण नारायण उसके वास्तविक पिता और रुक्मणि उसकी माता है।

वह उसी समय आकाश मार्ग से शीघ्र ही नारदमुनि के साथ द्वारिका पुरी जा पहुँचा। अपने को प्रगट करने के पूर्व उसने कृष्ण नारायण की गर्विता दूसरी पत्नी सत्यभामा एव उसके पुत्र के गर्भ को चूर किया एव अपने पराकम दिखलाकर कृष्ण, बलदेव, आदि को भी परास्त किया। तदुपरान्त बड़े नाटकीय ढग से नारदमुनि ने पिता-पुत्र का मिलाप कराया और प्रद्युम्न कुमार अपने सारे कुटुम्ब वालों से गले लग कर मिला।

माता रुक्मणि का क्या कहना। उसकी खुशी का क्या ठिकाना। उसकी कोख के पुत्र के लापता होने के उपरान्त उसको सौत सत्यभामा उसे बराबर लज्जित और अपमानित करती रहती थी। इससे उसका जीवन दुःखमय हो गया था। कृष्ण नारायणण का तो उस पर अगाध प्रेम था और उनके देवर अरिष्टनेमि भी उसका बडा आदर करते थे फिर भी उसका जीवन अत्यन्त विरागी हो गया था।

अब इतने वर्षो के बाद अपने लापता पुत्र को फिर पाकर उसने अपने महल मे बड़ी-बड़ी खुशिया मनाई।

अरिष्टनेमि की ओर प्रद्युम्न कुमार अत्यन्त आकर्षित हुए और उनकी उदात्त भावनाओं और विचारों से भी बहुत प्रभावित हुए। प्रद्युम्न कुमार शूर वीर थे और बाल्यकाल से अबतक युद्ध और योद्धाओ के बीच ही उनका समय निकला था। अरिष्टनेमि के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की बाते उसके मन मे सहज प्रतिष्ठित हो गई। सच्चरित्रता उनके प्रत्येक कार्य मे दीखने लग गई।

समय पाकर उसका विवाह कौरव नरेश दुर्योधन की पुत्री उदधिकुमारी से हुआ।

प्रद्युम्न कुमार का बड़ा प्रताप था। सभी यदुवंशी उनका लोहा मानते थे। राजे-महाराजे उनकी सेवा करते थे। भोग-सुख इच्छानुसार भोगते हुए प्रद्युम्न कुमार अपने पुण्य प्रताप से तीनो लोक के सारभूत सुख को पाते रहे।

पापियो का क्या! कोई दुःख ऐसा नही कि जो उन्हे भोगने न पड़ते। अपना पेट भरने के लिए रात-दिन चिन्तित रहना, वस्त्र भोजन के बिना पृथ्वी पर पड़े रहना, दूसरो की नौकरी-चाकरी करना, रूप-लावण्य रहित होना, दीन-हीन, बिना बान्धवों वाला होना, भाई-बन्धुओ द्वारा निन्दित और जगह-जगह तिरस्कृत होना, यह सभी तो पाप के फल है।

जरासंध कृष्ण द्वारा मारा जा चुका था। कृष्ण को सुदर्शनचक्र प्राप्त हो चुका था। महाभारत समाप्त हो चुका था। कौरवो का क्षय हो चुका था। अरिष्टनेमि पर इस महायुद्ध का बड़ा प्रभाव पड़ा था और दिन-दिन उनके वैराग्यभाव बढ़ते जा रहे थे। उनके साथ प्रद्युम्न कुमार भी विराग की ओर आकृष्ट हो रहे थे तभी एक अभूतपूर्व घटना हुई।

अरिष्टनेमि के असमान्य बल के कारण कृष्ण कुछ चिन्तित रहा करते थे। एक बार राज्य सभा मे ही 'कौन अधिक बलवान है' इस पर बात बहुत अधिक बढ गई। अरिष्टनेमि ने अपने पावो को पृथ्वी पर जमा दिया और उनके पावो को हिला न सकने के कारण कृष्ण आदि सभी सामन्तो को सभा मे लज्जित होना पड़ा। कुछ समय उपरान्त एक दिन कुछ कारणवश उत्तेजित हो अरिष्टनेमि कृष्ण की आयुधशाला मे चले गए और शेषनाग पर सवार होकर सुदर्शनचक्र को ऐसा नचाया एवं नाको की फूक से ही ऐसा शखनाद किया कि नगर मे शोर मच गया। कृष्ण आदि ने उन्हे किसी-न-किसी तरह शान्त किया।

यह सब था पर अरिष्टनेमि तो अद्भुत सम्यग्दृष्टि थे। उन्हे अहकार क्षोभ आदि छू तक नही गए थे। समय देखकर उनकी इच्छा के विरुद्ध कृष्ण ने उनके विवाह का आयोजन ऐसे कपटपूर्ण ढग से किया कि अरिष्टनेमि की विराग भावना बिल्कुल जागृत हो जाए और वे राज्य छोड़कर सन्यासी हो जाय। उनकी योजना सफल हुई और अरिष्टनेमि भी बीच बारात से ही विरागी होकर सन्निकट के गिरनार पर्वत पर चले गए और दिगम्बर मुनि हो गए। उनकी मगेतर राजुल भी आर्यिका हो गई।

प्रद्युम्न कुमार भी बहुत दिनों तक त्याग के इस प्रभाव से अपने को अलग न रख सके और एक दिन वे भी घर-बार छोड़ कर दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेने नेमिनाथ के समवशरण मे पहुँच गए।

इसी समय नेमिनाथ ने भविष्यवाणी की कि यादवों पर मद्यपान के प्रति आसक्ति के कारण बड़ी-बड़ी विपदा आएगी। कृष्ण की मृत्यु बाण लगने पर होगी और द्वारिकापुरी द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण भस्मीभूत हो जायगी। इस समाचार से सारी द्वारिका पुरी मे बेचैनी फैल गई। लोग द्वारिकापुरी छोड़-छोड कर यत्र-तत्र जाने लगे। कृष्ण द्वारा राज्य भर मे मद्यपान निषेध की आज्ञा प्रचारित की गई।

परन्तु हुआ वही जो होना था। यादव कुमारों के मद्यपान के कारण दीपायन मुनि ने द्वारिकापुरी को भस्मीभूत कर दिया। कृष्ण जगल मे मारे-मारे फिरे और एक बाण द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए।

इधर गिरनार पर्वत पर अरिष्टनेमि तप और त्याग द्वारा तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। बाद मे उन्हे और प्रद्युम्न कुमार एव कई अन्य त्यागियो को निर्वाण की प्राप्ति हुई।

आज भी गिरनार पर्वत लाखो भक्तों द्वारा पूजित है। उसकी तीन ऊंची चोटियो पर प्रद्युम्न कुमार आदि यादव कुमारो ने मोक्ष प्राप्त कर उसे पवित्र किया। तीर्थंकर नेमिनाथ एव इन तीनो महापुरुषों की चरण-पादुकाए हजारो वर्षो से इस पवित्र पर्वत पर विराजमान है और वन्दना करने वालो का ताता युगो से चला आ रहा है।

करोडो की सम्पदा भक्तो ने इस पहाड को सुशोभित करने मे लगा दी, और लगा रहे है। सगमरमर के जैसे शानदार और दर्शनीय मन्दिर इस पर्वत पर है शायद ही भारत मे कही हो।

धन्य है प्रद्युम्न कुमार! कहा कई भव पहले उनका जीव शृगाल पशु था और कहां अन्त में सिद्ध परमात्मा होकर रहा। ★

हिन्दी-भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ

पन्नालाल अग्रवाल

दि० जैन शास्त्र भडारों मे हिन्दी भाषा का विशाल साहित्य अभी तक अप्रकाशित पड़ा है अनेक गुच्छक ग्रथों में अनेक सुन्दर रचनाए प्रचुर परिमाण में मिलती है। उनके प्रकाशित होने पर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश पडेगा। जैन कवियो ने प्राकृत संस्कृत साहित्य के साथ अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में जो अनूठी रचनाएं लिखी हैं, वे बहुत ही महत्वपूर्ण है। अब से कोई ३०-४० वर्ष पहले पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई और बाबू ज्ञानचन्द्रजी लाहौर ने अनेक ग्रथ प्रकाशित किये है।

दिल्ली के शास्त्र भंडारों मे भी हिन्दी भाषा की गद्य-पद्य अनेक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पडी है। समाज का लक्ष्य पुराने साहित्य के प्रकाशन की ओर नही है। और न उसके समुद्धार की भावना ही है। यदि भावना होती तो भडारो की सभी सुन्दर रचनाएँ कभी की प्रकाशित हो गई होतीं। मेरा विचार बहुत असें से इन सभी ग्रथों के प्रकाशन की भावना एव प्रेरणा करने मे लगा रहा है, पर मुझे उसमे कोई सफलता नही मिली।

आज इस छोटे से लेख द्वारा समाज से प्रकाशन की प्रेरणा करता हुआ प्रकाशन योग्य कुछ ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, साहित्य प्रेमी जन इस ओर अपना ध्यान देगे। और जिनवाणी की महत्वपूर्ण सेवा करेंगे।

१ पाण्डव पुराण—मूल लेखक भट्टारक शुभचन्द्र है यह मूल ग्रथ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इस का पद्यानुवाद प० बुलाकीदास (बूलचन्द्र) अग्रवालकृत है, अभी तक अप्रकाशित है और प्रकाशन की बाट जोह रहा है। पद्यानुवादकर्ता ने अपने सामान्य परिचयादि के साथ उसकी प्रशस्ति लिखी है। जिससे उसका रचनाकाल संवत १७५४ बतलाया गया है। पद्य विविध छन्दों मे दिए हुए हैं। प्रति नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्रभडार की है। और प्रकाशन के योग्य है।

२ **वर्धमान पुराण**—भ० सकलकीर्ति, पद्यानुवादकर्ता पं० बैजनाथजी माथुर है। रचना विक्रम की १९ वीं शताब्दी की है। मूल ग्रथ अभी तक अप्रकाशित है, और उसका पद्यानुवाद भी। इसका प्रकाशन शीघ्र होना चाहिए।

३ उत्तर पुराण—मूलग्रथ, आचार्य गुणभद्र प्रणीत है। पद्यानुवादकर्ता प० खुशालचन्द है। ग्रन्थ मे कवि ने दोहा, सवैया, अंडिल, चौपाई आदि विविध छन्दो का प्रयोग किया है। जिसे पढ़ने से मन सन्तुष्ट होता है। रचना सामान्य है। यह ग्रंथ अनेक भण्डारों मे सगृहीत है। परिचय वाली प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली की है। खुशालचन्द्र काला ने अनेक ग्रन्थो के पद्यानुवाद किये है। वे प्राय: सभी ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रंथ का प्रकाशित होना आवश्यक है।

४ शान्तिनाथ पुराण—मूलग्रन्थ के रचयिता भ० सकलकीर्ति है। मूलग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ कलकत्ता से छप चुका है। पद्यानुवाद के कर्ता कवि सेवाराम है। इनकी अन्य कई रचनाए हैं। चौबीस तीर्थंकर पूजा इन्होंने स० १८२४ मे बनाई है।

५ हरिवंश पुराण—(पद्यानुवाद) इस ग्रथ का पद्यानुवाद कवि खुशाल ने सं० १७८० मे किया था। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत प्रति दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा की है।

६ मुनिसुव्रतनाथ पुराण—इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद ब्र० इन्द्रजीत द्वारा स० १६४५ मे सम्पन्न हुआ था। यह प्रति भी उक्त भडार मे अवस्थित है। रचना सामान्य है।

७ श्रेणिक चरित—के पद्यानुवादकर्ता भ० विजयकीर्ति है। जो अजमेर गद्दी के पट्टधर थे। इसका रचना-

काल स० १८२७ है यह ग्रन्थ भी उक्त भंडार में अव स्थित है। कवि की बनाई हुई अन्य अनेक रचनाएं अजमेर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित हैं।

८ **धन्यकुमार चरित्र**—इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद भी खुशालचन्द्र काला ने किया है। कवि खडेलवाल जाति मे उत्पन्न हुआ था। यह ब्रह्मनेमिदत्त के संस्कृत धन्यकुमार चरित्र का पद्यानुवाद है। नया मन्दिर धर्मपुरा मे अवस्थित है।

९ **महीपाल चरित्र**—इस ग्रथ के रचयिता रत्ननन्दि के शिष्य चरित्रभूषण है। इस ग्रथ के टीकाकार नथमल विलाला है। ग्रंथ की रचना सं० १९१८ मे हुई है। रचना साधारण है।

१० **यशोधर चरित्र**—यह भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की रचना है, इसके पद्यानुवादकर्ता भी वही खुशाल काला है, जिनका ऊपर उल्लेख किया है। ग्रथ का रचनाकाल स० १७८१ है।

११ **नेमिपुराण**—ब्र० नेमिदत्त, पद्यानुवादकर्ता बखतावरमल रतनलाल, रचना समय १९०९, प्रस्तुत ग्रथ का मूल सस्कृत पद्यों मे है। वह अभी तक प्रकाशित नही हुआ है किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद सूरत से प्रकाशित हो चुका है। पद्यानुवाद अभी अप्रकाशित है, प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा की है। कविता साधारण है।

१२ **श्रीपालचरित्र**—के कर्ता पंडित अतिसुख हैं। ग्रथ का रचनाकाल सं० १९१८ है। कविता साधारण है। ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

१३ **सीताचरित**—इसके रचयिता कवि रायचन्द्र हैं, ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७१३ है। कविता कहीं-कहीं चुभती सी है, उसमे प्रवाह है, परन्तु वह सामान्य दर्जे की है।

इसी तरह अन्य अनेक ग्रंथ ग्रन्थभडारो मे पड़े है। कोई महानुभाव इन ग्रन्थों का प्रकाशन कर पुण्य का अर्जन करें।

●

वीरशासन-जयन्ती

परमानन्द शास्त्री

भारतीय इतिहास में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा एक अति प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इसी तिथि से भारत वर्ष मे नये वर्ष का प्रारम्भ हुआ करता था। नये वर्ष की खुशिया मनाई जाती थीं और वर्ष भर के लिये शुभकामनाए की जाती थीं। आचार्य यतिवृषभ की तिलोण पण्णत्ती और धवला जैसी प्राचीन टीकाओ में—'वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए तथा वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पाडिवद पुव्व दिवमे' जैसे वाक्यों द्वारा इस तिथि को वर्ष के प्रथम मास का प्रथम पक्ष और पहला दिन सूचित किया है। देश मे सावनी-आषाढ़ी के विभाग रूप जो फसली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथा का सूचक जान पडता है जिसकी संख्या आजकल गलत रूप मे प्रचलित हो रही है। कहीं-कहीं विक्रम सवत का प्रारम्भ भी श्रावण कृष्णा एकम से माना जाता है जैसा कि विश्वेश्वर नाथ रेउ के 'राजा भोज' नामक ग्रन्थ से निम्न वाक्य से प्रकट है—'राजपूताना के उदयपुर राज्य मे विक्रम संवत का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण एकम से माना जाता है। इसी प्रकार मारवाड के सेठ-साहूकार भी वर्ष का प्रारम्भ इसी दिन से मानते हैं।'[1]

इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उदयपुर राज्य और मारवाड मे पहले से वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से ही होता था। विक्रम सवत् को अपनाते हुए यहा के निवासियों ने अपनी वर्षारम्भ की तिथि को भी छोड दिया, और अनुरूप विक्रम संवत को भी परिवर्तित कर दिया।

युग का आरम्भ और सुषम-सुषमादि के विभाग रूप कालचक्र का—उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालों का—प्रारम्भ

१. राजा भोज पृ० ५४

हिन्दी-भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ

पन्नालाल अग्रवाल

दि० जैन शास्त्र भंडारों मे हिन्दी भाषा का विशाल साहित्य अभी तक अप्रकाशित पड़ा है अनेक गुच्छक ग्रंथों में अनेक सुन्दर रचनाएं प्रचुर परिमाण में मिलती है। उनके प्रकाशित होने पर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश पड़ेगा। जैन कवियों ने प्राकृत संस्कृत साहित्य के साथ अपभ्रंश और हिन्दी भाषा मे जो अनूठी रचनाएं लिखी हैं, वे बहुत ही महत्वपूर्ण है। अब से कोई ३०-४० वर्ष पहले पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई और बाबू ज्ञानचन्द्रजी लाहौर ने अनेक ग्रथ प्रकाशित किये है।

दिल्ली के शास्त्र भंडारो मे भी हिन्दी भाषा की गद्य-पद्य अनेक रचनाएं अभी तक अप्रकाशित पड़ी है। समाज का लक्ष्य पुराने साहित्य के प्रकाशन की ओर नहीं है। और न उसके समुद्धार की भावना ही है। यदि भावना होती तो भडारों की सभी सुन्दर रचनाएँ कभी की प्रकाशित हो गई होती। मेरा विचार बहुत अर्से से इन सभी ग्रथों के प्रकाशन की भावना एव प्रेरणा करने में लगा रहा है, पर मुझे उसमें कोई सफलता नही मिली।

आज इस छोटे से लेख द्वारा समाज से प्रकाशन की प्रेरणा करता हुआ प्रकाशन योग्य कुछ ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, साहित्य प्रेमी जन इस ओर अपना ध्यान देंगे। और जिनवाणी की महत्वपूर्ण सेवा करेंगे।

१ पाण्डव पुराण—मूल लेखक भट्टारक शुभचन्द्र है यह मूल ग्रथ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इस का पद्यानुवाद पं० बुलाकीदास (बूलचन्द्र) अग्रवालकृत है, अभी तक अप्रकाशित है और प्रकाशन की बाट जोह रहा है। पद्यानुवादकर्ता ने अपने सामान्य परिचयादि के साथ उसकी प्रशस्ति लिखी है। जिससे उसका रचनाकाल संवत १७५४ बतलाया गया है। पद्य विविध छन्दों में दिए हुए है। प्रति नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्रभडार की है। और प्रकाशन के योग्य है।

२ **वर्धमान पुराण**—भ० सकलकीर्ति, पद्यानुवादकर्ता पं० बेंजनाथजी माथुर है। रचना विक्रम की १६ वीं शताब्दी की है। मूल ग्रथ अभी तक अप्रकाशित है, और उसका पद्यानुवाद भी। इसका प्रकाशन शीघ्र होना चाहिए।

३ **उत्तर पुराण**—मूलग्रथ, आचार्य गुणभद्र प्रणीत है। पद्यानुवादकर्ता प० खुशालचन्द है। ग्रन्थ मे कवि ने दोहा, सवैया, अडिल, चौपाई आदि विविध छन्दो का प्रयोग किया है। जिसे पढने से मन सन्तुष्ट होता है। रचना सामान्य है। यह ग्रथ अनेक भण्डारों मे सगृहीत है। परिचय वाली प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली की है। खुशालचन्द्र काला ने अनेक ग्रन्थो के पद्यानुवाद किये है। वे प्राय: सभी ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रंथ का प्रकाशित होना आवश्यक है।

४ **शान्तिनाथ पुराण**—मूलग्रन्थ के रचयिता भ० सकलकीर्ति हैं। मूलग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ कलकत्ता से छप चुका है। पद्यानुवाद के कर्ता कवि सेवाराम है। इनकी अन्य कई रचनाए हैं। चौबीस तीर्थंकर पूजा इन्होंने स० १८२४ मे बनाई है।

५ **हरिवंश पुराण**—(पद्यानुवाद) इस ग्रथ का पद्यानुवाद कवि खुशाल ने सं० १७८० में किया था। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत प्रति दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा की है।

६ **मुनिसुव्रतनाथ पुराण**—इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद ब्र० इन्द्रजीत द्वारा स० १६४५ मे सम्पन्न हुआ था। यह प्रति भी उक्त भडार मे अवस्थित है। रचना सामान्य है।

७ **श्रेणिक चरित**—के पद्यानुवादकर्ता भ० विजय-कीर्ति है। जा अजमेर गद्दी के पट्टधर थे। इसका रचना-

काल सं० १८२७ है यह ग्रन्थ भी उक्त भंडार में अव स्थित है। कवि की बनाई हुई अन्य अनेक रचनाएं अजमेर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित हैं।

८ धन्यकुमार चरित्र—इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद भी खुशालचन्द्र काला ने किया है। कवि खंडेलवाल जाति मे उत्पन्न हुआ था। यह ब्रह्मनेमिदत्त के संस्कृत धन्यकुमार चरित्र का पद्यानुवाद है। नया मन्दिर धर्मपुरा में अवस्थित है।

९ महीपाल चरित्र—इस ग्रंथ के रचयिता रत्ननन्दि के शिष्य चरित्रभूषण हैं। इस ग्रंथ के टीकाकार नथमल विलाला है। ग्रंथ की रचना सं० १९१८ मे हुई है। रचना साधारण है।

१० यशोधर चरित्र—यह भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की रचना है, इसके पद्यानुवादकर्ता भी वही खुशाल काला है, जिनका ऊपर उल्लेख किया है। ग्रथ का रचनाकाल स० १७८१ है।

११ नेमिपुराण— ब्र० नेमिदत्त, पद्यानुवादकर्ता बखतावरमल रतनलाल, रचना समय १९०९, प्रस्तुत ग्रथ का मूल संस्कृत पद्यों मे है। वह अभी तक प्रकाशित नही हुआ है किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद सूरत से प्रकाशित हो चुका है। पद्यानुवाद अभी अप्रकाशित है, प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा की है। कविता साधारण है।

१२ श्रीपालचरित्र—के कर्ता पंडित अतिसुख है। ग्रथ का रचनाकाल सं० १९१८ है। कविता साधारण है। ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

१३ सीताचरित—इसके रचयिता कवि रायचन्द्र है, ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७१३ है। कविता कहीं-कहीं चुभती सी है, उसमें प्रवाह है, परन्तु वह सामान्य दर्जे की है।

इसी तरह अन्य अनेक ग्रंथ ग्रन्थभडारों में पड़े हैं। कोई महानुभाव इन ग्रन्थों का प्रकाशन कर पुण्य का अर्जन करें।

●

वीरशासन-जयन्ती

परमानन्द शास्त्री

भारतीय इतिहास मे श्रावण कृष्णा प्रतिपदा एक अति प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इसी तिथि से भारत वर्ष मे नये वर्ष का प्रारम्भ हुआ करता था। नये वर्ष की खुशिया मनाई जाती थीं और वर्ष भर के लिये शुभकामनाए की जाती थी। आचार्य यतिवृषभ की तिलोण पण्णत्ती और धवला जैसी प्राचीन टीकाओं में—'वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए तथा वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पाडिवद पुव्व दिवसे' जैसे वाक्यों द्वारा इस तिथि को वर्ष के प्रथम मास का प्रथम पक्ष और पहला दिन सूचित किया है। देश में सावनी-आषाढी के विभाग रूप जो फसली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथा का सूचक जान पड़ता है जिसकी संख्या आजकल गलत रूप में प्रचलित हो रही है। कहीं-कही विक्रम सवत का प्रारम्भ भी श्रावण कृष्णा एकम से माना जाता है जैसा कि विश्वेश्वर नाथ रेउ के 'राजा भोज' नामक ग्रन्थ से निम्न वाक्य से प्रकट है—'राजपूताना के उदयपुर राज्य में विक्रम संवत का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण एकम से माना जाता है। इसी प्रकार मारवाड के सेठ-साहूकार भी वर्ष का प्रारम्भ इसी दिन से मानते हैं।'[1]

इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उदयपुर राज्य और मारवाड में पहले से वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से ही होता था। विक्रम सवत् को अपनाते हुए यहा के निवासियों ने अपनी वर्षारम्भ की तिथि को भी छोड दिया, और अनुरूप विक्रम संवत को भी परिवर्तित कर दिया।

युग का आरम्भ और सुषम-सुषमादि के विभाग रूप कालचक्र का—उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालों का—प्रारम्भ

---

१. राजा भोज पृ० ५४

भी इसी तिथि से हुआ है। ऐसा पुरातन ग्रंथों में उल्लेख है।[1] साथ ही यह भी लिखा है कि युग की समाप्ति आषाढ की पौर्णमाणी को होती है।[2] और पौर्णमासी की रात्रि के अनन्तर ही प्रातःकाल श्रावण कृष्णा प्रतिप्रदा को अभिजित नक्षत्र, बालवकरण और रुद्र मुहूर्त मे युग का आरम्भ हुआ करता है।[3] इन सब उल्लेखो से इस तिथि की महत्ता का स्पष्ट भान हो जाता है।

इसी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को प्रातःकाल सूर्योदय के समय अभिजित नक्षत्र में भगवान महावीर के शासन की उत्पत्ति विपुलगिरि पर हुई। उनकी प्रथम दिव्यवाणी खिरी। और उसके द्वारा उनका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ। यह उनके सर्वोदय तीर्थ का पहला दिन था। इसी दिन विलविलाट करते हुए पशु कुल की रक्षा हुई, उन्हे याज्ञिक हिसा से त्राण मिला। उनके भय और दुख मे कमी आई। महावीर के अहिंसा डिमडिम नाद से जगत मे क्रान्ति आई और जनसाधारण मे अहिंसा की लहर दौड़ गई।

उनकी दिव्य देशनाओं से संसारके सभी जीवोके प्रति प्रेमभाव प्रकट हुआ—कल्याण का मार्ग मिला। याज्ञिक हिसा का प्रतिरोध हुआ, पशुओ को अभयदान मिला। संत्रस्त और प्रपीडित जनता को अभूतपूर्व अवलम्बन मिला, जिससे वे सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके। रूढ़िवाद और धर्मान्धता के आग्रह में शिथिलता आई। अहिंसा का नाद सब जगह प्रतिध्वनित होने लगा। उनके सर्वोदय तीर्थ मे जन प्रवाह उमडा हुआ चला आया, उनकी शरण मे सभी जीव सुख पाते, लोग ऐसे अहिंसा के महारथी भगवान की जय बोले बिना नही रहते। उन्होने जनता की भलाई के लिए ही स्वय सुखपूर्वक जिओ और दूसरों को जीने दो की दुहाई दी।

१. एएउ सुसमसुसमादयोअद्धा विसेसाजुगादिणासह पवत्तति जुगंतेण सह समप्पंति। पादलिप्ताचार्य ज्यो० क० टी०

२. आषाढ पौर्णिमास्या तु युगनिष्पत्तिश्च श्रावणे।
प्रारम्भ; प्रतिपच्चन्द्र योगाभिजिदि कृष्णके॥
लोकविभाग ७,३६

३. आसाढ पुण्णमीएजुगणिप्पत्ती दु सावणे किण्हे।
अभिजिम्हिचंदजोगे पाडिवदिवसम्हि पारभो॥
त्रिलोकसार ४२१

सावण बहुलपडिवए बालवकरणे अभीइनक्खत्ते।
सव्वत्थ पढमसमये जुगस्स आइवियाणाहि॥
ज्योतिषकरण्डक ५५

वीर शासन की विशेषताएँ

भगवान महावीर का यह शासन सर्वोदय तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसमे संसार के समस्त जीवों के अभ्युदय—कल्याण—की बातो का समावेश है। इसमे जाति या धर्म सम्बन्धित संकीर्ण मनोवृत्तियों का सर्वथा अभाव है। इस शासन मे आकर सभी जीव अपना आत्महित करने मे समर्थ हो सकते है। उनकी सभा मे देव, मनुष्य, असुर, पशु, पक्षी आदि सभी जीवो ने बैठ कर धर्मामृत का पान किया था। इसमे किसी को कोई विरोध नही है कि जाति-विरोधी जीव भी वहां (समवसरण सभा मे) बैठ कर समभाव से रहते थे। उसका कारण भगवान महावीर की पूर्ण अहिंसा की प्रतिष्ठा थी। उन्होंने अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लिया था। जब आत्मा अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है—परमब्रह्म परमात्मा बन जाता है, तब उसमे कोई वैर विरोध नही रहता। जैसा कि पतजलि ऋषि के निम्न सूत्र से प्रकट है–'अहिंसा प्रतिष्ठायातत्सन्निधौ वैरत्यागः' (योग सूत्र)। इसीलिए उनको सभा मे बैठने वाले पशुओं मे जाति-विरोध भी समाप्त हो गया था। सभी जीव स्वाभाविक प्रणय या मैत्रीभाव को प्राप्त हो जाते है। इसी करण उनका तीर्थ सर्वोदय के नाम से प्रसिद्ध है।

सर्वोदय का अर्थ सब का उदय है, जिसे पाकर सभी जीव अपना अभ्युदय, कल्याण या विकास सिद्ध कर सके, वही सर्वोदय है। तीर्थ का अर्थ तिरने—पार होने—का उपाय या साधन है। जिसे पाकर जीव अपना हित

साधन कर सकें वही सर्वोदय तीर्थ है । सर्वोदय का सम्बन्ध किसी साम्प्रदाय विशेष से नही है । संकीर्ण मनोवृत्तियाँ ही विरोध को उत्पन्न करती है। क्योकि उनका दृष्टिकोंण सर्वथा एकान्त रूप होता है। और एकान्त ही मिथ्या दर्शन है। उनका उसमे अभाव है। इसी से सर्वोदय तीर्थ कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने इसे युक्त्यनुशासन मे सर्वोदय तीर्थ बतलाया है।

सर्वान्तवत्तद् गुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरंनिरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तदेव ॥

महावीर का सर्वोदय तीर्थ सामान्य विशेषादि अशेष धर्मो को लिए हुए है। और मुख्य-गौण की व्यवस्था से युक्त है। सर्वान्त शून्य है, सब धर्मो से शून्य है, उसमें किसी एक धर्म का अस्तित्व नही बन सकता। परस्पर निरपेक्ष नयों का निरसन करने वाला है। सब आपदाओ का अन्त करने वाला है। इसका आश्रय लेने वाले जीवो के सब दु:ख मिट जाते है और वे अपना अभ्युदय एवं उत्कर्ष सिद्ध करने में समर्थ हो जाते है।

भगवान महावीर ने जीवों के दुःखो की परम्परा मिटाने, दूषित एव सकीर्ण मनोवृत्तियो को औदार्य भावों से सरस बनाने का उपक्रम किया है। और सभी जीवों मे मैत्रीभाव (दु:खेष्वनुत्पत्ति अभिलाप: मैत्री) रखने का निर्देश किया।

१. शासनो मे होने वाले पारस्परिक विरोधो को दूर करने, दोषो को पचाने, विनष्ट करने और गुणो मे अनुराग रखने का सकेत किया है। यदि किसी जीव का किसी से विरोध हो जाता है और शत्रुभाव उत्पन्न हो जाता है तो उस विरोध को दूर करने के लिए अनेकान्त दृष्टि द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया जाय। अनेकान्त दृष्टि केवल विरोध को ही नही मिटाती। प्रत्युत उनमें सौहार्द और अभिनव मैत्री का सचार भी करती है।

२. भगवान महावीर ने बतलाया कि ससार के सभी जीव समान है और सुख चाहते है तथा दुख से डरते हैं। जैसे तुम्हे अपने प्राण प्यारे हैं उसी तरह सब जीवो को भी अपने प्राण प्यारे है। अत: उनके प्रति सम भाव रखते हुए उन पर दयाभाव रखना, उन्हे दु:ख और सक्लेश से बचाना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। अतः उन पर दयाभाव रखना ही श्रेयस्कर है।

३. विरोध का कारण मानसिक दौर्बल्य है, अथवा आर्थिक, राजनैतिक एव सामाजिक विषमता है। विरोध से शत्रुता वढती है। अनैक्यता और विद्वष को प्रोत्तेजन मिलता है। यही अशान्ति के कारण है। इनसे बचने हेतु उपाय करना बुद्धिमत्ता है। अनेकान्त दृष्टि से दोषो का शमन भले प्रकार हो जाता हे, मन से दुर्भाव निकल जाते है। अत. अनेकान्त दृष्टि का जीवन मे उपयोग करना जरूरी है।

४. जितने अर्थ से अपना प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, उतना ही रखना, शेष का सब के हितार्थ त्याग कर देना बुद्धिमत्ता है। वीर शासन मे परिग्रह को पाप बतलाया है। उससे बचने के लिए उसका परिमाण कर लेना, उससे अधिक की लालसा न करना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है। परिग्रह ही विषमता का प्रबल कारण है, इसके कारण मानव जघन्य से जघन्य पाप करने मे नहीं हिचकिचाता। महावीर ने इस गुरुतर पाप से छूटने का सहज उपाय उसका परिमाण करना या उसका सर्वथा त्याग कर देना बतलाया है।

५. कायरता घोर पाप है। कायर मनुष्य आत्म-घाती है। मानव की आन्तरिक कमजोरी ही कायरता मे सहायक है इसी कारण वह हिंसक है। जिन्होने इसका परित्याग किया और आत्म-साधना की वे सुखी हुए। जिसने कायरता को छोडकर वीरता को अपनाया वह निर्भय बना। वही अहिंसक कहलाया। सम्यग्दृष्टि चूंकि निर्भय होता है अतः वह अहिंसक है। महावीर ने स्वय आत्म-साधना कर जो उच्चादर्श प्राप्त किया है वह हमारे द्वारा आराध्य है।

जीव स्वय अपने अच्छे बुरे कर्मो का फल स्वय अकेला ही भोक्ता है। दूसरा कोई उसका सगा साथी नही होता।

इस तरह महावीर का शासन अनेक मौलिक विशेषताओं से भरा हुआ है। यदि हम उनके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों का अनेकान्त दृष्टि से पालन करे तो हमारा जीवन भी महावीर जैसा बन सकता है। और विश्व मे शान्ति और सद्भावना का विकास हो सकता है।

(वि० सं० १४६१)

ऊपर गांव का अप्रकाशित जैन लेख

श्री रामवल्लभ सोमानी

ऊपर गांव डूगरपुर से ३ मील दूर है। यहां एक भग्न दिगम्बर जिनालय में वि० स० १४६१ का अप्रकाशित जैन लेख है। इसमे ३६ पक्तियों का एक विस्तृत शिलालेख है। यह प्रशस्ति डूगरपुर राज्य के इतिहास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। अब तक वहा के इतिहास के लिए ज्ञात प्रशस्तियों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्रारम्भ की ८ पक्तियों मे तीर्थङ्करों की स्तुतिया है। पंक्ति सं० ८ में श्लोक स० ९ "राजपद्धति" नामक अश शुरू होता है। इसमें राजवश का विस्तार से उल्लेख है। श्लोक स० १० में बाप्पारावल का उल्लेख है। इसे गुहिल वश में उत्पन्न वर्णित किया है। मेवाड़ के मध्यकालीन शिलालेखो मे बाप्पारावल के सम्बन्ध मे विभिन्न-विभिन्न मत दिये है। वि० सं० १०२८ के नरवाहन[1] के शिलालेख में "**अस्मिन्नभूद गुहिलगोत्रनरेन्द्रचन्द्रः श्रीबप्पकः क्षितिपतिः क्षितिपीठरत्नम्**" पाठ दिया है किन्तु वि० स० १०३४ के आघाटपुर के शक्तिकुमार के लेख मे वशावली[2] मे बाप्पारावल का नाम ही नही दिया है। चित्तौड निवासी ब्राह्मण प्रियपटु के पुत्र वेदशर्मा ने महारावल समरसिंह के शासन काल मे बनाई,[3] वि० स० १३३१ की चित्तौड की प्रशस्ति एव वि० स० १३४२ की आबू की प्रशस्ति[4] मे बाप्पारावल को गुहिल का पिता लिख दिया है। जो गलत है। इसके विपरीत इस ऊपर गाव की प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से बाप्पा को गुहिलवशी लिखा है। बाप्पा के पुत्र का नाम इस प्रशस्ति मे खुम्माण दिया गया है जो महत्वपूर्ण है। स्वर्गीय पं० ओझाजी ने भी वा न भोज को बाप्पा मानकर इसके पुत्र का नाम खुम्माण[5] दिया है। कुंभलगढ़ के वि० सं० १५१७ के शिलालेख में शीलादित्य (वि० सं० ७०३) को बाप्पा[6] वर्णित किया है और इसको आधार मानकर डी० सी० सरकार प्रभृति विद्वानों ने शीलादित्य को ही बाप्पा माना है[7] किन्तु इस प्रशस्ति में बाप्पा के पुत्र का नाम स्पष्ट रूप से खुम्माण दिया हुआ है अतएव ओझाजी की मान्यता की इससे पुष्टि होती है।

श्लोक सं० १२ में बहुत ही महत्वपूर्ण सूचना दी गई है। इसमे बागड़ (डूंगरपुर) के वर्तमान शासकों के पूर्वज सीहड़ के सम्बन्ध मे सूचना दी गई है कि यह मेवाड के महारावल जैत्रसिंह का पुत्र था। सीहड़ के सबध मे विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ओझाजी की मान्यता है कि यह सामत सिह का वशज था जिसका बागड मे कुछ समय तक अधिकार रहा था।[8] डा० दशरथ शर्मा की भी यही मान्यता थी।[9] इसके विपरीत श्रीराय चौधरी इसे मेवाड का शासक जैत्रसिंह का पुत्र बतलाते है।[10] वस्तुतः सामन्तसिंह का बागड पर अधिकार केवल कुछ वर्षों तक (वि० स० १२३६ के आसपास) ही रहा था। उसे गुजरात के राजा को चैन से नहीं बैठने दिया। एव मेवाड की तरह उसे बागड से भी निष्कासित कर दिया। इसकी पुष्टि वि० स० १२४२ के अमृतपाल[11] के ताम्रपत्र से होती है। वि० स० १२५१ के बडौदा के हनुमान मूर्ति के लेख वि० स० १२६१ के रामा के शिवमंदिर के लेख मे अमृतपाल का शासक के रूप मे उल्लेख है। आट के शिवालय के वि०स० १२६५ के एक लेख में अमृतपाल के वंशज विजयपाल का शासक के रूप में उल्लेख है। ये लोग भतृपट्टवंशी शासक थे। डूगरपुर के शिलालेखों मे सीहड के पिता का नाम जयतसिंह ही दिया गया है। वि०स० १३०६ के जगत की अम्बिका[12] देवी के मन्दिर के एक शिलालेख मे इसका स्पष्टतः उल्लेख है किन्तु बाद के लेखों में वंशावलियो मे मतभेद है। वि० सं० १६१७ की महारावल आशकरण[13] की प्रशस्ति एवं वि० सं० १६७९

की गोवर्द्धन नाथ मदिर की प्रशस्ति में सीहड़ के पिता जयतसिह को उक्त सामंतसिह का पुत्र बतलाया गया है।[14] वस्तुत; सामंतसिह का राज्य केवल वि०सं० १२३६ के आसपास ही था। उसके बाद मेवाड़ मे उसका छोटा भाई कुमारसिह राजा बना था एवं बागड़ मे अमृतपाल आदि। अतएव सामन्तसिह के उत्तराधिकारियों के बागड में शासक होने के सम्बन्ध मे कोई निश्चित सूचना नही है। ऊपर गांव का यह लेख सबसे प्रथम ज्ञात लेख है जिसमें स्पष्ट रूप से सीहड़ को मेवाड के शासक जैत्र-सिह का वंशज लिखा गया है।[15] कुभलगढ प्रशस्ति से भी स्पष्ट है कि जैत्रसिह का अधिकार बागड पर था। वस्तुतः गुजरात के शासक भीमदेव चालुक्य II को मेवाड़ और बागड़ से निष्कासित करने मे इसने महत्वपूर्ण योग-दान दिया था। ओझाजी द्वारा दी गई वशावली मे ऊपर की उक्त सूचना के आधार पर वशावली मे निम्नाकित संशोधन किया जाना आवश्यक है :–

जैत्रसिह (मेवाड़ का शासक वि०स० १२७० से १३०८ वि०)

सीहड़ (१२७७ से १२९१ वि०)

तेजसिह (१३०७ से १३२४)

पृथ्वीदेव (खमनोर का विसं० १३०७ का शिलालेख)

इस ऊपर गांव के लेख मे सीहड़ के उत्तराधिकारी का नाम जैसल दिया गया है। ओझाजी के डूगरपुर राज्य के इतिहास मे इस राजा का नाम "विजयसिह" माना है। इनका लिखना है कि यद्यपि झाड़ोल के लेख में राजा का नाम जयसिह ही पढ़ा जाता है किन्तु मन्दिर का नाम "विजयनाथ"। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के नाम के साथ "वि" अक्षर छूट गया है किन्तु यह केवल कल्पना ही है। मुझे मूल शिलालेख की छाप देखने को भी मिली थी जिसमे "वयजनाथ" शब्द पढ़ा जाता है जिसका अर्थ वैद्यनाथ होता है। वि० सं० १३०८ के झाड़ोल के लेख मे भी राजा का नाम "जयसिह" दिया गया है। ऊपर गाँव की प्रस्तुत[16] प्रशस्ति मे इसे ही जैसल लिखा है अतएव यह नाम ही सही प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि चीरवा गाँव की वि० सं० १३३० की प्रशस्ति से भी होती है। इस लेख मे उल्लेखित है कि तलारक्ष मदन ने अर्थूणा के युद्ध में जैसल[17] के लिए जैत्रमल्ल से युद्ध किया। उस समय अर्थूणा बागड के शासक जैसल के अधिकार में ही था। ओझाजी ने इस लेख के जैसल को मेवाड के राजा जैत्रसिह से सम्बन्धित माना है जो पूर्णरूप से गलत है। इस प्रकार ऊपर गाव की प्रशस्ति की यह सूचना महत्वपूर्ण है।

श्लोक स० १६ और १७ मे बागड़ पर प्रबल शत्रुओं के आक्रमण का उल्लेख है। यह काल डूगर सिह और कर्म सिह नामक राजाओ से सम्बन्धित है। इन राजाओं के शासन काल का शिलालेख नही मिला है। केवल वि० सं० १४५३ का एक शिलालेख अजमेर सग्रहालय मे है जो "ड़ेसा" गाँव की बावड़ी का है जिसमे वर्णित है है कि गुहलोत वंशी राजा भुचंड के पौत्र और डूगर सिंह के पुत्र रावल कर्मसिह की भार्या माणिकदे ने उक्त बावड़ी बनवाई। इससे प्रतीत नही होता है कि उक्त सवत तक कर्मसिह जीवित था या नही। यह भीषण आक्रमण संभवतः अलाउद्दीन खिलजी अथवा गुजरात या मालवे के स्थानीय मुस्लिम शासकों का हो सकता है। विविध तीर्थ कल्प के सत्यपुर कल्प[18] मे लिखा है कि गुजरात आक्रमण के समय उसकी सेनाएँ बागढ़ प्रदेश मे होकर के गई थी। जयानन्द नामक[19] एक जैन साधु ने वि० सं० १४२७ मे "बागड़ प्रवास गीतिका" नामक एक रचना रची थी। उसमें डूंगरपुर नगरमे ५ जैन मदिर ९०० घर जैनियो के होना लिखा है। इसी प्रकार वड़ौद जो वहाँ की प्राचीन राजधानी थी कम घर होना लिखा है इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक राज-धानी बदली जा चुकी थी। राजधानी परिवर्तन का कारण भी कोई बाहरी आक्रमण ही रहा प्रतीत होता है। कर्मसिह का उत्तराधिकारी महीपाल हुआ। इस राजा के बारे मे केवल मात्र उल्लेख महारावल पाता की ऊपर गाव की इस प्रशस्ति मे ही है। ओझाजी ने कर्मसिह के बाद कन्हडदेव को ही शासक माना है। किन्तु ऊपर गाँव के इस शिलालेख के अनुसार[20] इसके एक पुत्र महीपाल

और था। (तत्पुत्रो निज नाम पालि [लि]त मही-पाल:...") "डेसा" गाँव की बावड़ी के वि० स० १५२० के लेख में कर्मसिंह के पुत्र जयसल का उल्लेख है। इस प्रकार वंशावली इस प्रकार होना चाहिए :-

- कर्मसिंह
  - महीपाल
  - जयमल
    - तेजा = मुक्तादे
      - बीका (१५२० वि.)
  - कन्हडदे
    - पाता (१४५६ से १४६८ वि०)
      - गेपाल (१४८६ से १४०४ वि.)

इसके बाद श्लोक सं० २१ से काष्ठा सघ के नन्दि-तटगच्छ के आचार्यों का उल्लेख है। गोपसेन नामक एक आचार्य से वंशावली दी गई है। इसमे दिये गये साधुओं के नाम इस प्रकार है—गर्गसेन, नागसेन, गोपसेन, रामसेन, यश.कीर्ति, कनकसेन, शुभङ्करसेन, अनन्तकीर्ति, मारसेन, केशवसेन, देवकीर्ति, नयकीर्ति, राजकीर्ति, पद्म-सेन, भावसेन एव रत्नकीर्ति। यह वर्णन श्लोक सं० २८ तक चलता है। एक श्लोक स० ६९ मे श्रेष्ठिवश का वर्णन दिया गया है। यह नरसिंहपुरा जाति का था। **ज्ञाति विशाला विमला प्रसिद्धा सप्ताधिके विंशतिभिश्च-गोत्रैः। श्रीनारसिंहोजिनधर्म निष्ठापुण्योगरिष्टा विहिता प्रतिष्ठा"** आदि वर्णित है। यह वर्णन श्लोक स० ३८ तक चलता है। जो श्रेष्ठि भाहड वश का वर्णन है।

सवत इस प्रकार है "सवत् १४६१ वर्षे वैशाख सुदि ५ पचम्याम् शुक्रवारे राउल प्रतापसिंह विजयराज्ये ऊपर गाम नाम्नि ग्रामे श्रीकाष्ठासघे नंदीतट गच्छे श्री रत्न-कीर्तिस्यादेशात् नारसिंह जातीय खरनहरगोत्रे..."आदि॥

महारावल गेपाल के समय जैनधर्म की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कई ग्रथ लिखे गये थे। उस समय यहाँ हुवडवशी श्रेष्ठियों ने विष्णु की मूर्तियाँ भी बनवाई थी जो धार्मिक सहिष्णुता की प्रतीक है। इनके शिलालेख मै अलग से प्रकाशित कर रहा हूँ। इस प्रकार यह प्रशस्ति महत्वपूर्ण है। ●

फुटनोट :—

१. जरनल बम्बई ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग XXII पृ० १६६
२. इडियन एंटिक्वेरी vol ३९ पृ० १९१
३. पीटरसन्—भावनगर इन्स्क्रि० पृ० ७४ से ७७
४. इंडियन एंटिक्वेरी vol XVI पृ० ३४७-५१
५. ओझा—उदयपुर राज्य का इतिहास पृ० १०२-१०४
६. कुंभलगढ़ प्रशस्ति श्लोक सं० १३९
७. डी०सी०सरकार—गुहिलोत्स आफ किष्किन्धा पृ.४८
८. ओझा—डूगरपुर राज्य का इतिहास
९. डा० दशरथ शर्मा—राजस्थान थ्रू दी एजज
१०. अरली हिस्ट्री आफ मेवाड पृ०——
११. इन लेखोके लिए "बागडमे गुहिल राज्यकी स्थापना" नामक मेरा लेख जो वरदा म एव ऐतिहासिक शोध-सग्रह नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुआ है दृष्टव्य है।
१२. ..."गुहिलवशे रा० जयतसिंह। पुत्र सीहड पौत्र जयतस्येष देवेन..." (अप्रकाशित लेख)
१३. "वशावली मे" सामंतसी रा० जीतसी रा० सीहड दे" दिया गया है।
१४. सामतसिंहोस्य विभुर्विजोन्ये (ज्ञे) ।५३) सजि (जी) तासिंह तनयं प्रपेदे य एव लोक सकल वियज्ञे "तस्य सिंहलदेवोभूत ..."
१५. जैत्रसिंहो जिगायेला सीहडेनाखिलामही।
राजन्वती वभूवाल सालङ्काराङ्गनेव या ॥१२॥
(ऊपर गाँव का लेख)
१६. उपरोक्त श्लोक स० १३
१७. य: श्रीजैसलकार्यभवदुत्थूणकरणागणे प्रहरन्।
पचलगुडिकेन सम प्रकटवलो जैत्रमल्लेन ॥२८॥
(चीरवे का लेख)
१८. "अह तेरसयछप्पन्नविक्कमवरिसे अल्लावदीण सुर-ताणस्स कणिट्ठो भाया खलूखान नामधिज्जो ढिल्ली पुराओ मंतिमाहव पेरिवो गुज्जरधर पट्ठिओ।—तओ हमीरजुवराओ वग्गडदुस मुहडासयाइं नयराणि य भजिय आसावल्लीए पत्तो "(विविधतीर्थकल्प) पृ.९५
१९. महारावल लक्ष्मणसिंह के राजत्वकाल के रजतजयती अक मे श्री अगरचन्द नाहटा का लेख।
२०. ऊपर गाँव की प्रशस्ति श्लोक सख्या १८

मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्व

अगरचन्द नाहटा

जैन पुरातत्व भारत के कोने मे कोने में बिखरा पड़ा है। क्योंकि जैनधर्म का प्रचार भारत के प्राय: सभी प्रदेशों मे न्यूनाधिक रूप में होता रहा है। प्रारम्भ में इसका प्रचार बंगाल, बिहार की ओर अधिक था, फिर महान दुर्भिक्ष ओर राजनैतिक उथल-पुथल के कारण जैन श्रमणों ने इधर मथुरा ओर उधर दक्षिण भारत को धर्म प्रचार का केन्द्र बनाया। क्रमश: राजस्थान ओर गुजरात में तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार बड़ा ओर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र एवं दक्षिण की ओर दिगम्बर सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव दिखायी देने लगता है।

जैन धर्म को पहले तो राजाओ ने भी अपनाया था। जैन साधु-साध्वि पैदल विहार करते हुए तीर्थ यात्रा ओर धर्म प्रचार के लिए भारत के सभी प्रदेशो मे विचरने लगे उनके उपदेशों से वैश्य समाज विशेष प्रभावित हुआ। व्यापारी समाज अपनी आजीविका ओर व्यापारादि प्रसंगों से भारत के सभी प्रदेशों में फैला हुआ है जिसमे जैन समाज का भी प्राधान्य रहा है। जैन व्यापारी जहाँ-जहाँ गये अपनी मिलन सारिता, सद्व्यवहार, नीति-निपुणता ओर श्रमशीलता के कारण अधिक सफल हुए ओर उन्होने जो प्रचुर धनोपार्जन किया उसका एक अश जैन मुनियों के उपदेशों से प्रभावित होकर मन्दिरों एव मूर्तियों आदि के निर्माण एवं प्रतिष्ठादि मे खर्च किया। फलत: जैन मन्दिर ओर मूर्तियाँ भारत के प्राय: सभी प्रदेशों मे पायी जाती है।

मुसलमानी-साम्राज्य के समय अन्य हिन्दू मन्दिर ओर मूर्तियों की तरह जैन मन्दिर ओर मूर्तियों को भी काफी नुकसान पहुँचा, बहुत से मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गए ओर मूर्तियाँ तोड़ दी गयीं। कई जैन मंदिरों को मस्जिद का रूप दे दिया गया ओर कई जैनेतरों ने हथिया कर उनमें शिवलिंग एवं विष्णु आदि की मूर्तियाँ स्थापित कर दी। मुसलमानों के आक्रमण के भय से स्वयं जैन समाज ने भी बहुत सी मूर्तियों को भूमिस्थ कर दिया था मन्दिरों के गर्भ गृह में (गुम्भारे) मे इस तरह छिपा कर रख दीं, जिससे मुसलमान उन्हें नष्ट नही कर सके। कई ग्राम नगर उजाड से हो गये, पुराने मदिर व मकान दब गये उनके ऊपर धूलि आदि इतने परिमाण मे छा गयी कि वे टीले से बन गए। इस तरह प्राचीन जैन पुरातत्व मुसलमानी साम्राज्य के समय ओर उससे पहले प्राकृतिक कारणों से टीलों के नीचे काफी दब गया या नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

अंग्रेजी शासन के समय भारत की प्राचीन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, कला की खोज प्रारम्भ हुई। उन्होंने बहुत से प्राचीन स्थानों की खुदाई की व करवाई जिससे प्राचीनतम सभ्यता ओर कला के अवशेष प्रकाश में आये ओर यह क्रम आज भी भारत सरकार की ओर से चालू है। भारत के पुरातत्व विभाग ने अनेक स्थानों की खुदाई की है ओर इधर-उधर बिखरे हुए पुरातत्व को म्यूजियम या संग्रहालय में संग्रह किया है। अनेक स्थानों के पुरातत्व की खोज करके उनने बहुत सी रिपोर्टें प्रकाशित की है। बहुत वर्ष पहले ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने ऐसी रिपोर्टों के आधार से अलग-अलग प्रान्तों के जैन पुरातत्व या स्मारकों सम्बन्धी ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर प्रकाशित करवाये थे पर उसके बाद जैन पुरातत्व का ऐसा सर्वेक्षण प्राय: नही हुआ, जिसकी बहुत ही आवश्यकता है। जैन समाज चाहे तो भारत के पुरातत्व विभाग के विद्वानों से एक-एक प्रदेश के जैन पुरातत्व सम्बन्धी निबन्ध लिखवा कर उन्हें एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करवा सकता है। अपनी प्राचीन कला ओर इतिहास की जानकारी के लिए यह कार्य किसी जैन संस्था को शीघ्र एवं अवश्य हाथ में लेना चाहिए।

अभी-अभी मध्य प्रदेश शासन ने 'पुरातत्व सप्ताह'

मनाया है, इस प्रसंग पर ग्वालियर से प्रकाशित **मध्य प्रदेश संदेश** का 'पुरातत्व अंक' प्रकाशित हुआ है जिसमे मध्य प्रदेश के अनेक स्थानों के जैन पुरातत्व का भी संक्षिप्त उल्लेख हुआ है। पुरातत्व अक में करीब पैंतीस (३५) स्थानों का विवरण छपा है जिनमें से 'सोनागिर' दिगम्बर जैनतीर्थ का विवरण श्री हरिमोहन लाल श्रीवास्तव ने दिया है। वह तो जैन पत्रों मे ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा सकता है। अन्य स्थानो के विवरण में प्रसंगवश जैन मन्दिर व मूर्तियो का उल्लेख हुआ है जिनका आवश्यक अंश इस लेख मे प्रकाशित कर रहा हूँ जिससे जैन समाज को मध्य प्रदेश मे फैले हुए जैन पुरातत्व की कुछ जानकारी मिल सके और विद्वद्गण विशेष खोज के लिए प्रेरणा प्राप्त करे।

प्रस्तुत पुरातत्व अंक मे कुछ जैन मन्दिर और मूर्तियो के चित्र भी छपे है। गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक के जैन मन्दिर और मूर्तियों का जो विवरण इस अंक मे छपा है उसमें कुछ स्थान तो प्रसिद्ध है पर कुछ ऐसे भी है जिनके सम्बन्ध में जैन समाज को प्रायः जानकारी नही हैं। उज्जैन में जो जैन संग्रहालय श्री सत्यधर सेठी आदि के प्रयत्न से जैन मन्दिर से संलग्न रूप मे स्थापित है उसकी भी जैन मूर्तियों आदि का विवरण इस 'पुरातत्व अक' में प्रकाशित किया जाता तो अच्छा होता। अब इस अक की जैन सम्बन्धी जानकारी नीचे दी जा रही है—

(१) **ग्वालियर**—उरवाई द्वार के दोनो ओर ढाल पर अनेक छोटी-बडी जैन मूर्तियाँ बनी हुई है। इसी प्रकार किले की चट्टानों पर कई मूर्तियाँ जहां तहाँ उत्कीर्ण हैं। पत्थर की ये जैन तीर्थंकरों की मूर्तिया उत्तर भारत की विशालतम मूर्तियो में से हैं। लक्ष्मण द्वार से उतरे हुए ढाल पर बायी ओर बनी सबसे बड़ी मूर्ति तो १७ मीटर ऊची है।

(२) **सुहानिया**—अनेक जैन मूर्तियों के अतिरिक्त आसपास के क्षेत्र में प्राप्त अनेक अवशेष (चैतनाथ) यहीं के मन्दिर में एकत्रित हैं।

(३) **पढावली**—ग्राम के पश्चिम मे जैन मन्दिर के अवशेष हैं। जिनकी मूर्तियों का शिल्प उच्चकोटि का है। ग्राम के आस-पास के क्षेत्र में भी जैन मूर्तियाँ पड़ी दिखाई देती हैं।

(४) **तिराही**—जैन चोमुखी की सुन्दर मूर्ति दृष्टि-गोचर होती है। यह वास्तुकला का अनूठा नमूना है।

(५) **इन्दार-महुआ**—जैन तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित है इन मूर्तियो का शिल्प, दर्शक को मन्त्र-मुग्ध कर देता है।

(६) **चन्देरी**—अनेक जैन मूर्तियां यहाँ तथा बूढी चन्देरी मे ध्वस्तावस्था मे है।

(७) **खजुराहो**—घटई मन्दिर—यह खजुराहो के दक्षिण मे बना हुआ है। यद्यपि यह मन्दिर भग्नावस्था मे है, तो भी शिल्पकारों की कला प्रवीणता की गौरवमयी कहानी को धीरे-धीरे कहता हुआ लगता है। इसके प्रवेश द्वार पर आठ भुजाओं वाली जैन देवी की मूर्ति गरुड पर विराजमान होकर द्वार की शोभा को द्विगुणित कर रही है। मदिर के तोरण के ऊपरी भाग मे जैन प्रवर्तक तीर्थकर महावीर की माता के सोलह स्वप्नो का सजीव अकन हो रहा है।

पार्श्वनाथ मन्दिर—खजुराहो का विशाल तथा सुन्दरतम मन्दिर है। इसके भीतरी भाग मे बना सुन्दर सिंहासन है। इसके अगले भाग मे वृषभ की प्रतिमा का अकन किया गया है। इसमे पार्श्वनाथ की आधुनिक प्रतिमा की स्थापना १८६० मे की गयी थी। इस मन्दिर के गर्भ-गृह के बाहरी दीवारो पर शिल्प कला के द्वारा बालक बालिका शृंगारित सुन्दरी आदि के अनोखे रूपांकन हैं। आदिनाथ मन्दिर, पार्श्वनाथ मन्दिर के पास ही उत्तर में छोटी सी आकृति मे विनिर्मित है।

(८) **बड़ोह पठारी**—जैन मन्दिर—एक अहाते में लग-भग २५ जैन मूर्तियां विराजमान हैं, मध्य में एक ऊंची वेदी है। कुछ मूर्तियाँ शिखरो से सुशोभित है, कुछ गुम्बदों से अलंकृत है और कुछ के ऊपर समतल छत है।

बडोह के भव्य जैन मन्दिर और वहाँ की एक प्राचीन जैन प्रतिमा का ब्लाक 'मध्यप्रदेश संदेश' के ता० २० जून के अंक में अभी छपा है।

(९) **ग्यारसपुर**—वज्रमठ—यह छोटा-सा अनुपम मन्दिर है जिसमें तीन छोटे-छोटे मन्दिर एक ही बरामदे में हैं। आज इनमें जैन मूर्तियां है जिसकी स्थापना बाद

में की गई स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

दि० २० जून के अक मे लिखा है कि विदिशा जिले के ग्यारसपुर ग्राम मे स्थित माला देवी मन्दिर प्रतिहार स्थापत्य कला का सबसे परिपक्व दृष्टान्त है। इसमे गर्भ-गृह, अन्तराल मण्डप तथा अर्थ मण्डप है। गर्भ-गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। इसका शिखर पंचरथ है तथा उसके चारो ओर आठ अन्य लघु शिखर है। मण्डप तथा गर्भ-गृह दोनो के बीच मे पचशाखाये है। गर्भ-गृह द्वार का ललाट (lintel) स्थानक जैन प्रतिमाओ से अलकृत है। मण्डप द्वार के ललाट पर प्रदर्शित गरुड़ारुढा यक्षी चक्रेश्वरी इसके जैन मन्दिर होने की सूचना देती है। यह मन्दिर आशिक रूप से सरचनात्मक तथा आशिक रूप से शिला मे काटा हुआ है।

(१०) **उदयगिरि गुफायें**—इनमे जैन मूर्तिया भी है।

(११) **भोजपुर**—जैन मन्दिर तथा गाँव से तीन मील दूर विद्यमान जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ की मूर्ति के लिए भी प्रसिद्ध है। शिव मन्दिर के पूर्व मे जो जैन मन्दिर है वह भोज के समय का ही है ऐसा राज मन्दिर के शिलालेख से प्रतीत होता है। शान्तिनाथ की मूर्ति आशापुरी नामक गाँव मे है।

(१२) **ऊन**—जैन मन्दिरो मे सबसे प्रसिद्ध चौबारा-डेरा नाम का दूसरा मन्दिर है। इसको कला लगभग वैसी ही है जैसी इस नाम के पहले मन्दिर की है। सड़क के पार और निकट ही दूसरा मन्दिर है जिसका नाम है ग्वालेश्वर मन्दिर।

(१३) **मुक्तागिरि**—के मन्दिर—बैतूल जिले मे मुक्तागिरि स्थान जैन सम्प्रदाय के लोगों के लिए मुख्य है। यहाँ ५२ मन्दिर है जिनमे से अधिकाश आधुनिक जैन स्थापत्य-कला के नमूने है। एक मन्दिर चट्टान मे है जो एक वन-घाटी मे चट्टानों पर बने हैं। यहाँ एक सुन्दर प्रपात ऊँचाई से गिरता है।

(१४) **नरवर**—अनेक जैन मूर्तियाँ टूटी पड़ी है जिन पर चौदहवीं शताब्दी के अनेक वर्ष खुदे हुए पड़े हैं।

(१५) **अजयगढ़—सड़क** के ठीक दूसरी ओर तलाब के समीप ही जैन तीर्थंकर की तीन विशाल मूर्तियां हैं जो कला का अनुपम उदाहरण है।

(१६) **आरङ्ग**—जिला रायपुर में आरङ्ग में स्थिति भग्न जैन मन्दिर जिसे भाण्ड देवल कहा जाता है, भूमिज शैली के मध्यप्रदेश मे विद्यमान अनेक उदाहरण है।

अभी सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग में अधिकारी विद्वान श्रीकृष्णदत्त जी वाजपेयी हैं जो पहले मथुरा म्यूजियम के क्यूरिटर थे जहा कंकाली टीले से प्राप्त जैन पुरातत्व से उन्हें बड़ा प्रेम रहा है। उन्होंने जैन पुरातत्व सम्बन्धी अनेकों लेख लिखे है अतः उनसे उत्तर और मध्य प्रदेश की जैन पुरातत्व सम्बन्धी एक सचित्र ग्रन्थ तैयार करवा के प्रकाशित किया जाना आवश्यक है।

मध्यप्रदेश के श्री नीरज जैन आदि कई बन्धुओं का भी पुरातत्व से गहरा प्रेम और अच्छा अध्ययन है। उनसे भी एक ग्रन्थ लिखवाया जाय, भगवान महावीर की २५वी जयन्ती की चर्चा काफी चल रही है पर इन ठोंस कार्यों की ओर किसी का अभी तक ध्यान नही गया मैने भारत जैन महामण्डल के सुयोग्य कार्यकर्ता श्री ऋषभदास जी राका को अनेकों बार लिखा कि २५ सौवी जयन्ती के उपलक्ष में जो साहित्य प्रकाशनार्थ तैयार हो रहा है उसमे एक ग्रन्थ 'जैन कला' के सम्बन्ध में भी अवश्य प्रकाशित हो। जैन मन्दिर, मूर्ति चित्रकला आदि के कला पूर्ण चित्रों का एक एलबम भी अवश्य प्रकाशित किया जाय। वास्तव मे जैन कला बहुत उच्च स्तर की रही है। भारतीय कला में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे पूर्वजों ने लाखों करोडों रुपये उन कलाओं के उन्ननयन में खर्च किया है। सर्वाधिक लोगों को आकर्षित करने का माध्यम कला ही है। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी सुन्दर मन्दिर, मूर्ति और चित्रों को देख कर आकर्षित होते हैं। जैन कला की भव्यता का दर्शन करके जनसाधारण और बड़े-बड़े विदेशी विद्वान जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुए हैं।

जैन पुरातत्व से जेनधर्म की प्रचीनता सिद्ध होने के साथ-साथ जैन साहित्य का महत्व भी विद्वानों के समक्ष आया है। जैन इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण बातें जैन पुरातत्व से ही प्रकाश मे आ सकीं। अत: उसकी खोज सग्रह एवं प्रकाशन का कार्य जोरों से किया जाना आवश्यक है। ●

वीर-शासन जयन्ती

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा दिनांक १६ जुलाई १६७० वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज के तत्वावधान मे श्री दि० जैन लाल मन्दिर चांदनी चौक दिल्ली मे वीर शासन जयन्ती समारोह का आयोजन किया गया। उत्सव की अध्यक्षता दिल्ली विश्व विद्यालय के बौद्ध अध्ययन विभाग के अध्यक्ष डा० रामचन्द्र पाण्डे ने की।

सभा का आरम्भ जैन वाल आश्रम के छात्रों तथा जैन महिलाश्रम की छात्राओं के धार्मिक भजनों तथा गायनों से हुआ।

सर्व प्रथम पं० परमानन्द शास्त्री ने वीर शासन जयन्ती के महत्त्व और उसके इतिहास पर प्रकाश डालते हुए कहा कि सर्व प्रथम आचार्य जुगल किशोर जी मुख्तार ने वीरशासनजयन्ती मनाने की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। तिलोय पण्णत्ती और धवला मे इस वात के सन्दर्भ मिलते है कि सावन कृष्णा प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के समय अभिजित नक्षत्र में प्रथम वाणी खिरी थी— महावीर के सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन हुआ था।

वीर-सेवा-मन्दिर के मंत्री श्री प्रेमचन्द्र जैन ने कहा कि वीर-सेवा-मन्दिर के लिए यह हर्ष और गौरव की बात है कि उसके संस्थापक आचार्य जुगल किशोर मुख्तार ने वीरशासनजयन्ती की शुरूआत की, जिसे हम प्रति वर्ष मनाते आ रहे हैं। इस वर्ष यह महोत्सव सर्व साधारण के हितार्थ दि० जैन लाल मन्दिर मे मनाया गया, उपस्थिति सन्तोष-जनक थी।

ब्र० प० हुकमचन्द जी सलावा ने भगवान महावीर के सिद्धान्तो का विवेचन करते हुए कहा कि आज के युग में उनकी नितान्त आवश्यकता है। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य कार श्री यशपाल जैन ने आज के युग के सन्दर्भ में महावीर के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए बतलाया कि हम सब नेक और एक बने।

भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द जैन ने तीर्थ, तीर्थकर और शासन की व्याख्या करते हुए बतलाया कि वीर शासन जयन्ती की उपयोगिता तभी है जब हम भगवान महावीर के उपदेशो को अमल मे लाये। प० बाबू लाल जी कलकत्ता, प० प्रकाश हितैषी भारिल्ल, तथा ला० प्रेमचन्द जैनावाच वालों ने भगवान महावीर के सिद्धान्त अहिंसा, अनेकान्त तथा अपरिग्रह को अमल में लाने पर बल दिया।

डा० गोकुल चन्द जैन ने अपने भाषण मे बतलाया कि भगवान महावीर के चिन्तन और सिद्धान्तो की व्याख्या धर्म और दर्शन के दायरे से हटकर विश्व चिन्तन के सन्दर्भ में आनी चाहिए, अब तक प्राय: उनके सिद्धान्तो की व्याख्या धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों से की गई है आवश्यकता इस बात की है कि आज के युग के परिवेश मे उनके उपदेशों का मूल्यांकन समाज शास्त्र और लोक-कल्याण की दृष्टि से किया जाय। अध्यक्ष-पद से बोलते हुए डा० रामचन्द पाण्डे ने कहा कि भगवान महावीर और उनके सिद्धान्तों के वारे मे विद्वानों ने जो कुछ कहा है वह निश्चय ही तथ्यपूर्ण है। इसलिए हमें उन्हें अपने जीवन मे उतारने का यत्न करना चाहिए।

अन्त में वीरसेवामन्दिर के उपाध्यक्ष ला० श्याम लाल जैन ने अध्यक्ष, विद्वानों एव उपस्थित समस्त श्रोताओं को धन्यवाद दिया और महावीर की जय के साथ महोत्सव समाप्त किया।

प्रेमचन्द जैन
मंत्री, वीर सेवा मन्दिर

भगत प्यारेलाल जी का समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास

पूज्य बाल ब्रह्मचारी भगत प्यारेलाल जी महाराज का समाधिमरण ज्येष्ठ सुदी ७ से चालू हुआ ५ तोला गर्म जल से। ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रवार को दिन के एक बजकर पचास मिनट पर बड़े होश-हवास में मरण हुआ। अन्त में जयपुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल पं० गुलाबचन्द जी पहुंच गये थे। उन्होंने खूब धर्म सुनाया तथा अग्नि संस्कार भी कराया। उनके आनेसे समाधि शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुई।

भगतजी को ९ दिन तक १००/१३५ दस्त होते रहे। आपकी सेवा के लिए ईसरी से ब्र० आत्मारामजी भी आये थे। तथा बा० रूपचन्द जी तथा ब्र० चमेलीबाई जी ने बहुत ही सेवा की। भगत जी को तीव्र वेदना थी : किन्तु उन्होंने परवाह न की। उनका समाधिमरण बड़े आनन्द से हुआ। प्रतिदिन पड़े-पड़े सामायिक पाठ सुनते थे। शक्ति क्षीण हो गई थी पर उत्साह पूर्ण था। आपका त्याग प्रशंसनीय था, धैर्यशक्ति भी थी। उफ नहीं करते थे।

भगत जी का जन्म राजा खेडा के पास दिप्पी गांव में श्री नाथूराम जी जैन के घर मगशिर सुदी ४ सम्वत् १९४१ में हुआ था। आप ईस्वी सन् १९४१ में आज से ५६ वर्ष पहले कलकत्ता आये थे। पाठशाला में तो नहीं पढ़े थे। पर उस समय पं० गजाधरलालजी आदि से कुछ पढ़ लिया करते थे। इस तरह संस्कृत और प्राकृत भाषा का अर्थ करना सीख गये थे। गोम्मटसार की अङ्क संदृष्टि आप चार-पांच जनों को १९३९ में पढाया करते थे। मुनि श्रुतसागर जी महाराज ब्र० सुरेन्द्रनाथ जी आदि सब उनसे पढ़े हैं।

जब आप कलकत्ता आये तो स्व० बाबू छोटेलाल जी के बड़े भाई स्व० दीनानाथ जी तथा सेठ बलदेवदास जी से पूजन करते समय परिचय हुआ। स्वभाव से सादा जीवन तथा स्वाध्याय प्रेमी होने से दीनानाथ जी आपका भगतजी महाराज कहते थे। शुरू में १९१७ तक तीन वर्ष आपने कपड़े की फेरी की थी। वह छुडा दी गई और आप सामाजिक, पूजन तथा स्वाध्याय में समय बिताने लगे। स्व० दीनानाथ जी का परिवार आपको देवता की तरह मानता था। बड़े बूढे, स्त्री, बच्चे सभी पर आपका प्रभाव था। सेठ दयाचन्द जी, सेठ विरधीचन्द जी, सेठ बैजनाथ जी, सेठ हुकुमचन्द्र जी इन्दौर, सेठ भागचन्द जी इन्दौर, सेठ रतनलाल जी रांची, जगन्नाथ जी कोठरिया तथा हजारीबाग, गया, गिरीडीह, जियागज, आसाम, राजस्थान आदि के भाइयों पर आपका बड़ा प्रभाव था। चारित्र के आप ज्यादा पक्षपाती थें।

आप उदासीन आश्रम इन्दौर तथा ईसरी के अधिष्ठाता थे, पीछे पद त्याग कर दिये थे। फिर भी दोनों आश्रमों में आपकी सम्मति मानी जाती थी। आपने अपने खर्च के लिए किसी से पैसा नहीं लिया। आपने ४५ वर्ष पहले राजाखेड़ा में एक साधारण पाठशाला खोली था। वह आज एक विद्यालय के रूप में है। उसमें ३०० बालक और १०० कन्याएं पढ़ती हैं। पं० नन्हेंलाल जी वर्षों से प्रधानाध्यापक के रूप में उसका संचालन करते हैं। भगतजी पं० जी को बहुत मानते थे और बडा स्नेह करते थे। वर्तमान में विद्यालय का फण्ड २६००००) है और डेढ लाख के मकानात हैं। इसकी ट्रष्ट कमेटी के संरक्षक भगतजी थे। सभापति घमचन्द जी हैं, शान्तिलाल मंत्री हैं, और सदस्य नन्दलालजी, जुगमन्दिरदास जी, रूपचन्दजी, श्यामलाल जी, हुमकचन्द जी तथा सावित्रीबाई जी हैं।

नन्दलाल सरावगी
कलकत्ता

अखिल भारतीय जैन जनगणना समिति

आवश्यक-पत्र

मान्यवर, सादर जयजिनेन्द्र !

जैसा कि आपको विदित ही है कि देश की जनगणना फरवरी १९७१ में हो रही है। भारत में जैनियों की संख्या एक करोड़ से कम नहीं है, किन्तु पिछली जनगणना में केवल २० लाख आयी है। इस सम्बन्ध में आपकी सेवा में पत्र आदि भेजे गये हैं, जिससे आपको "अखिल भारतीय जैन जनगणना समिति" की गतिविधियों की जानकारी मिली होगी।

आप जानते ही है कि यह एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है। आज जिस समाज की शक्ति संगठित है उसकी बात का महत्व है। जैन समाज में अनेकों जाति, गोत्र, सम्प्रदाय है। जिन्हें हम अधिकतर अपने नाम के साथ लिखते हैं। जनगणना में उपजाति लिखाने के कारण समाज को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है।

आगामी होने वाली जनगणना मे जैन समाज को भूल सुधार कर अपने साथ जैन बताना एवं धर्म के कालम न० १० में जैन लिखाना आवश्यक है। तभी इस महान कार्य मे सफलता प्राप्त हो सकती है। आप यह भी जानते हैं कि यह कार्य किसी एक सम्प्रदाय या संस्था का नही, प्रत्येक जैन का है। जैन समाज भारत के कोने-कोने मे रहती है और हम उपरोक्त जानकारी प्रत्येक घर-घर मे पहुचाना है।

इस कार्य हेतु देशव्यापी प्रचार हो रहा है, प्रान्तीय व क्षेत्रीय समितियो का गठन कर इसके व्यापक प्रसार का प्रयास प्रारम्भ है। कई प्रान्तो व क्षेत्रों की समितियों का गठन हो चुका है। जिनका कार्य सुचारु रूप से चलना प्रारम्भ हो गया है। अन्य स्थानों पर भी समितियां गठित हो रही हैं जो अपना कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ करेंगी। जनगणना समिति के अधिकारी देश का भ्रमण कर समितियों के गठन कराने के प्रयास में लगे हुए हैं।

३-४ अक्तूबर १९७० शनिवार, रविवार को दिल्ली में अ० भा० जैन जनगणना समिति के अन्तर्गत जैन सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है, जिसमें प्रत्येक प्रान्तों से जैन जनगणना समिति के प्रतिनिधियों एवं सभी सम्प्रदायों के कार्यकर्ताओं को आमन्त्रित किया जायेगा। जिसमें केन्द्रीय समिति का पूर्ण गठन तथा जनगणना के कार्य को व्यापक रूप से चलाने के लिए योजनाओं पर विचार-विमर्श होगा। आप समाज के एक स्तम्भ हैं। आपका सहयोग समाज के प्रत्येक कार्य में मिलता रहा है। हमें आशा है कि आपने इस महान कार्य में भी अपना योगदान दिया होगा जिसके लिए समिति आपकी आभारी है। यदि किसी कारणवश आप अपने बहुमूल्य व्यस्त जीवन में से इस महान कार्य के लिए समय न भी निकाल सके हों तो आपसे निवेदन है कि आप अपने क्षेत्र व अन्य क्षेत्रों में जहां-जहां आपका योग अनिवार्य हो वहां समय अवश्य दें। क्षेत्रीय समितियों का गठन करायें तथा महिला समाज, स्वयंसेवक एवं अन्य कार्यकर्ताओं को तैयार करें कि वह अग्रसर होकर इस सन्देश को अपने हाथों में लेकर घर-घर, गांव-गांव पहुँचे। इस सम्बन्ध में जो-जो कार्य करने हैं उसका विवरण निम्नलिखित है, इसके अतिरिक्त अन्य जानकारी आप उपरोक्त पते पर प्राप्त कर सकते हैं। ३-४ अक्तूबर को होने वाले सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए अन्य कार्यों से बचा कर रखें।

१—प्रत्येक जैन अपने को केवल "जैन" ही लिखायें अन्य कोई जाति, गोत्र, सम्प्रदाय न लिखायें।

२—जनगणना के लिए सरकार द्वारा भेजे गये अधिकारी धर्म के कालम में केवल "जैन" लिखें अन्य किसी प्रकार का कोई सम्प्रदाय, गोत्र, जाति आदि चिन्हों को नहीं लिखें इसका घर-घर, गांव-गांव में व्यापक प्रचार करना।

३—जनगणना के समय गांव-गांव, मोहल्ले-मोहल्ले के कार्यकर्ता सरकारी कर्मचारियो के साथ जाकर ठीक-ठीक लिखाने का प्रयत्न करना।

४—प्रत्येक उत्सवों, सभाओं तथा मेलों आदि अवसरों पर इसके लिए व्यापक प्रचार करना।

५—आचार्य, मुनिगण साधु-साध्वी, महाराजाओं से अनुरोध करना है कि वे अपने प्रवचनों एव उनके दर्शनार्थ आये श्रावकों को प्रेरणा देवे कि प्रत्येक जैन, इस महान कार्य में योग दे तथा केवल जैन ही लिखायें।

६—प्रत्येक मन्दिर, उपाश्रय एव अन्य स्थान जहां बहिन-भाई आते है, उन स्थानों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगाकर उपरोक्त जानकारी देना।

७—स्वयंसेवक संस्थाएँ, नवयुवक-वर्ग तथा महिला समाज से सक्रिय सहयोग का अनुरोध करना।

८—जैन पत्रों में व्यापक प्रचार करना।

९—जैन पत्रों के सम्पादकों, विद्वानों से अनुरोध करना कि वह अपने लेखों, भाषणो द्वारा इसका व्यापक प्रचार करें।

१०—अन्य संस्थाओं से इस कार्य में सहयोग लेने का प्रयत्न करना।

प्रार्थी :—

शीतलप्रसाद जैन, अध्यक्ष

सुकुमारचन्द जैन, महामन्त्री

प्रत्येक स्थान की जैन समाज से अपील

अ० भा० जैन जनगणना समिति पिछले एक वर्ष से जनगणना के समय जैन जगत के बच्चे-बच्चे को क्या करना है इसके व्यापक प्रचार में लगी हुई है। कई बार हजारों स्थानों पर बड़े-बड़े पोस्टर भेज कर, समस्त जैन पत्रों में लगातार प्रचार सामग्री प्रकाशित कराकर, बड़े-बड़े महोत्सवों पर प्रचार सामग्री एव अपने कार्यकर्ताओं के द्वारा प्रचार कराकर समिति के पदाधिकारी स्थान-स्थान पर भ्रमण कर समितियों का गठन कर इस कार्य में जुटे हुए है। यही कारण है कि आज समाज का बच्चा-अपने कर्तव्य के प्रति सजग है कि आगामी जैन जनगणना के समय हमें क्या करना है। इस कार्य की सर्वत्र व्यापक रूप से चर्चा है। समिति को जैन समाज की सभी सम्प्रदायों तथा संस्थाओं का पूरा सहयोग प्राप्त है।

जैसा कि समिति बराबर कह रही है कि यह कार्य महान है हमें यह सन्देश गांव-गांव, घर-घर, बच्चे-बच्चे तक पहुँचाना है। इसमें समाज को तभी सफलता मिलेगी जब समस्त स्थानीय समाजें अपना उत्तरदायित्व समझकर इस कार्य में जुट जावेगी व अपने आसपास के प्रत्येक गांव में बसने वाली जैन समाज तक यह सन्देश पहुँचाना है कि हमें जनगणना में अपने को केवल "जैन" ही लिखाना है। अन्य कुछ नहीं। साथ में यह भी निवेदन करते हैं कि आपके यहां बनी जैन जनगणना समिति को हर प्रकार का योग देवें। जिन-जिन स्थानों पर समितियाँ गठित नहीं हुई है वहाँ समितियों का गठन कराकर कार्य प्रारम्भ करायें और केन्द्रीय समिति के कार्यालय २०४ दरीबा कलां, दिल्ली को सूचित करें जिससे कि केन्द्रीय कार्यालय उन्हें प्रचार सामग्री आदि भेजता रहे।

१५ जुलाई से चौमासा प्रारम्भ हो रहा है। हमारी समस्त जैन समाज के आचार्य, मुनिगण तथा अन्य त्यागी महाराज चार महीने एक ही नगर में रहेंगे। यह एक बड़ा सुन्दर अवसर है कि प्रत्येक स्थानीय समाज जिन स्थानों पर आचार्य, मुनिराज व त्यागियों के चौमासे हो रहे हैं, प्रत्येक प्रवचन के अवसर पर, विशेष कार्यक्रमों पर इस सम्बन्ध में व्यापक प्रचार करें एव आचार्य मह.-राजो, मुनिराजों तथा त्यागी महाराजों से भी इस महान कार्य के लिए समाज को अपने कर्तव्य-बोध के प्रति जागरूक करायें।

प्रार्थी—

भगतराम जैन

मन्त्री, अ० भा० जैन जनगणना समिति

साहित्य-समीक्षा

१. जैन शोध और समीक्षा—डा० प्रेमसागर जैन एम. ए. पी-एच. डी. बड़ौत, प्रकाशक ज्ञानचन्द बिन्दूका, मंत्री श्री दि० अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर। पृ० २३६, मूल्य सजिल्द प्रति का १०) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक मे १० निबन्ध दिये गये है। जो विभिन्न समयों मे लिखे गये है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. भगवान महावीर और उनके समकालीन साधक, २. जैन समाधि और समाधिमरण, ३. जैन भक्ति काव्य, ४. जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति काव्य पर प्रभाव। ५. हिन्दी के आदिकाल में जैन भक्ति परक कृतियाँ, ६. जैन परिप्रेक्ष्य में मध्ययुगीन हिन्दी काव्य। ७. कविवर बनारसीदास की भक्ति साधना, ८. मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियो की शिक्षा-दीक्षा, ९. मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियो की प्रेम साधना, १०. मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य मे शान्ता भक्ति।

इनका विषय नाम से स्पष्ट है। ये सब निबन्ध प्रायः पत्रों आदि में प्रकाशित हो चुके है। उनमे जिस-जिस विषय की चर्चा की गई है उस पर लेखक ने अच्छी तरह विचार किया है। लेख अच्छे और प्रभावक है। महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी ने इन निबन्धों को पुस्तकाकार प्रकाशित कर सराहनीय कार्य किया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन सुन्दर है मंगाकर पढना चाहिए।

२. आराधना समुच्चय—कर्ता रविचन्द्र मुनि, संपादक और टीकाकार क्षु० सिद्धसागर जी, प्रकाशक दि० जैन समाज, मौजमाबाद (जयपुर, राजस्थान) मूल्य १) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। ग्रंथ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं के स्वरूप पर विचार करते हुए आराधना का उपाय और उसके फल का निर्देश किया है। मूलग्रन्थ के कर्ता मुनि रविचन्द हैं। उनके सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी नही मिल सकी है। मूलग्रथ संस्कृत के २५२ पद्यों में समाप्त हुआ है। क्षुल्लक जी ने अनुवाद अच्छा किया है। इस ग्रथ की प्रस्तावना के लेखक डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल है इस तरह यह ग्रथ बहुत उपयोगी बन गया है। इसके लिए क्षुल्लक जी धन्यवाद के पात्र है। उनकी साहित्यिक लगन श्रेष्ठ है और मौजमाबाद जैन समाज की ग्रन्थ प्रकाशन योजना भी उपयोगी और अनुकरणीय है। स्वाध्यायप्रेमियों को इसे मगा कर पढ़ना चाहिए।

३. जिन सहस्रनाम-प्रदीप —सम्पादक प्रकाशक अशोक भाई, मत्री श्रमण संस्कृत प्रचारक समिति, देहली।

इस पुस्तक मे दो सहस्रनामो का संकलन हिन्दी अर्थ और मूल के साथ किया गया है। प० आशाधर जी के सहस्रनाम का अर्थ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सहस्र नाम से दिया जान पड़ता है। जिनसेनाचार्य के सहस्र नाम का अर्थ सामान्य रूप मे दिया गया है हा, दोनो के मत्रो का उल्लेख अवश्य है, पुस्तक स्वाध्याय प्रेमियो के लिए उपयोगी है। आशा है प्रेमीजन उसे मंगा कर अवश्य पढ़ेंगे।

४. महावीर जयन्ती स्मारिका—इसके प्रधान सपादक भवरलाल पोल्या का है और प्रकाशन राजस्थान जैन सभा, जयपुर, मूल्य २) रुपया।

प्रस्तुत स्मारिका महावीर जयन्ती पर प्रकाशित होती है। स्मारिका मे अच्छे लेखो का चयन किया गया है। सभा के संचालक और सम्पादक मण्डल इसकी उपयोगिता के लिए प्रयत्नशील है। आशा है भविष्य मे पत्रिका और भी समुन्नत हो सकेगी। इस उपयोगी प्रकाशन के लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र है।

५. अणुव्रत (साधना विशेषांक)—सम्पादक रिषभदास रांका। प्रकाशक बालचन्द जी अ० भा० अणुव्रत

समिति छतर पुर रोड महरौली, नई दिल्ली। विशेषांक का मूल्य ३ रु० ५० पै०।

प्रस्तुत साधना विशेषांक अणुव्रत पाक्षिक का ही विशेष रूप है। इस अंक में साधना के सम्बन्ध में उपयोगी सामग्री का चयन किया गया है। अनेक लेख उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। जो साधना के स्वरूप और उसके फल पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। अंक में यद्यपि जहां-तहां विज्ञापनों की भरमार है, फिर भी पत्र अपने उद्देश्य में अवश्य सफल हुआ है। सन्तों की साधना का मार्ग प्रशस्त है। यह सर्वसाधारण जानते हैं। छपाई सफाई उत्तम है। अंक पठनीय है। इस सब के लिए सम्पादक प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट, श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
२५१) श्री शिखरचन्द जी झाझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन, मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

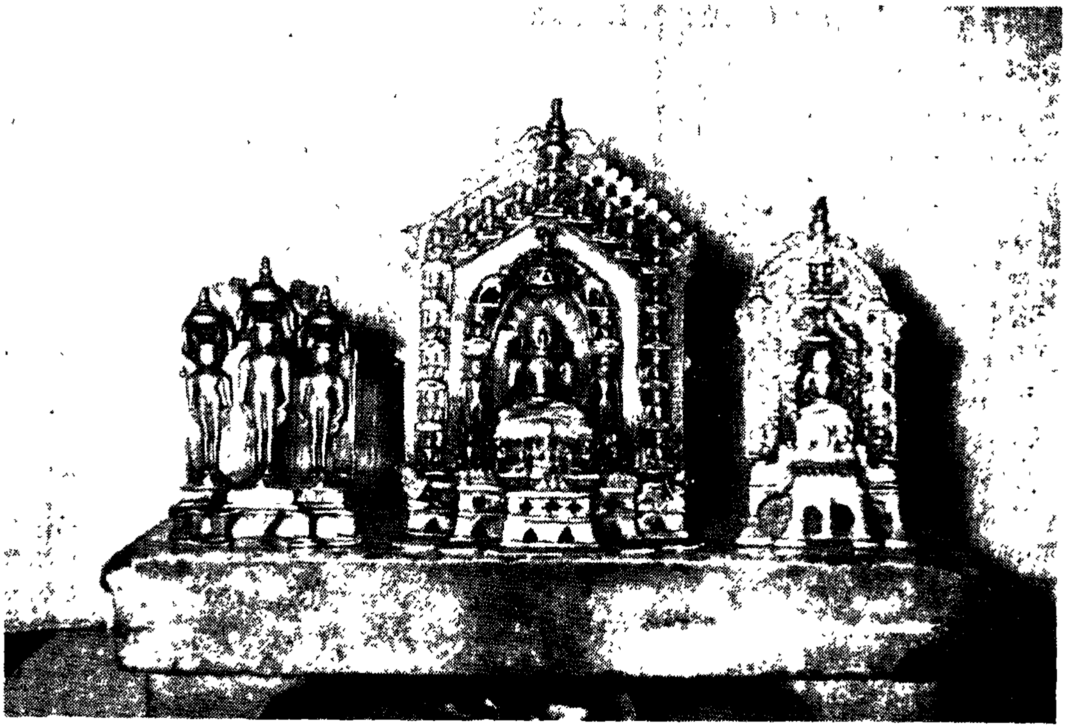
प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वैमासिक

अगस्त, १९७०

अनेकान्त

दिल्ली दरवाजे की कलापूर्ण धातु मूर्तियां



[ला० पन्नालाल अग्रवाल के सौजन्य से]

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ
१.	जिनवर स्तवनम्—मुनि पद्मनन्दि	६७
२.	पावा कहां गंगा के दक्षिण में या उत्तर मे—मुनि महेन्द्रकुमार जी प्रथम	६८
३.	भारत मे वर्णनात्मक कथा सहित्य—डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्	६६
४.	नलपुर का जैन शिलालेख—पं० रतनलाल कटारिया	११०
५.	जैन विद्वानों द्वारा रचित सस्कृत के शब्दकोश—अगरचन्द नाहटा	११५
६.	ढूंढाणी कवि ब्रह्म नाथू की रचनाए—डा० गगाराम गर्ग	११६
७.	उद्बोधक पद—मंगतराम चिलकाना वासी	१२१
८.	सम्राट् का अधूरा सपना—श्री बाबू सुबोधकुमार	१२२
६.	दिल्ली पट्ट के मूल सघीय भट्टारक प्रभाचन्द्र—परमानन्द जैन शास्त्री	१२६
१०.	मथुरा के सेठ मनीराम—परमानन्द शास्त्री	१३१
११.	राजस्थानी लोककथाओं मे अभिप्राय और कथानक रूढियो की सीमा रेखाए—श्री रमेश जैन	१३३
१२.	१३वीं शताब्दी के विद्वान हरिभद्र : एक अध्ययन—परमानन्द शास्त्री	१३७
१३.	जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उनका साहित्य—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी.	१३६
१४.	ब्रह्म यशोधर—परमानन्द शास्त्री	१४१
१५.	चतुर्मास मध्य विहार : आचार्य श्री तुलसी—मोहनलाल बाठिया	१४३

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त को सहायता

२१) श्री जगमोहनलाल जी जैन कलकत्ता ने इक्कीस रुपया अनेकान्त को सहायतार्थ सधन्वाद प्रदान किया है, आशा है अन्य दानी महानुभाव इस ओर ध्यान देंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज

दिल्ली।

★

अनेकान्त के प्रकाशन में बिलम्ब का कारण

अनेकान्त के इस अक का सितम्बर के अन्त मे प्रकाशित करने की योजना थी। और मेटर भी प्रेस को दे दिया था किन्तु सम्पादक के अत्यधिक बीमार हो जाने से वैसा न हो सका। सम्पादक ने तो बुखार में कमी होते ही आगे का मैटर भी तैयार कर के दिया किन्तु पुनः बुखार ने जोर पकड़ा, और वैद्यों के इलाज से कोई लाभ नही हुआ, तब कृष्णनगर के प्रसिद्ध डा० अरोड़ा का इलाज किया, उसके परिणाम स्वरूप बुखार तो चला गया परन्तु कमजोरी अत्यधिक हो गई है। धीरे-धीरे पूरी होगी।

व्यवस्थापक

'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिर २१, दरि

दिल्ली।

★

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २३ किरण ३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | अगस्त
वीर निर्वाण सवत् २४९६, वि० स० २०२७ | १९७०

जिनवर-स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर समयामयसायरे गहीरम्मि ।
रायाइदोसकलुसे देवेको मण्णए सयाणो ॥१४

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मोक्खो अइदुल्लहो वि संपडइ ।
मिच्छत्तमलकलंकी मणो ण जइ होइ पुरिसस्सा ॥१५

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! सिद्धान्तरूप अमृत के समुद्र एवं गम्भीर ऐसे आपका दर्शन होने पर कौन-सा बुद्धिमान मनुष्य रागादि-दोषों से मलिनता को प्राप्त हुए देवों को मानता है ? अर्थात्—कोई भी बुद्धिमान पुरुष उन्हें नहीं मानता है ?

हे जिनेन्द्र ! यदि पुरुष का मन मिथ्यात्वरूप मल से मलिन नहीं होता है तो आपका दर्शन होने पर अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है ।।१४-१५ ।।

पावा कहाँ ? गंगा के दक्षिण में या उत्तर में ?

मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'

इतिहास और परम्परा जब एक-दूसरे को साथ लेकर चलते है, बहुत सारे तथ्य प्रामाणिक हो जाते है और उन्हे सुगमता से मान्यता मिल जाती है। किन्तु परम्परा जब इतिहास का साथ छोड देती है, वह श्रद्धा युग मे चली जाती है और उसकी सर्व मान्यता सदिग्ध हो जाती है। इतिहास परम्परा को साथ लेकर पुष्ट होता है, पर उसके साथ न रहने पर भी उसके अस्तित्व को कोई चुनौती नही दे सकता। किन्तु कई बार इसका उल्टा भी होता है। परम्परा इतिहास को इतना धुधला कर देती है कि यथार्थता बिलकुल ओझल हो जाती है। ऐसा ही उत्तर प्रदेश के 'पपहुर' गाव के साथ हुआ है। परम्परा ने उसके इतिहास को अनगिन परतो के नीचे दबा दिया है। आवश्यकता है, उस इतिहास को पुनः उभारा जाये।

'पपहुर' वर्तमान मे देवरिया जिले मे है। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यह 'अपापापुरी', 'पावा' आदि नामो से भी विख्यात था। इतना ही नही, राजा हस्तिपाल की राजधानी होने का भी गौरव इसे प्राप्त था। भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम वर्षावास भी यही किया था और यही से कार्तिक अमावस्या को वे निर्वाण प्राप्त हुए थे। परम्परा ने इस गाव को इतना पीछे धकेल दिया है कि विद्वानो के अतिरिक्त सामान्य जनता इस तथ्य को स्वीकार करने को भी तैयार नही है।

भगवान् महावीर का निर्वाण-स्थल परम्परा के अनुसार पटना जिले में गगा के दक्षिण प्रदेश मे राजगिर की समीपवर्ती पावा को बतलाया जा रहा है। वहा के भव्य मन्दिरो ने उसे एक जैन तीर्थ बना दिया है, पर इतिहास इसे स्वीकार नही कर सकता। इसके कुछ मुख्य कारण हैं। इतिहास के अनुसार यह सर्वसम्मत मान्यता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्लकी तथा नौ लिच्छवी; अठारह गणराजा उपस्थित थे। राजगिर की निकटवर्ती पावा उस समय मागधो के अधीन थी। मागधों और गणराजाओ के बीच ज्वलत शत्रुता थी। शत्रु प्रदेश मे उनका जाना कतई सम्भव नही हो सकता। गगा के उत्तरी अचल मे गणराज्य थे। वे अपनी राज्य सीमा मे भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव मे सम्मिलित हुए है, यही यथार्थता के अधिक निकट है।

भगवान् महावीर ने अन्तिम वर्षावास से पूर्व का वर्षावास राजगृह मे किया। अतिम समय तक उनका शरीर नीरोग था और उन पर वार्धक्य का भी कोई विशेष असर नही था। राजगिर से वर्तमान पावा की दूरी केवल सात-आठ मील है। प्रश्न होता है, आठ महीनो की अवधि मे क्या उन्होने इतना ही विहार किया होगा? सम्भव है, उन्होने लम्बा विहार किया है और गगा के दक्षिण अचल से वे उत्तरी अचल मे आये है।

दीघनिकाय अट्ठकथा (सुमगल विलासिनी) मे बताया गया है, 'पावा नगर तो तीणि गावुतानि कुसिनारा नगर' पावा से कुसिनारा की दूरी तीन गव्यूत (तीन कोस) है। इससे भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि पावा एक ही नही दो है। एक गगा के उत्तर मे तथा दूसरा दक्षिण मे। उत्तरी पावा क्रमश. परम्परा की निगाह से ओझल होती गई और दक्षिण पावा को मान्यता मिलती गई। इतिहास ने पुन: करवट ली है। अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराज जी डी लिट्०, महापडित राहुल साकृत्यायन आदि विद्वानों ने अपनी शोध के आधार पर उपेक्षित उत्तरी पावा की ओर पुन: जन सामान्य का ध्यान आकर्षित किया है।

चार वर्ष के बाद भगवान् महावीर की २५ सौवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उत्तर प्रदेश का उपेक्षित ग्राम 'पपहुर' पुन: अपनी ऐतिहासिक महत्ता को प्राप्त कर सकेगा; ऐसी सम्भावनाए अब आकार लेने लगी है। ★

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. पी. एच. डी.

[गत किरण २ से आगे]

कथात्मक रचनाओं का सर्वेक्षण—

कितने ही भण्डारो मे ऐसे अनेक हस्तलिखित ग्रथ हमे मिलते है जो कथानकों के सग्रह है और उनके नाम भी हमे बृहद्टिप्पणिका,[1] जैनग्रन्थावली[2] और जिनरत्न-कोश[3] जैसी सूचियो मे मिलते है। अन्तिम सूची एकदम दिनाप्त और परिपूर्ण है और इसके सकलनकार है आचार्य ह० द० वेलनकर। यह सूची बडे ही परिश्रम से तैयार की गई है। इसे निघट्राज [कैटॅलोगस कैटॅलोगोरम्] कहना ही उपयुक्त होगा। जो सर्वेक्षण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है. वह प्रधानतया इसी निघण्ट्राज पर ही आधारित है जिसके कि अग्रिम फरमो का उपयोग संकलनकार एवम् प्रकाशक दोनों ही के सौजन्य से, करने का सुयोग मुझे प्राप्त हो गया था। हस्तप्रतियो के सूक्ष्म परीक्षण बिना एक कथाकोश का दूसरे से विभेद करना दुरुह काम है। इसलिए मैने इस सर्वेक्षण मे उन्ही ग्रन्थो का विचार किया है कि जो विभेद किये जा सकते थे और जिनके विषय मे कुछ विशेष सूचना भी प्राप्त हो सकती थी।

१. कथाकोश [कथानककोश या कथाकोश-प्रकरणम्] —बृहद्टिप्पणिका के अनुसार यह २३९ गाथाओं का एक प्राकृत ग्रन्थ है। इसकी प्रारम्भिक गाथा ही मे लेखक ने घोषणा कर दी है कि वह कुछ ऐसे नायस, दृष्टान्त वा आदर्श कथाएँ कहेगा कि जिनसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। गाथाओं मे कथाओं का 'शब्दघोष [कैच-वर्डस]' से ही उल्लेख किया गया है। कही-कही एक ही दृष्टान्त की एक से अधिक कथाए दी गई है। उदाहरणार्थ चौथी गाथा मे यह कहा गया है कि पूजा-प्रणिधान से आत्मा स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है जैसे कि जिनदत्त, सूरसेना, श्रीमाली और रोरनारी ने प्राप्त किया था। प्रथम की १७ गाथाओ मे, जिनका अध्ययन ही मैने किया है, सब कथाए-जिन पूजा और साधू-दान पर ही है।[4] इन गाथाओ की सस्कृत टीका मे दृष्टान्त कथाएं प्राकृत में दी गई है और गद्य-पद्य दोनों ही का मिश्र प्रयोग उनमें किया गया है। आचार्य जिनवियजजी ने मुझे सूचना दी है कि वर्धमानसूरि के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि ने ही ये गाथाएँ और उनकी कथा की रचना इस वर्तमान रूप मे की है हालाकि यह भी असम्भव नही है कि उन्होने प्राचीन सामग्री भी इसमे सम्मिलित कर दी हो।[5] कथाकार ने आगमांश और

१. जैनसाहित्य सशोधक, भाग २ खन्ड २।

२. जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई द्वारा स. १९६५ मे प्रकाशित।

३ भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इस्टीटयूट, पूना द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित किया जा रहा है।

४. एक कथाकोश हरिभद्र का भी कहा जाता है। देखो, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० १६८। परन्तु अभी तक न तो कही यह उपलब्ध ही हुआ है और न इसका पता ही लगा है।

५. पेटर्सन [प्रतिवेदना ८, पृ. ४४] कहता है : 'आशापल्ली मे सं. १०९२ मे रचित एक लीलावती कथा और डिण्डियानक ग्राम मे एक कथानककोश है। देसाई के मतानुसार [जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० २०८], उसने स. १०८२-१०९५ के बीच एक कथाकोश की रचना की थी। बृहट्टिप्पणक मे स. ११०८ दिया है। इसलिए इस कथाकोश को ११वी सदी के द्वितीयपार्ट का समय दिया जा सकता है। विण्टरनिटज [भासाइ. पृ. ५४३] ने ई० १०९२ का समय दिया है। ऐसा लगता है कि उसने संवत् को सन् भूल से मान लिया है।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशमें कुछ श्लोकभी उद्धृत किये है।[६]

२. **कथाकोश**—यह २७ कथानकों का एक संग्रह है। धनद की कहानी से यह प्रारम्भ होकर नल की कहानी मे समाप्त होता है। ये कहानिया, पूजा और अन्य पुण्य कार्यो एवम् धार्मिक व्रतों के फल, चार कषायो के प्रभाव एवं वैरागी जीवन के परिणाम सबन्धी है।[७] टानी के मूल्यांकनानुसार, ये कहानियां भारतीय लोकवार्ताओं की यथार्थ अंश ही है, परन्तु उन्हें किसी जैनाचार्य ने अपने धर्म के अनुयायियों के गौरवगान का रूप देकर अपने ढंग से फिर से सम्पादन कर दिया है। वर्तमान रूप मे तो ये कम से कम जैनाचार एव सिद्धान्त का दार्ष्टान्तिक चित्रण ही करती है। यह ग्रथ संस्कृत में है परन्तु बीच-बीच में इसमे प्राकृत गाथाए भी मिली हुई है। इसके लेखक का नाम नही दिया गया है और इसकी रचना का निश्चित समय निर्धारित नही किया जा सकता है। इसमें तीन राजाओं का नाम, यथाकर्क, अरिकेसरिन और मम्मण आया है और इनका ईस्वी १०वी-११वी शती की कर्णाटक की राजवशावली मे पता मिलता है। इन उल्लेखो से डा० सलेटोर ने यह मत दिया है कि 'इस ग्रथ की रचना ११वीं सदी ईसवी के चतुर्थ-पाद पश्चात् ही हुई होगी, यह परिणाम निकालना अनुचित नही कहा जा सकता है।'[८]

३. **कथाकोश [कथारत्नकोश]** — इसकी रचना भड़ोंच में वि० स० ११५८, ई० ११०१ में हुई और इसके रचयिता थे प्रसन्नचद्र के शिष्य, देवभद्र। जैन तीर्थंकरो के सिद्धान्तानुसार, मुक्ति का मार्ग उन्ही अच्छे साधुओ और अच्छे श्रावकों को प्राप्त होता है कि जो अपने-अपने व्रतों में निष्णात हैं। और अच्छा श्रावक हुए बिना एक अच्छा साधू नही हुआ जा सकता है। जो अणुव्रतो का भली प्रकार पालन कर सका हो, वही महाव्रतों का पालन कर सकता है। सुश्रावक होने के लिए व्यक्ति मे सामान्य और विशेष दोनों ही गुण होना चाहिए। सुश्रावक के सामान्य गुण है तैंतीस [३३] जिनमें सम्यक्-दृष्टि और उसके आठ अतिचार, धर्म मे श्रद्धा, देव-मदिर और साधू की सस्था की, आस्था पूर्वक सहायता करना और करुणा दया, आदि मानवी वृत्तियों का पोषण करना समाविष्ट है। विशेषगुण १७ है जिनमे पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और सवरण एव त्याग सहित कुछ अनावश्यक समाविष्ट है। इन गुणो के अनुरूप ही दार्ष्टान्तिक कथाएँ इस कथाकोश मे प्राकृत की यहा वहां सस्कृत के श्लोकों वाली दी गई है। यह कथाकोश बहुताश पद्य मे ही लिखा गया है, यद्यपि कहीं-कही कुछ अश गद्य मे भी दिए गए है। धार्मिक और औपदेशिक शिक्षा कथाओ द्वारा देना ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इनसे प्रभावित होकर व्यक्ति सुविनीत गृहस्थ बनेगा यही आशा रखी गयी है।[९]

४. **शुभशील का कथाकोश, [भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति]**—तेरह गाथा की यह प्राकृत रचना 'भरहेसर बाहुबलि' वाक्यावली से ही प्रारम्भ होती है। यह कदाचित् नित्य-स्मरण की ही एक स्तुति है। इसमे १०० महान व्यक्तियों के नाम स्मरण किए गए है। इनमे ५३ पुरुष [पहला भरत और अन्तिम मेघकुमार] और ४७ स्त्रियाँ [पहली सुलसा और अन्तिम रेणा] है कि जो धार्मिक-वैरागिक साधनाओ के लिए जैनो मे सुप्रख्यात है। अधिकाँश तो इनमे प्राचीन जैन साहित्य में उल्लिखित एवम् वर्णित दार्ष्टान्तिक कथाओं, कथाओ उपकथाओ के ही पात्र है। इनका उल्लेख सुयगडांग, भगवई, नायाधम्मकहाओ, अन्तगड, उत्तराध्ययन, पइन्नय, आवस्सयव-दशवैकालिक-निज्जुत्ति और टीकाओं मे है। मूल प्राकृत गाथाओ मे तो इन नामो की शृखला मात्र दी गई है। आदि मे जैन साहित्य के विशाल क्षेत्र से पूर्ण परिचितों में ये व्यक्तियाँ बिलकुल परिचित ही होंगी। परन्तु बाद मे मूल पर परिपूर्ण टीका एव कथाओं के पूर्ण वितरण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी होगी। इसीलिए तपागच्छ

६. यह ग्रन्थ इस समय मुद्रयमाण है और मैं श्री जिनविजयजी का आभारी हूँ कि मुझे उनने इसके १३ फारम अग्रिम भेज दिए।

७. इस कथाकोश का अंगरेजी मे अनुवाद सी. एच. टानी का किया ओरियटल ट्रासलेशन फंड, सिरीज नई २, लदन १८९५ में प्रकाशित हुआ है।

८. जैन एण्टीक्वेरी, आरा १९३८, भाग ४, स. ३, पृ. ७७-८०।

९. श्री जिनविजयजी का आभारी हूँ कि जिनने कृपा कर ६० पत्रों के छपे फारम मुझे अग्रिम भेज दिए। ग्रन्थ मुद्रयमाण है।

मुनिसुन्दरगणि के शिष्य शुभशीलगणि ने इसकी सस्कृत टीका लिखी और उसी मे गद्य-पद्य मिश्रित कथाए भी दी कि जिनमें यहां-वहां प्राकृत के उद्धरण भी है। वृत्ति मे सब कथाए ही कथाए है और इसीलिए इसे कथाकोश का नाम भी दिया गया है। यह वि० स० १५०६ की रचना है।[10] शुभशील में वर्णनात्मक रचना करने की विशेष प्रवणता प्रतीत होती है। उसने अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त, पचास्तिप्रबोधसम्बन्ध[11] भी लिखा है जिसमे लगभग ६०० कथा, आख्यायिका, सिद्धो की जीवनी, नीतिकथा, काल्पनिक कथा आदि-आदि है और उनमें से कुछ नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि आदि ऐतिहासिक व्यक्तियो, राजो, ग्रथकारो, प्राचीन एवं अर्वाचीन, को परिलक्षित करती है।

५. श्रुतसागर[12] का संस्कृत कथाकोश [व्रतकथाकोष] —इसमे व्रत, धार्मिक क्रियाएँ और नियम जिनमे आकाश-पचमी, मुक्तासप्तमी, चन्दनषष्टि, आष्टाह्निक आदि-आदि अनुष्ठान व तप की कथाए है। लेखक मूलसघ, सरस्वती गच्छ, बलात्कार सघ[गण]का है और उसके गुरु थे विद्यानन्दी। उसने अपना समय यद्यपि नही बताया है, फिर भी अनेक बाह्य साक्षियों द्वारा उसे १६वी सदी विक्रमी का समय दिया जा सकता है। इसने कुन्दकुन्द के पाहुडों पर की अपनी सस्कृत वृत्ति मे भी कुछ कथाएं दी है।

६. कथाकोश[13]—पूना के भण्डारकर प्राच्य मन्दिर के सरकारी सग्रह विभाग मे कुछ हस्तप्रतियाँ उपलब्ध है जिन्हे 'कथाकोश' कहा गया है। उनके रचयिताओ के विषय मे कुछ भी सूचना प्राप्त नहीं है और न वर्तमान स्थिति मे यही कहा जा सकता है कि इन कथाकोशो का मूल-स्रोत, साहित्यक आधार, या अन्य कथाकोशों से कितना और कैसा सम्बन्ध है? मैंने कुछ का सरसरी रीति मे उनकी स्थिति आदि जानने के लिए निरीक्षण किया है और उसके परिणाम स्वरूप उनके कुछ तथ्य यहाँ देता हूँ: (१) १८८४-८७ की स० १२६६। पत्र ४७। अपूर्ण। चन्द्रप्रभ की स्तुति से यह प्रारम्भ होता है और इसमे सस्कृत मे आरामतनय, हरिषेण, श्रीषेण, जीमूतवाहन आदि-आदि की कथाएं दी हुई है। (२) १८८४-८७ की सं. १२६७। इसमे सम्यक्त्व-कौमुदी-कथा नाम से सामान्यतया परिचित कथाए दी गई हैं। प्रारम्भ का गद्य कुछ दूसरी तरह का है और वह इस प्रकार का है— गौडदेशे पाटलीपुरनगरे आर्यसुहस्तिसूरीश्वराः। त्रिखण्ड-भरताधिपसप्रतिराज्ञोऽग्रे धर्मदेशना चक्रुरेव, भो भो भव्या आदि-आदि। इसमे सबसे अन्त की कथा है पात्रदान-दार्ष्टान्तिक धनपति की। यद्यपि यह सस्कृत का ग्रन्थ है परन्तु यहा वहा प्राकृत गाथाए भी उसमे दी हुई है। (३) १८८४-८७ का स. १२६८। इसमे प्राकृत मे कथाए दी गई है और वे गध-पूजा [शुभमति आदि द्वारा], धूप-पूजा [विनयधर आदि द्वारा] आदि-आदि पर दृष्टात रूप है। प्रशस्ति और कुछ अश सस्कृत मे है। यह हरिसिघ-गणि द्वारा मारगपुर मे रचा गया था। (४) १८८४-८७ का स. १२६६। प्रति बहुत बिगडी और बड़ी बुरी तरह लिखी गई है। इसमे अमरचन्द्र [भावना विषयक], विक्रमादित्य [पारमार्थिक मैत्री विषयक], आदि के कथानक दिए हैं। वेतालपचवीसी भी पृ० १६ मे उद्धृत है, और अपभ्रंश एवम् प्राचीन गुजराती मे भी छोटी-छोटी कुछ कथाए है। इसकी समाप्ति सम्भवतया पचतत्र की एक पशुकथा मे होती है। (५) १८८४-८६ का स. ५८२। इसमे सस्कृत श्लोको के बाद ही दार्ष्टान्तिक कथाएं दी गई हैं। उनमे कुछ जिनप्रभसूरि, जगसिह, सातवाहन जगडुशाह आदि-आदि के प्रबध भी हैं। (६) १८८४-८६ का स. ५८३। यह ग्रन्थ दोनों ओर से ही भुसा हुआ है। यह सस्कृत में है और इसमे सस्कृत, प्राकृत दोनो ही प्रकार के उद्धरण है। इसमे भी सम्यक्त्व-कौमुदी की ही कथाए कदाचित् है। (७) १८९१-९५ का स. १३२४। यह भी मुसा हुआ और अपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे प्रसन्नचन्द्र, सुलसा,

१०. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार माला सं. ७७ और ८७, बबई से १९३२ और १९३७ मे यह प्रकाशित हो गया है।

११. मे पेटरसन की प्रतिवेदनाए, ३ पृ. ७१, विण्टरनिट्ज भासाइ भाग २ पृ० ५४४ आदि।

१२. प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ४०६-११।

१३. कई आराधना कथाकोशों का विचार आगे किया जाएगा।

चिलातिपुत्र आदि की कथाएं सस्कृत गद्य मे है। कहीं-कहीं श्लोक भी है। (८) १८९१-९५ का स. १३२३। संस्कृत गद्य, प्राकृत-संस्कृत श्लोक-गाथाओ के मेल वाले इस कथाकोश मे देवपाल की [देवपूजा के सम्बन्ध में], बाहुबलि की [मान के संबंध मे], अशोकदत्त की [माया के संबंध में], मदनावली [वंदन पूजा के संबध मे], की आदि-आदि कथाए है। कोई-कोई कथा प्राकृत गाथा से ही प्रारम्भ होती है। १८८७-९१ की स. १२९७ की प्रति भी इसी प्रकार प्रारम्भ होती है और उसमें की कुछ कथाए भी उसी के समान है। उपदेशमाला की गाथा २४० याने 'वसही आदि' इसकी कुछ गाथो का आधार है। (९) १८९१-९५ का स. १३२२। मदनरेखा, सनत्कुमार आदि की कथाए सस्कृत मे दी गई है और बीच-बीच मे प्राकृत एवम् अपभ्रंश की गाथा भी उनमे है। (१०) १८८४-८६ का स. ४७८। इसके पहले तीन पत्रों मे हरिषेण का कथाकोश है, उसके बाद अपभ्रश की कथाओ का ग्रन्थ है जिसमे लगभग ५३ कथाए है। सुगन्धदशमी, षोडशकरण, रत्नावली [सस्कृत मे], निर्दोष सप्तमी आदि-आदि व्रतों की कथाए है। इनके अतिरिक्त और भी कथाकोश है जिनके लेखक वर्धमान, चन्द्रकीर्ति, सिंहसूरि, जयतिलक, सकलकीर्ति, पद्मनन्दी, रामचन्द्र[१४] आदि-आदि है। परन्तु उनकी हस्तप्रतियां मुझे प्राप्त नही हो सकी थीं।

७. कथानक कोश:—इसका रचयिता विनयचन्द्र है[१५]। इसमे १४० प्राकृत गाथाए है। इसमे ग्रन्थ का नाम धम्मक्खाणय-कोस दिया है। पाटण की हस्त प्रति जिसमें सस्कृत व्याख्या भी है, की तिथी वि. सं. ११६६ है।

८. कथा मणि-कोश [आख्यानमणि-कोश]—यह देवेन्द्रगणि उर्फ नेमिचन्द्र की एक प्राकृत गाथाबद्ध रचना है जिसने सुखबोधा टीका, जो उत्तराध्ययन की प्राकृत[१६] कथाओ के लिए सुख्यात है, वि. स. ११२९ मे समाप्त की थी। देवेन्द्र अपनी बोधगम्य शैली के लिए सुप्रसिद्ध है और इसलिए ४१ अध्यायों के इस बृहद् ग्रन्थ की हस्तप्रति की इस सूक्ष्म परीक्षा करने की आवश्यकता है। इसकी सस्कृत टीका जिनचन्द्र के शिष्य अमरदेव ने वि. स. ११९० मे, याने ग्रंथ प्रणयन के ठीक ६० वर्ष बाद[१७] लिखी है।

९. कथा महोदधि—हरि या हरिषेण का कर्पूरप्रकर[१८] या सूक्तावली १७९ श्लोकों का एक उपदेशी काव्य है। इसमे जैन धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है जो ग्रन्थकार के अनुसार ८७ है। यह वास्तव मे कभी-कभी ही होता है कि एक व्यक्ति धार्मिक वातावरण मे जन्म ले, आवश्यक शिक्षा सस्कार पाये और जैनाचार पर, आन्तर एवम् बाह्य सब अनुरोध को दबा कर, जीवन यापन करे और अन्त मे मुक्त ही हो जाए। इस उपदेशी काव्य का प्रत्येक पद बडी सुन्दरता से प्रस्तुत

---

१४. दिल्ली के नए दिगम्बर मन्दिर मे एक सस्कृत का पुण्याश्रव-कथाकोश है। ऐसा ही एक ग्रन्थ कन्नड मे नागराज का ई० १४३१ का लिखा हुआ है। सब मिला कर ५२ कथा है जिनमें पूजा आदि धर्म कार्यों के दृष्टान्त रूप भरत, करकट, यम, चारुदत्त, सुकुमार, सीता आदि की जीवनियां दी गई है और उन्हें बारह अधिकारों मे विभाजित किया गया है। यह चम्पू शैली में लिखा है और लेखक कहता है कि यह संस्कृत ग्रंथ पर आधारित है [कविचरिते भाग १, पृ० ४०९-११]। इस कन्नड ग्रन्थ का अनुवाद मराठी ओवियों मे जिनसेन ने शक स. १७४३ याने ई० १८२१ मे किया था।

१५. पाटण की हस्तप्रतियों की सूची, भाग १ [गायकवाड़ ओ. ग्रंथमाला सं. ७६] पृ० ४२।

१६. इनमे से कुछ का सम्पादन याकोबी ने अपने ग्रन्थ लेपजिग से १८८६ मे किया था और उनका अनुवाद 'हिन्दू टेल्स' शीर्षक से मायर का किया हुआ लदन से १९०९ मे प्रकाशित हुआ है; देखो 'प्राकृत कथासग्रह' जिनविजयजी सम्पादित, अहमदाबाद से प्रकाशित भी है।

१७. देखो चार्पेंटियर सम्पादित उत्तराध्ययन मे उसका लिखा इट्रोडक्शन, पृ० ५६ आदि; पेटरसन प्रतिवेदनाए ४, पृ० ५९ [लेखक अनुक्रमणिका]; प्रतिवे: ३ पृ० ७८ आदि।

१८. ग्रन्थ का प्रारम्भ ही 'कर्पूर प्रकर वाक्य से होता है. अत यह नाम है।

किया गया है और प्रसगानुकूल दृष्टान्तों द्वारा वह समझाया गया है। उदाहरणार्थ यह कहा गया कि नेमिनाथ ने जीवदया का पालन किया इसलिए उन्हें आध्यात्मिक लाभ पहुँचा, और रावण को पराई स्त्री की आसक्ति के कारण ही दुःख भोगना पड़ा। प्रत्येक श्लोक मे एक या अधिक दृष्टान्त रूप जीवनियां दी गई है। ग्रंथ की समाप्ति तक पहुँचते-पहुँचते जीवन-दृष्टान्तो की अपेक्षा उसमे उपदेश अधिक से अधिकतर हो जाता है। ग्रन्थकार हरिषेण वज्रसेण का शिष्य था, परन्तु इस ग्रन्थ की रचना तिथी अभी तक भी निश्चित नही की जा सकी है।

इन कथाओं का पूर्ण विवरण देने का काम टीकाकारों पर ही छोड़ दिया गया था और छोटी-लबी सब मिला कर इसकी १५० कथाए हैं[१९]। रत्नशेखर के शिष्य, सोमचन्द्र द्वारा वि. स. १५०४ के रचित 'कथामहोदधि' मे ये सब कथाए दी गई हैं। खरतरगच्छ के श्री वर्धनसूरि के शिष्य श्री जिनसागर ने 'कर्पूर-प्रकर टीका' लिखी है[२०]। इसका समय सं. १४९२ से १५२० तक का कहा जाता है। इस प्रकार यह लेखक सोमचन्द्र का समकालिक ही प्रतीत होता है। यह पहले तो गाथा की व्याख्या करता है और फिर दृष्टान्तिक कथा सामान्यतया संस्कृत श्लोकों मे ही देता है। कथा का प्रवेश आगमो या उपदेशमाला जैसे ग्रन्थों के प्राकृत उद्धरणों, गद्य-पद्य दोनो में, देकर करता है। मैंने 'कथामहोदधि' की कथाओं का इसकी कथाओ से मिलान नही किया है। परन्तु दोनो कथाओ के शीर्षक और क्रम समान हैं। दृष्टान्त मे शलाका-पुरुष जैसे कि नेमिनाथ, सनत्कुमार आदि। ऐतिहासिक-अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति जैसे कि सत्यकी, चेल्लणा, कुमारपाल आदि भिक्षुरत्न जैसे कि अतिमुक्तक, गजसुकुमाल आदि। और जैन परम्परा के अन्य धर्मभीरु नर-नारियों के दिए गये हैं।

१९. इन कथाओ की सूची के लिए देखो पेटरसन प्रतिवेदनाएं ३, पृ० ३१६-१९।

२०. जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से सन् १९१९ मे प्रकाशित; एच. डी. वेलनकर का बनाई रा. ए. सो. बबई शाखा की सूची भाग ३-४ में सं. १७०५ और १७९८ देखो।

१०. कथारत्नसागर—इसमे १५ तरग हैं और अंतिम कथा है अगडदत्त की। इसका रचयिता है नरचन्द्रसूरि[२१], देवभद्रसूरि का शिष्य। पाटण की इसकी प्रति स. १३९१ की है।

११. कथारत्नाकर—तपागच्छ के कल्याणविजयगणि के शिष्य हेमविजयगणि ने स० १६५७ मे इसकी रचना की है। जैसा कि ग्रथकार ने कहा है, इसकी कुछ कथाएँ परम्परा से कही सुनी जाती रही हैं, कुछ काल्पनिक है, कुछ की रचना अन्य आधारो से की गई है, तो कुछ शास्त्रों में से ली गई है। दस तरंगो मे कुल २५८ कथाएं है। अनेक सरल सस्कृत गद्य मे लिखी हैं। बहुत थोड़ी ही गभीर शैली मे है। इनी-गिनी संस्कृत पद्यो मे हैं। प्रत्येक कथा का प्रारम्भ एक या दो उपदेशी गाथा या श्लोक से होता है। सारे ही ग्रन्थ मे सस्कृत, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी और पुरानी गुजराती के उद्धरण प्रचुर परिमाण मे पाए जाते है। महाभारत, रामायण आदि महाकाव्य, भर्तृहरि के शतक, पंचतन्त्र, आदि-आदि से सुपरिचित कुछ उद्धरण भी है। ग्रथ का जैन दृष्टिकोण उसके प्रारम्भ के श्लोक, भाव और कथाओ से ही स्पष्ट हो जाता है। इसमे शृंगार से लेकर वैराग्य तक के विचारों और भावो का समावेश है। विण्टरनिट्ज का कहना है कि बहुत सी कथाए तो पंचतन्त्र और ऐसी ही कहानियों की अन्य पुस्तकों जैसी ही है, याने स्त्री-छल की कथाएं, गुण्डो-बदमाशो की कथाएं, मूर्खों की कथाए, पशुओं की कथाए, सभी प्रकार के विवरणो की आख्यायिकाएं जिनमें कुछ ब्राह्मण एवम् अन्य मतावलबी की निंदा या व्यंग की भी है। पचतन्त्र के जैसे ही कथाओ के बीच-बीच मे बुद्धिमानी की कहावतें या उक्तिया भी है। कथाओं की रचना ढीली-ढाली है। वे सुदृढ ढाचे मे सजाई हुई सी नही है। अधिकांशत: ग्रन्थ दृष्टिकोण में यथार्थ रूपेण भारतीय ही है। जैन ग्रन्थों मे सामान्य रूप से आने वाले नामों के अतिरिक्त उसमे भोज, विक्रम, कालिदास, श्रेणिक आदि-आदि की आख्यायिकाएं भी है। कुछ भौगोलिक उल्लेख भी उसमे बिलकुल आधुनिक हैं और दिल्ली चापानेर और अहमदाबाद जैसे नगरों से सम्बन्धित कहानियां भी हैं।

२१. पाटण की हस्तप्रतियों का कॅटलोग भाग १, पृ. १४।

संक्षेप में इसका विषय शिक्षादायक और मनोरंजक दोनो ही है[२२]।

१२. कथा रत्नाकर—यह ग्रन्थ संस्कृत में है और उत्तमर्षि इसका रचयिता है। उपलब्ध हस्तप्रति अपूर्ण है और वह दूसरे खण्ड पर समाप्त हो जाती है। इसमें साधू निंदा[२३] का परिणाम दिखाने के लिए रुक्मिणी की कथा सम्मिलित है।

१३. कथार्णव—धर्मघोषसूरि [लगभग १३वी सदी ई०] का इसिमण्डल या ऋषिमण्डल स्तोत्र २०८ से २१८ गाथा की रचना है जिसमें शलाका पुरुषों और उनके धर्म-परायण समकालिकों, प्रत्येक बुद्धों, जिनपालित जैसे काल्पनिक वीरों, मेतार्य जैसे क्षमाशील मुनियों और महावीर के उत्तरकालीन आचार्यों की जिनमें कुछ के जीवन प्रसंग भी कुछ-कुछ दिए है आदि को आह्वान-नमस्कार किया गया है। इसमें से अधिकांश आगमों, निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों में भी पाए जाते है। जो औपदेशिक कथाओं, गौरवान्वित कथाओं और वर्णनात्मक दृष्टान्तों में अनैतिहासिक पात्र से प्रतीत होते है, वे सब यहां वैराग्य-वीर या जैन संघ की सुप्रसिद्ध व्यक्ति मानी गई है। टीकाकारों के लिए इन गाथाओं की व्याख्या में स्तोत्र में उल्लिखित व्यक्तियों की पूर्ण जीवनी देना इसलिए परमावश्यक था। आधे दर्जन से अधिक वृत्तियां इस स्तोत्र पर उपलब्ध है। प्राचीनतम प्रति सं. १३८० की और नवीनतम स. १६७० की है। इसकी प्राकृत में वृहद्वृत्ति पाटण के संग्रह में है। खरतरगच्छ के पद्ममन्दिर की वृत्ति 'कथार्णव' कहलाती है और वह वि. सं. १५५३ याने १४९६ ई० की है। उसमें गाथाओं की व्याख्या और सारी कथाएं संस्कृत अनुष्टुप छन्द में दी हुई है[२४]। मूल स्तोत्र की कुछ गाथा जैसे कि तीसरे अंश की प्रारम्भ की गाथा १५४-१६०, को पद्ममन्दिर ने परकृत याने बाद की बनी कहा है।

१४. कथावली—यह भद्रेश्वर का लिखा हुआ प्राकृत में एक भारी गद्य-ग्रंथ है। इसकी अब तक एक ही प्रति पाटण में पाई गई है। उस प्रति का संवत् १३९ [अन्तिम अंक झड या टूट गया है]। डा. याकोबी के अनुसार है, परन्तु दलाल के अनुसार वह सं. १४९७ की है। दलाल भद्रेश्वर को कर्ण के राज्यकाल [१०६४-९४ ई०] का समय देता है। जब कि याकोबी इस ग्रन्थकार को, बहुत करके वही भद्रेश्वर मानता है कि जो १२वी सदी विक्रमी के द्वितीयार्ध में हुआ था। कुछ भी हो, इस ग्रन्थ को हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्टपर्व से प्राचीनतम तो मानना ही होगा। इसमें ६३ शलाका पुरुषों का वृत्त है और कालक से लेकर हरिभद्रसूरि तक के आचार्यों की भी जीवनियां दी हुई है। जहां तक इस द्वितीय विभाग की बात है, हेमचन्द्र तो वज्रस्वामी की कथा लिख कर ही परिशिष्टपर्व समाप्त कर देते है, जबकि भद्रेश्वर श्रीहरिभद्रसूरि तक अपनी कथा को ले आता है। याकोबी कहते है[२५] 'सामग्री का संग्रह युगप्रधानों के सम्पूर्ण इतिहास के लिए सबसे पहले कदाचित् भद्रेश्वर द्वारा ही किया गया था। और इसकी कथाएं सामान्यतया चूर्णियां और टीकाओं में मिल रहे कथानकों की अधिक मार्जित संस्करण ही है।' भद्रेश्वर और हेमचन्द्र की रचनाओं के कुछ भेदों का विचार करने के बाद, याकोबी कहते है, 'भद्रेश्वर की रचना में साहित्यिक गुण कम है। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के इतिहास की असम्बद्ध सामग्री का संग्रह मात्र है कि जो चूर्णि और टीका के प्रचुर साहित्य से छांट ली गई है। कथावली हेमचन्द्र की स्थविरावली चरित्र से तुलना में नीचा है क्योंकि स्थविरावली चरित्र में जम्बू से वज्रसेन तक के

---

२२. हीरालाल हंसराज, जामनगर वाले द्वारा सन् १९११ में प्रकाशित; हर्टेल द्वारा सन् १९२० में जरमन भाषा में अनूदित; देखो विण्टरनिट्ज : भासाइ भाग २ पृ० ५४५।

२३. पेटरसन की प्रतिवेदनाएं ४, पृ. ८०।

२४. देखो श्री ऋषिमण्डल-प्रकरणम् आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला सं. १३, वलाड १९३९, उसका इण्ट्रोडक्शन विशेष रूप से, जैन ग्रन्थावली पृ. १७०; जैसलमेर भण्डारों की हस्तप्रतियों का सूचीपत्र पृ. १४, स. १२६, बड़ोदा १९२३; पाटण हस्त. की सूची, भाग १, पृ. ११९ आदि।

२५. याकोबी सम्पादित, बिबलोथिका इण्डिका, कलकत्ता से १९३२ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण, स्थविरावलीचरित्र को देखो। पाटण हस्त. की सूची भाग १, पृ. ५९, २४४।

युगप्रधानों और आचार्यों का सलग इतिहास प्रसन्न संस्कृत श्लोकों और ओजस्वी काव्यशैली में देती है। कोई आश्चर्य नहीं कि स्थविरावली ने इस प्राचीन कथावली को बहुत काल से इतना भुला दिया था कि यह नष्ट हुई ही समझ ली गई थी जब तक कि उसकी एक मात्र प्रति फिर से उपलब्ध हो कर प्रकाश में नहीं आई।

१५. कथा समास [उपदेशमाला]—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उवएसमाला मे धार्मिक व्यक्तियो के अनेक उल्लेख है कि जिनकी पूर्ण कथाए जिनभद्र रचित इस प्राकृत ग्रन्थ में दी गई है। इस जिनभद्र का समय और पहचान आज भी पूरी तरह से नहीं हो पाई है[२६]। कथाओं के सस्कृत में और भी चयनिकाए है। एक तो सर्वनन्दी की है और दूसरी किसी अज्ञात लेखक की[२७]। टीकाकारों ने न केवल कहानिया ही दी हैं, परन्तु मूल-ग्रन्थ मे उल्लिखित दृष्टान्तों की कथाओं के स्वतंत्र संग्रह करना भी एक सामान्य प्रथा हो गई थी जैसा कि जिन-भद्र ने उवएसमाला की कथाओं का यह संग्रह तैयार किया है। उत्तराध्ययन, शीलोपदेशमाला, भगवती आरा-धना आदि ग्रन्थों के दृष्टातों की कथाएं भी पृथक रूप में सकलित और सग्रहीत की गई है[२८]।

१६. कथासंग्रह [अन्तर-कथासंग्रह या कथाकोश]—इसका लेखक है हर्षपुरीय गच्छ के तिलकसूरि का शिष्य राजशेखर जिसको १४वीं सदी के मध्य का समय दिया जा सकता है। इसका प्रबंधकोश सं. १४०५ का रचित है। कथाएं सब सरल संस्कृत गद्य में लिखी है। उनकी शैली बिलकुल बातचीत की है। शब्द-विन्यास प्रणाली देशज शब्दों से बहुत कुछ रंगित है। संस्कृत, महाराष्ट्री और अपभ्रंश गाथाएं बहुलता से ग्रन्थ भर में उद्धृत हैं। अनेक कथाएं तो सिद्धान्त की गाथा कह कर ही कही गई है। ऐसी गाथा में किसी व्रत का गौरव गान किया जाता है, या सदाचार या समझदारी से काम लेने का उपदेश दिया जाता है। तदनन्तर गाथोक्त भावों के स्पष्टीकरण में दृष्टान्त रूप से कथा कही गई है। कई स्थलों पर तो शैली आकार और विषय पचतंत्र का ही स्मरण करा देती है। इस ग्रन्थ की रचना मे रचयिता के दृष्टिकोण दो रहे मालूम पडते हैं। लगभग ८६ कथाएं तो धार्मिक और नैतिक शिक्षा की ही हैं और शेष १४ का वाग्विदग्धता और परिहास द्वारा मनोरजन का लक्ष्य है। ग्रन्थ से ही यह विभाग दीख पड़ता है, परन्तु विवेचन मे परस्पर पृथक्-करण नहीं है। दार्ष्टान्तिक कथाओ में सांसारिक चतुराई के सभी विषय हैं और उनमे से कुछ पर जैनधर्म और आचार की छाप स्पष्ट ही दीख पडती है। यद्यपि दूसरो ने भी इन विषयों पर कथाएं कही है, फिर भी यह बहुत संभव है कि अधिकाश कथाए काल्पनिक और फर-माइशानुसार घड़ी गई सी प्रतीत होती हैं। कुछ तो भार-तीय कथाओ के जनप्रिय सग्रह में से चयन की हुई है तो दूसरी जैसे कि रोहक की, जैन टीका साहित्य में से ली गई है कि जिसका बीज चूर्णियों और भाष्यों में प्राप्त है। इसके विकल्प-शीर्षक 'अन्तरकथा' का कदाचित यह अभि-प्राय है कि ये कथाए बड़ी कथाओ की उपकथा रूप से बारम्बार उपयुक्त होती रही हैं[२९]।

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही कथासंग्रहों का उल्लेख जिनरत्नकोशमें है, परन्तु वे या तो अनामी हैं या हमें उनके लेखकोंका विशेष परिचय नही है। उनकी सूची मात्र यहा दी जाती है:—१. हेमाचार्य का कथासंग्रह, २. आनन्द सुन्दर का कथासंग्रह, ३. मलधारीगच्छ के गुणसुन्दरसूरि के पट्टधर सर्वसुन्दर [सं. १५१०] का कथासग्रह, ४. १८८४-८७ की प्रतिवेदना की सं. १२७२ के कथासंग्रह [जिस पर सं. १५२४ लिखा है] में जीव दया आदि कई विषयो पर सस्कृत मे कई उपदेशात्मक छोटी-छोटी कथाएं है। कथासंग्रहों का यह एक अच्छा नमूना है जिनका उप-योग साधू लोग अपने प्रवचनों में दृष्टान्तों के लिए करते

२६. पाटण हस्त. सूची भाग १, पृ. ९०।

२७. देखो हस्तप्रति सं. १२७१ [भण्डारकर ५] और १३२५, १८९१-९५ की।

२८ वेलनकर कृत राएसो, बंबई शाखा की हस्तप्रतियों की सूची [बंबई १९३०] सं. १४१७, १७०३, १९९५; और देखो आराधना कथाकोश ग्रन्थ निर्बन्ध आगे।

२९. श्रीकथाकोश सूर्यपुर १९३७, उद्धरणों आदि की वर्ण-क्रमानुसारी सूची सहित; भण्डारकर प्रा. शोमं. में १८८७-९१ की सं. १२९८ की हस्तप्रति में मुद्रित सन् प्रति से भिन्न ही प्रारम्भ मिलता है।

थे। ५. सन् १८६१-६५ की प्रतिवेदना की स. १३२६ के कथासग्रह मे और १८८७-६१ की सं. १२६७ में बहुत कुछ समानता है। इसमे धनदत्त, नागदत्त, मदनावली आदि की कथाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा आदि के फलो की प्राप्ति के दृष्टान्त रूप दी हुई है। ६. सन् १८६१-६५ की प्रतिवेदना की संख्या १३२५ के कथाकोश मे संस्कृत गद्य मे आठ कथाएं, कुरूचन्द्र, पद्माकर आदि की, साधुओ को निवास, शैयातर, आहार-पानी, औषधि, वस्त्र और पात्रादि देने के फल की कथाए है। इनका उल्लेख उपदेशमाला की २४०वी गाथा 'वसही-सयणासण आदि' में है। ८. सन् १८७१-७२ की प्रतिवेदना की स. ३३५ के कथासंग्रह मे पहली कथा विक्रमादित्य की ही है। इसके अतिरिक्त श्रीपाल आदि की अन्य कहानिया है जिनमें जैन व्रतों और आचारों के फलो का प्रभाव परिलक्षित किया गया है। इसकी सब कथाएं संस्कृत मे है, परन्तु उनमें मराठी और अपभ्रंश के उद्धरण भी है। सिर्फ एक कथा ही इस सग्रह मे प्राकृत मे है।

जिनरत्नकोश के अनुसार और भी कथासग्रह है जैसे कि कथाकल्लोलिनी, कथाग्रन्थ, कथाद्वात्रिंशिका [परमानन्द की] कथाप्रबध, कथाशतक, कथासमुच्चय कथासंचय आदि। परन्तु जब तक हस्तप्रतियों की सूक्ष्म परीक्षाएं नहीं की जाती है तब तक उपर्युक्त कथाकोशो से वे कहा तक मिलते या नही मिलते है न तो यहां कहा जा सकता है और न उनकी कथाओ आदि के विषय मे ही कुछ कहा जा सकता है।

जैन वर्णनात्मक साहित्य पर प्राच्यविद्याविदों के विचार :

प्राच्यविद्याविदों ने जैन साहित्य का अध्ययन बहुत देर से प्रारम्भ किया था। फिर भी अनेक प्रमुख पण्डितों ने प्रमुख जैन वर्णनात्मक ग्रन्थों पर काम किया है और उससे भारतीय विद्या अध्ययन की अनेक शाखाओं को नई नई सामग्री प्राप्त हुई है। कुछ ने तो भारतीय साहित्य और जीवन ही नहीं, अपितु भारतीय सस्कृति की मुख्य-मुख्य धाराओं के समझने के लिए उसके अध्ययन पर पर्याप्त बल भी दे दिया है। उनके विचार जैन वर्णनात्मक साहित्य के मूल्यांकन के लिए ही महत्वपूर्ण नही है अपितु इस क्षेत्र में भावी काम करने वालो की रहनुमाई के लिए भी रचनात्मक सूचनाए उनमे मिलती हैं। जैन साहित्य की विभिन्न शाखाओं का सूक्ष्म अध्ययन अभी तक शैशवास्था मे ही है हालाकि क्षेत्र की सम्पन्नता का अग्रचिंतन श्री ब्हूलर ने वर्षों पहले ही यह लिखकर कर लिया था[1] कि जैन लेखकों ने इतने महत्व की सिद्धी व्याकरण, ज्योतिष और साहित्य की कतिपय अन्य शाखाओं मे प्राप्त कर ली है कि उन्हे अपन विरोधियों से भी सम्मान प्राप्त हुए बिना नही रह सका और उनकी कुछ कृतिया तो आज भी यूरोपीय विज्ञान के लिए महत्व की है। दक्षिण भारत मे, जहा कि जैनो ने द्रविड कबीलों में काम किया था, वहा भी उनने उनकी भाषाओ के विकास को प्रगति दी थी। कन्नड़ साहित्य की भाषा और तमिल एवम् तेलगू भी जैन साधुओ की लगाई नीव पर ही खडी है। इस प्रवृत्ति ने उन्हे अपने उचित लक्ष्य-बिन्दु से यद्यपि बहुत भटका दिया था, परन्तु उसने साहित्य और सस्कृति के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान भी उनके लिए बना दिया। यदि कार्यकर्ता अध्ययन की सूक्ष्म एवम् तुलनात्मक शैलीका अनुसरण करते रहेगे तो उनके अनुसंधान का फल अवश्य ही भारतीय-विद्याध्ययन के क्षेत्रो को समृद्ध ही करेगा। जैन वर्णनात्मक साहित्य के सम्बन्ध में विण्टरनिट्ज[2] कहता है, "बौद्ध भिक्षुओ की तरह ही जैन साधू भी अपने प्रवचनों को कथा कह कर सजाने मे, ऐहिक कथाओ को सतो की जीवनियो मे परिवर्तन करने मे, जैन सिद्धातों को दृष्टात द्वारा व्याख्या करने मे, सदा ही प्रसन्न रहते थे, और इस प्रकार रूपक कथाओ के नैसर्गिक भारतीय प्रम को अपने धर्मानुयायी बढ़ाने एवम् जहा तक बने स्थिर रखने मे पूरी तरह लाभप्रद उपयोग करते थे।" जैसे कि बौद्ध जातकों मे हुआ है, जैन टीकाग्रन्थो मे भली प्रकार जमाए हुए इस वर्णनात्मक साहित्य मे जनोपयोगी कितने ही विषय हैं जिनमे कुछ ऐसे भी है कि जो अन्य भारतीय एवम् अभारतीय साहित्य मे भी मिलते है और यह सार्वभौमी साहित्य की सामान्य निधि का ही एक भाग है।"

---

१. आन दी इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनाज, लंदन, १६०३, पृ. २२।

२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ. ४८४, ५४५ आदि।

विण्टरनिट्ज के वैराग्य काव्य मत का विचार तो पहले ही किया जा चुका है, परन्तु वे उस सम्बन्ध मे फिर भी कहते है[३] कि "वे लोग जनप्रिय कथाओं, परी-कक्षाओं, रूपकों और दृष्टान्तो से अपना मसाला तैयार करते है। जैनों को लोक-काव्य और उसमें भी लोक-कथाएँ सदा ही विशेष प्रिय रही है। जैन साहित्य, आगमिक और उससे अधिक आगमबाह्य, जनप्रिय कथाओं, काल्पनिक किस्सों और प्रत्येक प्रकार की वर्णनात्मक कविताओं का सत्य ही खजाना है।" उनके विस्तार और ध्वनि-यथार्थता पर वह कहता है, "जैनों मे वर्णकों की राशि और वर्णक ग्रन्थ निःसदेह व्यापक और प्रचुर है। काल्पनिक-कथा साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के लिए ही वे अतिशय महत्व के नही है, अपितु इसलिए भी कि अन्य साहित्य-शाखो से अधिक वे हमे जन साधारण के यथार्थ जीवन की झाँकिया देखने का अवसर देते है। इन वर्णक साहित्यों की भाषा मे जिस प्रकार लोगों की देशज भाषा से मेल खाने वाले बहुत स्थल मिलते है, उसी प्रकार उनका चर्चित विषय भी न केवल राजो और साधू-सन्यासियों के ही अपितु भिन्न-भिन्न स्तरों के व्यक्तियो के यथार्थ जीवन का चित्र भी ऐसा प्रस्तुत करते है कि जैसा अन्य किसी भी भारतीय साहित्यिक ग्रन्थो मे, और विशेषकर ब्राह्मण ग्रन्थो मे कही भी नही मिलता है।"

डा० हरटल[४] ने कि जिनका पचतत्र का अध्ययन सर्वविदित है, मध्यकालिक वर्णनात्मक जैन ग्रथों मे से अनेक का अध्ययन किया है। उनकी सम्मति मे "जैनों का वर्णनात्मक साहित्य कितनी ही समस्याओ से सम्बन्धित है जिनमें से प्रमुख समस्याएं इस प्रकार है—(१) कथाओं के देशान्तर गमन की समस्या। यह "साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र की है। इसका निराकरण भारतवर्ष के लिए ही नहीं, अपितु अन्य देशों के लिए भी समान महत्व का है।" (२) विशुद्ध भाषाई समस्या, जिसका हल भी 'ऐसे परिणामों पर पहुँचाए बिना नही रह सकता है कि जो सस्कृत एवम् अन्य भारतीय भाषाओं के इतिहास के लिए ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए भी मूलभूत महत्व का सिद्ध हो सकता है।' उनने इन दोनों समस्याओं पर खूब ही ऊहापोह किया है और इन ग्रन्थों की भाषाई दृष्टि के अध्ययन से निकाले गए उनके निष्कर्ष बहुत सूक्ष्म और विचारोत्तेजक भी है। ऐसा कहते हुए उनने मध्य और उत्तरमध्यकालिक गुजरात के श्वेताम्बर आचार्यों के लिखे संस्कृत वर्णनात्मक ग्रन्थो की ओर विशेष रूप से दृष्टि रखी है। परन्तु मोटामोटी उनका यह मत अन्य जैन वर्णनात्मक साहित्य को भी समान रूप से लागू होता है और इसलिए उसका सावधानी से अध्ययन अपेक्षित है। यह तो ऊपर पहले ही कहा जा चुका है कि कर्म-सिद्धान्त ही अनेक कथाओ की रीढ़ बना हुआ है और इस सम्बन्ध में श्री हरटल कहते हैं, 'कोई भी उस पवित्र प्रभाव को अस्वीकृत नहीं कर सकता कि जो जैनसघ के श्रद्धावान सदस्यो पर न केवल अपने साधर्मी भाइयों अपितु पशु-पक्षियो तक के प्रति किए जाने वाले व्यवहार मे इस कर्म-सिद्धान्त का अवश्य ही पड़ता है। एक जैन के लिए पशु-प्राणी भी उतना माननीय है जितना कि एक मनुष्य।' उनने जैन औपदेशिक वर्णनात्मक ग्रन्थो की प्रमुख धाराओं में से कुछ का सिंहावलोकन इन शब्दो में किया है :—

'इन ग्रन्थों [याने औपदेशिक ग्रन्थो] में और सिद्धांत के टीका ग्रन्थों मे, जैनों का अत्यन्त मूल्यवान वर्णनात्मक साहित्य भरा हुआ है जिनमें हर प्रकार की कथाए है : रमन्यास, उपन्यास, दृष्टान्त-कथा और पशु-रूपककथा, सिद्ध पुरुषों की जीवनिया, काल्पनिक कथा और हर प्रकार की कौतुक एवम् अद्भुत कथा। श्वेताम्बर साधुओं ने इन कथाओं को अपने सिद्धान्तों के देशवासियो मे प्रचार करने का महत्वपूर्ण साधन बना लिया था और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि सभी भाषाओं मे, गद्य और पद्य मे, काव्य मे और दैनिक प्रयोग की सीधी-सादी शैली में वर्णन करने की यथार्थ कला का भी विकास किया था। अकेली कथा ही नहीं अपितु ऐसी रचनाएं उनकी हैं कि जिनमें अनेक कहानियां कहानी के चौखट में ऐसी जड़ दी गई है कि जैसे पचतत्र में जड़ी हैं और ग्रिम्स बन्धुओं की पारिवारिक कहानियों के संग्रह

३. इण्डियन कलचर, भाग १, २, पृ. १४७।
४. आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात, लैपजिग १६२२, पृ. ११ आदि, ३, ६ आदि।

की सी स्वतत्र कहानी-सग्रहों में हैं।

"प्रवचन के प्रारम्भ मे, प्रवचनकार जैन साधु, कुछ शब्दो या श्लोको मे, अपनी धर्मदेशना का प्रसग बता देता है और फिर एक लम्बी सी मनोरजक कहानी कहने लगता है कि जिसमे अनेक रोमाचक घटनाए होती है और अनेक बार तो एक कथा मे से दूसरी कथाए निकलती जाती है। कथा के अन्त मे वह सदा ही केवली का अध्याहार याने प्रवेश कराता है कि जो उस नगर के उद्यान मे जहां के लोगो की कथा कही जा रही है, अकस्मात् विहार करते-करते आ जाते हैं, और इन केवली का धर्मोपदेश सुनकर लोग पूछते है कि इतने उतार-चढ़ाव और भव-भवान्तर जो देखे गए, वे सब किस कारण से हुए? केवली तब उन्हें पूर्व भवों की अच्छी और बुरी सब घटनाओं का विवरण देकर उनका समाधान देकर देते है।"

"इन जैन प्रवचनों का साहित्यिक रूप बौद्ध जातकों जैसा ही यद्यपि होता है, परन्तु वह उनसे कही अधिक उन्नत है। जातक का प्रारम्भ एक कथा से होता है जो कि अधिकाशतः अपने में महत्वहीन ही होती है। ऐसा ऐसा ऐसे ऐसे भिक्षु को हुआ था, बस यही कथा होती है। परन्तु अन्त मे बुद्ध का आगमन उसमे होता है। दूसरे भिक्षु उनसे वर्तमान अवस्था के विषय में प्रश्न करते है, और बुद्ध तब उन्हे उस भिक्षु के पूर्व भव की कथा कह कर वर्तमान अवस्था की व्याख्या कर देते है। पूर्व भव की कथा ही जातक की मुख्य कथा है। पक्षान्तर मे जैन प्रवचनो मे यह कथा उसका परिणाम होती है। बोधिसत्व या भावी बुद्ध स्वयम् ही इसमें एक अभिनेता होते है और इसलिए वह अभिनय उनके योग्य भी होना ही चाहिए। संक्षेप में सारी कहानी उपदेशी या उन्नायक होनी भी आवश्यक है। जातक यद्यपि मनोरंजक है परन्तु बुद्धों की रचना तो वे नहीं हैं। वे सारे भारत व्यापी कहानी के महान् संग्रह से ही चुनी हुई हैं। इन जैन-कहानियों में से अनेक कहानियां निष्कपट, कौतूहलक, या मनोरंजक किसी न किसी रूप में होती ही है, परन्तु औपदेशिक तो वे नही ही होती हैं। इसीलिए बौद्ध भिक्षु जिस कहानी का प्रयोग करते हैं उसे अपने कार्यानुसार परिवर्तन कर लेते हैं; क्योंकि जातक उपदेशी होना ही चाहिए और बोधिसत्व को शोभनीय ऐसा उसका काम या अभिनय भी उसमें होना आवश्यक है। इसका दुखद परिणाम यह होता है कि वह जातक एक नीरस कहानी मात्र रह जाता है और उसका मौलिक रस सब गायब हो जाता है। यही नहीं उसका विकास भी बहुधा मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तों या सम्भावनाओ से विमुख पड़ जाता है। बुद्ध अपने सिद्धान्तों का उपदेश सीधी प्रत्यक्ष रीति से देते है और बोधिसत्व का दृष्टांत देकर यह बताते है कि कैसे किसी जीव को बुद्ध के धर्म-सिद्धान्तो के अनुसार जीवन यापन करना चाहिए। यदि चुनी हुई जन-कथा जातक रूप में परिवर्तन की जाने की धर्म-प्रवृत्ति वाली नही है तो उसको तदनुरूप बदलना ही चाहिए। बुद्ध के लिए अर्थशास्त्र याने राजनीति का अध्ययन करना पाप है। परन्तु अनेक उत्कृष्ट भारतीय कहानिया इसी शास्त्र से विकसित हुई हैं। बौद्ध-भिक्षुगण अपने कथा संग्रहो मे अनेक ऐसी नीति कथाएं यद्यपि सम्मिलित करते तो है, परन्तु अपने सिद्धान्तो के अनुसार उन्हे उन कथाओ की वे बाते ही और इसलिए उनकी अनिवार्य दृष्टियाँ भी, उन्हें बदल देना होती हैं और ऐसा करते हुए उन्हे उन कथाओ को ही अनिवार्यतः नष्ट कर देना पडता है।[५] यह कोई अकस्मात् ही नही है कि पंचतंत्र के अनेक संस्करणो मे बौद्ध सस्करण एक भी नहीं है जब कि जैनों के सस्करण, जो कि पंचाख्यान या पचाख्यानक कहलाते हैं, न इस प्राचीनतम नीति-ग्रन्थ को सारे भारतवर्ष में ही लोक प्रिय नही बना दिया है अपितु इन्डोचायना और इन्डोनेशिया मे भी। पचाख्यान, सस्कृत का और अन्य देशी भाषाओं का, यथार्थ मे ही इतना जन प्रिय इन सब देशों में हुआ कि उसका मूलतः जैनकृति होना स्वयम् जैनो द्वारा ही बिलकुल भुला दिया गया।

"बौद्ध कथक, फिर, लोगों की चमत्कारिक, नृशंस और रौद्र कथाओं की तीव्र वासना का लाभ उठाने का

५. लेखक के लेख जर्मन भाषा के देखो—'Die Erzahlungsliteratur der Jaina' (Geist des Ostens I, 178ff) and 'Ein altindisches Narrenbuch' (Ber. d. Kgl. Sachs. Gesedschaft der Wissenschaften, Ph.-h. KL. 64 (1912), Heft.-1).

प्रयत्न सदा ही करते रहे हैं। इसीलिए वे बार-बार उन्हीं भावों को वैसी ही कहानियों में दोहराते भी रहते है और उन्हें कार्य-कारण सम्बन्ध एवम् प्रेरणा की मनोवैज्ञानिकता का कोई भी विचार नहीं है। उनकी कहानियां बौद्ध विशिष्ट-गुणी होती है न कि भारतीय विशिष्ट-गुणी।

भारतीय वर्णनात्मक कला की लाक्षणिक है जैन कहानियां या कथाएं। उनमे भारतीय जनता के सभी वर्गों के जीवन और रीति-रिवाजों का वर्णन ही नही है अपितु वह यथार्थता के बिलकुल अनुरूप भी है। इसीलिए जैन साहित्य, भारतीय साहित्य के महान् पुंज मे, न केवल लोक-साहित्य का ही (उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ मे भी) अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास मे भी अत्यन्त मूल्यवान है।

कहानी कहने की जैनों की शैली बौद्धो की शैली से अति अनिवार्य कितनी ही बातों मे भिन्न है। उनकी मुख्य कथा पूर्व भव की कथा नहीं अपितु वर्तमान भव की ही होती है। वे अपने धर्म-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष रूप मे नही अपितु परोक्ष रूप मे ही उपदेश देते है। उनकी कथाओ मे भावी जिन या तीर्थंकर को अभिनेता या पात्र नही बनाया जाता है।

यह स्पष्ट है कि ऐसी दशा मे जैन कथाकार पूर्ण स्वतंत्र रह पाते है। चूंकि उनका आशय अपनी कथाओं के पात्रों को धर्मानुसार आचरण कराने का सम्भवतया नहीं रहता है इसलिए वे पुरानी कथाएं कहने मे भी स्वतंत्र रहते हैं क्योंकि ये कथाएं साहित्यिक या जन-प्रवादी परम्परा से उन्हें विरसे मे मिली हुई होती हैं। उनकी कथाओं के पात्रो की प्रवृत्तियां धार्मिक है या अधार्मिक, उनके पात्र दुखी रहते हैं या सुखी, इससे इन कथको का कोई भी सरोकार नहीं है। क्योंकि जो धर्मोपदेश उस कहानी से दिया जाता है वह इन घटनाओं में निबद्ध या निहित नही है कि जिस तरह कहानी कही गई है अपितु उस व्याख्या मे है कि जो कथा के अन्त में केवली स्पष्ट करते हैं। यह केवली ही बताता है कि जो कुछ दुर्भाग्य इस कथा के विभिन्न पात्रों का हुआ, वह उनके बुरे कर्मों के कारण था और इसी तरह जो उनका सौभाग्य हुआ, वह उनके अच्छे कर्मों के कारण था कि जो उनने पूर्व भवों मे किए और कराये थे। इससे स्पष्ट है कि धर्म और नीति सिखाने की यह शैली या रीति प्रत्येक कहानी में लागू हो सकती है फिर वह चाहे जैसी ही हो, क्योंकि प्रत्येक मनोरंजक कहानी मे वे जीव जिनकी घटनाएं उसमे वर्णन की जाती है, अवश्य ही अनेक उतार-चढ़ाव से गुजरना चाहिए। इस तथ्य का फल यह होता है कि कोई भी कथक जैन साधू को किसी भी कहानी मे जैसी कि परम्परा से वह प्राप्त हुई है, कोई भी फेर-बदल करने की कभी आवश्यकता ही नही होती और इसीलिए जैन कथाए, बौद्ध ग्रन्थों मे चली आती कथाओं की अपेक्षा लोक-कथाओं की अधिकतम प्रामाणिक आधार है।

जैन साधू, सिर्फ कहानी दोहरा देने वाले ही नहीं थे, परन्तु कथाओ के उत्पादक भी थे। उनने नई-नई कहानिया, आख्यान, उपाख्यान अपनी उपदेशी पुस्तकों के लिए रचे या आविष्कार किये है। सच तो यह है कि साहित्यिक कहानिया कहना उन्हे विशेष रूप से सिखाया जाता था। इसलिए यह आवश्यक है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और उत्तर-अपभ्रंश काल के हमारी आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के वर्णनात्मक जैन ग्रन्थों की सूक्ष्म परीक्षा, अध्ययन और सम्पादन, भारतीय जीवन, साहित्य और संस्कृति के हमारे ज्ञान को सुसम्पन्न करने के लिए किया जाए। ●

नलपुर का जैन शिलालेख

श्री रतनलाल कटारिया

यह शिलालेख भीमपुर में पाया गया था इस वक्त ग्वालियर म्युजियम मे है। इसमें कुल पक्तिया ४० और कुल सस्कृत श्लोक ७० है जिनमे छन्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :—

वसततिलका १०, इन्द्रवशा १, स्वागता २ उपजाति १२, रथोद्धता ३, अनुष्टुप् ३२, शार्दूल-विक्रीडित ४, मालिनी १, मंदाक्राता २, शालिनी १, इन्द्रवज्रा २= ७०।

यह शिलालेख नलपुर (नरवर) का है, 'देखो श्लोक १४'। इसका लेखनकाल वि० स० १३१६ का है 'देखो श्लोक ४०'। यह नरवरगढ़, शिवपुरी (ग्वालियर-मध्य प्रदेश) के पास है। "कादबिनी" दिसबर ६६ मे एक लेख कुन्दनलाल जी जैन, दिल्ली ने "बुदेला सरदार ऊदल की ससुराल नरवरगढ़" शीर्षक से प्रकाशित करवाया है। इस लेख मे बताया है कि—स० १२६५ में गजरथ प्रतिष्ठा भट्टारक विष्णुसेन के द्वारा नलपुर मे हुई। यहा जैन पुरातत्व की विपुल सामग्री विखरी पडी है—अनेक ध्वस्त जैन मन्दिर है।

"राजस्थान के जैनसत" पृ० १७२ मे लिखा है :— "स० १८४१ में भट्टारक जगत्कीर्ति द्वारा नरवर मे प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ।" इन सब से जाना जाता है कि नलपुर सैकड़ों वर्षो से बराबर जैन संस्कृति का एक भव्य क्षेत्र रहा है। नलपुर को नलगिरि, नलपुरगिरि भी कहीं-कही लिखा गया है नलपुरगिरि का ही अपभ्रंश नरवरगढ़ है।

श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री ने इस शिलालेख की हूबहू छाप तथा उसको पढ़कर उतारी गई हस्तलिखित प्रति दोनों ४-५ महीने पूर्व हमारे पास सम्पादनार्थ और हिन्दी अनुवाद करने के लिए भिजवाई थी किन्तु समयाभाव से हमारी ओर से इसमें विलंब हो गया। इसी अंतराल मे श्री कस्तूरचन्द जी 'सुमन' जैन ने "भीमपुर का जैन अभिलेख" शीर्षक से इस सम्पूर्ण शिलालेख को 'अनेकान्त' अप्रेल ७० के अक मे प्रकाशित करवा दिया किन्तु इसमे एक भी श्लोक शुद्ध नही दिया गया है। कस्तूरचन्द जी सा० शिलालेख को शुद्ध पढ ही नहीं पाये है। फिर भी उन्होने अपने उक्त लेख मे यह आकाक्षा की है कि कोई विद्वान् इसका हिन्दी अनुवाद कर दे। लेकिन महा अशुद्ध श्लोको का कोई विद्वान् क्या हिन्दी अनुवाद करेगा। आपने इस शिलालेख का अगले अक में भाषा शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने की भी सूचना की है। किन्तु जब एक भी श्लोक शुद्ध नही है जिससे कोई अर्थ ही नहीं बैठता ऐसी हालत मे कोई क्या हिन्दी अनुवाद और क्या भाषा शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करेगा? क्या कीचड से धोने पर कभी शुद्धता आ सकती है? मैं उनके प्रयत्न और भावना की आलोचना नही करता किन्तु वस्तुस्थिति की समीक्षा कर रहा हूँ—उनकी अपेक्षा तो पं० परमानन्द जी शास्त्री ने शिलालेख को काफी शुद्ध पढ़ा है अगर वे अपनी प्रतिलिपि को ही अनेकान्त मे प्रकाशित करते तो श्रेष्ठ रहता किन्तु वह प्रतिलिपि हमारे पास होने से शायद वे ऐसा नही कर सके।

शास्त्री जी की प्रतिलिपि को ही मूलाधार से परिशुद्ध कर मय हिन्दी अनुवाद के हम आगे प्रस्तुत कर रहे है। जिससे विज्ञ पाठक कस्तूरचन्द जी सा० के प्रस्तुत किये पाठ को और इस पाठ को परस्पर मिलान कर शुद्धता की परीक्षा कर सकेंगे।

श्लोको के छंद निर्णय मे भी कस्तूरचन्द जी सा० ने कुछ गलतियाँ की है जो इस प्रकार हैं—

श्लोक ५ इन्द्रवज्रा की बजाय इन्द्रवंशा होना चाहिए श्लोक ६ रथोद्धता की बजाय स्वागता होना चाहिए। श्लोक १७, १८, (१६), २७, २८, ३६, ४२ और ६५

इन्द्रवज्रा की बजाय उपजाति होना चाहिए।

श्लोक ५०, ५२ को अपठनीय लिखा है इनका छद नाम क्रमशः स्वागता, शालिनी है।

श्लोक ३८, ३९ उपेन्द्रवज्रा लिखा है किन्तु उपजाति होना चाहिए।

आपने अपने लेख मे 'कच्छपघात वशी' राजाओ का उल्लेख किया है सो पाठको की जानकारी के लिए मै यह बताना चाहता हूँ कि—कच्छपघात को बोल-चाल मे "कछवाहा" कहते है।

लेख मे—"नरवर्मदेव के पास शत्रु भी प्रसन्न चित्त रहते थे।" ऐसा जो श्लोक नं० के साथ लिखा है सो किसी भी श्लोक मे ऐसा कथन नही है यह कथन गलत प्रतीत होता है।

इसके सिवा कस्तूरचन्द जी सा० ने इस शिलालेख का नाम—"भीमपुर का शिलालेख" दिया है किन्तु यह शिलालेख नलपुर का है, क्योकि इसमे नलपुर का ही वर्णन है। भीमपुर का कही कोई नामोल्लेख तक नही है। भीमपुर मे पाने से या आज ग्वालियर म्युजियम मे होने से शिलालेख वहा का नही हो जाता। अगर शिलालेख मे स्थान का समूचन न हो तो फिर भी चाहे जो नाम दिया जा सकता है किन्तु जब शिलालेख मे स्पष्ट नलपुर का उल्लेख है तो उसका अपलाप कर भीमपुर का नाम देना उचित नही, उल्टी इससे भ्राति होती है। हमने इसीलिए इस अभिलेख का नाम "नलपुर का शिलालेख' दिया है।

इस शिलालेख मे निम्न प्रकार वर्णन है :—देवशास्त्र गुरू का मगलाचरण, यज्वपाल राजवश इसमे परमादिराज-चाहड नृवर्मा राजा हुए उनके बाद आसन नरेन्द्र हुए। इनके राज्य मे नलपुर नगर था जहाँ जैसवाल वश उस वश मे जैत्रसिह उसके पूर्वज तथा पुत्र पौत्रादि का उल्लेख, जैत्रसिह ने नलपुर मे सगमरमर के नवीन जिनालय का निर्माण कराया, पौरपाट जाति के नागदेव ने महेन्द्र बन कर १३१९ सं० मे इसकी प्रतिष्ठा कराई, प्रतिष्ठा गुरू अमरकीर्ति देव और वसन्तदेव थे, जैसवाल जाति के अन्य अनेक श्रेष्ठीगण, परवार और पौरवाड़ जाति के साहू (शाह) एव माथुरवंशी श्रावक आदि सब इस जिनालय निर्माण में सहयोगी थे, केश गण के देवकुमार स्वामी के शिष्य कविवर वीरचन्द्र से ज्ञान प्राप्त कर विद्वान् देवचन्द्र ने यह प्रशस्ति बनाई थी। वास्तव्य गोत्री कायस्थ जाति के शरद् के पुत्र सोमा से उत्पन्न शेखर ने यह प्रशस्ति वेदी पर लिखी। काश्यपगोत्री पायक सूत्रधार (शिल्पी) के पुत्र वामदेव ने यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की।"

यह सब वर्णन अत्यन्त प्रांजल सुन्दर सरस मनोहर प्रसाद गुण युक्त काव्य मे किया गया है। काव्य शैली बडी ही लाजवाब है इसी से आकृष्ट होकर मैंने इस पर परिश्रम किया है पाठक भी इसका समुचित रसास्वादन ले सके इस लिए इसे हिन्दी अर्थ के साथ आगे प्रकट किया जा रहा है। अब तक जितने शिलालेख प्रकट हुए है उन सब मे काव्य दृष्टि से यह सर्वोपरि ज्ञात होता है।

श्री मान् प० वर्य्य दीपचन्द जी पाण्ड्या ने इस साहित्यिक कार्य मे मुझे सब प्रकार का पूर्ण सहयोग दिया है इसके लिए मै उनका अतीव आभारी हूँ।

अगर इस महान् कार्य मे किसी भी प्रकार की कोई गलती विशेषज्ञ विद्वानो को दृष्टिगत हो तो मुझे सूचित करने का अनुग्रह करे मै उनका आभारी होऊँगा।

॥ श्री ॥

नलपुर का जैन शिलालेख

(हिन्दी अनुवाद युक्त)

॥ स्वस्ति ॥

(वसंत तिलका छंद)

भामडलीयमिषतः सवितारमेषा
समेवितु दिवसवासवनंदिनीव।
यस्यांसयोर्लसति कुंतल कांत लेखा
स श्रेयसे भवतु व. प्रभुरादिदेव. ॥१॥

अर्थ .—वे आदिनाथ भगवान् तुम्हारे कल्याण के लिए हो जिनके दोनो कंधो पर लहराती हुई केशराशि भामडल के बहाने ऐसी सुशोभित हो रही है मानो सूर्य की सेवा के लिए यमुना नदी ही हो।

(विशेष :—दिवसवासवनदिनी—दिन का इन्द्र-सूर्य उसकी पुत्री=यमुना नदी। यहा भामडल को सूर्य की उपमा दी है क्योकि दोनो पीले है और केशराशि को यमुना नदी की क्योकि दोनो काली है।)

उद्भासयंति यदुपर्युरगेन्द्रचूला—
रत्नप्रदीपकलिकाः किल सप्त संख्याः।

तत्त्वानि सप्त भुवने कुमतांधकारे
पार्श्वं प्रभुर्भवतु संव विभूतये वः ॥२॥

अर्थ :—वे पार्श्व प्रभु तुम्हारी विभूति के लिए हों जिनके मस्तक पर नागराज के सात फण रूपी रत्न दीप मिथ्या मत रूपी अंधकार से व्याप्त इस संसार में सात तत्त्वों को प्रकाशित कर रहे है।

(विशेष—सुपार्श्वनाथ के १, ५, ६ फण होते हैं तथा पार्श्वनाथ के ३, ७, ११ फण होते है, यहाँ पार्श्वनाथ के ७ फणों का वर्णन है।)

विस्रंसमान-लवणोदधि-मेखलेयं—
माकम्पमान कुल शैल नितंब बिम्बा।
यस्मिन्नभूदवनियोषिदिदं मुदे वः
श्रीवीर भर्तुरमराचल चालनं स्तात् ॥३॥

अर्थ :—महावीर भगवान् का वह मेरु कम्पन तुम्हारी प्रसन्नता के लिए हो, जिसके होने पर यह पृथ्वी रूपी स्त्री लवण समुद्र रूपी ढीली करधनी वाली हुई तथा कम्पित कुलाचल रूपी मटकते नितंबो वाली हुई।

(विशेष—यहाँ 'इयं' अवनियोषिद् के लिए और 'इदं' अमराचल चालन के लिए प्रयुक्त है।)

यस्याः प्रसादमधिगम्य जड़ाशयस्या—
प्याभाति सारसविशिष्टनिनाद संग्या।
श्रीः शारदीनशिशिरद्युति कौमुदीव
साऽहर्निशं मनसि दीव्यतु शारदा मे ॥४॥

अर्थ :—वह सरस्वती रात-दिन मेरे मन में स्फुरायमान रहे जिसके प्रसाद से मूर्ख की प्रतिभा भी सार और विशिष्ट भाषा युक्त हो शोभा को प्राप्त होती है जिस तरह शरदकालीन चाँदनी मे सरोवर की शोभा भी हंसो के मधुर कलरव से गुंजायमान होकर बढ जाती है।

(विशेष :—साहित्य मे 'ड' और 'ल' एक माने गये हैं तदनुसार यहाँ जडाशय (मूर्ख) और जलाशय (सरोवर) दोनो का ग्रहण किया गया है। 'शिशिरद्युति' का अर्थ चन्द्रमा है।) सारस का अर्थ कमल भी होता है उस पक्ष में—"सरोवर की शोभा भ्रमरों से गुंजायमान कमलों से सुशोभित हो रही थी" ऐसा करना चाहिए।

(इन्द्रवंशा—छंद)

स्याद्वादविद्यार्णव पार्वणेन्दवः
कारुण्यरत्नांकुररोहणाद्रयः
कीर्तिच्छटाधौत दिगंबरश्रियः
श्रीमूलसंघे मुनयः पुनन्तु वः ॥५॥

अर्थ :— स्याद्वाद विद्या रूपी सागर के लिए जो पूर्णिमा के चाँद है और दयारूपी रत्नांकुरों के जो उदयाचल है तथा पवित्र कीर्ति वाली दिगम्बर लक्ष्मी से युक्त है ऐसे मूलसंघी मुनि तुम्हें पवित्र करें।

विशेष :— विचार-आचार और व्यवहार की दृष्टि से मूलसघी मुनियो को क्रमश; अनेकान्ती, अहिंसक और नग्न दिगबर द्योतित किया है।)

(स्वागता छंद)

इतश्च—

यज्वपाल इति सार्थक नामा
संबभूव वसुधा धववंशः।
सर्वतः कलितकीर्तिदुकूल—
श्छत्रमेकमसृजद् भुवने यः ॥६॥

अर्थ :—(यज्वपाल) (पूजा प्रतिष्ठा कराने वालों का रक्षक) इस प्रकार के सार्थक नाम वाला राजवंश हुआ जिसने सर्वत्र अपना कीर्तिवस्त्र फैला कर इस संसार पर अपना एक छत्र तान दिया था।

(उपजाति छद)

कुले किलास्मिन्नजनिष्ट वीर—
चूड़ामणिः श्री परमाड्रिराजः।
शूरच्छिदा भर्त्सित तारक श्रीः
स्कंदोऽपि नास्कंदति येन साम्यम् ॥७॥

अर्थ :—इस वंश में वीर चूड़ामणि श्री परमाद्रिराज उत्पन्न हुए। तारकासुर का वध करने वाले स्वामी कार्तिकेय भी जिनकी शत्रु हनन में समता नही करते।

(विशेष :—अद्रि का अर्थ सूर्य भी होता है सूर्य के उगते ही जैसे तारों की शोभा विलीन हो जाती है वैसे ही परमाद्रिराज के पैदा होते ही शत्रु समाप्त हो गये।)

नोट :—'इतश्च' का मतलब है यहाँ से प्रशस्ति प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व ५ श्लोकों में मंगलाचरण है। १ से ३ मे क्रमशः ऋषभ, पार्श्व और महावीर जिन देव, ४ में शास्त्र और ५ में गुरू इस तरह देवशास्त्र गुरू का स्वस्ति पाठ किया है।)

(रथोद्धता छंद)

तत्र नाकयुवति स्तन स्थली,
पत्रवल्लिघनडंबरस्पृशि ।
चाहड: प्रतिनरेन्द्रकानन,
पयोधदावशिखिर्मूतिरुद्ययो ॥८॥

अर्थ :—उन परमाडिराज के अप्सराओं के चित्रांकित **स्तनों** का आलिंगन कर लेने पर अर्थात् उन परमाद्रिराज **के स्वर्गवासी** होने पर 'चाहड' राजा हुए जो शत्रु **राजाओं** रूपी वन को जलाने मे दावानल थे ।

(विशेष :—'स्तन-स्थली पत्रवल्लिघनडंबर' का अर्थ है स्तनों पर बेल-बूटे आदि का चित्रांकन था ।)

(अनुष्टुप् छद)

तत्र स्वर्गपुरी पौर, गौरवंशमुपेयुषि ।
नृवर्म्मा वैरिमर्माविन्, महीजानि रजायत ॥९॥

अर्थ :—उन राजा चाहड के भी स्वर्गपुरी के पुरवासी अर्थात् देव उनका जो गौरवश (देवगण गौर वर्ण होते है) उसे प्राप्त होने पर अर्थात् स्वर्गवासी होने पर शत्रुहंता नृवर्म्मा नाम के राजा उत्पन्न हुए ।

(विशेष :—महीजानि=मही-पृथ्वी ही है जानि-स्त्री जिसके अर्थात् पृथ्वीपति=राजा ।)

(वसततिलका)

यस्मिन् विलासकुशले हृदयाधिनाथे
स्थाने करं क्षिपति सागरमेखलेयम् ।
उत्कंटका न, पृथुकम्पवती न जज्ञे
प्रौढांगनेव न बभार विवर्णभावं ॥१०॥

अर्थ :—जिन सुखदायी नृवर्म्मा शासक के द्वारा यथोचित टेक्स लगाने पर यह पृथ्वी उपद्रवियो से रहित हो गई तथा अस्थिर स्वामित्व और दुःख सकट से दूर हो गई अर्थात् प्रजा ने अमन-चैन का अनुभव किया । जिस तरह विलासप्रिय पति के द्वारा काम-स्थान पै हाथ लगाने पर प्रौढ स्त्री न तो रोमाचित होती है न चौंकती है और न म्लान होती है ।

(अनुष्टुप्)

अस्मिन्नावेदुषि स्वर्ग-श्री संसर्गं महीभुजि ।
नंदत्यासल राजेन्दुर्मीलितारिमुखांबुज: ॥११॥

अर्थ :—इन (नृवर्म्मा राजा) के भी स्वर्ग लक्ष्मी से मुलाकात हो जाने पर अर्थात् स्वर्गवासी हो जाने पर, कुंद कर दिया है शत्रुओं के मुख कमलों को जिसने ऐसे प्रजानन्दक आसलराज चन्द्र हुए ।

(विशेष :—आसलराज को जो चन्द्रमा बताया है सो उचित है; क्योंकि चन्द्रमा भी "मीलितारि मुखांबुजः" है अर्थात् अरि-अलि-भौंरें हैं मुख मे जिनके ऐसे कमलों को संकुचित करने वाला है (रात में कमल संकुचित हो जाते है और सूर्योदय पर खिलते हैं ।)

(शार्दूल विक्रीडित छंद)

संग्रामेषु समग्रसाहसरिपुक्षुण्णेभकुंभस्थल-
मुक्तावंतुरिता कृपाणलतिका बाभातिहस्ते तव ।
श्रीमन्नासल भूप किन्तु भवते जैत्रश्रिया प्रेषित:
कन्दर्पोत्सवलेख एष कदलीपत्रे पवित्राक्षर: ॥१२॥

अर्थ :—युद्धो मे सम्पूर्ण साहसी शत्रुओ को रौंदने वाले ऐसे हाथियो के कुंभस्थलो की गजमुक्ता से व्याप्त लपलपाती तलवार, हे श्रीमन् आसल नरेन्द्र ! आपके हाथ मे ऐसी सुशोभित होती है मानों विजय लक्ष्मी ने आपके लिए केले के पत्ते पर पवित्र अक्षर लिख कर वसंतोत्सव (होली) का लेख ही भेजा हो ।

(अनुष्टुप्)

त्वयाऽवधूत भूपाल, गोरक्षेणारियोषिताम् ।
लोचनेषु नृपासल्ल, चक्रे लक्ष्मीर्निरंजना ॥१३॥

अर्थ :—हे आसल्ल नरेन्द्र ! पराजित राजाओं की पृथ्वी की रक्षा करने वाले आपने शत्रु—नारियों की आंखो की शोभा को काजल रहित कर दिया (आपके द्वारा शत्रुओं के राज्य छीन लिए जाने पर उनकी स्त्रियो ने जो रुदन किया उससे उनकी आंखों की शोभारूप काजल धुल गया ।)

(वसत तिलका)

अस्य प्रतापकनकं रमलैर्यशोभि
र्मुक्ताफलैरखिलभूषण विभ्रमायां ।
पादोनलक्ष विषय क्षिति पक्ष्मलाक्ष्या—
मास्ते पुरं 'नलपुर' तिलकायमानं ॥१४॥

अर्थ ;—इन आसल नरेन्द्र के प्रतापरूपी सुवर्ण और निर्मल यशरूपी मोतियो के सम्पूर्ण आभूषणों से अलंकृत

ऐसी पौनलखदेश की भूमि रूपी स्त्री (के भाल) पर तिलक स्वरूप नलपुर नाम का नगर है।

(विशेष—पक्ष्मल=डोरेदार-शराबी-मस्त, अक्षि=आंखों वाली, प्रमदा=स्त्री। आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत की प्रशस्ति में 'सपादलक्ष विषय' का उल्लेख किया है (श्री मानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरी भूषणः) सवालखदेश —जोधपुर नागौर इलाका (साभर भी पहिले इसी में था)। इसी तरह यहाँ 'पादोनलक्ष विषय' पौनलख देश समझना चाहिए इसमे सवा की बजाय पौन भाग ही है)।

(मालिनी छद)

अथ च—

भ्रमरहित विकासः, प्रीतसच्चक्रवर्गः।
परिचित घनपंकं, नालसत्वं दधानः।
जयति भुवन लक्ष्मी विभ्रमागारभूमिः
कमल वन सनाभिर्जैसवालाऽन्ववायः ॥१५॥

अर्थ :—इसके बाद, असदिग्ध उन्नतिशील (सब तरह से बढ़ा-चढा) सज्जनो का आनदकारी, प्रचुर-प्रगाढ़ पाप और आलस्य को नही धारण करने वाला (पुण्यशाली और उत्साही) सांसारिक लक्ष्मी की विलास-लीला का स्थान, कमलों का सहोदर (कमलकुल सदृश) जैसवाल वंश जयवंत रहे।

कमल के पक्ष में इस प्रकार अर्थ होगा—

भ्रमरो के हित मे है विकास जिसका, चकवा पक्षी का प्रिय, सचित प्रगाढ़ कीचयुक्त, नालरूपी प्राण को धारण करने वाला, संसार लक्ष्मी की लीला भूमि।

(अनुष्टुप्)

एतद्वंश सुधाम्भोधि सुधादीधितिरुद्ययौ।
साढदेवः सुधीः पूर्वमपूर्वमतिवैभवः ॥१६॥

अर्थ :—पहिले इस (जैसवाल) वंश रूपी क्षीर समुद्र से अपूर्व बुद्धि सम्पन्न, विवेकी साढदेव रूपी चन्द्र उत्पन्न हुआ।

(विशेष :—सुधाम्मोधि=क्षीरसागर। सुधादीधिति=चन्द्र।)

(उपजाति)

अभीकभावं भुविभीरुबंधुर्यन्नाम कुर्वन्नपि यश्चकार।
स श्रीकुमारः सुकुमारभाषा पीयूषवर्षी तदपत्यमासीत् ॥१७

अर्थ :—उन (साढदेव) की मृदुवाणी से अमृत की वर्षा करने वाला श्री कुमार नाम का पुत्र था जो लोक में भय-भीतों का बंधु होते हुए भी स्वयं अभीक भाव (निर्भयता) को प्राप्त था।

(विशेष—पीयूषवर्षी का अर्थ चन्द्रमा भी होता है। उसके साथ ये सब विशेषण इस प्रकार लागू होंगे—सुकुमार-कोमल ठंडी भाषा-किरण से अमृतवर्षा करने वाला। श्री कुमार=शोभा चांदनी वाला। भीरुबंधु=डरपोकों का बधु अधेरा भय उत्पन्न करने वाला है, चंद्रोदय होते ही अधकार का भय समाप्त हो जाता है। अभीकभावं=कामभाव का करने वाला (कामियों को चांद चादनी बड़ी प्रिय होती है।)

(रथोद्धता)

नागणस्तदनु तस्यनन्दनश्चन्दनैरिव यशोभिरुज्ज्वलैः।
पूर्व पुरुष वियोगवेदिनीं मेदिनीं शशिमुखी मुपाचरन् ॥१८

अर्थ :—उन (श्री कुमार) के नागण नाम का पुत्र था जिसने चन्दन के समान उज्ज्वल (श्वेत) यश से, पूर्व पुरुषों के वियोग से आकुलित पृथ्वी (प्रजा) को चन्द्रमुखी —आल्हादित—कर दिया था।

(उपचाति)

चेतः श्रिया केतकगर्भगौरं, गिरः शरच्चन्द्र सुधासधर्माः।
शीलश्रिया मगल सौधमगं, राजल्ल देवी गृहिणी तदीया ॥१९

अर्थ :—जिस प्रकार केवड़े का अंतरग भाग श्वेत—होता है उसी तरह हृदय से निर्मल, शरत्कालीन चांदनी के समान अमृतवर्षी वाणी वाली, शील से मगल महल ऐसे अग वाली राजल्लदेवी उन (नागण) की धर्मपत्नी थी।

(अनुष्टुप्)

तत्कुक्षिरोहण क्षोणी माणिक्यं द्योतते भुवि।
जैत्रसिंह, क्षमापाल-सभा युवति भूषणम् ॥२०॥

अर्थ :—उन (राजल्ल देवी) की कूख से निकला पृथ्वी रत्न तथा राजसभा रूपी युवति का भूषण ऐसा जैत्रसिह संसार मे प्रकाशमान (प्रसिद्ध) हुआ।

(क्रमशः)

जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत के शब्दकोश

श्री अगरचन्द नाहटा

मानव की कुछ विशेषताएं तो प्रकृति प्रदत्त है और कुछ स्वयं उपार्जित। जगत के प्राणियों में मानव को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मन की मुख्यता होने से मानव चिन्तन-शील होता है। प्रकृति प्रदत्त साधनों के अतिरिक्त वह स्वयं आविष्कार भी करता है।

जीवन व्यवहार में भाषा की उपयोगिता निर्विवाद है। वैसे पशु-पक्षी भी ध्वनियों के उच्चारण द्वारा अपने भावों को व्यक्त करते है। पर मनुष्य ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस तरह भाषा का विकास किया वैसा अन्य प्राणी नही कर पाए। वस्तुए असख्य है। उनको पृथक-पृथक रूप मे जानने एव दूसरों को समझाने के लिए उनके अलग अलग नाम रखे गये है। इससे असंख्य नाम व शब्दो का विकाप हो गया। तब भाषा को व्यवस्थित करने के लिए व्याकरण के नियम भी बनाए गये। इस तरह शब्दशास्त्र के दो मुख्य अग हो गये। व्याकरण और कोष। व्याकरण शब्द की उत्पत्ति और उसके अर्थ द्योतक विविध स्वरूपो का विवेचन करता है और कोश मुख्यतः शब्दों का अर्थ सूचित करता है। कौन शब्द किस लिंग में व्यवहृत है, इसका भी सूचन कोश में किया जाता है। शब्दकोश का प्राचीन नाम 'निघंटु' और परवर्ती नाम—'नाममाला' भी पाया जाता है।

मुनि जिनविजय जी ने शब्दकोशो को तीन भागो मे विभक्त किया है—१. एकार्थक वाचक शब्दकोश, २. अनेकार्थक वाचक शब्दकोश, ३. एकाक्षर सग्राहक शब्दकोश। एकार्थक वाचक शब्दकोश मे मुख्यतया उन शब्दों का संग्रह है जो एक ही अर्थ अथवा पदार्थ के वाचक है। अर्थात् समान अर्थ को प्रदर्शित करने वाले है। अनेकार्थक वाचक शब्दकोषो मे वे शब्द संगृहीत होते है—जो एक से अधिक अर्थ अथवा पदार्थ व्यक्त करते है। ये नानार्थक वाचक भी कहे जाते है। एकाक्षर सग्राहक शब्दकोशों में एकाक्षरात्मक शब्दों का संग्रह होता है। संस्कृत भाषा में शब्दों का मुख्य अर्थ है स्वर, यद्यपि सामान्य रूप से व्यजन और स्वर दोनों प्रकार के वर्णों को अक्षर कहा जाता है, परन्तु स्वर के सहयोग के बिना अकेले व्यंजन में किसी प्रकार के अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति नहीं है और न ही किसी ध्वनि विशेष का उससे विस्फुट होता है। एकाक्षरी शब्द का अर्थ है एक स्वर वाला शब्द। इसी तरह द्वयक्षरी यावत् छः अक्षरो वाले शब्दो का संग्रहात्मक कोश होते है।

संस्कृत भाषा की जैन विद्वानों ने बहुत बडी सेवा की है। सस्कृत के व्याकरण के सम्बन्ध मे जिस तरह जैनों के अनेक ग्रथ है उसी तरह शब्दकोश सम्बन्धी भी बहुत सी रचनाएं प्राप्त है। जिनका सक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे ग्रन्थ है जिनमे शब्दों का संग्रह काफी परिमाण मे मिलता है।

प्राचीनतम जैन साहित्य प्राकृत भाषा मे है। भगवान महावीर ने, जन साधारण सुगमता से उनके प्रवचनों को समझ सके, इसलिए (उनका विशेष विचरण मगध प्रदेश के आस-पास हुआ अतः) अर्द्ध-मागधी भाषा मे उपदेश दिया। करीब ५०० वर्षों तक जैनाचार्यों ने भी प्राकृत को ही अपनाये रखा पर इसके बाद संस्कृत के बढते हुए प्रभाव से प्रभावित होकर इस भाषा में भी वे रचनाएं करने लगे। आचार्य उमास्वाति का तत्वार्थ सूत्र शायद जैनों की पहली सस्कृत रचना है। प्राकृत ग्रन्थों में जन-प्रचलित शब्दो का बहुत बड़ा संग्रह है। एक-एक शब्द के अनेक पर्याय नामो का भी महत्वपूर्ण संग्रह मिलता है। जिससे उस समय की शब्द समृद्धि का भली भांति परिचय मिल जाता है। सस्कृत में रचना तो जैन विद्वानों ने दूसरी तीसरी शताब्दी से ही प्रारम्भ कर दी और च. [illegible] पांचवीं शताब्दी मे तो आचार्य समंतभद्र और सिद्धसेन

आदि की प्रौढ़ एव दार्शनिक चर्चा प्रधान रचनाएं मिलने लगती हैं। जैनाचार्यों मे बहुत से मूलतः ब्राह्मण थे, इसलिए सस्कृत के विद्वान तो वे प्रारम्भ से थे ही। फलतः उन्हे प्रौढ़ संस्कृत रचनाए करने मे कोई कठिनाई नही हुई। पर व्याकरण और कोष जो जैनेतर विद्वानों के रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ थे, उन्ही से काम चलाया जाता रहा। इसलिए ११वीं शताब्दी से पहले[1] श्वे० जैनों के रचित कोई संस्कृत व्याकरण और कोश ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं। ११वीं शताब्दी के विद्वान जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि दोनों भ्राता ब्राह्मण थे। श्वे० बुद्धिसागर सूरि जी ने सर्वप्रथम स्वतंत्र व्याकरण बनाया जो बुद्धिसागर व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध है। उसका मूल नाम 'पंचग्रन्थी'-शब्द-लक्ष्मलक्षण है ७ हजार श्लोक परिमित इस व्याकरण की रचना स० १०८० में जावालपुर (जालोर) मे हुई। दिगंबर सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो इससे पहले भी सस्कृत व्याकरणादि सम्बन्धी ग्रंथ बनाये थे। पर कोश ग्रन्थ तो उनके भी अधिक पुराने नही मिलते। शायद सबसे पहले द्विसधान-राघव पाडवीय (काव्य के रचयिता) कवि धनंजय ने 'नाममाला' नामक सस्कृत शब्दकोश की रचना की। धनंजय का समय १०-११वी शताब्दी के आस-पास का माना जाता है[2]। इसके बाद तो कई महत्वपूर्ण शब्दकोश तैयार हुए। जिनमे आचार्य हेमचन्द्र के कोश ग्रन्थ तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

धनंजय नाममाला के २ संस्करणों में २०३ और २०५ पद्य प्रकाशित हुए हैं। धनजय ने एक शब्द पर से शब्दांतर बनाने के लिए विशेष पद्धति का उपयोग किया। जैसे पृथ्वी के नामो के आगे धर शब्द जोड देने से, पर्वत के नाम, मनुष्य के नामों के आगे पति शब्द जोड देने से राजा के नाम, वृक्ष के नामो के आगे चर शब्द जोड़ देने से बन्दरों के नामों का बन जाना। धनंजय की नाममाला पर अमरकीर्ति का भाष्य अनेकार्थ नाममाला श्वे० शब्द कोश भी प्राप्त एवं प्रकाशित है। मूल नाममाला, गुजराती अनुवाद के साथ पं० त्रिभुवनदास अमरचन्द ने पालीताणा से सं० १९८३ में द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की, उनमें २०५ श्लोक हैं। यद्यपि २०४ वें श्लोक मे इस नाममाला का परिमाण २०० श्लोक का बताया है। अमरकीर्ति के भाष्य सहित इसका सुन्दर सस्करण भारतीय ज्ञानपीठ से सं० २००७ में प्रकाशित हुआ। इसके अन्त मे धनंजय की नाममाला भी टीका सहित प्रकाशित है। प्रस्तावना में धनंजय का समय ईशा के आठवी का उत्तरार्ध और ९वीं का पूर्वार्द्ध बतलाया गया है जो विचारणीय है। धनजय दिगंबर सम्प्रदायानुयायी गृहस्थ थे उनके रचित द्विसंधान काव्य और विषापहार स्तोत्र भी प्रसिद्ध है।

श्वेतांबर विद्वानो में आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत शब्द कोश संबंधी कई रचनाए की। जिनमे से "अभिधान चिन्तामणि" बहुत ही प्रसिद्ध है। इस नाममाला मे रूढ़, यौगिक, यानि व्युत्पत्ति से सिद्ध और मिश्र शब्दों को अमर कोश की तरह भिन्न-भिन्न कांडों मे पर्याय वाचक शब्दों सहित दिया गया है। इसमें ६ काड है—१. देवाधिदेव, २. देव, ३. मर्त्य, ४. त्रियक, ५. नरक, ६. सामान्य है। इन काण्डों की श्लोक संख्या क्रमशः ८६, २५०, ५९७, ४२३, ७ और १७८ तथा कुल १५४१ श्लोक हैं। इस नाममाला पर आचार्य श्री की तत्वाभिधायिनी नामक ८५०० श्लोकों की परिमित टीका उपलब्ध है। इस पर अन्य भी कई टीकाए प्राप्त है। अभिधान चिंतामणि के दो संस्करण उल्लेखनीय है। पहला संस्करण देवचद लालभाई पुस्तकोद्धार फड, सूरत से प्रकाशित हुआ है। दूसरा संस्करण गुजराती शब्दार्थ के साथ गिरधरलाल शाह, अहमदाबाद ने प्रकाशित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र का दूसरा कोश 'अनेकार्थ सग्रह नामकोश' भी महत्वपूर्ण है। यह भी ६ काडो में है। चौखम्बा सस्कृत सीरीज से सं० १९८५ में यह प्रकाशित हो चुका है। भूमिका में इसे २००० श्लोक परिमित बतलाया गया है। १, २, ३, ४, ५, ६ स्वरों वाले अनेकार्थ शब्दो को इसमे ६ कांडों मे विभक्त किया है। अन्त मे अव्यय वर्ग भी संग्रहीत हो गया है। गणना करने से समस्त श्लोकों की संख्या १९३१ होती है। प्रकाशित

---

१. दि० विद्वानों के रचित जैनेन्द्र व्याकरण आदि ग्रन्थ इससे पहले बने हैं। वे अनुपलब्ध हैं।

[2] धनंजय का समय आचार्य वीरसेन की धवला टीका से पूर्व का है; क्योकि उसमे नाममालां का एक पद्य उद्धृत है। —सम्पादक

संस्करण के अन्त में शब्दों को अकारादिक्रम से दे दिया गया है।

'अभिधान चिंतामणि' मे जो शब्द नही आ पाए उनका संग्रह 'शेष नाममाला' के नाम से २०४ श्लोको का आचार्य हेमचन्द्र ने एक और कोश बनाया। उनका चौथा महत्व-पूर्ण कोश "निघण्टुशेष" है। इसके अतिरिक्त देशी नाम-माला जिसका अपर नाम "रयणमाला" भी है। इसमे देशी शब्दों का बहुत ही महत्वपूर्ण संग्रह है। इसके भी दो सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रेष्ठि देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथाक ९२ में अभिधान चिंतामणि कोश का प्रकाशन हुआ है। उसमें उक्त कोश के श्लोक १५४२ के बाद 'शेष नाममाला' श्लोक १५४३ से १७५० तक में दी गई है। फिर जिनदेव मुनीश्वर रचित 'शिलोच्छ' उसकी पूर्ति या परिशिष्ट के रूप मे श्लोक १७५१ से १८८९ तक मे छपा है। इस कोश की रचना सं० १३८३ मे हुई है। तत्पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र का 'निघण्टुशेष' श्लोक १८९० से २२८५ तक मे दिया गया है। इसमें श्लोक १८९१ से १९०५ तक का पाठ उपलब्ध नहीं हुआ और १९०६वें श्लोक की भी प्रथम पंक्ति त्रुटित है। श्लोक २२०१ की भी अन्तिम पंक्ति त्रुटित है। इससे मालूम होता है कि इस संस्करण के सम्पादक को 'निघंटुशेष' की प्रति त्रुटित रूप मे ही प्राप्त हुई। इस कोश मे भी ६ कांड है—१. वृक्षकांड, २. गुल्म काड, ३. लता कांड, ४. शास्त्रकांड, ५. तृण, ६. धन्य कांड। अन्त में इस संस्करण मे आए हुए कोशो की शब्दानुक्रमणिका ४४० पृष्ठों में दी गई है। परिशिष्ट मे हेमचन्द्र का लिगानुशासन तथा अन्य रचित एकाक्षर कोश, पुरुषोत्तम देव रचित शब्द भेद प्रकाश और सुधाकर मुनि प्रणीत एकाक्षर नाममाला भी दे दी गई है। इस तरह यह संस्करण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। करीब ८०० पृष्ठो के इस ग्रन्थ का मूल्य ४ रुपया बहुत ही सस्ता है।

१७वी शताब्दी भारत का स्वर्ण युग था। साहित्य निर्माण की दृष्टि से भी वह शताब्दी बहुत उल्लेखनीय रही है। जैन विद्वानों के रचे हुए सस्कृत के कई कोश और पूर्व रचित कोश ग्रन्थों की टीकाए इस समय की प्राप्त हैं। सम्राट् अकबर के मान्य जैन विद्वान पद्म सुन्दर ने "सुन्दर प्रकाश", जिसके अन्य नाम 'पदार्थ चिंतामणि' और 'शब्दार्णव' भी है, ५ प्रकरणों में २९६ श्लोकों का संस्कृत का कोश बनाया। जिसकी एक हस्त लिखित प्रति स० १६१९ की लिखी हुई मिली है। जो प्रायः रचना समय के आसपास की ही है। यह कोश अभी तक अप्र-काशित है।

सम्राट अकबर को प्रत्येक रविवार के दिन 'सूर्य सहस्र नाम' का पाठ करके सुनाने वाले उपाध्याय भानु-चन्द्र गणि ने भी एक कोश बनाया। जिसका नाम नाम-सग्रह, नाम माला संग्रह और 'विविक्त नाम संग्रह' मिलता है। स० १६६० में लिखी प्रति प्राप्त होने से यह रचना इससे पहले ही रची जा चुकी सिद्ध होती है।

इसी समय के नागपुरी तपोगच्छ के विद्वान हर्षकीर्ति सूरि ने 'शारदीया नाम माला' की रचना की। यह तीन काण्डों मे विभक्त है। इसका अपरनाम 'मनोरमा नाम-माला' भी पाया जाता है। इसमे देव, व्योम, धरा, अंग, संभोगादि, सगीत पण्डितादि, ब्रह्म, राज, वैश्य, शूद्र और सकीर्ण शब्दों का सग्रह है। जामनगर के प० हीरालाल हंसराज ने स० १९७१ मे इसे प्रकाशित किया था।

सम्राट अकबर की सभा में वादविजय करने वाले खरतरगच्छीय उपाध्याय साधुकीर्ति के शिष्य वाचनाचार्य साधुसुन्दर गणि ने 'शब्द रत्नाकर' नामक कोश की रचना की। यह भी ६ कांडो में विभक्त है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान पं० हरगोविन्द दास और पं० बेचरदास द्वारा संपादित यह कोश यशोविजय जैन ग्रन्थमाला से सं० १९६९ मे प्रकाशित हुआ है। इस सस्करण मे 'शब्द रत्ना-कर' मे आए हुए शब्दो की नामानुक्रमणिका १०७ पृष्ठों मे छपी है। इसी से इसका महत्व विदित हो जाता है।

१७वी शताब्दी के ही खरतरगच्छीय उपाध्याय सहज कीर्ति ने "सिद्ध शब्दार्णव" कोश बनाया। यह भी छः काडो मे विभक्त है। इसकी एक पूरी हस्तलिखित प्रति हमे जिन हरि सागर सूरि ज्ञान भण्डार, लोहावट से प्राप्त हुई। वैसे एक अपूर्ण प्राप्त प्रति के आधार से इसका एक संस्करण श्री मुरलीधर पानसे द्वारा सम्पादित होकर डेक्कन कालेज, पूना से सन् १९६५ मे प्रकाशित हो चुका है। इसमे बीच मे भी कही-कही पाठ त्रुटित रह गया है।

अन्तिम भाग तो उन्हें प्राप्त ही नहीं हुआ था। पर उन्हें प्राप्त प्रति में जो राजस्थानी शब्द, टिप्पण रूप में मिले थे वे विशेष महत्व के हैं। अन्त में 'सिद्ध शब्दार्णव' में आए हुए संस्कृत शब्दों का अंग्रेजी मे अर्थ भी सम्पादक ने विशेष श्रम करके दे दिया है। इसलिए अंग्रेजी जानने वाले विद्वानों के लिए भी यह संस्करण बहुत उपयोगी हो गया है। प्रारम्भ मे ३६ पृष्ठोंकी अग्रेजी भूमिका भी उल्लेखनीय है। लोहावट से प्राप्त पूर्ण एवं शुद्ध प्रति हमने श्रीमुरलीधर पानसे को भेज दी है। आशा है इसका अगला सस्करण अधिक शुद्ध और अच्छे रूप में निकलेगा।

उपरोक्त 'शब्द रत्नाकर' के रचयिता साधुसुन्दर के गुरू साधुकीर्ति रचित 'शेष नाममाला' या 'शेष सग्रह नाममाला' नामक कोष भी प्राप्त है जो अभी तक अप्रकाशित है। लौका गच्छीय ऋ० गुणचद्र रचित मनोरमा नाममाला की प्रति मुझे कलकत्ते के जैन भवन में प्राप्त हुई है जो सं० १८१ की रचना है।

आशिक शब्दकोश के रूप मे 'अपवर्ग नाममाला' नामक १३वी शताब्दी का एक शब्दकोश प्राप्त हुआ है। जिसका दूसरा नाम पचवर्ग परिहार नाममाला भी रखा गया है। यह अभी तक अप्रकाशित है। इसके रचयिता जिनभद्र सूरि को प्रो० हीरालाल कापड़िया ने १५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैसलमेर आदि ज्ञान भण्डारो के स्थापक जिनभद्र सूरि मानलिया है पर वह ठीक नही है। ग्रथ कार ने अपना परिचय देते हुए जिनवल्लभ सूरि का शिष्य और जिनदत्त सूरि का भक्त बतलाया है। इससे ये १३वीं शताब्दी के सिद्ध होते है। इनके सम्बन्ध मे डा० दशरथ शर्मा का भी एक लेख छप चुका है।

१६वीं के प्रारम्भ मे ही तपागच्छीय शुभशीलगणी अच्छे विद्वान हो गये है। इन्होने पचवर्ग सग्रह नाम माला की रचना की। इसमे ६ काण्ड है। उन्ही के रचित पचवर्ग परिहार धातु सग्रह नामक एक और रचना भी प्राप्त है। इन दोनो रचनाओ की सग्रह प्रति भडारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्राप्त कर हमने दोनों ग्रन्थों की प्रतिलिपि अपने अभय जैन ग्रन्थालय के लिए करवा ली है। इनके अतिरिक्त अपवर्ग नाममाला, निघण्टु संग्रह, बीजनिघण्टु और औषधि नाममाला आदि कोश ग्रंथों का उल्लेख प्रो० हीरालाल कापड़िया ने अपने "जैन संस्कृत साहित्य के इतिहास" नामक ग्रन्थ में की है।

एकाक्षरी नाममाला में जैन विद्वानों के रचित अमरचन्द्र, सुधाकलश आदि की नाममालाएं उल्लेखनीय हैं। अमरचन्द १३वी, १४वीं शताब्दी के विद्वान हैं। इनकी एकाक्षर नाममाला २१ श्लोकों की है। और सुधाकलश हर्षपुरीयगच्छ के राजशेखर सूरि के शिष्य थे। अतः इनका समय भी १४वी शताब्दी का ही है। इनके रचित संगीतोपनिषद सारोद्धार नामक संगीत विषयक ग्रन्थ प्राप्त है जो कि बडौदा ओरियंटल सीरीज से प्रकाशित भी हो चुका है। इनकी एकाक्षर नाममाला ५० श्लोकों में है।

अमरचन्द और सुधाकलश की नाममालाएँ अन्य अनेक ऐसी ही नाममालाओ के साथ "एकाक्षर नाम कोश संग्रह" नामक ग्रथ मे राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से पन्यास मुनि रमणीक विजय जी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी है। इसमे अन्तिम ग्रन्थ वाचनाचार्य श्री वल्लभ रचित 'विद्वत् प्रबोध' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रो० हीरालाल कापडिया ने कई सदिग्ध रचनाओ का उल्लेख भी अपने ग्रन्थ में किया है और कई ऐसे अन्य कोश भी मिलते है जिनमे रचयिता का नाम नहीं दिया गया है। ऐसी रचनाओ का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नही समझा।

२०वी शताब्दी मे पं० जैन मुक्ति विजय जी ने एक बहुत महत्वपूर्ण संस्कृत शब्दों का एक कोश तैयार किया जो गुजराती अर्थो के साथ दो भागो मे अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है। इसका नाम "शब्द रत्न महोदधि" रखा गया है। स० १९९३ में इसका प्रथम भाग ९५४ पृष्ठो का प्रकाशित हुआ, फिर स० १९९७ मे द्वितीय भाग छपा है। कुल पृष्ठो की संख्या दोनो भागों की २१५३ है। श्री विजय जीति सूरि वाचनालय गाधी रोड, अहमदाबाद से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मूल्य क्रमशः ८ रुपये और १० रु० है। यह कोश १२ वर्षो के श्रम का सुफल है। मूल्य भी प्रचारार्थ बहुत कम ही रखा गया है।

जैन ग्रन्थो में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग भी

---

१. लेखक ने रचनाकाल सं. १८ लिखा है, जो भ्रामक है, हो सकता है कि वह सं० १८०० हो।

ढूंढाड़ी कवि ब्रह्म नाथू की रचनाएँ

डा० गंगाराम 'गर्ग'

अनेक जैन विद्वानों के साधना-स्थल राजस्थान के पूर्वी भाग ढूढाड़ प्रदेशकी भाषा ढूंढाडी अपनी कोमलता, मधुरता और बोध गम्यता के कारण गद्य साहित्य के अतिरिक्त गीत काव्य की भी भाषा रही हे। अज्ञात कवि 'नाथू' ढूढाड़ी भाषाके अज्ञात गीतकारो मे से एक है। अपने नाम के साथ 'पाण्डे' और 'ब्रह्म' शब्दों का प्रयोग करने से 'नाथू' ब्रह्मचारी प्रतीत होते है। इनका प्रमुख साधना-स्थल वर्तमान टोक जिले मे स्थित 'नगर' का प्रमुख जैन मन्दिर था जहाँ श्रावक भाव सहित पूजा व दानादि करते थे[1]। नाथू ब्रह्म की निम्नलिखित रचनाएं मिली हैं :—

१. **नेमीश्वर राजमती को व्याहुलो** :—इस ग्रन्थ की रचना श्रावण सुदी ६, सवत् १७२८ मे हुई। इसमे 'तलदी', 'निकासी', सिंदूरी', 'विद्रावनी' की ढालों में नेमिनाथ और राजमती के समस्त विवाह-प्रसंग का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की कथा के अनुसार राजा समुद्रविजय अपने पुत्र नेमिनाथ के विवाह के लिए राजमती की मंगनी हेतु एक दूत उसके पिता के पास भेजते है। उग्रसेन अपने को गौरवान्वित समझते हुए इस सम्बन्ध को विनम्रतापूर्वक स्वीकार कर लेते है :—

इक वेद बेटी पाय लागो, अरज सुणिज्यो म्हाह री।
हू गरीब थे साहिब म्हांका, मैं वोट पकरी थाह री।
इक बार बारहु करौं होनतो, औरो कछु जाणौं नहीं।
भूलां चूकां समझा लीज्यो इह बात जांणो सही।

समुद्रविजय की नगरी मे अब नेमिनाथ को दूलह वेष में सजाया जाता है। उनके शरीर पर हल्दी का उबटन करके सिर पर सेहरा बांधा जाता है। फिर उनकी आँखों में काजल लगा कर चबाने के लिए पान का बीडा दिया जाता है। गाना, वाद्य-ध्वनि और लोकाचार सभी से उत्सव की शोभा बढ गई है—

भुवा कुंता गावै छै मंगलचार तौ,
लुंण उतारै बंन्हड़ी जी।
कोड़ि छपन जादु सब ज्यां की नारि तौ,
गावै गीत सुहावंण जी।
बाजा बाजै साढ़ो बारा कोड़ितो,
गुड़य दमामा दुड़वड़ो जी।
भेरि नफीरी बाजै छै ताल तौ,
मादल बाजै दमदमौ जी ॥३॥

राजा समुद्रविजय पुत्र को व्याहने के लिए ज्यो ही बारात लेकर चलने लगे, त्यों ही मार्ग मे अनेक प्रकार के शकुन होने लगे। कवि ने उनकी बारात के वैभव में हाथी, विमान, रथों की चर्चा करते हुए घोड़ों का अधिक वर्णन किया है—

घोटक अंत न पार रे, अंराकी सिरदार।
बगतर पहर्यां हो भार, नब सब सबै बन्या हो।
आरबी चल्या असमान रे,

मिलता है जिनका संग्रह सस्कृत के कोश ग्रंथों मे नहीं पाया जाता। प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश और पुरातन प्रबन्ध संग्रह ये तीनों ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला से मुनि जिन विजयजी द्वारा सम्पादित प्रकाशित हो चुके है। इनमे आए हुए शब्दों का एक महत्वपूर्ण संग्रह डा० भोगीलाल सांडेसरा और जे० पी० ठाकर ने किया है। यह ग्रन्थ लैक्सिको ग्राफिकल स्टडीज इन जैन सस्कृति (Lexicographical Studies in Jain Sanskriti) नामसे ओरियन्टल इस्टीट्यूट, बड़ौदा से प्रकाशित हो चुका है।

जैन साहित्य बृहद् इतिहास भा. ५ में इनके अतिरिक्त श्रीधरसेन रचित बिश्वलोचन कोश, असग के ननार्थकोश शब्दचद्रिका आदि का उल्लेख है।

---

१. नगर नगीन सोभितौ जी, चौबीसी आजमान।
श्रावग पूजैं भाव स्यों जी, सकत सहित दे दान ॥
—प्रशस्ति, "श्री नेमीश्वर राजमती को व्याहुलो"

गगन न दीसै भान,
सुर तालां की हो तांन,
चमकै बीजरी हो।

दूलह नेमिनाथ का स्वागत करने के लिए उग्रसेन के दरवाजे पर सोना, चांदी, पीतल, तावा आदि के कलश सिर पर धारण किये गाती हुई स्त्रियां खड़ी हैं। किन्तु द्वार पर आने से पूर्व ही पशुओं की क्रन्दन-ध्वनि सुनकर और उसके मर्म को जानकर नेमिनाथ विरक्त हो गए। हलधर आदि का समझाना भी उन्हें गिरिनारि जाने से न रोक सका—

हलधर केसौ बीनउ जी, ठाढ़ा जोड़या हाथ।
छपन कोटि जादुभणै, फिर चालौ जगनाथ।
नेम नगीनौ बोलियो जी, थे घर जावो भ्रात।
म्हे ससार स्यो दुरिछां जी, भव-भव मेरो भ्रात।

नेमिनाथ के विरक्त होने का समाचार सखियों से सुनकर राजमती विलखी अवश्य, किन्तु माता-पिता के समझाने पर भी दूसरा विवाह करने को तैयार नहीं हुई। नेमिनाथ की एकनिष्ठ अनुरागिणी राजमती भी उन्हीं की अनुगामिनी बनी—

माय कहै सुणिहो राजमती, कह्यो हमारौ मानि।
नेम गयो तौ जांण दे जी, और बिहावू आनि।
राजल मास्यों इम कहै जी, थे क्यों बोलौ पाप।
इ भव तौ बर नेम छै जी, और म्हारै माइ बाप।
कनककन मोती तज्या जी, तोड्या नवसर हार।
पाछ्यौ लागी नेम कै जी, जाइ चढ़ो गिरनारि।

संसार की स्वार्थपरता और असारता जानकर राजमती ने सयम लेना ही उचित समझा :—

मात पिता सुत सुंदरी जी, को कोइ कौ नांहि।
स्वारथ आपण सबै करै जी, विपति पड़ै जबै मांहि।
सुणि राजमति चितवै जी, यो संसार असार।
अर्जिका पासि बड़ी भई जी, लीयो सजम भार।

तपस्वी नेमिनाथ को केवलज्ञान उदित होने पर अष्टविधि से पूजा और समवशरण की रचना हुई। तदनन्तर नेमिनाथ मोक्षगामी हुए।

२. नेम जी की लूहरि :—यह १८ छन्दो की विरह-रचना है। इस रचना में सावन के महीने से आषाढ़ के महीने तक हुई राजुल की मार्मिक विरहावस्था का चित्रण है। श्रावण माह में प्राकृतिक उपादान और तीज का त्योहार विरहणी को अधिक दुखदायी हुआ है :—

सखि सांवणड़ो अब आयो,
जो सब पुरष त्रिया मन चायो बे।
बरसै मेघ चमकै बीजो बे,
सखिया सब मिलि खेल्हैं तीजो बे।
हुं कंसै खेल्हु हारी बे,
नेम जाइ चढ्यो गिरनारी बे।
झूठो दोस पसुन सिर दीयो बे।
वा तो अपनौ जाण्यौ कीयो बे।

माह मास का शीत तो वह अकेली सह ही नहीं पाती :—

सखी महा मास की राते बे,
एकलड़ी रही न जाते बे।
सी लागै कोमल अंगो बे,
नहीं भाजै दूजौ संगो बे।

३. जिन गीत :— ८ चरण के इस मार्मिक गीत में राजमती ने सखियो को नेमिनाथ को बुला लाने को कहा है। उसे पश्चाताप है कि नेमिनाथ ने पहले विवाह की सोचकर फिर वैराग्य क्यो लिया ?

सखी री नेम जी नै ल्याहो,
अरिहां प्रभु जी नै ल्याहो,
नेम जी नै ल्याव नै सखी री,
काहे कुं व्याहु नै चल्या हो नेम,
क्यों सिर बांध्यो मौड़,
क्यों छांड़ी मृगलोचनी हो,
सरस मिली थांकी जोड़।
कर का खोलो मुदड़ा री सखी,
सिर का खोली चीर।

४. डोरी को गीत :—इसमे अनेक योनियों में भटकने वाले जीव को उसके कष्टों का वर्णन करते हुए—"डोरी थे लगावो हो नेम जी का नाव स्यो" की शिक्षा दी गई है। कवि ने देवगति को भी बन्धन का कारण मानकर शोकप्रद ही कहा है—

देवतणी गति जीवड़ा तू गयौ,
हँसि हँसि कीया है। भोग सुग्यानी जीव।
करम घणाधण जीवड़ा बांधीया,
अंति सगं कीयौ सोग सुग्यानी जीव ॥

५. दाई गीत :—इस गीत मे मनुष्य के जन्म लेते ही बचपन, यौवन और वृद्धापन की अवस्थाओ मे दुख: भोगते हुए मोहग्रसित हो जाने की चर्चा की है तथा गर्भ-वास में जिनेन्द्र को स्मरण करने की प्रतिज्ञा को भूल जाने पर प्रतारणा भी दी है। विविध विषयों मे ग्रस्त जीव को कवि पुण्य, पूजा और दान करने की ओर प्रेरित करता है :—

हो जीवां जोबनवतो होइ। परनारी तकी बे हां।
हो जीवां गनी गन्तोय तै तोहि, करी अपणी थकी बे हां।
हो जीवां विषय तणां फल षाइ, अमृत फल छोड़िया बे हां।
हो जीवां वृष धतूरा वाय, कंचन व्रष तोड़ियो बे हां।
हो जीवां मोह तणै बसि होइ, मेरी मेरी करतो बे हां।
हो जीवा भ्रम्यो परदेसां रोय, घरि चिन्ता पनी बे हा।
हो जीवां सुक्रित पूजा दान, कबहु नां किया बे हां।
हो जीवा मन मै राषौ मांन, योबन यौ गयो बे हां।२॥

६. राग मलार :—इस गीत में राजमती द्वारा दूसरे विवाह की मना करके संयम धारण कर लेने की चर्चा है।

७. राग सोरठ :—इस गीत में रावण, पाण्डवों, नेमिनाथ, यादवों और भविष्यदत्त के जीवन की घटनाओं के संकेत से भवितव्यता को प्रबलता प्रमाणित की है।

८. राग सोरठ :—'राग सोरठ' के नाम से इस दूसरे गीत मे अष्ट द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के लिए प्रेरणा दी है।

६. राग धनाश्री :—इस गीत में सुदर्शन, अजन चोर, मानतुग, वादिराज, मेढक, श्रीपाल आदि जिन-नाम से तरे प्राणियों के उदाहरण देते हुए नाम-स्मरण की महत्ता प्रतिष्ठित की है। कवि ने स्वय अपना उद्धार भी चाहा है—

या नै सुषि दे और भी भविजन उतरे पार।
ब्रह्म नाथू की बीनती हो, कीज्यो मो निस्तार।

१. राग मारू :—'सर्व सुष पाइए हो सेया श्री जिन-राज' की प्रतिपादना ही इस गीत का लक्ष्य है।

उक्त सभी रचनाएँ बीस पथी मंदिर, पुरानी टोक मे प्राप्त दो गुटको मे सगृहीत है। ★

उद्‌बोधक पद

मंगतराम चिलकाना वासी

अरे उड़ चला हंस सैलानी !
मानसरोवर सूना छोड़ा, छोड़ा दाना पानी ॥ टेक ॥
जिनको अपनी मान रहा था, सब हो चले बिगानी।
राज पाट को तज गए राजा, कछू न ले गई रानी ॥
बैरी जीते गये अकेले, रह गई लिखी कहानी।
पंचेन्द्री गज सैना मारी, जोवन सा सेनानी ॥
काल लुटेरे ने सब लूटी, काया की रजधानी।
पतझड़ हुई फूल कुम्लाये, फल की नांहि निसानी ॥
सगरे पछी भए उडंछी, दे गये आना कानी।
मां अरु बाप सुत सुत रोवें, नारि न मानी ॥
जग के नाते रह गए जग में, कर्म एक अगवानी।
जिसने बोया उसने काटा, रमे ये तिनकी हानी ॥
चिड़िया चुग गई खेत प्यारे, क्यों पछतावे प्रानी।
'मंगत' जाग भूल निद्रा में, सोता चादर तानी।
अब सुन ले फिर कौन सुनावे, ये दुर्लभ जिन-वानी ॥

' राणों के आधार पर एक ऐतिहासिक कथा :

सम्राट का अधूरा सपना

श्री बाबू सुबोधकुमार

श्रेणिक के जीव ने कुणिक के जीव का, किसी एक पूर्वजन्म मे, वध किया था ।

उसके कई जनम-मरण के बाद यह कथा तब आरभ होती है जब कि श्रेणिक बिम्बसार मगध का सम्राट था और उसकी राजधानी राजगृह मे थी । वैशाली के राजा चेटक की पुत्री चेलना मगधकी साम्राज्ञी थी । गर्भवती थी ।

कुणिक का जन्म हुआ । श्रेणिक और चेलना की प्रसन्नता की सीमा नही थी । दैव वशात् बालक की अगुली मे भयकर घाव हुआ । राजवैद्य थक गये । बालक को शान्ति नही मिली । एक रात वह मारे कष्ट के चीख रहा था । किसी उपचार से वह चुप नही हो रहा था । श्रेणिक ने पुत्र के दुःख-शमन के लिए मोहवश, घाव से सडी दुर्गन्धपूर्ण अगुली को अपने मुँह मे रख लिया । इससे बालक को शान्ति मिली और वह चुप होकर सो गया ।

यह घटना नगर मे लोगो की जुबान पर फैल गयी । बालक के घाव और इस घटना के कारण ही बालक का नाम कुणिक (अगुली का घाव) प्रचलित हो गया । श्रेणिक और कुणिक शब्दो मे साहित्यिक सौन्दर्य होने से राजघराने मे भी यह नाम स्वीकृत हो गया ।

कुणिक के रूप मे मगध साम्राज्य का एक बुद्धिमान और शौर्यवान राजकुमार अवतरित हुआ । उसका प्रभाव दिन-दिन बढता गया और उसकी सम्राट होने की आकांक्षा भी बलवती होती गई । पूर्वजन्म के बैर-भाव ने उसे पिता श्रेणिक की हत्या करने के लिए प्रेरित किया होगा । परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी । उसने मौके से अपने पिता सम्राट श्रेणिक बिम्बसार को राजगृह मे ही उनके राजप्रासाद में कैद कर लिया और स्वय मगध का सम्राट बन गया । इस विषय मे अपनी मा चेलना के विरोध की उसने तनिक भी परवाह नही की । चेलना ने चाहा कि इस विपत्ति मे वह अपने पिता, वैशाली गणतंत्र के अधिनायक राजा चेटक को बीचबचाव करने के लिए कहे परन्तु उसकी हिम्मत नही हुई । । वह जानती थी कि उन्होने अभी तक चेलना का अपहरण करने वाले श्रेणिक को क्षमा नही किया है ।

कुणिक बहुत ही शौर्यवान और प्रतापी नरेश सिद्ध हुआ । अनेको दुर्जय शत्रुओ को उसने जीता । क्रमश. वह अजातशत्रु यानि "जिसका शत्रु जन्मा ही नही" के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ । उसने तीन विवाह किये, जिनमे एक कौशल के नरेश प्रसेनजित की कन्या थी । श्रेणिक-चेलना से अजातशत्रु कुणिक के दो और सगे भाई थे—हल्ल और विहल्ल । इसके अतिरिक्त दूसरी माँ से कालीकुमार आदि दस अन्य भ्राता थे ।

राजा श्रेणिक के पास राज्य के अतिरिक्त दो और अमूल्य निधियाँ थी । सेचनक हाथी और दूसरा अठारह-सरा देवताओ द्वारा दिया गया हार । कहा जाता था कि इन दोनो निधियोका मूल्य मगधके पूरे राज्यके बराबर था ।

राजा श्रेणिक ने प्रेमवश हाथी को तो अपने पुत्र हल्ल को दे दिया था और देवप्रदत्त हारको दूसरे पुत्र विहल्ल को ।

सम्राट कुणिक ने राजगृह के पचपहाड़ी दुर्ग के अन्दर राजप्रासाद मे पिता श्रेणिक को कैद मे रखा था; स्वयं अपने लिए उन्होने दुर्ग के बाहर प्राकृतिक उष्ण जल-धाराओ के समीप एक विशाल राजप्रासाद निर्मित कराया ।

जिस दिन सम्राट अजातशत्रु-कुणिक के घर पुत्र ने जन्म लिया, उस दिन राजगृह मे खुशियो का ठिकाना नही था । राजघराने मे पुत्र का उदय हुआ इसलिए उनका नामकरण 'उदायी' किया गया ।

एक दिवस की घटना है । अजातशत्रु भोजन कर रहे थे । माँ चेलना पौत्र को गोद मे लिए हुए पखा झल रही थी । यकायक बालक ने पेशाब किया जिसके छीटे सम्राट अजातशत्रु की थाली मे पड़े । परन्तु इसके पूर्व कि

थाली बदली जाय, अजातशत्रु कुणिक हँस कर रह गया और जान बूझ कर उसी थाली म भोजन करता रहा। चेलनाको यह बात पसन्द नही आई और उसने जब आपत्ति की तो अजातशत्रु कुणिक हँस कर बोला—मा ! मैं अपने पुत्र को कितना प्यार करता हूँ, इसी बात से देखो।

परन्तु इस बात पर जब चेलना रोने लगी तो उसे बडा आश्चर्य हुआ। पूछा—'माँ! तुम इस बात पर रोने क्यों लगी ?"

तभी माँ चेलना ने उसे कुणिक के बचपन की वह घटना कह सुनाई जबकि उसके घाव द्वारा सडी हुई दुर्गन्धयुक्त अगुली को उसके पिता सम्राट बिम्बसार श्रेणिक ने अपने मुह मे रख लिया था। अन्त मे वे बोली—

'बेटे तुम्हारे पिता भी तुम्हें अत्यन्त प्यार करते थे, वरना क्या वे तुम्हारी उस दुर्गन्धपूर्ण दूषित अगुली को केवल तुम्हे शान्ति देने के लिए अपने मुह मे रख लेते ? आज उसी बात की याद आ गयी और साथ साथ यह भी कि उन्ही पिता को तुमने कैद मे बेडिया से जकड कर रख छोडा है।'

इतना सुनना था कि कुणिक थाली छोड कर उठ खडा हुआ। बोला—"परन्तु यह कथा तो मुझे आज तक किसी ने बतायी नही। हाय, मैं कितना पापी हूँ कि ऐसे प्रिय पिता के साथ मैने ऐसा दुर्व्यवहार किया—मैं अभी उनको मुक्त करूगा।"

इतना कह वह अपने रथ पर सवार होकर पिता के पास दौडा गया। उसके पिता श्रेणिक ने जब कुणिक को अपनी ओर दौडे हुए आते देखा तो उन्हे विश्वास हो गया कि अवश्य कुणिक उनकी हत्या करने के लिए आ रहा है। उनके हाथो-पावों मे बेडिया लगी हुई थी। उन्होंने भगवान महावीर को स्मरण किया और उठ खडे होने के यत्न मे गिर पड़े। लोहे की कील पर उनका माथा जा लगा। उनका वही प्राणान्त हो गया।

कुणिक के शोक का ठिकाना न था। राजगृह मे अब एक क्षण भी रहना उसके लिए दुश्वार हो गया। उसने निश्चय कर लिया कि वह अपनी राजधानी और कही ले जाएगा।

चम्पानगरी (आजकल के भागलपुर के निकट) उन दिनों सौन्दर्य और शोभा से सम्पन्न थी। तीर्थंकर व मु-पूज्य का निर्वाणस्थल होने के कारण मन्दारगिरि से च-पा तक श्रमणों का संगम सदैव हुआ करता था। चेलना ने कुणिक को प्रेरित किया और सम्राट कुणिक ने च पा-नगरी को मगध की नयी राजधानी घोषित कर दिया।

चम्पानगरी मे आकर कुणिक ने कालीकुमार आदि अपने दसो भाइयों को बुलाया। राज्य सेना, धन आदि को ११ हिस्सो मे बाट कर उन्हे दिया और आनन्दपूर्वक वहाँ राज्य करने लगा। उसके दोनो सगे भाइयों विहल्ल और हल्ल को दो अमूल्य निधियाँ-सेचनक हस्ती और देवप्रदत्त हार श्रेणिक से मिल ही चुकी थी इसलिए उन्हे राज्य मे हिस्सा न देकर अपने साथ प्रेम और आदर के साथ कुणिक ने रखा।

प्रतिदिन विहल्ल कुमार सेचनक हाथी पर सवार हो अपनी रानी के साथ विहार और जलक्रीडा के लिए गगा तट पर जाता। उसके आनन्द और भोग देख कर नगरी मे चर्चा उठी—' राज्यश्री का उपभोग तो वास्तव मे विहल्लकुमार कर रहा है। कुणिक नही।"

यह चर्चा धीरे-धीरे कुणिक की रानियो तक पहुँची।

उसकी एक रानी पद्मावती ने सोचा यदि सेचनक हाथी मेरे पास नही, देवप्रदत्त हार मेरे पास नही तो इस राज्य वैभव से मुझे क्या ?

कुणिक से उसने यह बात कही। परन्तु उसने हँस कर इस बात को टाल दिया, कहा—'वह तो भाइयो को पिताजी ने दिया है हमारा नही है।'

परन्तु अनेकों बार कहे जाने पर अन्त मे वह अपनी पत्नी के वश होकर हार और हाथी माँगने के लिए विवश हो गया।

उसने विहल्ल और हल्ल कुमार को बुलाकर बड़े प्रेम पूर्वक उनसे उन वस्तुओ को दे देने के लिए कहा। उस समय तो वे चिन्तायुक्त चले गये परन्तु कई बार फिर वही सूचना आने पर उन्होंने अपनी वस्तुओं को देने से इन्कार कर दिया।

कुणिक इससे रुष्ट हो गया।

हल्ल और विहल्ल कुमार को आती हुई विपत्ति का आभास मिल गया और वे एक रात्रि को चुपचाप सपरिवार

अपनी निधियों के साथ लिए हुए चम्पानगरी से चल पड़े। अपनी सुनिश्चित आयोजना के अनुसार वे अपने नाना वैशाली के अधिनायक राजा चेटक की शरण मे पहुँच गये।

कुणिक को यह पता चला तो वह इस अपमान से अत्यन्त क्रोधित हुआ।

उसने अपना दूत राजा चेटक के पास भेजा और हल्ल और विहल्ल के साथ हाथी और हार लौटा देने को कहा। चेटक ने कहा—'हार और हाथी हल्ल और विहल्ल के है। वे मेरी शरण मे आ गये है, मैं उन्हे वापस नही लौटाता। यदि 'श्रेणिक राजा का पुत्र, चेलना का आत्मज और मेरा नप्तक (नाती) कुणिक', हल्ल और विहल्ल को मगध साम्राज्य का आधा हिस्सा दे दे तो मै हार और हाथी दिलवा सकता हूँ'।

सम्राट अजातशत्रु-कुणिक ने फिर दूत भेज कर सन्देश दिया—'हल्ल और विहल्ल बिना मेरी आज्ञा लिए हार और हाथी ले गये है। वे दोनों वस्तुएँ मेरे राज्य मगव की है, इसलिए उन्हे शीघ्र लौटा देना ही योग्य है।

चेटक ने पुनः उसकी माँग अस्वीकार कर दी और दूत को खाली हाथ वापस कर दिया।

दूत द्वारा समाचार मिलने पर कुणिक की उत्तेजना बहुत बढ़ गयी। वह आवेश मे आ गया और लाल-लाल आँखों, एवं फड़कते हुए होंठो से उसने दूत को पुनः पत्र द्वारा यह सम्वाद लिख कर प्रेपित किया—

'हार हाथी वापस करो या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।'

उसने दूत को यह भी आज्ञा दी—

'तुम चेटक की राजसभा में जाकर उसके सिंहासन पर लात का प्रहार करो। तदुपरान्त भाले की नोक पर रख कर मेरा यह पत्र उसके हाथों मे देना।'

महावली अजातशत्रु एव मगध के महान सम्राट के दूत का गर्व भी कम नही था। उसने ठीक वैसा ही किया जैसा कि उसके सम्राट ने आदेश दिया था।

चेटक वृद्ध और दूरदर्शी राजनयिक थे। अपने शौर्य और सुबुद्धि के द्वारा उन्होने वैशाली गणतन्त्र की स्थापना की थी। अपने मित्रों—नवमल्लकी, नवलिच्छवी—इन १८ काशी-कौशल के अधिनायकों की शक्ति और सहयोग का उन्हें पूर्ण भरोसा था। तीर्थंकर मुनि मुव्रतनाथ, पारसन थ एव वर्द्धमान महावीर के सम्यक् उपासक होने के कारण वे निर्भय थे। उन्हे जल्दी क्रोध नही आता था। परन्तु कुणिक के दूत के दुर्व्यवहार से वे क्रोध किये बिना नही रह सके।

उन्होंने गरज कर कहा—'मैं युद्ध के लिए तैयार हूँ। कुणिक को शीघ्र भेजो, मैं प्रतीक्षा करूगा।' चेटक के राज्य से कुणिक के दूत को धक्के देकर बाहर निकाल दिया गया। इस प्रकार तिरस्कृत और अपमानित दूत कुणिक के पास वापस पहुँचा।

इधर राजा चेटक ने काशी, कौशल के १८ नरेशो को निमंत्रित कर उनसे परामर्श माँगा—'श्रेणिक राजा की चेलना रानी का पुत्र, मेरा नप्तक (नाती, दोहिता) कुणिक हार और हाथी के लिए युद्ध करने आ रहा है। हम सब लोगो को मिल कर युद्ध करना है कि उसके सामने समर्पित होना है?'

सभी राजाओ ने कहा—

'युद्ध करना है, समर्पित नही होना है।'

इस निर्णय के उपरान्त सभी राजा अपने अपने राज्य वापस गये और युद्ध की तैयारियो मे लग गए।

कुणिक ने शीघ्र से शीघ्र अपने दसो भाइयो को बुला कर एव अपने दो महामात्यो सुनिधि एवं वस्सकार, से मत्रणा की।

वस्सकार का कथन था कि लिच्छवियो से युद्ध करने के पूर्व गगा के इस किनारे एक सुरक्षित नगर की स्थापना होनी चाहिए। सुनिधि ने भी कहा कि इसप्रकार हम लिच्छवियो से अपनी सेना को सुरक्षित रख सकते है, और उन्हे गंगा के इस पार अपनी ओर आने से रोक सकते है। युद्ध सामग्री भी गगा के उस पार युद्धस्थलो मे भेजना हमारे लिए सरल हो जायगा।

सम्राट अजातशत्रु-कुणिक इन सभी बातो से सहमत था—'परन्तु नगर की योजना पूर्ण करने मे तो वर्षों लग जाएँगे'—'जब उसने ऐसा उतावलेपन से कहा तो सभी समझ गए कि सम्राट शीघ्रता चाहता है।

दसों भाइयो मे अग्रणी कालीकुमार ने राय दी कि

वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध जैसे मनीषि जब इस पृथ्वी पर है और वे इस समय इन्हीं प्रदेशों मे बिहार कर रहे है तो क्यो न उनसे भी मिलकर इस विरोध को दूर कराने का प्रयत्न किया जाए ।

इस पर महामात्य वस्सकार (वर्षकार) ने हँसकर कहा—'वर्द्धमान महावीर और चेटक का पारिवारिक सम्बन्ध तो है ही, चेटक महावीर के अनुयायी भी है। उसे श्रमणों का आशीर्वाद प्राप्त है। भला इस दशा मे हम लाभ की आशा कैसे रख सकते है ? रही गौतम बुद्ध की बात। तो क्या यह सर्वविदित नही है कि गौतम को लिच्छवी अत्यन्त प्रिय है ।

काली कुमार ने सयत रहते हुए उत्तर दिया—महामात्य ! आपने इन महापुरुषों को गलत समझा है। फिर आप क्या यह नही जानते कि लिच्छवी गणतत्र है, उनके यहाँ जैसी एकता है हममे नही है. क्या उन्हे परास्त करना सरल है ?

महामात्य और काली कुमार की चर्चा मे आक्रोश का पुट आ गया था। सम्राट अजातशत्रु ने उन दोनो की बातो को रखते हुए कहा—'बुद्ध और महावीर, दोनो मनीषियो के प्रति हम सभी की श्रद्धा है परन्तु हिसा के क्षेत्र मे इनकी राय लेना अनुचित होगा ।'

सम्राट की आज्ञा से गगा के इस ओर नई महानगरी की योजना पर कार्य आरभ कर दिया गया परन्तु युद्ध मे विलम्ब करने की अमात्य की राय नही मानी गई ।

दोनों ओर की सेनाएं सग्राम क्षेत्र मे इकट्ठी होने लगी ।

प्रथम युद्ध मे अजातशत्रु कुणिक की ओर से काली कुमार के सेनापतित्व में मगध की सेना डट कर खडी हो गई ।

राजा चेटक वर्द्धमान महावीर के समक्ष श्रावक के १२ व्रत ले चुके थे। एक विशेष व्रत भी लिया था कि "मै एक दिन मे एक वाण से अधिक युद्ध मे नही चलाऊगा।"

परन्तु सर्वविदित था कि उनका वह एक वाण अमोघ हुआ करता था। दोनों ही ओर व्यूह रचनाए की गई थी और दोनों पक्ष जमकर भयंकर युद्ध करने लग गए ।

हाथियों, घोड़ों और रथों पर तीर कमान, बरछो तलवारों आदि से युद्ध चल रहा था एव पैदल सेना भी लाखों की संख्या मे लड़ रही थी। सेनापति काली कुमार बहादुरी से लडे परन्तु राजा चेटक का अमोघ एक वाण छटा, उसने काली कुमार को धराशायी कर दिया। मगध की सेना भाग चली ।

इसी समय भगवान महावीर का समवशरण चम्पा नगरी मे आया हुआ था। कालीकुमार की पत्नी उनसे पूछ रही थी ।

'भगवन्, इस युद्ध मे क्या मगध विजयी होगा ?'

भगवान की दिव्य ध्वनि हुई—'नही'।

फिर उसने प्रश्न किया—'क्या मेरे पति लौट कर आवेगे ?' दिव्य ध्वनि हुई—'नही'।

परन्तु आश्चर्य यह कि इस विपत्ति की सूचना मिलने पर भी कालीकुमार की राजपत्नी न रोई न उसने होश खोया। वह सयत रही। केवल एक दीर्घ नि.श्वास उसके मुह से निकला। फिर उसने सयत वाणी से उच्चारण किया—

'अरहते शरण पव्वज्जामि,
'सिद्धे शरणं पव्वज्जामि,'
'साहू शरणं पव्वज्जामि'
'केवलि पण्णत्तं धम्मं शरणं पव्वज्जामि ।'

वह वही दीक्षित होकर साध्वी हो गई ।

एक-एक कर दस युद्धो मे सम्राट कुणिक दस बार पराजित हुआ और उसके दसों भाई युद्ध मे खेत आए ।

वह हताश हो गया। तभी महामात्य वस्सकार की मन्त्रणा से उसने मन्त्र सिद्धि का योग करना आरभ किया। वस्सकार अपनी योजना के अनुसार गगा के इस पार पाटलिपुत्र की सुरक्षित नगरी का निर्माण शीघ्रता पूर्वक करा रहा था ।

एक दिवस गौतम बुद्ध का सघ पाटलिपुत्र (पटना) पहुँचा। राजाज्ञा के अनुसार महामात्य वस्सकार ने उनका स्वागत सम्मान किया और उन्हे भोजन कराया ।

तदुपरान्त बुद्ध ने इस नगरी के ३ अन्तराय बतलाए। 'आग, पानी और आपसी मतभेद सर्वदा इस नगरी का अन्तराय करेगे।' यानी इस नगरी को सदा आग पानी और आपसी मतभेदके कारण विघ्न का सामना करना पड़ेगा ।

जब कुणिक को वस्सकार ने यह सूचना दी तो वह चिन्तित हुआ और उसने वस्सकार को शीघ्र गौतम बुद्ध के पास जाकर मगध-वैशाली के विषय पर गोष्ठी करने का आदेश दिया।

बुद्ध राजग्रह पहुँच चुके थे। वे गृद्धकूट पर्वत पर विराज रहे थे। वस्सकार वही पहुँचा और उनसे वैशाली गणतन्त्र की शक्ति का कारण पूछा।

भगवान बुद्ध ने उसे वज्जियो (वैशाली वालो) के सात अपरिहानीय नियम बतलाए जिनके द्वारा उनकी शक्ति की अभिवृद्धि होती रहती है।

१. सन्निपात बहुल है, अर्थात् उनके अधिवेशन मे पूर्ण उपस्थिति रहती है।
२. वज्जी एक मत से परिषद् मे बैठते है, एक मत से उठते है, एक ही करणीय कर्म करते है। वे आपत्ति की भेरी सुनते ही खाते हुए, आभूषण पहनते हुए, या वस्त्र पहनते हुए भी ज्यो के त्यो एकत्रित हो जाते है।
३. वज्जी, अवैधानिक कार्य नही करते। विधान का उच्छेद नही करते।
४. वज्जी वृद्धो का सत्कार करते है, उन्हे मानते है, पूजते है।
५. वज्जी, कुलस्त्रियो और कुलकुमारियो के साथ बलात् विवाह नही करते।
६. वज्जी अपने नगर के बाहर और भीतर के चैत्यो, मन्दिरो का आदर करते है। उनकी मर्यादाओ का उलघन नही करते।
७. वज्जी अर्हतो की धार्मिक सुरक्षा रखते है इसलिए कि भविष्य मे उनके यहाँ अर्हत् आते रहे और सुख से विहार करते रहे।

बुद्ध ने कहा कि जब तक ये सात अपरिहार्य नियम उनमे चलते रहेगे लिच्छवियो (वज्जियों) की अभिवृद्धि होती रहेगी, अभिहानि नहीं होगी।'

महामात्य वस्सकार चतुर और बुद्धिमान मन्त्री था। उसने बुद्ध की बातो के आधार पर अपनी अगली चाल पर विचार करना आरम्भ कर दिया। जब वह वापस अजातशत्रु के पास पहुँचा उस समय तक उसकी सारी योजना बन चुकी थी। उसने और अजातशत्रु ने अर्धरात्रि तक गम्भीर मन्त्रणा की और अपनी गुप्त योजना का आकार प्रकार निश्चित कर लिया।

दूसरे दिन राज-दरबार में सभी अवाक् हो गए जब सम्राट और महामात्य वस्सकार के बीच नीचे की भाँति कटु वार्तालाप हुआ।

सम्राट ने महामात्य से प्रश्न किया—

'अन्ततोगत्वा क्या हमारे महामात्य बिल्कुल परास्त ही हो जाएगे या वज्जियो को परास्त करने की कोई योजना बनाई जा रही है?'

महामात्य वस्सकार ने उच्छृ खलता पूर्वक उत्तर दिया—'सम्राट! वज्जि (लिच्छवी) आपस मे सभी एक मत है उनके यहाँ धर्म का आदर है। हम लोगों का उनको जीतना दुष्कर कार्य है।'

सम्राट क्रोध पूर्वक बोले—

'मै महामात्य से इस प्रकार के उत्तर की आशा नही रखता था। अब तो मुझे यह भी लगता है कि राज्य के गुप्तचर विभाग ने जो सूचना मुझे दी है वह सच्ची है।'

इसके उपरान्त अपने स्वर को और ऊचा कर एव किंचित क्रोध मे सम्राट ने पूछा—'क्या यह सच है कि आपने लिच्छवियो को भेट स्वरूप गुप्त रूप से कुछ वस्तुएं भेजी है।'

वस्सकार ने अपना सर नीचा कर लिया। उनके इस व्यवहार से सारी सभा सन्नाटे मे आ गई। किसी के अनुमान मे भी यह बात नहीं थी कि महामात्य वस्सकार मगध राज्य के साथ धोखा करेगे। अब सभी उत्सुक होकर सम्राट की ओर देखने लगे।

सम्राट तीक्ष्ण दृष्टि से वस्सकार की ओर देख रहे थे। उनकी त्योरी चढी हुई थी। एकाएक उन्होने गभीर शब्दो मे कहा—'वस्सकार तुम महामात्य रहने लायक अब कदापि नही रहे। अब मैं समझ गया कि पिछले दस युद्धों मे हमारी हार क्यों हुई है। मैं तुम्हें ऐसी सजा दूंगा कि मगध राज्य मे यह भी एक उदाहरण स्वरूप रहे।'

यकायक उन्होने कहा—'हमारी आज्ञा है कि वस्सकार का सर मुडन कराकर नगर से निकाल दिया जाय मगध साम्राज्य की कोई भी प्रजा वस्सकार को स्थान एवं भोजन न दें।'

इतना कहते हुए सम्राट कुणिक उठ खडे हुए। सारी सभा खडी हो गई। जैसे ही सम्राट ओझल हुए, सभागृह मे कोलाहल मच गया और तभी वस्सकार चिल्ला उठा— 'मगधवासी सुन लो, कान खोल कर सुन लो, मै तुम्हारी नगरी के सभी दुर्बल स्थानों को जानता हूँ। मैने ही तुम्हारे दुर्गों के आकार-प्रकार आदि बनवाए है। मैं तुम्हारा नाश कर दूंगा।'

सैन्यदल वस्सकार को बेडियों मे कसकर खीचे तो जा रहा था। कुछ लोग सहमे हुए उसकी बात के ऊहा-पोह मे खडे थे। युवक उसे भुजा हिला-हिला कर मार डालने की धमकियाँ देते हुए गालियाँ दे रहे थे।

चतुर अमात्य वस्सकार की कूटनीति सफल हुई। उसके बताए हुए तरीके पर सम्राट ने सभा मे सफल नाटक किया। कोई नही समझ सका कि लिच्छवियो को धोखा देने के लिए यह जाल बिछाया गया है।

वस्सकार तिरस्कृत और अपमानित क्या हुआ कि लिच्छवियो ने उसे अपने यहाँ आश्रय दिया एव शीघ्र ही उसे लिच्छवि गणतन्त्र का अमात्य बना दिया गया। लोगो को वहाँ भरोसा हो गया कि मगध का भूतपूर्व महामात्य अब उन्हे मगध का विनाश कराने मे अत्यन्त सफलता पर्वक मत्रणा देगा।

थोडे ही दिनो मे वस्सकार ने वैशाली मे अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया। उसने बुद्ध की बातों से समझ लिया था कि लिच्छवियो मे बिना फूट का बीज बोए उनको हराया नही जा सकता, और वह अपने पद का सपूर्ण लाभ उठा कर उनको आपस में लडवाने के पूरे प्रयत्न मे लग गया।

जब कभी बहुत सारे लिच्छवि एकत्र होते, वह उनमे से किसी एक को एकान्त मे ले जाता और पूछता—

—खेत जोतते हो ?

—हाँ जोतते है।

—'दो बैल से ?'

—हाँ, दो बैल से।

दूसरे लिच्छवि उससे पूछते कि महामात्य ने क्या कहा। जब वह सारी बात बताता, तो उन्हे विश्वास नही होता कि महामात्य ने ऐसी साधारण बात कही होगी। वे कहते—

'हमारे ऊपर तुम्हें विश्वास नहीं है, तुम सही बात नही बता रहे हो।'

इतना कह, सदा के लिए वे उसके दुश्मन बन जाते।

कभी किसी लिच्छवी से वस्सकार कहता 'तुम्हारे यहाँ क्या शाक भाजी बनी है ? और वही बात फिर वहाँ होती।

किसी एक लिच्छवी को एकान्त मे ले जाकर कहता, "तुम बडे गरीब हो।"

किसी को कहता—'तुम बडे कायर हो।'

वे पूछते—'किसने कहा है ?'

तो वह उत्तर मे किन्ही दूसरे लिच्छवी का नाम बता देता।

इस प्रकार की कूटनीति से उसने कुछ दिनो मे लिच्छवियो मे परस्पर अविश्वास और मनोमालिन्य फैला दिया। अब वैशाली मे आपसी कलह और मतभेद एक साधारण सी बात हो गई। एक राज्य का मन्त्री अगर स्वार्थी और धोखेबाज हो जाए तो सारे राज्य और प्रजा के चरित्र को वह कितना गिरा सकता है इसे वस्सकार ने अपने २-३ वर्ष के मन्त्रित्व काल मे ही वैशाली मे रह कर दिखला दिया।

इस प्रकार कपट पूर्वक उसने जब वैशाली के जन जन मे कलह और घृणा का बीज बो दिया तो इस चतुर अमात्य के सकेत पर सम्राट अजातशत्रु कुणिक तीन वर्ष के उपरान्त अपनी सारी शक्ति के साथ वैशाली पर टूट पडा।

नियमानुसार वैशाली मे सकट की भेरी बजवाई गई।

—'सभी नागरिक चले, शत्रुओं को गगा के पार न होने दे।'

परन्तु कोई आया ? कोई नही आया।

मगध की सेना ने गगा पार कर ली।

दूसरी बार सकट की भेरी फिर बजी।

—'शत्रुओं को नगर मे नही घुसने दो। द्वार बन्द कर अन्दर रहो।'

परन्तु कुछ आये, जो नही आए वे कहते सुने गए—

—'हम तो गरीब हैं, हम क्यो लड़ेगे।'

—'हम तो कायर है हम क्या लडेगे ?'

—जो श्रीमन्त है शूरवीर हैं वे लड़ें ।'

—इस प्रकार वैशाली के लाखों मनुष्यों का संहार हुआ । एक विशेष प्रकार का मन्त्र चालित रथ बिना किसी सारथी के वैशाली—सेना के बीच निर्द्वन्द मूसल की मार करता हुआ एव लोगों को कुचलता हुआ घूम रहा था उसके द्वारा ही एक दिन मे वैशाली सेना के लाखो मनुष्य कुचल दिए गए ।

चेटक और नवमल्लवी, नवलिच्छवी ऐसे १८ काशी, कौशल के गणराजाओं की बहुत बडी ऐतिहासिक पराजय हुई ।

सम्राट अजातशत्रु-कुणिक विजयी हुआ ।

पराजित चेटक अपने कोट मे चला गया । प्राकार के द्वार बन्द कर लिए गए । कुणिक प्राकार को घेरे बहुत दिनों तक पडा रहा ।

अमात्य वस्सकार ने दूसरी चाल चली । मगध की नगरवधू, मागधिका वेश्या की उसने सहायता ली । वैशाली के नागरिको मे यह बात फैलाई गयी कि वैशाली मे स्थित तीर्थंकर मुनि मुव्रतनाथ के मानस्तम्भ के टूट जाने पर वैशाली बच सकेगी ।

फिर क्या था । लोगो ने मानस्तम्भ को तोडना आरम्भ कर दिया । कायरो को पता नहीं था कि इस मानस्तम्भ के अतिशय से वैशाली अजेय बनी हुई थी और महाबली अजातशत्रु की सारी शक्ति वैशाली पर पूर्ण विजय करने मे समर्थ नही हो सकती थी ।

जैसे ही मानस्तम्भ टूट कर गिरा, मगध की सेना वस्सकार का सकेत पाकर पूरी शक्ति से टूट पड़ी ।

वैशाली का सर्वनाश हो गया ।

हल्ल और विहल्ल हार और हाथी शत्रु से बचाने के लिए भाग खड़े हुए ।

प्राकार की खाई मे भीषण आग लगी हुई थी । सेचनक हाथी इसे अपने विभङ्ग ज्ञान से जान चुका था । उसे बलात् बढ़ाया गया तो उसने उन दोनो को सूंड से पकड़ कर नीचे उतार दिया । अपने स्वामियों को अग्नि मे जल मरने से उसने बचाया और स्वयं अग्नि मे प्रवेश कर गया । देवप्रदत्त हार का क्या हुआ, किसी को पता नहीं । कहते है देव उसे वापस ले गए ।

सम्राट अजातशत्रु की विजय पताका वैशाली पर फहराने लगी । फिर तो मागधी सेना द्वारा इतना अत्याचार और अनाचार हुआ कि मागधी सेना के ही जो समझदार व्यक्ति थे कांप उठे । सम्राट तो स्वय आमोद प्रमोद और उत्सवो मे व्यस्त थे, उन्होने भी इसे रोकने का कोई प्रयत्न नही किया । स्वय राजपुत्र उदायीभद्र ने सम्राट से इस विषय मे निवेदन किया परन्तु वह भी निरर्थक हुआ ।

राजपुत्र उदायीभद्र को सम्राट और उसकी सेना से घृणा हो गयी । वह सैनिको की एक टुकड़ी लेकर सम्राट के वापस जाने के पूर्व ही मगध की ओर लौट पड़ा ।

कुणिक के गर्व का ठिकाना नही था । वह अपने को चक्रवर्ती समझने लगा था और विश्व-विजय की धुन उसके सिर पर सवार हो गई ।

राजधानी वापस आकर वह भगवान महावीर के समवशरण मे पहुँचा । विनय आदि क्रियाओ के उपरान्त उसने प्रश्न किया ।

'भगवान क्या मै चक्रवर्ती हूँ' ?

भगवान की दिव्य ध्वनि हुई—

'नहीं ।'

—'क्या मै चक्रवर्ती हो सकूंगा' ?

—'इस काल मे बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं । तेरहवां चक्रवर्ती नही होने का ।'—दिव्य ध्वनि फिर हुई ।

—'पदासीन चक्रवर्ती मरने के बाद कहाँ जाता है' ?

—'सप्तम नरक मे ।'

—'मैं मर कर कहाँ जाऊंगा' ?

—'तुम छठवे नरक मे जाओगे' ।

परन्तु उसे इन सारी बातों पर विश्वास कहाँ था ? उसे तो चक्रवर्ती बनने की धुन थी । तीव्र मान के कारण वह अन्धा हो गया था ।

वह दिग्विजय के लिए निकल पड़ा । तिमिस्र की गुफा मे उसे किसी ने रोका । कोई कहते हैं वह देवता था । कोई कहते है राजपुत्र उदायीभद्र था । परन्तु उसी अन्धेरी गुफा में गर्वीले अजातशत्रु कुणिक की हत्या हो गई ।

सम्राट का सपना अधूरा रह गया । ●

दिल्ली पट्ट के मूलसंघीय भट्टारक प्रभाचन्द्र

परमानन्द जैन शास्त्री

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक विद्वान हो गए है। एक नाम के अनेक विद्वानों का होना कोई आश्चर्य की बात नही है। जैन साहित्य और इतिहास को देखने से इस बात का स्पष्ट पता चल जाता है कि एक नाम के अनेक आचार्य विद्वान और भट्टारक हो गए है। यहाँ दिल्ली पट्ट के मूलसघीय भट्टारक प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध मे विचार करना इस लेख का प्रमुख विषय है।

पट्टे श्री रत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र-
व्याख्या विख्यातकीर्ति गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचंचुः।
श्रीमानानन्द धामा प्रति वुधनुतमामान संदायि वादो।
जीयादाचन्द्रतारं नरपति विदितः श्रीप्रभाचन्द्र देव ॥

(जैन सि० भा०, भा० १ किरण ४)

पट्टावली के इस पद्य मे प्रकट है कि भट्टारक प्रभाचन्द्र रत्नकीर्ति भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। रत्नकीर्ति अजमेर पट्ट के भट्टारक थे। दूसरी पट्टावली में दिल्ली पट्ट पर भ० प्रभाचन्द्र के प्रतिष्ठित होने का समय स० १३१० बतलाया है। और पट्टकाल स० १३१० से १३८५ तक दिया है, जो ७५ वर्ष के लगभग बैठता है। दूसरी पट्टावली मे सं० १३१० पौष सुदी १५ प्रभाचन्द्र जी गृहस्थ वर्ष १२ दीक्षा वर्ष १२ पट्ट वर्ष ७४ मास ११ दिवस १५ अन्तर दिवस ८ सर्व वर्ष ९८ मास ११ दिवस २३। (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ९१)।

भट्टारक प्रभाचन्द्र जब भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए उस समय दिल्ली मे किसका राज्य था, इसका उक्त पट्टावलियो मे कोई उल्लेख नही है। किन्तु भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य धनपाल के तथा दूसरे शिष्य ब्रह्म नाथूराम के सं० १४५४ और १४१६ के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र ने मुहम्मद बिन तुगलक के मन को अनुरंजित किया था और वादी जनों को वाद मे परास्त किया था - जैसे उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

तहिं भव्वहि सुमहोच्छव विहियउ,
सिरि रयणकित्ति पट्टे णिहियउ।
महमंद साहि मणु रंजियउ,
विज्जहि वाइयमणु भंजियउ ॥

—बाहुबलि चरित प्रशस्ति

उस समय दिल्ली के भव्यजनो ने एक उत्सव किया था और भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रभाचन्द्र को प्रतिष्ठित किया था। मुहम्मद बिन तुगलक ने सन् १३२५ (वि० स० १३८२) से सन् १३५१ (वि० स० १४०८) तक राज्य किया है। यह बादशाह बहुभाषा-विज्ञ, न्यायी, विद्वानों का समादर करने वाला और अत्यन्त कठोर शासक था। अतः प्रभाचन्द्र इसके राज्य में स० १३८५ के लगभग पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए हो। इस कथन से पट्टावलियों का वह समय कुछ आनुमानिक सा जान पडता है। वह इतिहास की कसौटी पर ठीक नही बैठता। अन्य किसी प्रमाण से भी उसकी पुष्टि नही होती।

प्रभाचन्द्र अपने अनेक शिष्यो के साथ पट्टण, खंभात, धारानगर और देवगिरि होते हुए जोइणिपुर (दिल्ली) पधारे थे। जैसा कि उनके शिष्य धनपाल के निम्न उल्लेख से स्पष्ट है :—

पट्टणे खंभायच्चे धारणयरि देवगिरि।
मिच्छामयविहुणंतु गणिपत्तउ जोयणपुरि ॥

—बाहुबलि चरिउ प्र०

आराधना पंजिका के सं० १४१६ के उल्लेख से स्पष्ट है कि वे भ० रत्नकीर्ति के पट्ट को सजीव बना रहे थे[1]।

1. सं० १४१६ चैत्र सुदि पचम्यां सोमवासरे सकलराज शिरोमुकुट माणिक्य मरीचि पिंजरीकृत चरणकमल पादपीठस्य श्रीपेरोजसाहेः सकल साम्राज्य धुरीबिभ्राणस्य समये श्री दिल्या श्रीकुदकुन्दाचार्यान्वये सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे भ० श्रीरत्नकीर्तिदेव पट्टोदयाद्रि तरुणतरणित्वमुर्वीकुर्वाणं भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देव

इतना ही नही, किन्तु जहाँ वे अच्छे विद्वान, टीकाकार, व्याख्याता और मत्र-तत्र-वादी थे, वहाँ वे प्रभावक व्यक्तित्व के धारक भी थे। उनके अनेक शिष्य थे। उन्होंने फीरोजशाह तुगलक के अनुरोध पर रक्ताम्बर वस्त्र धारण कर अन्तःपुर में दर्शन दिये थे। उस समय दिल्ली के लोगों ने वह प्रतिज्ञा की थी कि हम आपको सवस्त्र जती मानेंगे। इस घटना का उल्लेख बखतावर शाह ने अपने बुद्धिविलास के निम्न पद्य मे किया है :—

दिल्ली के पातिसाहि भये पेरोजसाहि जब,
चांदो साह प्रधान भट्टारक प्रभाचन्द्र तब,
आये दिल्ली मांझि बाद जीते विद्यावर,
साहि रीझि के कही करें दरसन अंतहपुर,
तिह समें लंगोट लिवाय पुनि चांद विनती उच्चरी।
मानि हैं जती जुत वस्त्र हम सब श्रावक सौगद करी।।६१६

यह घटना फीरोजशाहके राज्यकाल की है, फीरोजशाह का राज्य सं० १४०८ से १४४५ तक रहा है। इस घटना को विद्वज्जन बोधक मे स० १३०५ की बतलाई है जो एक स्थूल भूल का पणिाम जान पड़ता है क्योंकि उस समय तो फीरोजशाह तुगलक का राज्य ही नही था फिर उसकी संगति कैसे बैठ सकती है। कहा जाता है कि भ० प्रभाचन्द्र ने वस्त्र धारण करके बाद मे प्रायश्चित लेकर उनका परित्याग कर दिया था, किन्तु फिर भी वस्त्र धारण करने की परम्परा चालू हो गई।

इसी तरह अनेक घटना क्रमो मे समयादि की गडबड़ी तथा उन्हे बढ़ा-चढ़ा कर लिखने का रिवाज भी हो गया था।

दिल्ली में अलाउद्दीन खिलजी के समय राघो चेतन के समय घटने वाली घटना को ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किये बिना ही उसे फीरोजशाह तुगलक के समय की घटित बतला दिया गया है। (देखो बुद्धिविलास पृ० ७६; और महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रैल १९६२ का अक पृ० १२८)।

राघव चेतन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और अलाउद्दीन खिलजी के समय हुए है। यह व्यास जाति के विद्वान मंत्र, तंत्रवादी और नास्तिक थे। धर्म पर इनकी कोई आस्था नही थी, इनका विवाद मुनि महासेन से हुआ था उसमे यह पराजित हुए थे।

ऐसी ही घटना जिनप्रभसूरि नामक श्वे० विद्वान के सम्बन्ध मे कही जाती है—एक बार सम्राट मुहम्मदशाह तुगलक की सेवा मे काशी से चतुर्दशविद्या निपुण मत्र तंत्रज्ञ राघवचेतन नामक विद्वान आया। उसने अपनी चातुरी से सम्राट् को रंजित कर लिया। सम्राट् पर जैनाचार्य श्री जिनप्रभ सूरि का प्रभाव उसे बहुत अखरता था। अत. उन्हे दोषी ठहरा कर उनका प्रभाव कम करने के लिए सम्राट् की मुद्रिका का अपहरण कर सूरि जी के रजोहरण मे प्रच्छन्न रूप से डाल दी। (देखो जिनप्रभ सूरि चरित पृ० १२)। जब कि यह घटना अलाउद्दीन खिलजी के समय की होनी चाहिए। इसी तरह कुछ मिलती-जुलती घटना भ० प्रभाचन्द्र के साथ भी जोड दी गई है। विद्वानो को इन घटनाचक्रो पर खूब सावधानी से विचार कर अन्तिम निर्णय करना चाहिए।

टीका-ग्रन्थ

पट्टावली के उक्त पद्य पर से जिसमे यह लिखा गया है कि पूज्यपाद के शास्त्रो की व्याख्या से उन्हे लोक में अच्छा यश और ख्याति मिली थी। किन्तु पूज्यपाद के समाधितत्र पर तो भ० प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध है। टीका केवल शब्दार्थ मात्र को व्यक्त करती है उसमे कोई ऐसी खास विवेचना नही मिलती जिससे उनकी प्रसिद्धि को बल मिल सके। हो सकता है कि वह टीका इन्ही प्रभाचन्द्र की हो, आत्मानुशासन की टीका भी इन्ही प्रभाचन्द्र की कृति जान पडती है, उसमे भी कोई विशेष व्याख्या उपलब्ध नही होती।

रही रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका की बात, सो उस टीका का उल्लेख पं० आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत की टीका में किया है।

तत्शिष्याणा ब्रह्म नाथूराम इत्याराधना पंजिकायां ग्रन्थ आत्म पठनार्थे लिखापितम्।

दूसरी प्रशस्ति सं० १४१६ भादवा सुदी १३ जैन साहित्य और इतिहास गुरुवार के दिन की लिखी हुई द्रव्यसंग्रह की है जो जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे सुरक्षित है। ग्रंथ सूची भा० ३, पृ० १८०।

"यथाहुस्तत्र भगवन्त: श्रीमत्प्रभेन्दुपादा रत्नकरण्डटीकायां चतुरावर्तत्रितय इत्यादि सूत्रे द्विनिषद्यइत्यस्यव्याख्याने–देववन्दनां कुर्वताहि प्रारम्भे समाप्तौचोपविश्य प्रणाम: कर्तव्यइति ।"

इन टीकाओ पर विचार करने से यह बात तो सहज ही ज्ञात होती है कि इन टीकाओ का आदि-अन्त, मगल और टीका की प्रारभिकसरणी मे बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इससे इन टीकाओं का कर्त्ता कोई एक ही प्रभाचन्द्र होना चाहिये। हो सकता है कि टीकाकार की पहली कृति रत्नकरण्डकटीका ही हो। और शेष टीकाए बाद में बनी हों। पर इन टीकाओ का कर्त्ता प्रभाचन्द्र प० प्रभाचन्द्र ही है, प्रमेयकमलमार्तण्ड के कर्त्ता प्रभाचन्द्र इनके कर्ता नही हो सकते। क्योंकि इन टीकाओ मे विषय का चयन और भाषा का वैसा सामजस्य अथवा उसकी वह प्रौढता नही दिखाई देती, जो प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र मे दिखाई देती है। यह प्राय: सुनिश्चित-सा है कि वे धारावासी प्रभाचन्द्राचार्य जो माणिक्यनन्दि के शिष्य थे उक्त टीकाओ के कर्ता नहीं हो सकते।

समय-विचार

प्रभाचन्द्र का पट्टावलियों में जो समय दिया गया है, वह अवश्य विचारणीय है। उसमे रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठने का समय स० १३१० तो चिन्तनीय है ही। स० १४८१ के देवगढवाले शिलालेख मे भी रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठने का उल्लेख है, पर उसके सही समय का उल्लेख नही है। प्रभाचन्द्र के गुरु रत्नकीर्त्ति का पट्टकाल पट्टावली में १२९६-१३१० बतलाया है। यह भी ठीक नही जचता, सभव है वे १४ वर्ष पट्टकाल मे रहे हों। किन्तु वे अजमेर पट्ट पर स्थित हुए और वही उनका स्वर्गवास हुआ। ऐसी स्थिति में समय सीमा को कुछ बढा कर विचार करना चाहिए, यदि वह प्रमाणों आदि के आधार से मान्य किया जाय तो उसमे १०-२५ वर्ष की वृद्धि अवश्य होनी चाहिये, जिससे समय की सगति ठीक बैठ सके। आगे पीछे का सभी समय यदि पुष्कल प्रमाणोंकी रोशनी मे चर्चित होगा, वह प्राय: प्रामाणिक होगा। आशा है विद्वान् लोग भट्टारकीय पट्टावलियो मे दिये हुए समय पर विचार करेंगे, अन्य कोई विशेष जानकारी उपलब्ध हो तो उससे भी मुझे सूचित करेंगे।

मथुरा के सेठ मनीराम

परमानन्द शास्त्री

जयपुर राज्यान्तर्गत मालपुरा ग्राम के निवासी थे। उनकी जाति खडेलवाल और धर्म जैन था। वे आर्थिक परिस्थिति वश अपने जन्म स्थान को छोडकर ग्वालियर आ गये थे। और वहाँ पारिख जी की सेवा में रहने लगे थे। वे अपनी योग्यता और कार्य दक्षता से पारिख जी की उन्नति के साथ-साथ मनीराम की भी उन्नति होती रही। जब पारिखजी ने ग्वालियर से ब्रज मे निवास किया, तब वे भी उनके साथ थे। मनीराम के तीन पुत्र थे। लक्ष्मीचन्द्र, राधाकृष्ण और गोबिन्द दास।

पारिख जी ने अपनी मृत्यु से पहले ही लक्ष्मी चन्द्र को अपना उत्राधिकारी बना दिया था। और अपनी सारी सम्पत्ति मनीराम जी को सोंप दी। पारीख जी के स्वर्गवास होने पर उनके कुटुम्बियों भाई-भतीजों ने अपने अधिकार के लिए मनीराम और लक्ष्मीचन्द्र के विरुद्ध मुकदमा दायर किया था। वह मुकदमा कई वर्ष तक चला, परन्तु अन्त मे उसका निर्णय मनीराम लक्ष्मीचद्र के ही पक्ष मे हुआ था।

मनीराम जी ने पारिख जी की विपुल सम्पत्ति को धार्मिक कार्यों में लगाने के साथ ही साथ उसे कारोबार मे भी लगाया। और मनीराम लक्ष्मीचन्द्र के नाम से एक प्रतिष्ठान की स्थापना की। उनके द्वारा उन्होंने लेन-देन का व्यवहार प्रारम्भ किया। जिससे सम्पत्ति में खूब वृद्धि हुई। पुण्य का उदय जो था। उनके प्रतिष्ठान की साख लोक मे प्रसिद्ध हो गई। और वे व्रज क्षेत्र के सबसे अधिक धनिक माने जाने लगे। उनकी उदार परिणति और जन-

साधारण का सेवा कार्य भी उनकी प्रसिद्धि में चार चाँद लगा रहा था। वे जैसे सम्भ्रान्त कुल मे जन्मे थे उसी के अनुसार उनका स्वभाव भी नरम और सौहार्दता को लिए हुए था। मनीराम जी स्वय धर्मात्मा और एक प्रामाणिक व्यक्ति थे। उनकी प्रामाणिकता ही उनके कार्य की साधिका और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की ससूचक थी। उनकी यह सब बाते लक्ष्मीचन्द जी को विरासत मे मिली थी। वे बहुत ही योग्य विचारक, सहृदयवान, दयालु और परोपकारी थे।

ग्वालियर नरेश दौलतराम जी सिन्धिया के देहावसान के बाद रानी बायजाबाई ने सेठ मनीराम को ग्वालियर राज्य का खजानची नियुक्त किया था। वहाँ के सरकारी कागजों के अवलोकन से उक्त बात का पता चलता है कि उस समय ग्वालियर राज्य मे उनका बड़ा प्रभाव था। वे दानी और परोपकारी होने के साथ धार्मिक कार्यों में पैसा लगाना अपना परम कर्तव्य मानते थे। परिणामस्वरूप चौरासी का दि० जैन मन्दिर उनकी जैन धर्मप्रियता का अच्छा निदर्शक है। उसमें पहले इन्होने भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी, और बाद मे अजितनाथ की विराजकान की गई।

मनीराम जी विद्वानो के भक्त थे। उनका वे उचित आदर सत्कार करते थे। प० चम्पालाल जी तो प्राय: उनके यहाँ ही रहते थे और वे उनका आदर करते थे। एक दिन सेठ मनीराम जी पं० चम्पालाल जी को साथ लेकर हाथरस गए। वहाँ उन्हे प० दौलतरामजी, जो छींटे छापने का कार्य करते हुए भी प्रतिदिन ५० श्लोक कण्ठ करना अपना कर्तव्य मानते थे। जब सेठ सा० पहुँचे तब पण्डित दौलतराय जी गोम्मटसार की स्वाध्याय कर रहे थे। सेठजी और चम्पालाल जी भी वही बैठ गए। और परस्पर तत्त्व चर्चा करने लगे। प० दौलतराम जी तत्त्व चर्चा करने मे बड़े दक्ष थे। सेठ जी उनकी सरल धार्मिक तत्त्वचर्चा से अत्यन्त प्रभावित हुए, सेठजी पर जहाँ उनकी धार्मिक चर्चा का और निश्छल प्रवृत्ति का ऐसा प्रभाव अंकित हुआ कि वे पण्डित जी को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। किन्तु पं० जी को वे अपने साथ मे ले जाना चाहते थे। प्रेरणा के बाद पं० जी ने स्वीकृति दे दी। और वे उन्हें मथुरा ले आए। सेठजी ने उनकी सेवा सुश्रुषा की, परन्तु पं० जी बडे विवेकी निष्ठावान और निस्पृह वृत्ति के अनुभवी विद्वान थे, उन्हें सेठ जी के वैभव में रहना इष्ट नही था, वे चाहते थे कि मै यहाँ से कब निकल पाऊँ। उनका मन एक घडी भी शान्त न रह सका। यद्यपि सेठजी की ओर से सब प्रकार की सुख-सुविधा उन्हें उपलब्ध थी और सेठजी स्वयं उन्हे बार-बार पूछते और आदर करते थे, परन्तु प० जी का अन्तःकरण उस वैभव की चकाचौध से घबराता था, वे शान्त और एकान्त वातावरण मे रहना पसन्द करते थे। वे उदरपूर्ति के लिए सादा भोजन उपयुक्त मानते थे। और गरिष्ठ एव स्वादिष्ट सरस व्यजनों से अपने को सरक्षित रखना चाहते थे। मखमली गद्दो पर बैठना उन्हे असह्य था, वे उन्हे अनन्त जीवो का पिण्ड समझते थे। इसी से उन मखमली गद्दो पर चिटाई बिछाकर बैठते सामायिक करते और सोते थे। परन्तु अन्तःकरण से वे अपने को एक कैदी के अनुरूप मानते थे, वे वहा से शीघ्रही लौटना चाहते थे, परन्तु सेठजी का अत्यधिक आग्रह उसमें बाधक था। जब वे सेठजी से अपने वापिस जाने की बात कहते तभी सेठजी उन्हे अनेक तरह से सान्त्वना देकर रोक देते थे। और यह भी निवेदन करते थे कि पडित जी आपको जिस वस्तु की आवश्यकता हो लीजिए, और सेवा मे लाकर अशर्फियो के ढेर लगा देते, पर प० जी इतने निरीह व्यक्ति थे कि उनका स्पर्श भी उन्होने नही किया। वे अपने स्वाभिमान के पक्के धनी थे। इस तरह जब ५-६ दिन बीत गए, और वापिस नही जा सके, तब सामायिक के समय प्रात:काल यह विचार किया कि अब यहाँ से चला जाना चाहिए, और सामायिक के बाद वे सेठजी से बिना कहे ही ग्वालियर अपने पुत्रों के पास चले गए। उसके बाद वे फिर कभी सेठजी के यहाँ नही गये, सेठजी को उनके बिना कहे चले जाने से बडा खेद हुआ, वे बहुत पछताए।

सेठ मनीरामजी एक धार्मिक श्रावक थे। लगन के पक्के और कार्य करने मे अत्यन्त चतुर थे। मनीराम जी की मृत्यु सं० १८६३ में हुई थी। मनीराम और गोकुलदास पारीख की सुन्दर छतरियां मथुरा के जमुना बाग में बनी हुई है। ●

राजस्थानी लोककथाओं में अभिप्राय और कथानक रूढ़ियों की सीमा रेखाएं

श्री रमेश जैन

अभिप्राय, मनुष्य की आदिम काल से अब तक की ऐतिहासिक जीवन यात्रा में—जीवन को जीने व रक्षित करने के निमित्त प्रकृति से स्थापित सामंजस्य, अपनी मूल वृत्तियों भय, त्राण, हर्ष विषाद सुख-दुख मे जिए अब तक के मूल्य और उसकी परम्परा के प्रति मोह मे निहित है।

अभिप्राय जीवन मूल्यो व विश्वासो की वह परम्परा है जिसे खुले आकाश के तले खड़े मानव ने जीवन की बारहखड़ी से प्रारम्भ करके, अब तक के समृद्ध व सम्पन्न जीवन को इस सुदीर्घ अवधि मे पाया है। इन मूल्यों व विश्वास के निर्माण मे वह सभी शामिल है जो उसने इस सुदीर्घ जीवन मे सीखा, जोड़ा और छोड़ा है। इस जोड़ने व छोड़ने में उसके अन्दर और बाहर की सभी शक्तियो ने क्रियात्मक भाग लिया है। लोक जीवन मे घुले इन अभिप्रायो की दीर्घ यात्रा कैसी रही, आदिम मूल्यों से लोक रूप तक का लेखा जोखा[1] प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन नहीं है।

अभिप्राय स्पष्ट रूप से कथ्य अथवा कथानक (theme) और रूढ़ि (type) से भिन्न है। थीम कथा का कथ्य या प्रयोजन होता है। कथ्य के प्रस्तुतीकरण मे बुने कथा जाल मे अभिप्राय स्वतः ग्रहीत है। इस विचारणा को स्पष्ट करने के लिए राजस्थानी की एक लोक कथा 'उमर का परवाना'[2] ले ले। संक्षेप मे कथा यो है —

एक बनिए के सात बेटे थे। बनिए ने सातो बेटो के लिए अलग-अलग हवेलिया दुकाने व बाड़े बनवा दिये थे। पर होनहार को नमस्कार! उसके सामने किसी का वश नही चलता। उसी बस्ती मे एक भूत का बसेरा था। वह अपनी भूख और इच्छानुसार बारी-बारी सब को गटकता गया। अन्त मे छोटे बेटे की विधवा बहू बची जिसके पेट मे सात माह का बच्चा था। उसने भूत को झासा दिया। कि वह इन सूनी हवेलियो मे अपने ब्याहे सात भाइयों को बसाने के लिए उन्हें बुलाने पीहर जाना चाहती है। भूत ने उसे इजाजत दे दी। भूतों मे शक्ति तो बहुत होती है पर उनमे अक्ल का अंश भी नही होता। विधवा बहू पीहर जाकर नही लौटी।

उसको एक बेटा हुआ। जो बारह साल की उम्र मे ही बहुत शैतान हो गया था: गांव मे शरारत करता फिरता था। एक दिन नाई के लड़के को झुरनी खेलते समय पटक दिया तो वह ताना मारता हुआ बोला ऐसा बहादुर बनता है तो अपने घर वालो का बदला चुका, जिन्हे भूतो ने खा लिया है। बात सीधी लड़के के कलेजे मे जाकर लगी। मा से बोला—मा सच्ची बात बता। मै भूत, प्रेत, राक्षस, जिन्द, खवीस कोई हो, घर वालो का बदला लेकर छोड़ूगा। मेरी बुद्धि पर भरोसा रख। मा ने पहले टालमटूली की फिर अन्त मे सब बात बता दी। मुँह मे मागलिक गुड़ देकर उसने अपने बेटे को घरवालो का बदला लेने के लिए विदा कर ही दिया।

उस गाव के लोगो के समझाने व रोकने के बावजूद, उसने हवेली मे डेरा जमाया। उस समय भूत अपने मित्र से मिलने गया था। घूमते-घूमते वह रसोई घर मे पहुँचा। वहाँ उसने आटा, घी, गुड़ की सामग्री का ढेर देख कर अनुमान किया कि भूत स्वय पाकी है। लौटने पर भूखा होगा उसे तैयार रसोई उपलब्ध करा कर प्रसन्न करने का सुअवसर है। भूत को लौटने पर हलुए और मनुष्य की गन्ध आई। वह लड़के पर झपटता है पर लड़के के निश्चित भाव से हंसने पर पूछता है कि मै तुझे खाने वाला हूँ और तू हँसता है। मुझे इसका कारण बता। लड़का निशंक होकर बोला—मैने सारे दिन मेहनत करके अपने मामा के लिए इतनी सफाई से रसोई बनाई, जिसका मुझे यह फल मिल रहा है। पिछले जन्म

१. देखे लेखक के निबन्ध: मानव की ऐतिहासिक यात्रा, मूल वृत्तियों से सम्बद्ध अभिप्रायो का लोकीकरण।

२. बाता री फुड़वाड़ी भाग १: स० विजयदान देथा।

में खोटे कर्म किए जभी तो भूत योनि भुगत रहे हो। भूत पश्चाताप करता हुआ बोला—मुझसे भूल हो गई। फिर उसने पेट भर हलुआ खाया।

उस लडके ने भूत को प्रसन्न कर लिया और फिर उसके मारने का अवसर ढूढने लगा। भूत बना बनाया खाना खाकर घूमने निकल जाते। लड़के ने अकेलेपन की बात कह घर लौटने की बात कही। भूत इस बात से परेशान हुआ उसने घर पर ही रहने का वचन दिया। पर उस दिन अमावश्या थी भूत शाम को खाना खाकर चलने लगा तो लडके ने उसके वचन को याद कराया। उसने कहा सिर्फ एक रात बाहर रहूँगा। "अमावश की रात हम सारे भूत, पलीत, जिन्द, खवीस, राक्षस, दैत्य यमराज और विधाता सब इकट्ठे होकर सलाह करने—मनुष्य योनि मे किसके मरने की बारी है, सभा करते हैं।" इस पर लड़के ने अपनी और अपने मृत परिवार के लोगों की आयु के सम्बन्ध में पुछवाया। भूत ने विधाता से पूछकर बताया कि उसकी आयु अस्सी वर्ष तथा परिवार के लोग पुनर्जीवित होंगे। लड़के ने भूत से उसके जीवन की चिन्ता प्रकट करके उसके जीवन का रहस्य पूछ लिया। भूत ने बताया कि उसके कपाल मे अमृत का कटोरा है। वह जब तक अन्दर रहेगा तब तक वह जीवित रहेगा।

लड़के ने अपनी आयु व उसकी मृत्यु के रहस्य को जानने के पश्चात् रसोईघर की भट्टी मे मिर्च डाल दी। और रसोई घर का दरवाजा बन्द कर दिया। मिर्चों के धुएं से भूत की सारी शक्ति क्षीण हो गई। लड़के ने उसका सिर काट कर अमृत का कटोरा निकाल लिया और मरे हुए कुटुम्बियो की हड्डी पर छिडक कर उन्हे पुनर्जीवित किया।

'कुटुम्बियो का बदला' इस कथा की थीम है। इसमे चतुराई से जीवन रक्षा करना मूल अभिप्राय है। भूत के प्राणों का उसके कपाल में रखे अमृत कटोरे में होना सह अभिप्राय है। इसी तरह मामा का भानजे को हानि न पहुँचाने का विश्वास कथाओं मे रूढ़िगत है। समाज के विकसित सम्बन्धों मे बहिन रक्षणीय हुई और उसका पुत्र भी। इस प्रसंग मे पं० राहुल सांकृत्यायन की मेरी जीवन यात्रा में वर्णित उस अंश से है जिसमें बालक लेखक द्वारा भूत को बाबा न कह कर 'मामा' जैसे ममत्वपूर्ण सम्बन्ध जोडकर, उसके निरापद हो जाने के लोक विश्वास का निरूपण है। उसके अनुसार यदि 'बाबा' प्रकट हुए तो झट मामा कह बैठेंगे। फिर 'बाबा' भाजे पर हाथ छोड़ने का साहस थोड़ा ही करेंगे ?' इसी तरह यह विश्वास भी रूढिगत हो चुका था कि 'बदले को प्रेरित करने के लिए चुनौती देना' जिससे कथा नायक कुटुम्बियों की मृत्यु का बदला लेने का दृढ़ सकल्प करता है। यह रूढि कथाओ मे बहुत प्रचलित है। लोक महाकाव्य 'आल्हा' मे आल्हा और ऊदल को इसी तरह उनके मामा 'माहिल' ने 'करिया' द्वारा मारे गये पिता के बदले के लिए चुनौती दी थी। इससे यह स्पष्ट ही है कि 'अभिप्राय' कथा रूढ़ि और कथा-प्रयोजन से एकदम भिन्न है।

कथा रूढ़ि या कथानक रूढि से अभिप्राय को अलग समझा जाना चाहिए। जीवन के इतने बड़े 'फंज' मे मानव ने असंख्य अनुभव किये, उसमे सशोधन और परिवर्धन भी हुए। उदाहरण के तौर पर—आदिम मानव ने जीवन की रक्षा के लिए पहले पत्थर के औजारों का प्रयोग किया और फिर धातु से परिचित होने पर कुल्हाडे का। जीवन रक्षा के लिए जब से मानव ने कुल्हाड़े को सशक्त माध्यम पाया तब से उसने कुल्हाड़े के 'फल' को अपने गले मे पहनना आरम्भ कर दिया और कुल्हाड़ा का फल जीवन रक्षा के साधन के रूप मे रूढ़ हो गया जो आज भी हजारो वर्षों बाद का मानव अपने गले में धारण करता है, मेरा तात्पर्य कुल्हाड़े के 'फल' के आकार के सोने अथवा चादी के ताबीज से है। यहाँ पर यह निर्दिष्ट करना आवश्यक होगा कि रूढ़िगत विश्वासों और अभिप्राय दोनो की सम्बद्धता यद्यपि जीवन से ही है, पर अभिप्राय मे परिवर्तन नही होते जबकि रूढ़ियो में काल व सन्दर्भ के अनुसार सशोधन परिवर्धन होते रहे हैं। रूढ़ियों के वाक् सवाद स्वतंत्र अस्तित्व की पृष्ठ भूमि मे जीवन सन्दर्भ, संस्कृति धर्म, पुराख्यान और विश्वासों की परम्परा है। 'अभिप्राय' जीवन मे जिए व स्थापित मूल्य हैं। एक दूसरे से सन्दर्भित होते हुए भी अलग हैं। श्री पी० सी० गोस्वामी के शब्दों मे 'अभिप्राय की महा-नाभि से निकलकर जो जीवन्त सन्दर्भ अपना निजी कक्ष

बना लेते है वे किसी उपग्रह की तरह, सौर्यमण्डल (अभिप्राय) के अश होने पर भी अपनी सत्ता विज्ञापित करते रहते है।'

अभिप्राय पर कार्य करने वाले पाश्चात्य और प्रायः सभी भारतीय विद्वानों ने अभिप्राय को 'टाइप' समझ कर वर्गीकृत किया है। उन्होने अभिप्राय और रूढि मे कोई भेद नही किया है।[१] फ्रेजर द्वारा किये वर्गीकरण के कुछ अभिप्राय दृष्टव्य है—

(१) किसी स्त्री के पास उसके पति का रूप धारण करके जाना।
(२) कुतिया और मिर्च मिला हुआ मांस खण्ड।
(३) किसी स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले प्रेमियो की उस स्त्री द्वारा दुर्गति।
(४) कुलटा स्त्रिया।

फ्रेजर ने उपरोक्त 'कामेच्छा' या 'कामवेग' अभिप्राय का वर्गीकरण कथा मे आई घटना साम्य (रूढ़ियो) के 'टाइप' के आधार पर किया है इसी तरह 'टाइप' के आधार पर ब्लूमफील्ड ने 'जोसेफ एण्ड पोरिफरस वाइफ इन हिन्दू फिक्सन'। एव अन्य (१) इको वर्ड मोटिफ, (२) शिवि मोटिफ, (३) प्रोग्रेसिव मोटिफ, (४) माइनर मोटिफ, (५) प्रोग्रेसिव माइनर मोटिफ आदि उपलब्ध एक ही आधार की कथा प्रयुक्त रूढ़ियो के आधार पर वर्गीकरण किया है।

कामवेग या कामेच्छा मनुष्य की आदिम वृत्ति चाहे वह मानव प्राक् ऐतिहासिक रहा हो, प्रस्तरकालीन अथवा ताम्रकालीन या अब तक सभ्य होने तक का। यमी का अपने सहोदर यम से रमण करने के लिए याचना करना, वृहस्पति पुत्र कच से शुक्राचार्य पुत्री देवयानी का प्रणय निवेदन, पाराशर मुनि का सत्यवती पर कामविमोहित होकर रमण करना, इन्द्र का गौतम पत्नी अहिल्या से रमण करना, आपस्तम्भ धर्म सूत्र मे गुरुपत्नी से बलात्कार का दण्ड विधान अथवा किस्सा 'रूपबसन्त' की सौतेली मां का बेटे को रमण आमन्त्रण देना इत्यादि उस मूलवृत्ति की सहज घटित घटनाएँ हैं जिन्हे मात्र आज के नैतिक चश्मेको पहिन कर देखना, समझना उचित न होगा।

काल, सन्दर्भ, सम्बन्धो की विभिन्नता पर दुहरायी जाने वाली घटनाओं ने इस कामेच्छा के मूल अभिप्राय को रूढ कर दिया और फिर ये भारतीय कथाओं की स्थायी रूढ़ियाँ बन गयी। जिनके प्रस्तुतीकरण मे कथाकार ने शिल्प का सहारा अवश्य लिया है। कामेच्छा का यह अभिप्राय अपने मूल रूप मे सुरक्षित रहा है।

श्री फ्रेजर, ब्लूमफील्ड के 'टाइप' के आधार पर अभिप्राय वर्गीकरण और उनके सामने दोनो की भेदक रेखा का स्पष्ट न होने से, मुझे उनकी समझ के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नहीं है। इसके लिए यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि के मूल मे स्वदेश का लोकजीवन, साहित्य व संस्कृति रही है। उस आधार पर विशाल भारतीय लोक जीवन की व्याख्या करना उनके लिए असम्भव तो नहीं पर दुष्कर अवश्य रहा है। लोकजीवन साधारणतः पत्नी का पति के पैर दाब कर, उससे पिट कर उसमे सुख पाना और पति प्रेम की उपलब्धि मानना, यह पाश्चात्य विज्ञों के लिए 'नानसेन्स' या 'फिनेटिक' ही लगेगा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उन्होने भारतीय मूर्तिकला अथवा चित्र के माध्यम से इन्हें समझने का प्रयत्न किया हो। और एक ही 'टाइप' के अंकन को देखकर (घटना पाने के समान) उन्हे विभिन्न अभिप्राय मान लिया अथवा—बड़ौदा म्यूजियम मे दो मूर्तियो का सदर्भ है। एक मूर्ति मे स्त्री के कूल्हे पर बालक खड़ा है और वह अपनी मा का कान खीच रहा है।[१] दूसरी मूर्ति मे बालक कमर मे बैठा अपनी मा के स्तन छू रहा है।[२] इस पर चर्चा करते हुए लेखको ने इसे 'कान खीचने वाला बालक' और 'मा का स्तन छूने वाला बालक' अभिप्राय है जो ५वी ६ठी शती मे प्रचलित थे जब कि दोनो मूर्तियो मे अप्रिय वात्सल्य का अंकन है। दोनो के

१. ब्लूमफील्ड ने कथानक रूढियों अथवा अभिप्रायो का अध्ययन करते हुए कई निबन्ध लिखे है।'

—माध्यमयुगीन साहित्य हिन्दी का लोकतात्विक अध्ययन
—डा० सत्येन्द्र पृष्ठ ४८६

१. Journal of the Indian Socteey of Orientai Art : Editor : U. P. Shah and Kalyan K. Gangal (Special number "Western Indian Art") Page 29.

२. वही पृष्ठ ७८।

अंकन में मूल शिशु का मातृस्नेह है। अथवा माता का वात्सल्य।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कथा रूढियो और कला रूढ़ियों से उनके अभिप्राय निश्चयन भिन्न है।

प्रसंगतः रूढ़ि और कथ्य के भेद को स्पष्ट कर लेना उचित होगा। जीवन मे अनुभवों की रूढस्थितियो, वर्जनाएं जिन्हें जीवन हित में स्वीकार किया है। वे समाज के विकास क्रम में निश्चित हुई है। समाज मे ऐसे लोगो की उपस्थिति जो अपनी धूर्तता व चालाकी से, अन्य सीधे एव निष्कपट व्यक्तियो को ठग लेते है। उनके लिए उन्ही के ढग से पेश आने वाला व्यक्ति ही उन्हे सबक देता है। इस तरह का जीवनानुभव रूढिगत रूप मे लोक कथाओ में बहुत पाया जाता है। इन कथाओ मे अक्सर परिवार का कोई सदस्य पिता, पुत्र, भाई ठगाये जाते है। और बाद में उसी परिवार का कोई चतुर सदस्य उस ठग को उसी चालाकी से ठग कर सबक देकर, न केवल पूर्व ठगी सम्पत्ति को लौटाता है वरन् कुछ नया भी ले आता है। राजस्थानी की एक कथा द्रष्टव्य है[1]—'बनिये का गुरू': एक चौधरी बाबा, अपने गाव से लकडियो की गाडी भर कर पास के नगर मे बेचने गया। एक सेठ लकड़ियाँ खरीदने आया। पूछा—बाबा, गाडी का क्या मोल? चोधरी ने कहा—एक ही बात बता दू, पाच रुपये लूगा। कमी-बेसी करना मत। सेठ ने राजी होते हुए कहा गाड़ी हवेली ले चल। जब चौधरी लकडी खाली कर अपनी गाड़ी बैल लेकर चलने लगा तो सेठ ने धमका कर कहा कि मैंने गाड़ी का मोल किया था। उस समय गाडी मे बैल भी जुते थे लकडिया भी थी। चौधरी ने बहुत कहा, पर सेठ अड़ा रहा। अन्त मे चौधरी पाच रुपये मे गाड़ी, बैल और लकडियां छोड कर घर आ गया। घर पर उसके पुत्रों ने पूछा। उसने सारी स्थिति बतलायी। तीन ताकतवर लड़के सेठ को मारने चले तो चौथे लड़के ने उन्हें रोक दिया और कहा मैं ही काफी हूँ।

चौधरी के लड़के ने एक गाड़ी में लकड़ी लादी और उसी नगर चला। उसने सेठ की हवेली व सेठ की हुलिया पूछ ली थी। बाजार मे सेठ को देखते ही पहिचान लिया। सेठ के पूछने पर गाड़ी का दाम दो मुट्ठी भर पैसा बतला दिया। सेठ ने सोचा कि यह कल वाले बाबे से ज्यादा भोला है। अतः शीघ्र ही हवेली में ले जाकर कहा—बोहनी के समय पहले दाम पल्ले मे बान्ध ले फिर गाड़ी खोलना और जल्दी भीतर जाकर दोनो मुट्ठियो मे एक-एक पैसा बन्द करके ले आए। चौधरी के बेटे के पास आकर बोले—ले, ये दाम हाथ मे झेल। सेठ दाम देने मुट्ठी खोलने वाले ही थे कि चौधरी के बेटे ने झट लपक कर उनके हाथ पकड़ लिए। कमर मे खोंसा तीखा हँसिया बाहर निकाल कर बोला—सेठ पैसे मुट्टियो से नीचे मत गिराइए। ये तो साथ रहेगे। लकडियो के साथ बैल व गाड़ी बिकते है तो पैसो के साथ मुट्ठियां कटेगी। तब सेठ बहुत रोया गाया और उसने पहले ली गाडी बैल के अतिरिक्त पाच सौ रुपये दण्ड के देकर पिड छुडाया।

उपरोक्त कथा की थीम 'जैसे को तैसा' है तथा इसमे यह कथानक रूढ़ि है बुरे का फल कभी न कभी अवश्य मिलता है। 'पत्ताभर दलमत्ता' एव अन्य लोक कथाओं के कथ्य व रूढिया इसी प्रकार की है।

इसी प्रकार की एक और कथानक रूढि है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की दमित इच्छाओ के अभिप्राय से है किसी न किसी माध्यम से प्रगट होती है। पर जीवन ने मानव को सिखाया कि उसे अपनी सामर्थ्य और उनकी सीमाओ का ख्याल रहना चाहिए। 'जितनी चादर उतना पैर फैलाने' वाला मुहावरा भी यही कहता है।

लोक कथाएँ जीवन की ही सहज अभिव्यक्ति है। इसलिए इनमे से अभिप्रायों, रूढ़ियो से कथा के कथ्य (जो जीवन की इन अभिव्यक्ति का ही निमित्त है) को अलग करने मे प्रायः चूक हो जाती है। जैसा कि विचार कर चुके हैं कि रूढि हुई सभी वर्जनाओं का अर्थ भी जीवन से ही है। सामर्थ्य व सीमा को याद दिलाने वाली अनेक लोक कथाएं राजस्थानी मे है।

इस कथा में अपनी स्थिति के अनुसार रहने के जीवनानुभव की रूढि का प्रयोग है। थीम 'महत्वाकांक्षा' है। थीम तो अभिप्राय और रूढियों को प्रगट करने के लिए बुने कथा जाल का संवाहक या निमित्त मात्र होता है।

[राजस्थानी भारती से साभार]

---

१. विजयदान देथा द्वारा सम्पादित बाता री फुलवाड़ी भाग १ से।

१३वीं शताब्दी के विद्वान हरिभद्र : एक अध्ययन

परमानन्द शास्त्री

हरिभद्र—नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। प्रस्तुत हरिभद्र उनसे भिन्न विद्वान है जिनका परिचय नीचे दिया जाता है—

यह श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के विद्वान थे। जो बड गच्छीय जिनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और श्रीचन्द सूरि के शिष्य थे। प्राकृत सस्कृत और अपभ्र श के अच्छे विद्वान थे। कवि की दो कृतिया प्राकृत भाषा मे उपलब्ध है, मल्लिणाहचरिउ और चदप्पहचरिउ। इन दोनो चरित ग्रथो मे जैनियो के आठवे और १९वे तीर्थङ्करो का चरित दिया हुआ है। पाटण के भडार में चदप्पह चरिउ की सं० १२२३ की लिखी हुई एक ताडपत्रीय प्रति विद्यमान है : कवि की तीसरी कृति णेमिणाह चरिउ है, जिसका एक अश सनत्कुमार चरित के नाम से प्रकाशित हो चुका है। अर्थात् नेमिनाथ चरित के ४४३ पद्य से ७८५ पद्य तक ३४३ रड्डा छन्दों में सनत्कुमार चरित मिलता है—जिसमें बतलाया गया है कि सनत्कुमार गजपुर के राजा अश्वसेन और उनकी रानी सहदेवी के पुत्र थे। वे धीरे-धीरे शिक्षा प्राप्त कर युवावस्था को प्राप्त हुए। एक दिन मदनोत्सव के अवसर पर उद्यान में एक स्त्री को देख कर मोहित हो गये। युवती भी उनके सौन्दर्य को देखकर आकृष्ट हो गई। दोनों का जब मदनायतन मे मिलाप होता है तब दोनों परस्पर मे अपनी-अपनी प्रेम भावना प्रकट करते है। बीच मे भोजराज पुत्र, जलधि कल्लोल नामक एक प्रसिद्ध घोड़ा वह सनत्कुमार को भेट करता है। एक दिन कुमार उस घोड़े पर सवार होते है, तब वह घोड़ा उन्हे लेकर पवन समान गति से दूर देश ले जाता है। इधर राजधानी मे कोलाहल और हाहाकार मच जाता है। सनत्कुमार का मित्र अश्वसैन उसकी खोज मे निकलता है। और ढूढ़ता भटकता हुआ वह मान सरोवर जा पहुँचता है, बीच मार्ग मे अनेक भीषण वन आते है, अनेक ऋतुए अपनी मोहकता के लिए उसके आगे आती है जिनका कवि ने सरस वर्णन किया है। मानसरोवर पर अश्वसेन एक किन्नरी को मधुरकंठ से कुमार का गुणगान करते हुए सुनता है, उसी से उसे सनत्कुमार का इतिवृत्त ज्ञात होता है। इस बीच कुमार का अनेक रमणियो से विवाह हो जाता है। मदनोत्सव पर वह जिस युवती पर मुग्ध हुए थे उसे कोई एक यक्ष हर ले गया था। उन दोनो का यहाँ मेल हो जाता है और दोनो विवाह बन्धन मे बध जाते हैं। कुमार के इन भोगमय जीवन के बाद उनके अनेक वीर और पराक्रम कार्यों का वर्णन किया है। इसी बीच मुनि अचिमाली कुमार के पूर्व जन्मों का वृत्तान्त सुनाते हैं।

इसके बाद कुमार के अनेक विवाहो का वर्णन है। इतने में कुमार का बाल्य सखा महेन्द्र वहाँ पहुँचता है। और उससे अपने मात-पिता की दुर्दशा का समाचार सुन कर दोनो गजपुर लौट पड़ते है।

कुमार का पिता अश्वसेन उसे राज्य देकर देह-भोगों से विरक्त हो जाता है। कुमार समस्त पृथ्वी को वश करता हुआ चक्रवर्ती पद पाता है। उसके अमित तेज और सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। अन्त मे सनत्कुमार अपने रूप को अस्थायी समझ ससार से विरक्त हो घोर तप करते हैं और परिणाम स्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का यह चरित्र सुन्दर एवं पावन है। कवि के कथानक मे बहुत कुछ स्वाभाविकता है और वह वीर और शृगार वर्णनो से युक्त है। कवि का काव्यमय वर्णन विशेष आकर्षक है।

नेमिनाथ चरित मे जैनियों के बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। ग्रन्थ के प्रथम भाग में नेमिनाथ और राजमति के नौ भवों का सविस्तार वर्णन दिया हुआ है। और दूसरे भाग में उक्त तीर्थङ्कर चरित के पूर्व उनके चचेरे भाई श्री कृष्ण और पाण्डवों का चरित अकित् किया गया है। पूरा ग्रन्थ ८०३२ श्लोकों मे पूर्ण हुआ है। हरिभद्र ने अपने इस

ग्रन्थ की रचना चालुक्यवंशीय राजा सिद्धराज के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल के राज्य में अणहिलपुर पाटन' नामक नगर में संवत् १२१६ के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी सोमवार के दिन अश्विनी नक्षत्र में सम्पन्न की है।

अनहिलवाड़—भिन्नमाल के पतन के बाद सदियों पूर्व वि० सं० ८०२ (सन् ७४६) ईस्वी मे चावड़ा वश के वनराज द्वारा उत्तर गुजरात की सरस्वती नदी के तट पर स्थित लाखाराम नामक प्राचीन गाँव में अनहिलवाड़ बसाया गया था। इसका कोई प्राचीन अभिलेख या सिक्का उपलब्ध नहीं है। प्रबन्ध चिन्तामणि में इन्हें लुटेरा घोषित किया गया है। सन् ९४२ ईस्वी में अनहिलवाड़े के आस-पास इनका राज्य समाप्त हो गया था। और मूलराज, चावडा शासक सामन्त सिंह के भागिनेय ने अपने मामा को मारकर राज्य हस्तंगत किया था। उस समय वह छोटा-सा राज्य था; किन्तु मूलराज दीर्घदर्शी सेनानी था, उसने चावडों से प्राप्त इस छोटी-सी रियासत को गुजरात राज्य का रूप दे दिया था, उसीने और अनेक राजाओं को जीत कर उसे समृद्ध बनाया था और बारहवी शताब्दी में तो अनहिलवाड़ सांस्कृतिक और साहिरियक क्षेत्र बन गया था। सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के समय वह अपनी उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया था। उस समय वह विशाल गुर्जर राज्य का केन्द्र बन गया था जिसे कुमारपाल ने और भी उच्च शिखर पर पहुँचाने का यत्न किया था, उसका विस्तार दक्षिण मे कोकण, उत्तर में राजपूताना, पश्चिम मे कच्छ और सौराष्ट्र, पश्चिमोत्तर में सिंध, एवं पूर्व मे मालवा तक हो गया था। श्वेताम्बर समाज- का तो यह गढ़ था ही। वहाँ अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण, विशाल शास्त्र भण्डार और हेमचन्द्रादि आचार्योंके साहित्य निर्माण का केन्द्र स्थल था।

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति महत्वपूर्ण है। इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करते हुए राजा कुमारपाल के अमात्य पृथ्वीपाल का परिचय कराया है।' पृथ्वीपाल प्राग्वाट जाति के भूषण थे। सरस्वती द्वारा उन्हे वर प्राप्त था। उन्होंने अर्बुदाचल (आबू) मे मंत्री बिमलशाह द्वारा बनवाये हुए मन्दिर के सामने 'मडप' बनवाया था। और अणहिल्ल पाटन मे वीरनाथ और अरहनाथ के मन्दिर में भी 'मंडप' बनवाया, एवं त्रिजग तिलक नामक शान्तिनाथ जिन भवन का निर्माण भी कराया था। और चदप्पह चरिउ, नेमिनाह चरिउ का भी निर्माण कराया और उनकी प्रतियाँ भी लिखवाईं। इस तरह पृथ्वीपाल ने राज्य कार्य करते हुए भी अनेक धार्मिक कार्यों का निर्माण कर जीवन को सफल बनाने का यत्न किया था।

कवि परिचय—आचार्य हरिभद्र विक्रम की १३ वी शताब्दी के विद्वान थे। वे बड गच्छीय जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य और श्री चन्द्रसूरि के शिष्य थे। कर्ता ने अपनी रचनाओं में गुरु का आदर के साथ उल्लेख किया है। कहा जाता है कि कवि ने चतुर्विंशति तीर्थंकरो के चरित्र लिखे थे किन्तु वर्तमान में तीन ही चरित उपलब्ध है। चन्द्रप्पह चरिउ की पाटण के भडार मे सवत् १२२३ की लिखित प्रति विद्यमान है। अतएव उसका समय उसके आसपास का हो सकता है और नेमिनाह चरिउ स० १२१३ के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी सोमवार के दिन अश्विनी नक्षत्र मे बनाकर समाप्त किया था। इन दोनो चरित ग्रन्थो की श्लोक सख्या ८०३२ श्लोक प्रमाण बतलाई गई है। मल्लिणाह चरित कब रचा, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कवि का समय विक्रम की १३वी शताब्दी है।

कवि की अपनी सभी रचनाए सुन्दर और मनमोहक है। पाठकों को उनका अध्ययन करना चाहिए। भारतीय विविध साहित्य के अध्ययन से बुद्धि परिष्कृत और तुलनात्मक साहित्य के निर्माण मे सहायक होती है। ●

---

१. कुमर वालहनिवहरज्जम्मि अणहिल्लवाडइ। नयरि अनणु सुयण बुहमणह संगमि॥ सोलुत्तर बारसई १२१६ कत्तियम्मितेरसि समागमि। अस्सिणि रिक्खिणसोमदिणि सुप्पवित्ति लग्गम्मि। अने० वर्ष १७ कि० ५, पृ० २३२।

१. जयसीह एव सिरि कुमरवाल एवा णिदं तिलयाणं।
सिरि पुहइवालमंती अवितह नामो इमो विहिओ॥
× × ×
निरुवम सरस्सइवर पहाव उवलद्ध वंछियत्थस्स।
अवितह अभिहाणस्स सिरि पुहई वाल सचिवस्स॥
—केटेलोग पाटन भडार, पृ० २५३, २५७।

जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उसका साहित्य

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी.

राजस्थानी भाषा राजस्थान की अपनी भाषा है। उसका अपना स्वरूप एव अपना ही विशाल भण्डार हैं। अपभ्रंश के पश्चात् देश मे जिन भाषाओं का विकाश हुआ उनमें राजस्थानी भाषा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। १५ वी शताब्दी तक यद्यपि राजस्थानी एवं गुजराती भाषाएं एक माँ की दो पुत्रियों के समान एक ही घर में विकसित होती रहीं लेकिन युवा होने पर एक ने राजस्थान एव दूसरी ने गुजरात को अपना घर बनाया। इस प्रकार राजस्थानी भाषा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रारम्भ हुआ। लेकिन इसके बाद भी दो बहिनों के समान एक दूसरे से मिलती रही और अपना प्रभाव स्थापित करती रही। राजस्थानी भाषा ने अपने प्रदेश के सास्कृतिक, साहित्यिक एव नैतिक धरातल को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया और इस कार्य मे जन साधारण का उसे अपूर्व सहयोग मिला। जनता ने उसका स्वागत किया और जन कवियो ने उसे अपने काव्य रचना का माध्यम बनाया। राजस्थानी भाषा वीर रस प्रधान रचनाओं के लिए श्रेष्ठ भाषा मानी जाने लगी। साथ ही अध्यात्म परक साहित्य भी उसमे खूब लिखा गया। बृज, अवधी, मालवी एव मेवाती जैसी भाषाओं को उसने प्रभावित किया और अपनी लोकप्रियता एवं विशालता की इन पर गहन छाप छोडी। वैष्णव एवं जैन दोनो ही कवियों ने उसमे अपना विशाल साहित्य लिखा। और उसके विकास में अपना पूर्ण योग दिया।

राजस्थानी भाषा को राज्य भाषा होने का गौरव भी मिला। राजाओं द्वारा इसे अभूतपूर्व राज्याश्रय मिला। राजस्थानी भाषा के कवियों को राज दरबार मे पूर्ण सम्मान मिला और उसे लोकप्रिय बनाने मे सहयोग प्रदान किया गया। इस भाषा में राम सीता रास (ब्र.जिनदास) ढोला मारू ग दोहा (कुशल लाल) कृष्ण रुक्मणी बेलि (पृथ्वीराज) कान्हडदे प्रबन्ध (पद्मनाभ) वीर सतसई (सूर्यमल्ल) जैसी महत्वपूर्ण कृतियो का निर्माण हुआ जिन पर कोई भी देशवासी गर्व कर सकता है। इस साहित्य के निर्माण में सैकडों राजस्थानी विद्वानों ने अपने जीवन का अमूल्य समय समर्पण किया। काव्य के जितने अंगों पर राजस्थानी साहित्य लिखा गया किसी भी प्रादेशिक भाषा में नही लिखा जा सका। काव्य, चरित, रास आदि के अतिरिक्त फागु, वेलि, ढाल, चौढाल्या, चौपाई, दोहा, सतसई आदि के रूप में खूब साहित्य लिखा गया। वास्तव में साहित्य के विभिन्न अगों और उपांगों को पल्लवित एव विकसित करने का श्रेय राजस्थानी भाषा के कवियों को दिया जाना चाहिए।

लेकिन राजस्थानी भाषा का विशाल साहित्य होते हुए भी अभी तक इस साहित्य की जन साधारण को जानकारी नही मिलना राजस्थानियों के लिए तो कम से कम गौरव की बात नहीं है। विश्वविद्यालयों स्तर तक पढ़ने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को राजस्थानी भाषा की प्रमुख रचनाओं का परिज्ञान होना ही चाहिए, चाहे वह विद्यार्थी किसी भी फैकल्टी में शिक्षा क्यों नहीं ले रहा हो। राजस्थानी भाषा की सैकड़ों रचनायें राजस्थान के जैन भडारों में सुरक्षित हैं। यद्यपि गत २० वर्षों से राजस्थानी साहित्य को प्रकाश में लाने का किंचित प्रयास किया गया है लेकिन इस साहित्य की विशालता को देखते हुए उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

जैन साहित्य के समान जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय एवं उसका साहित्य भी जनसाधारण के परिचय के बाहर था। विष्णोई सम्प्रदाय में सैकड़ों कवि होने पर भी यह साहित्य अभी तक उपेक्षित रहा और राजस्थानी साहित्य के इतिहास मे उसे उचित स्थान भी प्राप्त नही हो सका। अभी डा० हीरालाल माहेश्वरी प्राध्यापक राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ने "जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय एवं साहित्य" इस नाम से शोध ग्रंथ का प्रकाशन कराया

है। यह शोध ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित हुआ है और इसके लेखन के उपलक्ष में डा. माहेश्वरी जी को डी.लिट. की सर्वोच्च साहित्यिक उपाधि प्राप्त हुई है। अपने इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से लेखक ने एक ऐसे साहित्य को प्रकाश में लाने का भागीरथ प्रयास किया है जो अभी तक अप्रकाशित था। आज महाकवि तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास एवं मीरा पर कितने ही शोध प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं और घुमा फिरा कर उन्हीं तथ्यों को तोडा-मरोडा जाता है लेकिन किसी विलुप्त, अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य को प्रकाश में लाना एक विशेष महत्व रखता है और डा० माहेश्वरी जी का इसी दृष्टि से यह प्रयास अत्यधिक प्रशंसनीय है।

राजस्थान में होने वाले महात्माओं में जाम्भोजी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। वे विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इनके द्वारा प्रवर्तित यह सम्प्रदाय आज भी राजस्थान का विशिष्ट एवं जागरूक सम्प्रदाय है। जाम्भोजी का जन्म सवत् १५०८ में पीपासर : नागोर : के प्रतिष्ठित राजपूत परिवार मे हुआ था। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। संवत् १५४२ मे इन्होंने सम्भारथल नामक एक रेत के टीले पर बैठ कर विष्णोई सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और सं० १५९३ में ८५ वर्ष की आयु में वहीं पर स्वर्गवासी हुए। जाम्भोजी का राजस्थान ही प्रमुख कार्य-क्षेत्र रहा। वे अपना प्रवचन ठेठ मरूभाषा : मारवाडी : में देते थे। इनकी वाणी को जम्भवाणी कहा जाता है जिसका दूसरा नाम सबदवाणी भीं है। इनका कहना था कि जिस प्रकार तिल के भीतर तेल रहता है तथा फूलों में सुगन्ध समाती रहती है उसी प्रकार पाच तत्वों के अन्तर्गत आत्मा का प्रकाश हुआ करता है। जैसी खेती की जाती है वैसी ही फसल पैदा होती है। उन्होने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पहिले स्वयं करके दिखलाना चाहिए और फिर दूसरों से उसके लिए कहना चाहिए। कोरे आदर्शों की प्रशसा में लीन रहना और उन्हें अपने आप व्यवहार में न लाना कोरा ढोंग है।

डा० माहेश्वरी जी ने 'जाम्भोजी विश्णोई सम्प्रदाय और साहित्य' शोध ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभाजित किया है जिसमें नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे कुल ४०८ सन्दर्भ ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय मे जाम्भोजी साहित्य पर अब तक किये गये कार्य की समीक्षा की गई है। तीसरे अध्याय मे जाम्भोजी के समय विक्रम की १६वी शताब्दी तक मरू प्रदेश की राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक गतिविधियो का परिचय दिया गया है। चौथे अध्याय मे कालक्रमानुसार जाम्भोजी का जीवन वृत्त दिया गया है। यह प्रथम अवसर है जब राजस्थान के इस सत पर इतना प्रामाणिक एव विस्तृत परिचय लिखा गया है। जाम्भोजी के समय में ही उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय से अन्य धर्म वाले भी प्रभावित होने लगे थे इनमे मुहम्मदखा नागौरी, बादशाह सिकन्दर लोदी, कर्नाटक के नवाब शेख सद्दो, सुल्तान का सघारी मुल्ला, जैसलमेर का रावल जैतसी, मूला पुरोहित के नाम उल्लेखनीय है। पांचवे अध्याय मे जाम्भोजी के दर्शन और अध्यात्म पर प्रकाश डाला गया है। जाम्भोजी न केवल एक विष्णोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही थे किन्तु अपने समय के उच्च दार्शनिक भी थे। छठे अध्याय मे चुनी हुई सात हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर लेखक ने जाम्भवाणी का पाठ सम्पादन किया है। सन्त साहित्य के प्रसिद्ध लेखक एव विद्वान श्री पुरुषराम चतुर्वेदी के शब्दों मे शोध ग्रन्थ का यह अध्याय सबसे महत्वपूर्ण है। सप्तम अध्याय मे विष्णोई सम्प्रदाय का विस्तृत रूप मे परिचय प्रस्तुत किया गया है।

आठवे अध्याय मे विष्णोई सम्प्रदाय के कवियों एव उनके साहित्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमे १२९ अज्ञात कवियों एव उनकी २६५ रचनाओं का परिचय देकर डा० माहेश्वरी ने हिन्दी जगत को सहज ही मे महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करा दी है। ऐसे विद्वानो मे उदोजी नैण : सवत् १५०५-९४ : मेहोजी गोदरा : १६३०।१७३६ : सुरजनराय पूनिया : १६४०।१७४८ : आदि के नाम उल्लेखनीय है। पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे विष्णोई साहित्य के महत्व एव उसकी भारतीय साहित्य की देन पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार डा० माहेश्वरी ने 'जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उसके साहित्य' पर जो खोजपूर्ण प्रकाश

[शेष पृ० ४२ पर]

ब्रह्म यशोधर

परमानन्द जैन शास्त्री

ब्रह्म यशोधर—भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य और विजयसेन के शिष्य थे, जो रामसेनान्वय मे प्रसिद्ध काष्ठा-संघ और नन्दि तट गच्छ के विद्वान थे। आपकी एक मात्र कृति बलभद्ररास उपलब्ध है जिसे कवि ने स० १५८५ मे स्कन्द नगर मे बनाकर समाप्त किया था[1]। ग्रन्थ मे १८९ पद्यों मे कवि ने बलभद्र का जीवन-परिचय अंकित किया है। रचना मे गुजराती भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। कृति अप्रकाशित है और वह पंचायती मन्दिर दिल्ली के वृहत्काय गुटके मे लिखा हुआ है जिसमे सं० १६१६ से १६६० तक की रचनाएँ लिपि बद्ध है।

कवि ने बलदेव और कृष्ण का जीवन परिचय अंकित करते हुए द्वीपायन द्वारा द्वारिका के विनाश का चित्रण किया है। २२वे तीर्थङ्कर नेमिनाथ द्वारा जब कृष्ण और द्वीपायन को यह ज्ञान हुआ कि १२ वर्ष मे द्वीपायन द्वारा द्वारिका का विनाश होगा और कृष्ण बलभद्र शेष बचेगे। इसे सुनकर द्वीपायन दूर देश मे तपस्या करने चला गया। और वहाँ तपश्चरण करते हुए उन्हे लौड मास (अधिक मास) महीने का ध्यान नही रहा। और यह समझ कर कि बारह वर्ष का समय बीत चुका है, द्वारावती के पास वन मे आगए। यदुवंशी कुमार वहा क्रीडा करने गये हुए थे, उन्होने मद्यपान किया और मुनी देखकर उनके प्रति अशिष्ट वचनो का प्रयोग किया। जिसस साधु का मन क्षुभित हो गया। कुमारो ने उक्त घटना केशव से कही[2]। तब केशव और हलधर दोनो मुनी से क्षमा कराने के लिये वन मे गए। दोनो ने साधु से प्रार्थना की, दीन बचन कहे। चरणो मे लगे और क्षमा करने की प्रार्थना की किन्तु सब व्यर्थ क्योकि मुनि का क्रोध चरम सीमा को पहुँच चुका था। भवितव्य को कौन टाल सकता है? उनके तेज से द्वारका भस्म होने लगी, केशव और हलधर ने माता पिता और कुटुम्बियो को बचाने का प्रयत्न किया किन्तु वे किसी को भी नही बचा सके। अन्त मे प्रयत्न कर समुद्र का पानी लाये तब उसने भी अग्नि मे तेल का कार्य किया। द्वारिका भस्म होते ही वह मुनि भी भस्म हो गया। केवल कृष्ण और बलदेव बचे।

कृष्ण और बलदेव वहां से जगल में जा रहे थे। किन्तु रास्ते मे कृष्ण को प्यास ने सताया और बलदेव से पानी लाने के लिये कहा, बलदेव पानी लेने गये। इतने मे उस वन मे जरत्कुमार आये और कृष्ण को पीताम्बर ओढे पडा हुआ देखकर वनचर जीव समझ बाण मारा जो कृष्ण के पैर मे लगा। जब जरत्कुमार पास में आये और कृष्ण को वेदना से विकल देख कर बड़ा दुःख प्रकट किया। तब कृष्ण ने कहा रे मूढ गमार, तूने पाप किया है हे वत्स अब तू खेद मत कर, जब तक बलदेव नही आवे उससे पहले ही तू यहा मे चला जा तब जरत्कुमार दक्षिण मथुरा चले गए। जब बलभद्र पानी लेकर आये, तब कृष्ण से कहा उठो पानी पीलो, परन्तु वहा कृष्ण कहा, वे तो परलोक पहुँच चुके थे। उन्हे देख बडा विलाप किया और उनके शव को सिर पर रख कर घमने रहे, अन्त मे एक मुनि ने ससार की असारता का भान कराया तब उन्हे भी वैराग्य हो गया और अन्त में तपस्या करते हुए निर्वाण प्राप्त किया। उन का क्रिया कर्म किया। इस तरह यह कृति सुन्दर है, भाषा पर गुजराती का प्रभाव है।

कवि की दूसरी कृति 'नेमिनाथ गीत' है जो नणवा

---

१. सवत पनर पच्यासीए, स्कन्ध नगर मझारि।
भवणि अजित जिनवर तणी, ए गुण गाया सारि ॥१-८

२. पाप कर्म तै कहीकुमारा, पहुँचा द्वारिका नगर मझार।
केशव आगे कही तेणो बात, द्वीपायन अम्हे ताडिउ तात ॥
दूहा—कुमर जवाणी साभली, केशव घरि अणाहि।
अवहउ अक्षर जे लखा, ते किम पाछा थाग ॥

(राजस्थान) के कोटो (बघेरवालों) के शास्त्र भडार के गुच्छक न० १०४ मे १४४ पत्रात्मक है और सं० १६४४ का लिखा हुआ है। इसमें भगवान नेमिनाथ का जीवन-परिचय दिया गया है। जो २८६ पद्यों म समाप्त होता है। गीत की रचना सवत् १५८१ मे वसवालपुर (वासवाडा) मे हुई है। जैसाकि उसके निम्न पद्य से प्रकट है।

संवत् पनर एकासीह जी बंसवालपुर सार।
गुण गाया श्री नेमिनाथ जी,
नव निधि श्री संघवार हो स्वामी ॥

गीत में राजुल की सुन्दरता का कथन करते हुए उसे मृगनयनी और हंसगामनी बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है —

रे हंस गमणीय मृगनयणीय स्तवण झाल झबूकती।
तप तपिय तिलक ललाट, सु'दर वेणीय वासुडा लटकती।
ललिकय चूडीय मुखि बारीण नयन कज्जल सारती।
मालतीय मेगलमास आसो इम बोली राजमती ॥३

कवि की तीसरी रचना भी नेमिनाथ गीत है। गीत केवल ५ पद्यो मे रचा गया है। गीत मे राजुल नेमिनाथ को बुलाती हुई उनकी वाट जोह रही है। नेमजी आवू ने घरे घरे। बाटडीया जोइ सिवयामा डली रे।

कवि की चौथी रचना भी नेमिनाथ गीत है, यह सब गीतों मे बड़ी रचना है, जो ६० पद्यो मे समाप्त होती है। इस में नेमिनाथ के विवाह की घटना का सुन्दर सजीव वर्णन है।

—:०:—

[शेष पृ० ४० का]

डाला है उसके लिए उन्हे हार्दिक बधाई है। अपने शोध ग्रन्थ से लेखक ने विभिन्न सम्प्रदायों के कवियो राजस्थानी भाषा की जो अविस्मरणीय सेवाए की हैं उन्हे प्रकाश मे लाने का मार्ग खोल दिया है।

शोध-प्रबन्ध की भाषा एवं वर्णन शैली दोनो ही प्राञ्जल हैं। पुस्तक की प्रस्तावना आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखी है। पुस्तक का सभी ओर से स्वागत किया जावेगा ऐसी मुझे पूर्ण आशा है। इस पुस्तक मे राजस्थानी भाषा और उसके साहित्य के प्रति हमारी जो उदासीनता है वह अवश्य दूर होगी तथा जनता और सरकारी क्षेत्रों मे वह पुनः समादृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। डा० माहेश्वरी ने अपने शोध ग्रन्थ को दो भागो में प्रकाशित कराया है जिसकी पृष्ठ संख्या १२०० है और उसका मूल्य १०० रु० है। इसमे ११५ चित्र है। ●

चतुर्मास मध्य विहार : आचार्य श्री तुलसी की पृष्ठभूमि

मोहनलाल बांठिया

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी का इस वर्ष का रायपुर चतुर्मास इतिहास में अनेक नये पृष्ठों का निर्माण करने वाला कहा जा सकता है। आचार्य श्री के सानिध्य में प्रायः मध्यान्ह और रात्रि कालीन कार्यक्रम नियमित चल रहे थे। जनता किसी भेदभाव के लाभ ले रही थी। रायपुर की भावुक जनता के अनुरोध पर आचार्य श्री ने रामायण के सन्दर्भ में रविवासरीय प्रवचन आरम्भ किये।

दिनांक १६ अगस्त १६७० को अपने प्रवचन में आप ने सीता के परित्याग की चर्चा की। यह चर्चा "अग्नि परीक्षा" के माध्यम से की गई। "अग्नि परीक्षा" आचार्य श्री का एक 'गीत काव्य' है। रामायण के उत्तरवर्ती कथा प्रसंग का उसमें विशद विवेचन है। "अग्नि परीक्षा" की सृजना जैन रामायणों के आधार पर की गई है। आचार्य श्री ने सीता परित्याग की चर्चा मे अयोध्यावासियों में फैले हुए जनापवाद का चित्रण किया। कुछ असामाजिक एवं अराजक तत्वों ने इस पहलू को अपना शस्त्र और बनाया और जनता में यह भ्रान्ति प्रसारित की कि आचार्य श्री तुलसी ने सीता के चरित्र पर आरोप और असम्मानजनक शब्दो का प्रयोग किया है। यद्यपि आचार्य श्री ने इसका स्पष्टीकरण भी दिया कि वे भगवान राम और महासती सीता को परम वदनीय मानते है, किन्तु इससे विरोध शान्ति नही हुआ। विरोधी पक्ष ने जनता मे साम्प्रदायिक भावना उभारने का तीव्र प्रयत्न किया। स्थान-स्थान पर जन सभाए आयोजित की गई। भद्दे और अपशब्दों का खुल कर प्रयोग व प्रदर्शन हुआ। साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति क्रमशः यहाँ तक बढ़ी कि स्थिति किस समय हिंसात्मक उपद्रव का रूप ले ले। इसके लिए कुछ भी नही कहा जा सकता था। प्रशासनाधिकारियो, जन नेताओ एव शहर के वरिष्ठ नागरिकों ने शहर की शान्ति कायम रखने के लिए प्रयत्न किए; इसके लिए वे सफल नही हो सके। सबने मिलकर एक मसविदा तैयार किया इसके आधार साम्प्रदायिक तनाव एवं हिंसात्मक उपद्रव रोकने की बात थी। ऐसा ज्ञात हुआ कि प्रतिपक्ष ने वह स्वीकार कर लिया था। वह मसविदा यद्यपि आचार्य श्री के लिए पूरी तौर से अनुकूल नही था फिर भी शान्ति स्थापना मे यदि सफलता मिलती है तो आपने उसके लिए भी अपनी स्वीकृति दे दी, किन्तु प्रतिपक्ष ने बाद मे उसे भी अस्वीकार कर दिया।

अन्तिम विकल्प के रूप मे एक अन्य मसविदा पुनः तैयार किया गया। आचार्य श्री के समक्ष जब प्रस्तुत किया गया तो लगा कि यह सैद्धांतिक दृष्टि से भी प्रतिकूल है। आचार्य श्री ने कहा—"सैद्धातिक दृष्टि से प्रतिकूल होने के कारण मै इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? मै नही समझ सकता कि जब पहला मसविदा मैने स्वीकार कर लिया था तब दूसरे मसविदे की क्यो आवश्तकता हुई? नित नये मसविदों का क्या अर्थ होता है? मैं अहिंसा, समन्वय और शान्ति मे विश्वास रखता हूँ। वैसी स्थिति मे मेरे साथ यह मसविदों की राजनीति क्यो खेली जाती है? मेरी आत्मा साक्षी नही देती कि मैने जानबूझकर कोई भूल की है। वैसी स्थिति मे मुझे बाध्य क्यों किया जाता है?"

इस प्रकरण के साथ मसविदे के प्रयत्नों का अध्याय पूरा हो गया। शहर की स्थिति खतरनाक मोड ले रही थी। कुछ नहीं कहा जा सकता था कि किस समय और कहाँ पर हिंसा भड़क उठे।

दिनांक २७ सितम्बर को प्रतिपक्ष की ओर से एक जुलूस का आयोजन किया गया था। यद्यपि जिलाधीश के समक्ष प्रतिपक्ष ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे जुलूस नहीं निकालेंगे किन्तु कुछ अराजक तत्व शहर की

शान्ति में विघ्न डालने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने जुलूस निकालने का निर्णय कायम रखा। जुलूस प्रारम्भ हुआ। आयोजकों ने अधिकारियो के पूछने पर यह भी नहीं बतलाया कि वह किस मार्ग से जायेगा। अतः शहर की शान्ति को खतरा उत्पन्न होते देखकर जिलाधीश ने धारा १४४ की घोषणा कर दी। लोगो ने उसका उल्लंघन करने का प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप ८८ व्यक्ति गिरफ्तार हुए।

रात्रि में शहर के सभ्रात नागरिको का एक शिष्ट-मण्डल आचार्य श्री के सानिध्य मे उपस्थित हुआ। उन्होने कहा—आचार्य श्री। शहर मे हिंसा भड़क उठी है। चिनगारी दावानल का रूप ले रही है। अब इसके शमन का उपाय न हमारे हाथ मे है और न प्रशासन के हाथ मे ही। अतः आप ही इसके समाधान का कोई मार्ग प्रस्तुत करे।

आचार्य श्री ने इस अवसर पर कहा—मै आपकी सद्भावना से प्रसन्न हूं। मेरे लिए प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का प्रश्न मुख्य नही है। यदि शान्ति-स्थापना के लिए मेरा शरीर भी चला जाए तो मै उसे ज्यादा नही मानता। मुझे निमित्त बनाकर हिंसा का वातावरण उभर रहा है, इसका मुझे दुख है। मेरे रहने से यदि रायपुर का वातावरण अशान्त होता है तो मैं यहाँ से विदा हो जाना चाहता हूँ। यह निर्णय मैं किसी आवेश, दबाव, भय या आग्रह के कारण नही कर रहा हूँ। किन्तु शहर की शान्ति के लिए कर रहा हूँ। यद्यपि हमारी विधि है कि हम चतुर्मास मे बिहार नही करते किन्तु विग्रह और आतंक की विशेष परिस्थिति मे वैसा किया भी जा सकता है। मैं यहा से विदा हूगा। हमारे धर्म शासन मे शताब्दी मे यह पहली घटना होगी। मै जानता हू कि श्रद्धालुओं के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न हो सकता है किन्तु शहर की शान्ति के लिए अत्यन्त प्रसन्न मन से मैने यहा से विदा होने का निर्णय लिया है।

शहर के बढ़ते हुए हिंसात्मक वतावरण को शान्त करने के लिए अहिंसा के अतिरिक्त कोई साधन नही था। आचार्य श्री की घोषणा ने सचमुच अहिंसा की शक्ति का चामत्कारिक परिचय दिया। उपस्थित सभी व्यक्तियों ने कहा—अब हमारे लिए कहने को कोई बात हीं नहीं रही। इससे अधिक और आप क्या कर सकते है?

आचार्य श्री की घोषणा की सर्वत्र गहरी प्रतिक्रिया हुई। केवल रायपुर मे ही नही अपितु सारे देश मे इसका असर हुआ। रायपुर की भावुक जनता की आखो से अविरल आँसुओ की धारा बह चली। कई तो अपना खान-पान और होश-हवास तक भूल बैठे। बुद्धिजीवी वर्ग को भी इस निर्णय ने झकझोर दिया। शहर के वरिष्ठ नागरिकों के समूह प्रतिदिन आचार्य श्री के पास आकर निवेदन करने लगे कि आप चले जाएगे तो रायपुर के ही नही अपितु सारे मध्यप्रदेश के मुह पर कलंक लग जाएगा। सिंधी, गुजराती, पजाबी, सतनामी, आदि विभिन्न वर्गों के लोग बडी सख्या मे आते। उनका द्रवित हृदय देखकर दूसरे भी द्रवित हो जाते। सबकी एक ही आवाज थी कि आप रायपुर से प्रस्थान करने की घोषणा को वापस ले लें। जैन समाज के लोग भी अनेक बार आए। उन्होने श्री सघ की ओर से कहा कि सघ का निर्णय तो आपको मानना ही होगा। इस सारे प्रकरणो मे आचार्य श्री का एक ही उत्तर होता कि मुझे अपने निर्णय की अब भी वैसी ही उपयोगिता महसूस होती है। जितनी की पहले थी। जब मै अपने निर्णय की उपयोगिता महसूस करता हूँ तब उसमे परिवर्तन के लिए कैसे सोच सकता हूँ।

देश के वरिष्ठ व्यक्तियो ने भी आग्रह पूर्वक अनुरोध किया कि आप अपना चतुर्मास रायपुर मे ही सम्पन्न करें। उनका आशय था कि इस प्रकार चले जाने से साम्प्रदायिक और अराजक तत्वो को खुल कर खेलने का प्रोत्साहन मिलेगा। अतः यही रह कर उनके शमन का उपाय किया जाए। अनुरोध करने वालो मे गुजरात के राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण, राजस्थान के मुख्यमत्री श्री मोहनलाल जी सुखाडिया, मध्यप्रदेश के मुख्यमत्री श्री श्यामाचरण शुक्ल प्रमुख थे। भारत की प्रधान मत्री श्रीमती इदिरा गाँधी को दिल्ली में जब मुनि श्री नगराज जी और मुनि श्री सुशील कुमार जी से सारी स्थिति की जानकारी प्राप्त हुई तो उन्होने इसमें हस्तक्षेप किया और आचार्य श्री से रायपुर मे ही चतुर्मास बिताने का निर्णय लेने को कहा। प्रधान मंत्री ने रायपुर के जिलाधीश को भी इस सम्बन्ध

में आवश्यक निर्देश देने की बात कही। पुरी के शकराचार्य और स्वामी करपात्री जी ने भी रायपुर मे ही रहने का अनुरोध किया। आचार्य श्री की घोषणा से वातावरण शान्त होने लगा। स्थिति बदलने लगी। और चार दिनो में उसने अप्रत्याशित मोड़ लिया। जन नायकों ने पुनः निवेदन किया कि स्थितियाँ अनुकूल है। अत. हमारा अनुरोध स्वीकार करना ही चाहिए। जनमानस की भावना, श्रद्धा और अनुरोध का देखते हुए १ अक्तूबर को आचार्य श्री ने एक महती जन सभा मे कहा, मैं सोचता हूँ कि स्थिति मे बहुत परिवर्तन आ गया है। लोगों की भावना से मै गद्गद् हूँ। मुझे उसका आदर करना चाहिए। इसी आधार पर मै अपने निर्णय को स्थगित करता हूँ। मुझे आशा है कि शहर के सभी नागरिक मिलजुल कर शान्ति एवं सद्भावना का वातावरण तैयार करेंगे।

जनता ने तुमुल हर्षध्वनि से आचार्य श्री की घोषणा का स्वागत किया। ●

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
२५१) श्री शिखरचन्द जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१ श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडचा), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) , सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन R. N. 10591/62

पर्यूषण पर्व के उपलक्ष में पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्‌धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द १५-००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·१६

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमान्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७-००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५-००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वि मासिक

अक्टूबर, १९७०

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१. आदिजिन-स्तवनम्	:	...	१४५
२. खंभात के श्वे० भण्डार में प्राप्त तीन दि० ताडपत्रीय प्रतियाँ	: श्री अगरचन्द नाहटा	...	१४६
३. हिन्दी की अज्ञात जैन रचनाएँ	: डा० गंगाराम गर्ग	...	१४८
४. जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माता शाह जीजा	: श्री रामवल्लभ सोमाणी	...	१५१
५. विलासवईकहा, एक परिचयात्मक अध्ययन	: डा० ए. एन. उपाध्ये	...	१५३
६. जयपुर के प्रमुख दि० जैन मन्दिर	: डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	...	१६६
७. मृण्मूर्ति कला में नैगमेश	: डा० सकटाप्रसाद शुक्ल	...	१७२
८. नलपुर का जैन शिलालेख	: श्री रतनलाल कटारिया	...	१७४
९. षड्दर्शन समुच्चय का नया संस्करण	: पं० दलसुख मालवणिया	...	१८२

★

★

स्वास्थ्य-कामना

अनेकान्त के सम्पादक पं० परमानन्दजी शास्त्री पिछले लगभग तीन माह से लगातार अस्वस्थ चल रहे हैं। वीर सेवा मन्दिर तथा अनेकान्त के लिए उनकी सेवाएँ सर्वविदित हैं। वीर सेवा मन्दिर तथा अनेकान्त परिवार की ओर से हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं कि पंडित जी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करें और पुनः अपना दायित्व संभाले।

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

अनेकान्त मे प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३ किरण ४	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण सवत् २४९७, वि० स० २०२७	अक्टूबर १९७०

आदिजिन-स्तवनम्

समन्तभद्राचार्य

विश्वमेको रुचामाऽऽको व्यापो येनार्य्य ! वर्तते ।
शश्वल्लोकोऽपि चाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥८॥

अर्थ—हे आर्य ! यह समस्त लोक और अलोक आपके केवलज्ञान का ही ज्ञेय है—आपका केवल ज्ञान लोकवर्ति समस्त पदार्थों और अलोकाकाश को जानता है—अतः वह आपके ज्ञानरूप समुद्र का एक द्वीप है ।

भावार्थ—जिस प्रकार विस्तृत समुद्र के भीतर द्वीप होता है उसी प्रकार आपके ज्ञान के भीतर लोक-आलोक है । द्वीप की अपेक्षा समुद्र का विस्तार जैसे बहुत बड़ा होता है वैसे ही लोक-अलोक की अपेक्षा आपके ज्ञान का विस्तार बहुत अधिक है । पदार्थ अनन्त अवश्य है; परन्तु वे आपके अनन्त-ज्ञान की अपेक्षा अल्प हैं अनन्त के भी अनन्त भेद होते है ।

श्रितः श्रेयोऽप्युदासीनो यत्त्वय्येवाऽश्नुते परः ।
क्षतं भूयो महाहाने तत्त्वमेवार्चितेश्वरः ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आप उदासीन है—राग द्वेश से रहित है—तथापि आपकी सेवा करने वाले—विशुद्ध चित्तसे आपका ध्यान करने वाले—पुरुष कल्याण को ही प्राप्त होते है और अहंकार से पूर्ण अथवा रागद्वेष से पूर्ण अन्य कुदेवादिक की सेवा करने वाले पुरुष अकल्याण को प्राप्त होते है । अतः आप ही पूज्य ईश्वर हैं ।

भावार्थ—जो निर्मल भावों से आपकी स्तुति करता है उसे शुभ कर्मों का आश्रव होने के कारण अनेक मंगल प्राप्त होते है और जो कलुषित भावों से आपकी निन्दा कर अन्य देव या राजा-महाराजा की सेवा करता है उसे अशुभास्रव होने के कारण अनेक अमंगल प्राप्त होते है । जब कि आप स्तुति और निन्दा करने वाले दोनों पर ही एक समान दृष्टि रखते हैं ।

खंभात के श्वे० भण्डार में प्राप्त तीन दि० अप्राप्त ताडपत्रीय प्रतियां

श्री अगरचन्द नाहटा

जैन ज्ञानभण्डार अपनी बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण सामग्री के लिए विश्वविख्यात है। जैसलमेर, पाटण, खभात और बडौदा के श्वेताम्बर ज्ञान भण्डार मे ताड़पत्रीय प्रतियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। दक्षिण भारत मे मूडबद्री, श्रवण बेलगोला आदि अनेक दिगम्बर ताडपत्रीय भण्डार हैं। जब भारत मे कागज का विशेष प्रचार नही था, तब ताडपत्रों पर ही ग्रन्थ लिखे जाते थे।

जैसलमेर के विख्यात जिनभद्र सूरि भण्डार मे विशेषावश्यक भाष्य की ताड़पत्रीय प्रति दशवीं शताब्दी की है। इसके बाद बारहवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक की एक हजार से अधिक ताड़पत्रीय प्रतिया उपरोक्त चार स्थानों मे हैं। कागज की भी तेरहवी शताब्दी से प्रतियाँ मिलने लगती है। जैसलमेर के भण्डार मे तेरहवी की कागज की कई प्रतियाँ है। अन्यत्र चौदहवीं से मिलने लगती है।

जैन ज्ञान भण्डरो मे केवल जैन ग्रंथ ही नही है, बौद्धों और वैदिक सम्प्रदायों के तथा सर्वजनोपयोगी विषयों के सैकड़ो जैनेतर ग्रथ प्राप्त है। उनमे कई तो ऐसे भी है जो अन्यत्र कही नहीं मिलते और कईयों की प्राचीनतम और शुद्ध प्रतियाँ जैन भण्डारो मे ही मिलती हैं।

दिग० भण्डारो में श्वेताम्बर ग्रथ और श्वेताम्बर भंडारों में दिगम्बर ग्रथ भी अच्छे परिमाण मे प्राप्त हैं। दिगम्बर भडरों में कई ऐसे श्वेताम्बर ग्रन्थ है जो श्वेताम्बर भंडारों मे भी नहीं मिलते। इसी तरह श्वेताम्बर भंडारों में भी कई ऐसे दिग० ग्रथ हैं जो दिग० भंडारों में कहीं भी नहीं मिलते और कई दिग० ग्रन्थों की प्राचीनतम प्रतियाँ श्वे० भंडारों में ही सुरक्षित हैं। उनकी जानकारी दिग० विद्वानों को नहीं है। इसलिए प्रस्तुत लेख मे तीन ऐसी अज्ञात दिग० रचनाओं का विवरण प्रकाशित किया जा रहा है, जिनकी पांडुपत्रीय प्राचीन प्रतियाँ खंभात के श्वे० शान्तिनाथ भंडार मे सुरक्षित है।

आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी सम्पादित 'खंभात शान्तिनाथ भंडार की ताडपत्रीय प्रतियो की विवरणात्मक सूची' दो भागो मे ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बडौदा से सन १९६५-६६ मे प्रकाशित हुआ है। उनमे से दूसरे भाग मे चार दिगम्बर ग्रथो की ताडपत्रीय प्रतियों का विवरण छपा है। जिसमे प्रति नम्बर २६५ मे समयसार आत्मख्याति व्याख्या सहित तेरहवी शताब्दी की लिखी हुई १८९ पत्रो की प्रति है। यद्यपि समयसार और उसकी यह टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। पर मेरे ख्याल से दिग० भडारो में भी इस ग्रंथ और टीका की तेरहवी शताब्दी की लिखी हुई प्रति प्राप्त नहीं है। अतः समयसार और आत्मख्याति टीका के नये संस्करण सम्पादन मे इस प्रति का उपयोग किया जाना अवाछनीय है।

खभात भडार की अन्य तीन दिग० रचनाओ की ताड़पत्रीय प्रतियाँ तो इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि ये रचनाएं अभी तक अज्ञात-सी हैं। इनमे से एक रचना तो छोटी-सी है।

प्रति नम्बर १३४ में अन्य रचनाओं के साथ इन्द्र नन्दी रचित 'पार्श्वनाथ स्तव' नव श्लोकों का है। इन्द्र नन्दी नाम के (९) कई विद्वानो का विवरण स्वर्गीय जुगलकिशोर जी मुख्तार ने दिया है। उनमे से ज्वालामालिनी कल्प के रचयिता इन्द्रनन्दी ही इस 'पार्श्वनाथ स्तव' के कर्त्ता मालूम होते है।

दूसरा भाग बहुत ही महत्वपूर्ण है। जो प्रति नम्बर १३९ में तेरहवीं शताब्दी का लिखा हुआ है इस ग्रन्थ का नाम 'पंचसग्रह दीपक' है इसके रचयिता (इन्द्र) वामदेव है। पुन्नाटवंश के श्री नेमिदेव के लिए यह ग्रंथ रचा गया

है। अन्तिम प्रशस्ति के कुछ श्लोक त्रुटित रूप में प्राप्त हैं। प्रारम्भिक श्लोकों से यह स्पष्ट है कि नेमिचन्द्र मुनि के पंचसंग्रह का यह श्लोकबद्ध संस्करण है।

तीसरी रचना 'नागकुमार चरित्र' प्रति नम्बर २४६ मे चौदहवी शताब्दी का लिखा हुआ है। पत्र सख्या १४ हैं। इसमें पंचमी महात्म्य के रूप में नागकुमार की कथा पांच सर्गों में रत्न योगेन्द्र रचित है। वैसे नागकुकार कथा सम्बन्धी अन्य लेखकों के कई ग्रंथ प्राप्त है पर 'रत्न योगेन्द्र' का ग्रंथ शायद अन्यत्र अप्राप्य हो। कम से कम इन रचनाओं की इतनी प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों का दि० शास्त्र भंडारों मे होना ज्ञात नही है।

खभात के श्वे० शांतिनाथ जैन भडार की ताड़पत्रीय प्रतियों में से यहाँ ५ दि० ग्रंथों की प्रतियों का विवरण दिया गया है इसी तरह अन्य दिग० भंडारो मे भी अन्य दिग० ग्रंथों की प्रतियाँ प्राचीनतम मिलेगी तथा उनमे कुछ ग्रंथ ऐसे भी होंगे जिनकी प्रतियाँ दिग० भडारो मे भी नहीं हों, इसलिए दि० एव श्वे० दोनों संप्रदायो के भडारो का एक दूसरे को ध्यान से अवलोकन करना चाहिए।

२ वर्ष पूर्व अहमदाबाद के श्वे० भडार मे यथा स्मरण अमृतचन्द्र सूरि का एक अन्यत्र अप्राप्त एव सर्वथा अज्ञात ग्रथ मुनि पुण्य विजय जी को मिला था जिसकी सूचना डा० A. N. उपाध्ये के देने पर वे बहुत ही प्रसन्न हुए थे एवं इसकी सूचना दिग० पत्रों में भी प्रकाशित हुई थी।

अब खंभात भंडार की दिग० ग्रंथों की ताड़पत्रीय प्रतियों का विवरण दिया जा रहा है।

(१) पचसंग्रह दीपक श्लोक बंध

No. 139 Panchasangraha Dipaka Sloka-bandha. पंचसंग्रह दीपक श्लोक बंध।

Folios 104 Extent-Granthas 1175
Language-Sanskrit Size- 9.7 × 2 5 Inches.
Author—Bamideva Condition—good
Age M. S.—First paly of 13th exet U.S.
General Remarks—Folios 102·8 Missina.

आदि :—

।। ॐ नमः सर्वज्ञाय ।। ६ ।।
सिद्धं शुद्धं जिनाधीशं नेमीशं गुणभूषणम्।
नत्वा ग्रंथं प्रवक्ष्यामि 'पंचसंग्रहदीपकम्'।१।
'नेमिचंद्रमुनीन्द्रेण यः कृतः 'पंच संग्रहः।
स एव श्लोकबंधेन प्रव्यक्तीक्रियते मया।२।
बधको बध्यमानं च बंधभेदास्तथेसता।
हेतवश्चेति पंचानां संग्रहोऽत्र प्रकाश्यते।३।
यस्तत्र बंधको जीवः सदसत्कर्मणां स्वयम्।
तत्स्वरूपप्रकाशाय विंशतिः स्युः प्ररूपणा।४।
गुणजीवाश्च पर्याप्तिप्राणसंज्ञाश्च मार्गणाः।
उपयोगसमायुक्ता भवंत्येता प्ररूपणाः।५।
मागणा-गुणभेदाभ्यां भवतो द्वे प्ररूपणे।
मार्गणांतर्गताः शेषाः जीवमुख्याः प्ररूपणाः।६।

पत्र ६५—

यद्ग्रपश्रेणि वेणी ललितपदगतिप्रोल्लसद्भूरिभाव-
प्रव्यक्ता पे सार्थ प्रकटितसहजस्फारसार...।
तं वंदे योगिवंद्यं जिनपतिवदनाम्भोजनिर्यद्रहस्यं,
सम्थं त्रलोक्य कीर्ति पुणमणिकिचय येन विज्ञायि।।
श्रीमानसौ जगति नंदतु भव्यवधुर्नेमिः कला-
निधिरूप्तएधभाणक यत्कीर्त्ति निर्मलाकलाव.
कः साकौ बभूव भुवनेखिति सुप्रसिद्धम।।८२५।छः।।

इति 'श्रीद्रवामि देव' विरचते 'पुरवाट' वंश विशेषक श्री 'नेमिदेव' स्य यश.प्रकाशके 'पंचसंग्रह-दीपके' बंधकस्वरूप प्र (रूपणो नाम) प्रथमो अधिकार।।छ।।

शुभ भवतु चतुर्विध सघस्य।।छ।।

पत्र ७७

इत्युक्तं बध्यमानस्य कर्माष्टकस्य लक्षणम्
मूलोतरप्रभेदेन यथोक्तं पूर्वसूरिभिः।।१४०।।
यः 'कर्मप्रकृतिस्थितिर्व्यतिकर' व्याख्यान दीक्षा गुरु-
र्यश्चारित्रमाहार्ण्णवावधिगतो रत्नत्रयालंकृतः।
दानं यस्य मनोरथावधि यशो निःशेषलोकावधि
मैत्री सत्त्वकथावधि परिणतिस्तत्त्वावबोधावधिः।।
भक्तिः श्रीगुरुपादपकजनिजाहंकारसारावधिः।
नेंमि जोमणनंदनो विजयतामाकल्पकल्पावधिः।।

इति 'श्रींद्रवामदेव' विरचिते पुरवाट वंश विशेषक 'श्री नेमि'देवस्य यशः प्रकाशके पंचसंग्रह दीपके।

पत्र १०४

तस्मादजायत जिनेन्द्र पदाब्जभृंग: 'श्री जोमण-स्तदनुजाभुवि लाहिदेव: ।

······कलाविलासै राज्ञां मनांसि महतामपि रंजितानि ।।छ: ।।२२०।।

तत्र श्री...'जोमणस्य' दुहिता जाता गुणाग्रेसरा
धर्मारामतरो: प्रवर्द्धनसुधाकु(क?)ल्पैक पुण्योहका ।
श्री सर्वज्ञपदारविदनिरता सद्दानचिंतामणि,
श्चारित्र व्रतदेवतासुविदिता श्री वाइदे...।।२२१।।

ताभ्यामिंदुमुखो विचारवसति: सौजन्य पुण्याहलि,
नानाशास्त्र विनोदमेदुरमना··············।
······कर्णरसायनैर्गुणगुणौविस्मापितक्ष्मातल:,
क्षोणी पीठ सुरद्रुम: स्थिरयशा: श्रीनेमि (देवा सुधी:)······।।२२२।।

प्रात: श्री जिन पूजनने विधिना मध्याह्नकालेऽप्ययं,
दाननादभु कोर्त्तिनो मुनि जनाशीर्वादि······।
·····························स्य स्वयं
नित्यं पुण्यदिन: सनंदतु चिरं श्री 'नेमिदेव:' सुधी: ।।२२३।।छ।।

तेना·································।
············र्णेनाहं वशीकृत मनोरथा ।।छ।।२२४।।
ततो व्यावृत्य नि:शेष व्यापा··········· ·········।
···।।२२५।।

ततस्तस्य प्रसादेन वीतचिंत। भरादहम्
जिनेश्वरपदद्वंद्व स्मरणक्षालिता···········।।२२६।।
·················दरो
नाना शास्त्र विचारकोविदमति: 'श्री वामदेव' कृती ।
चक्रे शास्त्रमिदं विनष्ट··························
···················· ··'द्विक्ष्मातलम् ।।२२७।।
यो नित्यं पठित स्वयं गुरुजनाह ज्ञात्वा परान् पाठयेत्
यो·································

(त्रुटिताक्षर)

(२)

No. 236 Nagakumara Charltra—Panchamihatmaya Padaa of Five Sargas.

नागकुमार चरित्र—पंचमी माहात्म्य पद्य पंच-सर्गात्मक

Folios—14 Extent—Granthas 500
Language—Sanskrit Size—15.7 × 2.5 inche
Author—Ratnayogindra—Digambara.
Age of MS. c. 14tn cent. V. S.
Condition—Fair

आदि : —

।। ॐ नम: सिद्धेभ्य: ।।

श्रीमान व्यवहितारोऽपि वृति धर्मरथस्य य: ।
चक्र चातेर्विनाक्रांतस्तं नेमीनं नमाम्यहम् ।।
अथ दिग्वसना भोजमंडनेन मनोमुदम् ।
प्रतन्वता प्रसादेन सहसा लब्धजन्मना ।।
द्युसद्दुंभिनादेन नभस्तलविसर्पिणा ।
दिव्यगंधभरेणेव मंडपस्थाना(न)वायुना ।।

Santinatha Sain Bhondara Cambay

अंत:—

ततोऽसौ श्रेणिक: श्रीमान् नत्वा त्रैलोक्यपूजितम् ।
देव श्रीवर्द्धमानाख्यमगमत् स्वास्पदं मुदा ।।
श्री पंचम्युपवासस्य फलोदाहरणात्मकम् ।
एवं नागकुमारस्य समाप्ति चरितं ययौ ।।छ।।
इति 'श्री रत्नयोगीद्रणोपसंदृत्य कीर्त्तितम् ।
सहस्त्रार्द्धमितग्रन्थयेतच्चरितमुच्चकै: ।।

इति नागकुमारचरिते श्रीपंचमीमहोपवासफलोदाहरणे पंचम: सर्ग: ।। मंगलं महाश्री: ।।

(३)

7 Parsvastava (७) पार्श्वस्तव

Folios – 174 to 176 Extent—Kavyas 9
Language—Sanskrit Size – 13 × 8.7 inches
Author—Indranandi Condition—Fair
Age of MS.—C. First of half of 14th cent. V. S.

अन्त: —

झंकारं रांतयुक्तं शिखिपवनपुर: स्थापितं नामगर्भं,
पश्यंतं यत्प्रभावाद्विजहति पुरुषं योगिनीमुद्रया द्राक ।
रों ह्रां ग्रां हूं फुटग्नाक्षरजपितजवैस्ताडितं शास्वगंधं(?)

हिन्दी की अज्ञात जैन रचनाएं

डा० गंगाराम गर्ग

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओ के अतिरिक्त जैन कवियों ने हिन्दी मे भी अनेक रचनाए लिखी हैं। पिछले दस वर्षों में हिन्दी के जैन काव्य के अनुसधान के काफी प्रयत्न विद्वानो द्वारा हुए है, फिर भी बहुत सा अविदित साहित्य अनेक जिनालयों में छिपा है। प्रस्तुत निबन्ध मे ढूढाड प्रदेश के ऐतिहासिक नगर चाकसू और निवाई के जैन मन्दिरों मे प्राप्त कुछ अज्ञात साहित्यिक रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

१. स्नेह पत्रावलि—इस रचना के लेखक डालूराम, माणिकचन्द लुहाड़िया के पुत्र थे। डालूराम नामक एक अन्य कवि सवाई माधोपुर मे भी हुए है। 'स्नेह पत्राबलि' कवि की सवत् १८६० से १८६४ तक के मध्य लिखे गये कवि के विभिन्न पत्रो का सग्रह है। पत्रात्मक शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना 'स्नेह पत्रावलि' सवैया, चौपाई, भुजग प्रयात दोहा, छप्पय, सुन्दरी, त्रोटक आदि विभिन्न छदों मे लिखी गई है। रचना में कही-कही संस्कृत के छंद भी लिखे हैं।

यद्यपि कवि के गाँव राहोली और उसके मित्र भवानीचंद के गांव गुनसी मे अधिक दूरी नही है किन्तु यातायात की सुविधा के अभाव मे मिलना नही हो पाता, अतः कवि को मित्र के मिलन अथवा पत्र पाने की तीव्र उत्कण्ठा बनी रहती है—

तुम अंकन को वाट मन, जोवत आठू जांम।
जब तुम कर दल जोयहै, तब पहौं विश्राम।८,६।
ज्यौ घन चातक मोर मन, जल विछुर्यौ ज्यौ मीन।
त्यौ मो मन तब मिलन, लागी लगनि नवीन।।८,१०

मित्र की पत्रिका पाने पर कवि के 'हर्ष' की कल्पना ही नही की जा सकती—

सो सुख कह्यो न जाय, नहीं उर आनन्द मावै।
ज्यौ जल विछुर्यौ मोन, फेरि गगा जल पावै।

कवि ने मित्र-धर्म के नाते अपने मित्र को कुछ लोक-व्यवहार के सदेश भी भेजे है—

विन उदिम मन रहे न थिर,
कोटि जतन कोउ करो।
तातै विवि लषि धीर धरि,
उदिम को उदिम करो। ६:९।
निश्चै कीज्यौ रातिदिन जतन मन के भ्रात।
तोरथ जग मै जानिए गुरु बघू पित मात। ६:६।

२. नव मगल—प्रस्तुत रचना प्रसिद्ध कवि विनोदी लाल की है। डॉ० प्रेमसागर जैन ने विनोदीलाल का जीवन-परिचय लिखते हुए उनके 'नेमि-राजुलबारहमासा' 'नेमि व्याह' राजुल पच्चीसी रेरवता आदि कई रचनाओ का परिचय दिया है। 'नव मंगल' की दो प्रतियां हमें अभी कोट मन्दिर चाकसू मे उपलब्ध हुई हैं। विनोदीलाल का प्रिय छद सवैया उनकी अधिकांश रचनाओं मे प्रयुक्त हुआ है। 'नव मंगल' एक प्रबन्ध गीत है। इसको रचना

शाकिन्यः श्रीन्द्रनन्दिः प्रथितगतिरसौ पातु मां
पार्श्वनाथः ।। छ ।।
पार्श्वनाथस्तवः समाप्तः ।। छ ।।

"पुरातन जैन वाक्य सूची की प्रस्तावना पृ० १०६–७ में इन्द्रनन्दी नामक ६ दि० ग्रन्थकारो का विवरण दिया है इनमे से 'ज्वाला मालिनी कल्प' के कर्ता इद्रनन्दी प्रस्तुत पार्श्वनाथ स्तोत्र के रचयिता होना सभव है। क्योकि प्रस्तुत स्तोत्र मे भी मत्राक्षरो का समावेश है। मुख्तार सा० ने इनका समय वि० स० ९९६ बतलाया है।

चौथी प्रति समयसार की आत्मख्याति टीका की है। इसमें १८९ पत्र हैं प्र० ख० १४७७×२ इंच के हैं। प्रति अच्छी स्थिति में है। इसे वि० १३वी के उत्तरार्द्ध की बतलाई गई है। ग्रन्थ प्रसिद्ध होने से आदि अन्त के उद्धरण यहां नही दिये जा रहे है।

श्रावण सुदि ६ संवत् १७४२ को सहिजादपुर में हुई।

प्रथम व द्वितीय मंगल में नेमिनाथ को विवाह के लिए राजी करने के लिए कृष्णा का प्रयत्न, द्वितीय मगल उग्रसेन का विवाह-प्रस्ताव सुन कर समुद्रविजय का हर्षित होना, चौथे व पांचवें मंगल में समुद्रविजय के घर पर विवाह की तैयारी व उत्सव वर्णित है। 'नव मगल' के छठवें मंगल मे नेमिनाथ की बारात मथुरा आ जाती है। सातवे मंगल में नेमिनाथ पशुओं की करुण ध्वनि सुनते हुए उन्हे छुड़वा देते हैं। आठवें मंगल में वह दीक्षा धारण करते हुए तप करते है। नवें मंगल में मात्र कवि परिचय है।

विनोदीलाल की अन्य रचनाओ की तरह 'नव मगल' भी सरस और भावपूर्ण है। नेमिनाथ का दुलह-वेष कितना मनमोहक है—

अरे जादौपति का नवन करावे रे हां।
अरे कसि कंकन हाथ बंधावौ रे हां।
अरे बाजूबंद ऊपर छाजै रे हा।
अरे पहुंचो कर सरस विराजै रे हा।
पहुंची विराजै पास ककन मुदरी मजुरी बनी।
सोस गुथा जराउ चोटी, घुघराणा कटना कनी।
साकरी ते हार धुकधुकी, दस कीरत तम हरा।
रतन कुंडल कण सोहै, गैर सोहै पचलरी। २४

विवाह के अवसर पर होने वाले लोकाचार मे भी कवि ने बड़ी रुचि ली है—

चित्र विचित्र संवारि मंडप, गीत मंगल गावहीं।
प्रानवार वदन छवि पर, हरद तेल चढ़ावहीं।
अरगजा फुलेल मिलाय उपटनौ, नेमि अग लगावहीं।
सतभामा रुकमणि जामबन्तो, नेम कवर ननहावहीं।

३. बत्तीस ढाला—यह रचना तेरहपथी मन्दिर चाकसू के एक गुट मे उपलब्ध है। ६३ छद की इस रचना के लेखक टेकचन्द हैं जो विभिन्न पूजाओं के लेखक टेकचंद से भिन्न प्रतीत होते हैं। बत्तीस ढाला मे प्रयुक्त छप्पय, सोरठा, चोपई, वेशरी, अडिल्ल, पद्धड़ी, चाल, गीता, भुजंगी, गाथा सवैया, कुण्डलियां आदि विविध छद कवि की काव्य-प्रतिभा के सूचक हैं। रचना मे व्यवहारिक बातों का उल्लेख है। इसकी शैली उपदेश प्रधान है। बत्तीस ढाला में कवि ने अपनी भक्ति-भावना भी प्रकट की है—

जिनवर तुम अघमन कूं त्यारो,
मेरो कारज भी जु सुधारो।
मैं तो नाथ दीन ससारी,
भटकि जगत पायो दुख भारी।
षान पांन बुधि असै कीज्ये,
विषैस दै अरु बुधि न छीजै।
राह चलत भछन नहि करनौ,
चौपथ बैठि षान परहरनौ।

४. चौसठ रिद्धि पूजा—प्रस्तुत रचना तेरहपथी मन्दिर चाकसू मे विद्यमान है। इसके रचयिता प० स्वरूपचद है। 'चौसठ रिद्धिपूजा' संवत् १९१० मे लिखी गई। इसमे कवि का भक्तिभाव दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य-योनि की तीनों अवस्थाओ के दुखो को प्रस्तुत कर कवि ने जिन आराधना के लिए मुनि बनने की प्रेरणा दी है—

बालकपणां माही जी कछु ज्ञान जु नाही जी,
पाई तरुणाई विषय चिन्ता घणी जी।
बहु इष्ट वियोगा जी, भए असुभ सयोगा जी,
तातैं दुःख भुगत्या खिण समता नहीं जी।
तीजो पण आयो जो, बहु रोग सतायो जी,
ई विधि दुःख पायो मानुस भव में सही जी।
सुर पदवी नाही जी, माला मुरझाई जी,
चिन्ता दुःखपाई भोगी मरण की जी।
ई विघ संसारा जी, ताको नहीं पारा जी,
यह जाणिर त्यागिर रु सारा मुनि भया जी।

५. चौबीस तीर्थंकरों की पूजा—तेरहपथी मन्दिर चाकसू मे प्राप्त यह रचना रामचन्द्र चौधरी की है। डॉ० प्रेमसागर द्वारा 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' मे उल्लिखित कवि रामचंद्र खरतरगच्छ के प्रधान जिनसिंह सूरि की शिष्य परम्परा मे होने के कारण श्वेताम्बरी है किन्तु रामचन्द्र चौधरी दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। 'राम' अथवा 'रामचन्द्र' के नाम से बड़ौत और जयपुर के जैन मन्दिरों में उपलब्ध पदों के रचयिता रामचन्द्र चौधरी के ही होने की संभावना अधिक है।

'चौबीस तीर्थंकरों की पूजा' अडिल्ल, पद्धडी, दोहा और घत्ता छदो मे लिखी गई है। पूजा के विधि-विधान के अतिरिक्त कवि ने अपना भक्ति भाव भी प्रकट किया है—

पुष्पदत आतंक विदार्यो,
शीतल जगत समोधि उधार्यो।
श्रय श्रेय सिव के दातारं,
वासुपूज्य विद्रुम दुति सारं।
विमल सकल गुन बान उचारे,
लोक अलोक अनंत निहारे।
धर्म सुधातम गर्भ बनायो,
शान्ति जगतहित बांध सुनायो।

६ सिखर बिलास—तेरहपथी मन्दिर चाकसू मे प्राप्त यह रचना मनसुखसागर की है। प्रस्तुत रचना का आधार लोहाचार्य विरचित 'तीर्थ महात्म्य है। इसमे दोहा, चौपई, अडिल्ल, सवैया, मोतीदाम, चाल, सोरठा, कुसुमलता चामर, कुण्डलिया आदि विविध छदो का प्रयोग हुआ है। भरत क्षेत्र मे स्थित तीर्थंकरो की मुक्ति के स्थल विभिन्न कूटों को कवि ने सरल और रोचक शैली मे समझाया है।

७. मन गुण तीसी— २९ छद की यह रचना पद्मसूरि के शिष्य गुणसागर ने लिखी। मन की चंचलता की चर्चा करते हुए कवि ने मन को एकाग्र करने पर बल दिया है—

मन संकाची राष्यो आंपणो, चक्रवर्ती सत कुमार।
सहु परिवारे बलि बलि विनठ्यो, नाठ् नेह लगार।

८. श्री स्तोत्र—चारित्र सागर के शिष्य कल्याण इस रचना के लेखक है—

बहु महीमा श्री पार्श्वनाह शासन सूरि सेवक जन साधारणी।
बुध चारित्र सागर शिष्य, कल्याण नै जै कारणी।

ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ गणेश वन्दना से हुआ है। कवि ने लक्ष्मी को गौरी, गगा, गायत्री आदि मानते हुए उसे अपना सर्वस्व कहा है—

विस हर्था मुझ बीनती, मांनो मोरी मात।
तु इष्ट अनोपम, सदा सहोपम, तु ही पिता तु मात।

९. स्तवन तीर्थमाला— ५५ छदो की इस रचना के लेखक पद्मविजय है। इसमें अन्य तीर्थों की स्तुति के अपेक्षा कवि ने सुमेरु पर्वत के वर्णन में अधिक रुचि ली है—

गजदंति जिणवर तणां ए, बीस प्रसाद अभंगतो।
तिहां जिन बिंब नमु चौबीस ऐ नमस्यु आणी रंगतो।

१०. कड़खो—यह छोटी सी रचना किसी मुसलमान कवि महमूद खा की है। इस महत्वपूर्ण रचना मे महमूद खा ने तीर्थंकर नेमिनाथ की महिमा का गान करते हुए शरणागति चाही है—

छपन कोडी ज्यादुं श्री मुगटमणी,
तिहुं काल तेरा करत सेवा।
षाँन महमुद कर जोड़ि विनति करैं,
राषि सीर नाथ देवाधिदेवा।

★

जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माता शाह जीजा

श्री रामवल्लभ सोमाणी

चित्तौड़ के दिगम्बर जैन कीर्तिस्तम्भ से सम्बन्धित अप्रकाशित शिलालेख मैने अनेकान्त के अप्रैल १९६९ मे प्रकाशित कराये थे। इन लेखों का टिप्पणी सहित हिन्दी अनुवाद श्री नेमचंद धन्नूसा जैन ने अनेकान्त के अप्रैल सन् १९७० के अंक में प्रकाशित कराया गया है। विद्वान लेखक की मान्यता है कि शाह जीजा के पूर्वज चित्तौड़ के निवासी नही थे और वे कच्छ देश के किसी भूभाग के रहने वाले थे। मैं समझता हूँ कि लेख के इस अंश का अर्थ वे ठीक नहीं कर पाये है। शाह जीजा के पुत्र पुण्य-सिंह के लेख के श्लोक सं० १३ मे केवल कच्छ शब्द का

प्रयोग हुआ है वह मन्दिर के साथ है यथा 'विशालकच्छ के तुच्छायाछल ध्वजव्रजैः निज प्रसाद सोत्राप्रनृत्य तुग करैरिव" यहा कच्छ शब्द का अर्थ देश के रूप मे नहीं होता है । बल्कि कच्छ से अंकित ध्वज स अर्थ लेना चाहिए। इस शिलालेख के प्रारम्भ के २० श्लोक वाले अंश की शिला मिली नही है। इसलिए निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी नही कहा जा सकता है। चित्तौड़ से शाह जीजा से सम्बन्धित ३ खंडित लेख और १ लेख पुण्यसिह से सम्बन्धित मिला है। इन लेखो के उपलब्ध अंशो मे कही भी यह वर्णित नही है कि ये चित्तौड़ से बाहर के रहने वाले थे।

पुण्यसिह वाले लेख के श्लोक सं० २८ और इसमे चित्तौड़ दुर्ग के अतिरिक्त चित्तौड़ तलहटी, खोहर आदि स्थानों पर मन्दिर बनवाने का उल्लेख है। ये सब स्थान मेवाड़ वा इसके आसपास के थे। चित्तौड़ तलहटी के जैन मन्दिरों का उल्लेख वि० स० १३२४ के शिलालेख में है यथा—

सवत् १३२४ वर्षे इहश्री चित्रकूट महादुर्गे तलहट्टिकायाँ" खोहर सज्जनपुर आदि स्थाना की मडपिकाग्रा स होने वाली आय का अंश वहाँ के जैन मन्दिरो का देने का आदेश भी वि० सं० १३३५ के शिलालेख के एक अंश म है जो इस प्रकार हैं :—

"अन्यच्चाय दानानि" श्री चित्रकूट मडपिकायाँ च० उ० द्रम्मा २४ तथा उत्तरायने घृत कर्ष ४ तथा तेल कर्ष ६ आघार मंडपिकायां द्रमा. ३६, खोहर मडपिकाया द्रम्मा ३२ सज्जनपुर मडपिकाया द्र० ३॰ अमून्य य दानानि दत्तानि"

इस प्रकार इन स्थानों पर मन्दिरों की विद्यमान्यता सिद्ध होती है। शाह जीजा और उसके पुत्र पुण्यसिह द्वारा जो निर्माण कार्य करवाया गया है वह चित्तौड़ के आस-पास के क्षेत्र में ही अधिक है। कीर्ति स्तम्भ के निर्माण में कई वर्ष लगे होंगे। यह पुण्यसिह के समय तक भी चलता रहा है। अतएव इस परिवार का चित्तौड़ के आसपास या चित्तौड़ दुर्ग के ही निवासी होना उपयुक्त लगता है। परम्परा से भी यही विश्वास किया जाता रहा है कि जीजा का परिवार अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के समय यहाँ से दक्षिणी भारत को चला गया था। स्मरण रहे कि अशाधर भी इसी प्रकार मेवाड़ के माडलगढ से मालवा गये थे।

इसमे सदेह नहीं है कि चित्तौड मे कुछ यात्रियों ने भी निर्माण कार्य मदिर आदि बनवाये है किन्तु कीर्ति स्तम्भ जैसी वृति सघ यात्रा करते हुए बनवाना असगत लगता है। इसके अतिरिक्त चित्तौड़ तलहटी खोहर आदि स्थानों मे जैन मन्दिर बनवाये गये है। इसलिए इस परिवार का दीर्घकाल तक चित्तौड़ में निवास रहना अधिक युक्ति संगत लगता है। कालान्तर मे यह परिवार दक्षिण की ओर चला गया था जहाँ से मूर्ति लेख भी मिला है। उक्त लेख मे भी जीजा के निर्माण कार्यों मे "कीर्ति-स्तम्भ" ही मुख्य रूप से उल्लेखित है।

पुण्यसिह के लेख मे नारसिंह और हमीर के उल्लेख विचारणीय है। नारसिंह कहाँ का शासक था? ज्ञात नहीं हो सका है। हमीर नाम के कई शासक हुए है। मेवाड का राजा हमीर वि० सं० १३६३ में चित्तौड़ का शासक बना था। जो कीर्ति स्तम्भ निर्माण के बहुत बाद की घटना है। अतएव यह कोई अन्य शासक हो सकता है। सम्भवत: यह किसी सुल्तान का प्रतीक हो क्योकि सस्कृत मे "अमीर" शब्द के लिए हमीर प्रयुक्त हुआ है।

चित्तौड़ दुर्ग निसदेह दीर्घ काल तक जैन धर्म का केन्द्र स्थल रहा है। दिगम्बर जैन साधु यहा बड़ी सख्या में आते थे। दक्षिण भारत से कई जैन साधु यहाँ निरन्तर आते रहे हैं। एलाचार्य वीरसेन आदि प्रसिद्ध आचार्य यहाँ से सम्बन्धित रहे हैं दक्षिणी भारत के बालगाम्बे मे कन्नड के एक शिलालेख में 'चित्रकूटाम्नाय" के एक साधु के यहां वहां निधन का उल्लेख है (एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग iii पृ० १३४) इनका विस्तार से उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक "वीर भूमि चित्तौड़" में किया है।

अतएव श्रेष्ठि जीजा के कार्य क्षेत्र और चित्तौड़ में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की प्राचीनता को देखते हुए श्रेष्ठि जीजा को इसी क्षेत्र के आसपास का निवासी मानना चाहिये। कच्छ का निवासी मानने के लिए और सामग्री और शोध की आवश्यकता है। ★

कवि साधारणकृत

विलासवईकहा, एक परिचयात्मक अध्ययन

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्

१. प्रथम परिचय—"विलासवई कहा" से मेरा प्रथम परिचय मेरे विद्यार्थी जीवन से सम्बन्ध रखता है, जबकि सन १९२८ में सांगली में मेरे प्राध्यापक गुरु डा० पी. एल. वैद्य ने एक चित्र प्रति इस कथा की मुझे दिखाई थी। यह प्रति उन्होने जुलाई १९२७ में संस्कृत लाइब्रेरी कोठी, बड़ौदा से प्राप्त की थी।

इसके पश्चात् सन् १९४२ से १९४९ तक जब मैं **लीलावई** का सम्पादन कर रहा था, मैंने जैसलमेर भंडार की हस्तलिखित प्रतियों के सूचीपत्र पत्र को कई बार देखा। श्री ग्रो. एस. नं० १२ बड़ौदा १९२३ के सूचीपत्र मे विलासवई कहा की दो हस्तलिखित प्रतियां जैसलमेर भण्डार में होने का उल्लेख था। प्रथम पृष्ठ १४-५ पर बड़े शास्त्र भंडार में क्रम १३१ पर एक ताड़पत्र पर लिखित प्रति का उल्लेख है। इसमें १३½×२½ इन्च आकार के २०६ पृष्ठों का उल्लेख है। प्रारम्भिक भाग उद्धृत किया गया है। अन्त में २०६वें पृष्ठ पर टिप्पणी (सूचना) है कि रचयिता की प्रशस्ति अधूरी है। दूसरी प्रति का उल्लेख पृ० १८-९ नं० १९९ पर है। इसमें २०×२ इन्च आकार के २०६ पृष्ठ हैं। अन्तिम भाग मे रचयिता की प्रशस्ति उद्धृत की गई है एवं कोष्ठकों में कुछ अशुद्धियां सुधारी गई है। इसके साथ ही भूमिका के पृष्ठ ४५ पर सम्पादक श्री एलः बी. गांधी ने (रचयिता) एवं उसकी कृति के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार सस्कृत में उपस्थित किये हैं।

जिनरत्नकोष (एच. डी वेलंकर, पूना १९४४) में पृष्ठ ३५८ पर निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—"१— विलासवती कथा ग्यारह अध्याययुक्त, सं० ११९३ (?) मे कवि साधारण द्वारा रचित, जो बाद में सिद्धसेनसूरी के नाम से विख्यात हुए। यह अपभ्रंशभाषा में है। बड़ौदा हस्तलिखित प्रतियों का क्रम ६९९५, १३१९६, जैसलमेर भण्डार हस्तलिखित प्रतियों का क्रम (जी. ग्रो. एस. १९१३), पृष्ठ १४, १९ (भूमिका पृष्ठ ४५) जैसलमेर क्रम ६८०, ७२१, १६१० (तीनों ही ताड़पत्र लिखित प्रति हैं); कुण्डी नं० १७३, ३२२ (ये भी जैसलमेर भंडार से ही उपलब्ध है। द्वितीय—लक्ष्मीधर महर्षि द्वारा रचित विलासवती कथा, कुण्डी नं० ३२२।"

जब श्री मुनि जिनविजयजी ने मुझे जैसलमेर के भंडार से हस्तलिखित कुवलयमाला की चित्र-प्रति दी तो उसके अन्त मे विलासवई कहा के चार पृष्ठ (११३ से ११६) एक तरफ लिखे हुए, पृष्ठ नम्बर न लिखे हुए, जुड़े हुए थे। ये पृष्ठ लगभग सन्धि ७ के २१ से २७ तक कड़वक को अपने में समावेशित करते थे। इसकी लम्बाई और चौड़ाई पर दृष्टिपात करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ये पृष्ठ जैसलमेर बड़े भण्डार की हस्तलिखित प्रति १३१ से सम्बन्धित है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सन् १९४७ मे भारतीय विद्यापत्रिका बम्बई की जिल्द नं० ५, नं० ४-६ दिसम्बर १९४६ तथा जनवरी-फरवरी १९४७ में श्री पंडित बेचरदास जी दोशी ने "विलासवई कहा की वस्तु" शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। उन्होंने कृपा करके इसकी एक प्रति मुझे भी भेजी। इस लेख ने "इस कविता" के प्रति मेरी रुचि को अत्यधिक प्रोत्साहित किया।

सन् १९५५ में श्री पंडित बेचरदास जी ने, जिन्हें मैं अपना आदरणीय मित्र मानता हूँ, विलासवई कहा की एक प्रतिलिपि, जो उन्होंने जैसलमेर भण्डर की ताड़पत्र प्रति से प्रतिलिपि की थी और जिसका उल्लेख उन्होंने अपने पूर्वलिखित लेख में किया था, मुझे भेजी।

इसके पश्चात् रायपुर से डा० देवेन्द्र ने हिन्दी भाषा

में टाइप की हुई अपने प्रबन्ध की प्रति भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी को प्रकाशनार्थ भेजी। सर्व सामान्य सम्पादक के नाते मैंने उसे पढा। मैने देखा कि उन्होने अपने महा-निबन्ध विलासवई के सम्बन्ध मे कुछ पृष्ठ लिखे है, परतु मैने देखा कि उनका वर्णन भिन्न प्रकार का है। उनका ध्यान विशेषतः साहित्यिक समालोचना पर केन्द्रित है। उनके विचार अहमदाबाद से प्राप्त हस्तलिखित प्रति पर आधारित हैं। यह प्रति मुझे तब उपलब्ध हुई जब मै इस कथा विषयक वर्तमान अध्ययन को प्रायः पूर्ण कर चुका था।

वर्तमान अध्ययन की आधार सामग्री—मेरे वर्तमान विलासवाई कहा के अध्ययन आधार निम्नलिखित हस्त-लिखित प्रतियाँ है—

जे०—यह एक चित्र प्रति ग्रहीत प्रति है। ७६-७६ अ पृष्ठो सहित और इसका आकार १६×८.५ सैण्टी-मीटर है। यह प्रति श्री पं० बेचरदास जी अहमदाबाद के कथनानुसार १०.५×०.७५ इन्च आकारयुक्त ताड़पत्र पर अकित जैसलमेर वाली कृति की प्रामाणिक प्रतिलिपि है। भाले के चित्र के पश्चात् इसका प्रारम्भ इस तरह होता है—

नमो वीतरागाय ॥ बहु रमण इत्यादि। सम्भवतः यह जंसलमेर नं० १६७ की प्रति, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, की प्रतिलिपि है। प्रतिलिपिकार अपने विषय में इस प्रकार लिखता है--

लिखित लेखक पुरोहित जयगोपाल शर्मा ॥ रेवासी मु० नागोर मारवाड़। हाल लिखित जैसलमेर राज-पूताना ॥ संवत् १९९६ रा मिति मिगसिर सुदी १४ सोमवार ॥

बी:—यह चित्रप्रतिग्रहीत प्रति ८६×२ शीट्स २७×११.५ सैण्टीमीटर और हस्तलिखित प्रति नं० ६६६५ सैंण्टीमीटर लायब्रेरी डिपार्टमैंट बड़ौदा से उप-लब्ध प्रति से चित्रग्रहीत है। श्री डा० पी० एल० वैद्य, पूना से मुझे यह प्रति प्राप्त हुई है और उन्होंने इसे १६२७ में तैयार किया था। पृष्ठ ५१ से ५४ तक इस प्रति में अप्राप्य हैं और यह भाग ८वीं सधि के ४ से २० कड़वक को समावेशित करता है। हस्त लिखित प्रति भाले के चिह्न "बहु वयण" से प्रारम्भ होती है और "खाण" शब्द से समाप्त होती है।

इति सम्पूर्णम् ॥

हस्तलिखित प्रति की विशेषता तथा पुस्तक गठन—दोनों ही हस्त लिपियों के अक्षर म-स, त्थु-द्धु, क-व, उ-ओ, ए-प, व-य इत्यादि परस्पर आकार सम्भ्रान्ति उत्पन्न करते है और प्रायः अशुद्ध रूप से प्रतिलिपि किये गये है। आदर्श में पड़िमात्रा प्रायः अशुद्ध रूप से समझी गई एव अशुद्ध ही अकित की गई है। अनेक स्थलों पर असावधानता वश लेखन की भूलें पाई जाती है। स्वीकृति पद्धति के अनुसार दोनो प्रतियो मे पर सवर्ण के लिए अनुस्वार का प्रयोग किया गया है। परन्तु अनेक स्थलों पर "न्त्" का प्रयोग देखा जाता है। कहीं-कहीं अनुना-सिक उ का प्रयोग है तो कही यह भी रूप अ से समाप्त होता है। अनुस्वार के प्रयोग स्थान मे कही भी समता नही है। य श्रुति के लेखन एवं प्रयोग मे भी दोनों प्रतियों मे समानता नही है। यद्यपि जे० प्रति इस विषय मे कुछ विशेष सावधान है। तीत और तीए दोनों को समान मानकर प्रयोग किया है। सम्भवतः बाद मे ई स्वर ए का या य का स्थानापन्न मान लिया गया है। न और न्न को दोनों प्रतियो में समान मानकर प्रयोग किया गया है यद्यपि जे० प्रति मे ण और ण्ण का बाहुल्य है। यह निश्चित है कि जे० और बी० प्रतियां एक या दूसरे की प्रतिलिपि नहीं है।

सम्पादन रीति के विषय मे यह ज्ञातव्य है कि वर्ण-विन्यास में कुछ समानता रखी गई है। न तथान्न मे समानता है परन्तु बाद में ण और ण्ण का प्रयोग परिल-क्षित होता है। यदि कही संस्कृत भाग में भी ण है तो भी ण्ण का प्रयोग है। देसी शब्द ण का प्रारम्भिक प्रयोग है। परन्तु नम् और नावई णम् और णावइ रूप में प्रयुक्त है। उद्धृत स्वत के स्थान पर य श्रुति का प्रयोग है। अ और आ समानार्थक से हो गए है। पर सवर्ण तो नही परन्तु अनुस्वार दोनों प्रतियों मे समान रूप से प्रयुक्त हैं।

ए और ओ की ध्वन्यात्मकता मिली-जुली-सी हो गई है, विशेषतः दोनों प्रति के अपभ्रंश रूपों मे इसकी बहुलता है। ए और ओ की ध्वनि कुछ दीर्घता लिये हुए होती है यदि उसके बाद व्यंजन समूह का प्रयोग हो परतु

उच्चारण में उनकी ध्वनि लघु है। इसीलिए उनकी जगह कहीं-कहीं इ और उ का प्रयोग परिलक्षित होता है। पेम्मइ-पिम्मइ, पणमेप्पिणु-पणमिप्पिणु, जोगयाइ-जुगयाइ, होन्ति-हुन्ति इत्यादि प्रयोग दृष्टिगोचर होते है। कुछ अन्य प्रकार के ऐसे ही वैकल्पिक प्रयोग दृष्टव्य है—जैसे कि चिन्तेवि-चिन्तिव, जे-जि, जे-जिन, देउलेही-दिउललिही, दुहियहे-दुहियहि, घरे-घरि, महुमाहां महुमासु इत्यादि। जब ऐसे वैकल्पिक रूप प्राप्त होते है तो यह स्पष्ट है कि ई और ऊ वास्तव में ए और ओ है और इ और उ भी उनका प्रतिनिधित्व करते। हिन्दी मे लघु ए और ओ के लिखने के सकेत चिह्न है ही नहा। केवल छन्द के नियमाधार से ही उनकी ह्रस्वता या दीर्घता का परिज्ञान होता है। जैसे कि जैन अनुनासिक है परन्तु जि अनुवर है।

श्रीहेमचन्द्र (iv ४१०-१) ने परिज्ञात किया था कि ई और ऊ अपभ्रंश में प्रायः ह्रस्व रूप मे प्रयुक्त होते है। इसी तरह उ, हिं, हं, हु सभी अनुनासिक समझे जाने चाहिए जबकि वे किसी छन्द के चरण के अन्त में प्रयुक्त हो। इन पठन-विकल्पों को कम करने के लिए और ई और ऊ का उच्चारण सुविधा एव मूल्यांकन कुछ विशेष रीतियों की आवश्यकता है। निश्चय ही अपभ्रंश पाठ्य पुस्तको के पाठकों ने इसके लिए कुछ प्रयत्न किए भी है। मैने भी प्रथम संधि का सार उपस्थित करते समय निश्चित सकेतो के अभाव मे शुद्ध उच्चारण की सुविधा के लिए प्रचलित सकेतों का प्रयोग किया है।

४. ग्रन्थकर्ता—कथाकृति के कर्त्ता साधारण ने कृति की अन्त की प्रशस्ति मे प्राकृत गाथाओं मे कुछ अपना जीवन परिचय दिया है। उसका प्राचीन वंशानुक्रम अति प्राचीन कोई व्यापारियो का कुल है—वणिज्जै जिसे थनिज्जै भी पढ़ा जा सकता है। उसका गण कोटिक है, उसकी शाखा वज्र है, उसका वंश चन्द्रकुल है, जिसमे काव्य एवं कला की निपुणता परम्परागत निधि है। बप्पभट्टसूरी एक राज्य दरबार के सर्वप्रधान पूज्य गुरु थे। वे यशोभद्रसूरि गच्छ से सम्बन्धित थे। उसी गच्छ मे श्री शान्तिसूरी जी मथुरा प्रदेश के मुख्य आचार्य (सरोहा थे। उनके पाट पर यशोदेवसूरि विराजित हुए। उन्ही के शिष्य श्री सिद्धसेनसूरी थे, जो विलासवई कहाके कर्ता है। *जिन्होंने विनयवश स्वय को अति प्रतिभाहीन वर्णित किया है।* वे साधुदीक्षा से पूर्व श्रावकाश्रम में साधारण नाम से सबोधित थे अत. पश्चात् भी वे जनता मे इस नामसे प्रख्यात रहे। उन्होने बहुत से मत्र एव प्रार्थनाए रची, जो कि देश के विभिन्न भागों मे बोली जाती है। उन्होंने यह कथा साहू लक्ष्मीधर के आग्रह से रची। लक्ष्मीधर ग्वालियर दुर्ग के (गोपगिरिशिखर) के निवासी थे और अपने श्री भिल्लमाल कुल में चन्द्रमा के समान थे। प्रस्तुत विलासवई जहा सुन्दर भावाभिव्यक्ति एवं सुन्दर सन्धियों (कथाविभाग) के गठन पूर्वक रची गई है और इसकी कथावस्तु समराइच्चकहा से ग्रहण की गई है। इस रचना की समाप्ति धन्धुक्काय नगरी मे सोमवार, संवत् ११२३ (सन् १०६६) की पौष मास चतुर्दशी को हुई। कर्ता ने, मूलकथा में पाठकों के हित की दृष्टि से जो अल्प परिवर्तन किया है, उसके लिए क्षमाप्रार्थना की है। कृति का रचना परिणाम लगभग ३६२० अनुष्टुप छन्द है। अन्त मे उन्होंने सरस्वती की विजय की कामना की है और सरस्वती की कीर्तिगाथाए स्वर्ग की अप्सराएं भी गाती है, इस तरह सरस्वती की प्रशसा की है। सरस्वती कमल के सिंहासन पर विराजित है, जो वाणी की देवता है और आनन्द की जननी है। ऊपर वर्णन निम्न कथन पर आधारित है :—

वाणिज्जे मूलकुले कोडियगण-विउल-वइर-साहाए।
विमलम्मिग्र चन्दकुले वंसम्मि य कव्व-कलाण संताणे॥
रायसहा-सेहर-सिरिवप्पभट्टिसूरिस्स।
जसभद्दसूरि-गच्छे महुरा-देसे सिरोहाए॥

आसि सिरिसंतिसूरी तस्स पये आसि सूरि-जसदेवो।
सिरि सिद्धसेणसूरी तस्सवि सीसो जडमई सो॥
साहारणो त्ति नामं सुपसिद्धो अत्थि पुव्वनामेणं।
थुइथोत्था बहु-भेया जस्स पढिज्जन्ति देसेसु॥
सिरिभिल्लमाल कुलगयण-चन्द-गोवगिरि-सिहरनिलयस्स।
वयणेण साहु लच्छीहरस्स रइया कहा तेण॥
समराइच्चकहाओ उद्धरिया सुद्ध-संधि-बंधेण।
कोऊहलेण एसा पसण्णवयणा विलासवई॥

एक्कारस सएहिं गएहिं तेवीस-वरिस-ग्रहिएहिं।
पोस-चउद्दसि सोमे सिद्धा धंधुक्कयपुरम्मि ॥
एसा य गणिज्जन्ती, पायेणाणुट्ठुभेण छंदेण।
सं पुण्णइं जाया छत्तीस-सयाइं वीसाइं ॥
जं चरियाम्रो ग्रहियं किं पि इहं कप्पियं मए रइयं।
पडिबोह-कारणेणं खमियव्वं मज्झ सुयणेहिं ॥
जयइ तियसिंद-सुंदरि-वंदिय-पय-पकयाकयारूढा।
बुहयणविदिन्नवाणी सरस्सई सयलसुहखाणी ॥

इस तरह से साधारण, जो साधु पर्याय में सिद्धसेन-सूरि कहलाये, इस विलासवईकहा के रचयिता हैं। उन्होंने यह कथा हरिभद्र सूरि विरचित समराइच्चकहा से ग्रहण की है और यत्र तत्र कुछ परिवर्तन एव संवर्धन किया है। उन्होंने यह कथा ग्वालियर निवासी साहू लक्ष्मीधर मिश्र की वीनती को मान देकर रची है और सन् १०६६ मे धंधुका नगरी में यह रचना पूर्ण हुई है। यह जानना आह्लादकारक है कि धधुका नगरी श्री हेमचन्द्राचार्य की जन्मभूमि है। साधारण ने श्री हेमचन्द्र के जन्म से बाईस वर्ष पूर्व यह रचना पूर्ण की। श्री हेमचन्द्र का काल सन् १०८८–११७२ है।

५. सन्धियाँ और उनके शीर्षक—विलासवईकहा ग्यारह सन्धियों में विभक्त है। प्रथम और ग्यारहवीं सन्धि का कोई विशेष शीर्षक (नाम) नही है। श्री पं० बेचरदास जी ने संस्कृत में नाम प्रस्तावित किये थे, वे ही प्राकृत रूपान्तरण कोष्ठकों में नामरूप से कल्पित किये गये हैं। प्रत्येक सन्धि के कड़वक के नम्बर कोष्ठक में निर्देशित हैं :—

१. [सणंकुमार विलासवई-समागमो नाम···संधी] ···(२७)
२. विणयंधर-संधी······(२२)
३. भिन्न-वहण-संधी······(२३)
४. विज्जाहरी-संधी······(२४)
५. विवाह-वियोय-संधी···(३२)
६. विज्जा-सिद्धि-संधी···(३३)
७. दुम्मुह-वहो नाम···सधी (२६)
८. अणंगरइ-विजय-रज्जाइसेय-संधी (३८)
९. विणयंधर-संजोगो नाम······संधी (३४)
१०. जणय-समागमो नाम······संधी (२७)
११. [सणंकुमार-विलासवई-निव्वाण-गमणो नाम ······संधी] (३६)

६. हरिभद्र और साधारण—समराइच्चकहा एवं उसके रचयिता श्री हरिभद्रसूरि के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करते समय साधारण ने उनकी प्रशस्ति में दो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं।

समराइच्च कहाम्रो उद्धरिया सुद्ध संधि-बन्धेण।
कोऊहलेण एसा पसण्ण-वयणा विलासवई ॥
जं चरियाम्रो ग्रहियं किं पि इहं कप्पिगं मएरइयं।
पडिबोह कारणेणं खमियव्वं मज्झ सुयणेहिं ॥

उपर्युक्त गाथाओंसे स्पष्ट प्रमाणित है कि साधारण ने यह कथा—"समराइच्चकहा" से ग्रहण की है (सम्पादक हर्मन जेकोबी बी. आई. कलकत्ता १६२६ तथा समरादित्य सक्षेप में अहमदाबाद १६०६)। बाद में साधारण ने कथा में स्वयं कुछ परिवर्द्धन किया है (ग्रहियं कप्पियम्)। उसने अपने को क्षमितव्यरूप में उपस्थित किया है, क्योंकि उसने यह परिवर्द्धन पाठकों के आनन्दवर्धन के लिए किया है। श्री हरिभद्र (७वी शताब्दी ईस्वी) ने अपनी रचना को भावो में विभक्त किया है और गद्य, पद्य मिश्रित प्राकृत में लिखी है। जबकि साधारण ने अपभ्रंश भाषा का आश्रय ग्रहण किया और उसकी कृति सन्धियों में विभक्त है। श्री हरिभद्र द्वारा वर्णित सनत्कुमार की कथा एक वृहद्कथा समराइच्चकहा का पंचमभाव है तथा सनत्कुमार की कथावर्णन द्वारा यह दिखाया गया है कि निदान करने का (किसी तप आदि के बदले संसारसुख की कोई निश्चित कामना कर लेना) क्या फल होता है। जबकि साधारण की कथा एक स्वतंत्र कथा है और इस रचना का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है कि जरा सा भी प्रमाद करने का अगले जन्म में क्या फल प्राप्त होता है।

"थेवो वि हु कीरइ जो पमाउ,
सो परभवे होउ महा विवाउ।"

इह भाँति से हरिभद्र तथा साधारण ने क्रमशः निदान एवं प्रमाद के परिणामों को प्रदर्शित किया है।

निस्सन्देह साधारण ने सामग्रीरूप से समराइच्चकहा के पंचमभाव को अपने समक्ष रखा है। परन्तु तुलनात्मक

गम्भीर अध्ययन करने पर कई भावपूर्ण तथ्य प्रत्यक्ष उपस्थित होते हैं। यद्यपि साधारण अपभ्रंश भाषा में अपनी रचना कर रहे हैं परन्तु वे समराइच्च कहा के शब्द एवं कथन ज्यों के त्यों कई स्थानों पर ग्रहण कर रहे हैं। कई स्थानों पर शब्द तादात्म्य इतना अधिक है कि प्राकृत-पाठ्य कई नवीन तथ्यों का पता देती है। यहाँ तक कि अपभ्रंश रचना की अशुद्धियाँ सुधारने में भी प्राकृत पाठ्य की सहायता प्राप्त होती है। कई स्थानों पर वर्णनक्रम की भी सदृशता है। हरिभद्र की कई पंक्तियाँ (पृ० ३७२) साधारण ने ज्यों की त्यों उद्धृत कर दी हैं (सन्धि ६३२)।

इतना होने पर भी कुछ निश्चित बातें है जो मन को विशेषरूप से आकर्षित करती हैं और साधारण की काव्य-प्रतिभा का निदर्शन उपस्थित करती है। साधारण एक स्वतंत्र कथा की रचना कर रहे है और इसके लिए उन्होंने अपना पृथक् मंगलाचरण किया है। उन्होने अपनी रचना का नैतिक शिक्षा-प्रयोजन भी स्पष्टत: पृथक् निर्देशित किया है। श्री हरिभद्र का घटना क्रम का वर्णन त्वरित-गतिवाला है जबकि श्री साधारण ने अनेक स्थानों पर विश्रमित गति का आश्रय लेकर घटनाक्रमों को विस्तृत बनाया है। विशेषत: साहित्यप्रथागत तथा वर्णनात्मक कथन उनके पर्याप्त विस्तृत हैं। हरिभद्र के कथन संक्षिप्त है, इसके विपरीत साधारण के कथन अति विस्तृत एवं परिवर्धित हैं। विभिन्न अपभ्रश बोलियों के प्रयोग तुकान्त एवं ध्वनिसमरसता में सहायक होकर साधारण की काव्य-रचना मे प्रवीणता एवं प्रेरणा के कारण बन गये हैं। इन प्रयोगों के मूलरूप अन्य अपभ्रंश रचनाओं में देखे जा सकते हैं। कतिपय भाव और रस जो हरिभद्र द्वारा केवल सकेतित है, साधारण ने उनका पर्याप्त विस्तार किया है। साधारण यत्र तत्र काव्य-वर्णनानुकूलता के प्रतिपादनार्थ का प्रकरण में परिवर्तन तथा परिवर्धन कर लेते हैं। साधारण अपनी स्वतंत्र रचना की सिद्धि के लिए कथानक में यत्किञ्चित् परिवर्तन एवं परिवर्धन को उचित मानते हैं : विशेषतः अपनी रचना के अन्तिम प्रसंगों में उन्होंने ऐसा परिवर्तन अधिक किया है। नवम सन्धि का कथा-विषय चन्द्रलेखा की उपकथा साधारण की अपनी नवीन संयोजना है और इसका प्रयोजन भी स्पष्ट है। समराइच्च कहा मे, इस प्रसंग मे इसका अभाव है। एकादश सन्धि मे मधुबिन्दु के दृष्टान्त को साधारण ने विस्तृतरूप में उपस्थित किया है, जबकि हरिभद्र ने केवल इसका संक्षिप्त सकेत दिया है, क्योंकि समराइच्चकहा मे इसका विस्तार कही अन्य स्थल पर किया गया है। धार्मिक उपदेश, शिक्षा एवं रूढ़िगत भावनाओ का साधारण ने विस्तृत वर्णन किया है। ये संवर्धन एवं परिवर्धन विलासवईकहा को अपभ्रंश भाषा की स्वतत्र कथा-रचना एवं अध्ययनार्ह प्रमाणित करते हैं।

७. छन्द एवं शैली इत्यादि—यह ज्ञात होता है कि विलासवईकहा एकादश सन्धियों मे विभक्त है और प्रत्येक सन्धि कड़वक मे विभक्त है, जिनकी सख्या २२ से ३९ तक है। रचना के प्रारम्भ में दो पक्तिबद्ध गाथा है, प्रत्येक पंक्ति में १०+८+१३=३१ मात्राएँ है। प्रथम दो चरण तुकान्तयुक्त है। प्रत्येक कडवक की पंक्तियाँ विभिन्न छन्द गठन शैली से युक्त हैं। प्रथमसधि के विश्लेषण से यह परिज्ञात होता है कि प्रत्येक कडवक गाथा से समाप्त होता है। किन्तु छन्दगठनविधि वही है जैसी पहले कही गई है। सप्तम कड़वक की पक्तियाँ सकुलक पंक्तियां हैं (६, ४, ४, २)। क्रम ८ और २३ की पक्तियाँ मदना-वतार की पंक्तियाँ है। (५+४), तथा शेष पद्धतीय पंक्तियां हैं (४×४)। सम्पूर्ण कृति का सम्पादन होने पर ही रचना का छन्द विषयक पूर्ण विश्लेषण हो सकता है।

यद्यपि साधारण ने कथा सामग्री हरिभद्र कृत सम-राइच्चकहा से ग्रहण की है परन्तु प्रत्येक उचित घटना को अपनी काव्य प्रतिभा से शब्द चित्रात्मकता प्रदान करने का, रसात्मकता या भावात्मकता, विस्तारयुक्तता प्रदान करने का अवसर चूके नहीं हैं। रचना में सर्वत्र काव्य-रसात्मकता एवं विशिष्टता विद्यमान हैं। वसन्तादि ऋतुवर्णन, नारी सौन्दर्य का वर्णन, वन आदि का प्रकृति चित्रण, समुद्रतट, दिव्यदृश्यों का तथा विद्याधरों का वर्णन, युद्ध, विमान, राजधानियों का वर्णन, मन्दिर महल, राज-प्रासाद, शोभायात्रा आदि का मनोहारी एवं विस्तृत वर्णन साधारण के काव्य-कौशल को प्रगट कर रहे हैं। अनेक

स्थानो पर धार्मिक उपदेश, करुणापूर्ण वर्णन तथा अनेक सुभाषित कृति को अलकृत कर रहे है।

८. विषय-विश्लेषण—प्रस्तुत विषय-विश्लेषण दोनों हस्तलिखित प्रतियो के अध्ययन के पश्चात् उपस्थित किया जा रहा है। यह तो स्पष्ट है कि विषय कडवक मे विभाजित किया गया है और ये विभाग निश्चित विषय-वर्णन के आधार पर स्थित हैं। प्रत्येक सन्धि का विषय यहाँ इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि मेधावी छात्र या जिज्ञासु समराइच्चकहा और विलासवईकहा का तुलनात्मक अध्ययन कर सके। योग्यसन्दर्भ मे तुलनात्मक सकेत भी कर दिए है। जहां स्पष्टविधान नही है, वहां तारांकित चिह्नों आदि से निर्देशित कर दिया गया है।

संधि प्रथम—रचनाकर प्रथम चौबीस तीर्थकरो को क्रमश: नाम लेकर नमस्कार करता है। (१) अहिंसा, कर्मपरवशता, प्रमाद का बुरा परिणाम आदि का प्रतिपादन कर दृष्टान्त रूप मे विलासवईकहा का प्रस्तुतीकरण करता है। (२)······(तारांकित)। भारत मे सेयाविया (स्वेतावी) नामक एक नगरी है। राजा यशोवर्मन उस नगरी पर शासन करते थे। उसकी पटरानी का नाम कीर्तिमती था। वह बहुगुणमती थी। उनका सनत्कुमार नामक सुपुत्र था। उसके जन्म के समय ही ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि यह विद्याधरो का स्वामी होगा। (३) एक बार सनत्कुमार अश्वारोहण के आनन्द के पश्चात् अपने भवन को लौट रहा था तो उसने देखा कि कुछ डाकू फाँसी देने के लिए ले जाये जा रहे हैं। डाकुओं ने पश्चाताप करते हुए कुमार से अपनी रक्षा की प्रार्थना की और कुमार ने उन्हें मुक्त कर दिया, इस घटना ने उन नागरिको को क्रुद्ध कर दिया जिनके द्वारा अभियोग करने पर राजा ने उन्हें गुप्तरूप मे प्राणदण्ड दिया था। राजकुमार ने इसे अपना अपमान समझा और उस नगरी को छोड़कर कही अन्यत्र चला गया। (४) अनुचरों द्वारा मनाया जाने पर भी वह न माना और अपने कुछ विश्वस्त साथियों के साथ ताम्रलिप्ति नगरी मे पहुँच गया। वहाँ के राजा ईशानचन्द्र ने उसका हार्दिक स्वागत किया और भोजन तथा निवास की समुचित सुविधा प्रदान की। (५) वहाँ जीविकानिर्वाहार्थ उसने कोई वृत्ति स्वीकार न की। [श्लोक पृ० ३०२४-३०३२] एक दिन वसन्त ऋतु मे अपने कुछ मित्रो के साथ वह मदनमहोत्सव मे भाग लेने के लिये अनगनन्दन नामक उद्यान मे गया। (६-७) ज्यो ही वह राजमार्ग के पास से होकर जा रहा था राजा ईशानचन्द्र की पुत्री राजकुमारी विलासवती ने उसे ऊपर राजमहल की खिडकी से देख लिया। वह उसे कामदेव के समान सुन्दर प्रतीत हुआ और उसने अपने हाथों से गूथा हुआ बकुल-पुष्पो का हार उसके ऊपर डाल दिया और वह हार उसके गले मे जा गिरा। जब उसने ऊपर देखा तो वह राजकुमारी के सुन्दर रूप से मोहित हो गया। उसका मित्र वसुभूति उनके पारस्परिक प्रेम को पहचान गया। (८) राजकुमार ने मदनमहोत्सव की क्रीडाओ मे भाग तो लिया परन्तु उसका हृदय विलासवती के रूप के प्रति ही आसक्त था। उस दिन की रात उसे वियोग के कारण अति दीर्घ प्रतीत हुई। (९-१०) दूसरे दिन प्रात:काल उसे उसके मित्र वसुभूति ने सँभाला और अनुभव किया कि उसके प्रत्येक क्रियाकलाप मे अन्तर आ गया है और वह कामदेव के वश मे हो गया है। वसुभूति ने उसे विश्वास दिलाया कि विलासवती भी तुम्हारे प्रेम-पाश मे आबद्ध है, बकुल पुष्पों की माला गैरना इसी की ज्ञापकता का प्रमाण है कि वह भी तुम्हारे प्रति प्रेमाकुल है। (११) मै तुम्हारे सयोग का कुछ उपाय करूगा, यह विश्वास दिलाकर वसुभूति उसके पास से चला गया। उसने विलासवती की सेविका की पुत्री अनंगसुन्दरी से अपना परिचय बढाया। राजकुमार बडा व्याकुल एव सन्तापित था। (१२) वसुभूति राजकुमार के पास आया और राजकुमार से धैर्य एवं साहस धारण करने को कहा। उसने अनगसुन्दरी से परिचय प्राप्त करने की सब बात राजकुमारी को बतलाई और कहा कि अनगसुन्दरी भी तुम्हारे दुख से उदास और दुखी थी। (१३) वसुभूति ने बतलाया कि अनगसुन्दरी राजकुमारी के अति निकट सम्पर्क मे है और राजकुमारी भी तुम्हारी ही तरह प्रेम से व्याकुल एव सन्तापित है। एक अज्ञात युवक के गले मे हार डालकर अपने हृदय को लुटा बैठी है। अनगसुन्दरी ने उसे सान्त्वना देकर समझाया है कि वह उस युवक को खोजकर शीघ्र ही मिलन करायेगी।

(१४-१५) विलासवती की प्रेम-पीडा बडती ही चली गई, यहाँ तक कि वह मूर्च्छित हो गई। वसुभूति से यह सब जानकर राजकुमार ने राजकमारी की प्राणरक्षा के निमित्त उसके पास जाना चाहा। (१६) वसुभूति ने राजकुमार को बतलाया कि किस प्रकार राजकुमारी की सखी ने उसे समझाया और धीरज बधाया है। जब वह मूर्छा से मुक्त हुई तो उसने एक युवक के प्रेम-पास में आवद्ध होने की बात सखियो के समक्ष प्रगट कर दी। अनगसुन्दरी ने उसे विश्वास-पूर्ण समाचार देकर इनाम प्राप्त किया। (१७) उसी समय विलासवती की माता (रानी) वहाँ आई और कहा कि राजा विलासवती का वीणावादन देखना चाहते है। विलासवती ने अपनी माता का स्वागत किया और उसके साथ चली गई। अनंगसुन्दरी पूर्ण हताश एवं किंकर्तव्य विमूढ थी। वसुभूति ने उसे चिन्ता न करने के लिये समझाया और कहा कि उस नवयुवक राजकुमार से मेरी घनिष्टता है और वह भी प्रेम से व्याकुल है। दोनो ने उन दोनों के मिलन के अनेक उपाय सोचे। राजप्रासाद के उपवन मे दोनो को मिलाने का विचार किया। यह जानकर राजकुमार ने वसुभूति को इनाम दिया। (१८-२०) वे राजप्रासाद के उद्यान मे गये। वहाँ सब ऋतुओ की शोभा उपस्थित थी। कवि ने इसका बहुत सुन्दरता से चित्रण किया है। (२१) अनगसुन्दरी ने नन्दन वृक्ष के नीचे आसन ग्रहण करने की वीनती की। विलासवती के अनुपम सौन्दर्य को राजकुमार एव वसुभूति ने देखा। कवि ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। राजकूमारी के सौन्दर्य से राजकुमार आश्चर्यचकित हो गया और राजकुमारी ने उसे प्रेम का प्रतीक ताम्बूल अर्पण किया। जब वे दोनों इकट्ठे बैठे थे, उसी समय मित्रभूति के द्वारा राजा ने विलासवती को वीणावादनी के लिए बुलाया, क्योंकि गतदिवस भूल से वीणावादनका कार्यक्रम न हो सका था। वह प्रेमपूर्ण दृष्टि से राजकुमार को देखती हुई चली गई। राजकुमार और उसका मित्र भी अपने घर चले गए। रानी अनंगवती राजकुमार को देख कर कुछ मोहित सी हो गई। (२२-२५) रानी भी कामदेव की परवशता को प्राप्त हुई। विलासवती ने कई प्रेम के उपहार सनत्कुमार को भेज और बदले मे उसने भी अनेक उपहार भेजे। इस प्रकार कुछ दिन कुशलक्षेमपूर्वक व्यतीत हुए। (२६-२७) [श्लोक पृ० ३०३.२—३१५.१९]।

सन्धि द्वितीय—एक दिन रानी अनगवती ने अपनी सेविका के द्वारा सनत्कुमार को अपने कमरे मे आमन्त्रित किया। माता के समान आदर करता हुआ वह उसके समीप गया। वहाँ रानी ने अपना प्रेमभाव प्रकट किया। और कहा कि वह उसको पहली बार देखने के बाद कैसे वियोग की पीडा सह रही है। सनत्कुमार उसकी इस तुच्छ भावना से बडा दुखित हुआ। (१-२) राजकुमार ने रानी को समझाया कि उसकी यह भावना अति पापपूर्ण है। इस तरह सनत्कुमार अपने चरित्र पर दृढ रहा। (३) रानी ने सनत्कुमार की भावना की प्रशसा की और कहा कि मेरी प्रेम की भावना कौतुकरूप से थी, इसे गम्भीरता मे न ग्रहण करना। इस तरह वह राजकुमार के पास से चली गई। राजकुमार भी रानी को प्रणाम करके घर लौट आया और वसुभूति के साथ प्रसन्नता के साथ समय बिताने लगा। (४) [श्लोक पृष्ठ ३१६.१—३१८.३]

इसके पश्चात् विनयंधर, राजा का मित्र और नगररक्षक सनत्कुमार के पास आया और एकान्त मे बोला कि "तुम्हारे पिता के राज्य मे स्वस्तिमती नगरी मे एक महान उदाराशय और पराक्रमी वीरसेन नामक एक वीर व्यक्ति रहता था। एक बार वह अपनी पत्नी और बडे पुत्र के साथ अपने पिता के निवास-स्थल-जयस्थल को तरफ जा रहा था। मार्ग मे स्वेतावी नगरी के बाहर उसने डेरा डाला। वहाँ एक चोर की प्राणरक्षा की प्रार्थना पर उसने ध्यान देकर अपने डेरे पर ठहरा लिया। राजा के सिपाहियों ने उस चोर को खोजते हुए वीरसेन डेरे को घेर लिया और वीरसेन से चोर के अपराध का वर्णन किया। (५-८) वीरसेन ने चोर को लौटाने से इंकार कर दिया। तब राजा यशोवर्मन ने वीरसेन से युद्ध करने की आज्ञा दी। युद्ध मे सनत्कुमार ने वीरसेन की सहायता की। (९-१०) वीरसेन जयस्थल चला गया और श्वसुरालय में ठहरा। नगररक्षक ने कहा कि जय-

स्थल मे ही मेरा जन्म हुआ था। इसलिए हे सनत्कुमार! तुम्हारे पिता मेरे पिता के निकटवर्ती और उपकारक हैं। इस समय मेरे आने का प्रयोजन यह है कि आज राजा जब अश्वारोहण मनोरंजन के कक्ष में गये और देखा कि रानी ने अपना मुख नाखून आदि से नोच कर कुरूप बना लिया है। भूमि पर लेटी हुई आंसू बहा रही है। उसको कहा कि सनत्कुमार ने मुझसे प्रेम प्रस्ताव किया था। मैंने अपने शील की रक्षा की। उसी रक्षा-प्रयत्न में मेरी यह दुर्दशा हुई है। राजा ने तुम्हे चुपचाप मारने की आज्ञा दी है और मैं चाहता कि तुम न मारे जाओ। (१२-१३) मैं इस दुविधा में हूँ कि तुम्हें मारा जाय या राजा की आज्ञा भग की जाय। मैं तुम्हारी निर्दोषिता के लक्षण स्पष्ट देख रहा हूँ। तुम्ही बताओ कि मैं क्या करूं? [श्लोक पृ० ३१८.३–३२३.१२]. राजकुमार उस दुष्ट स्त्री के व्यवहार से बहुत उदास हुआ। (१५). एक दुष्ट व्यक्ति कुछ भी करने का साहस कर सकता है। (१६). यह राजा की कमजोरी है कि उसने रानी के वचनों का विश्वास किया। यदि सत्यता प्रगट हो गई तो राजा रानी को मार डालेगा। क्योंकि सभी तरफ से राजकुमार की निर्दोषता सिद्ध हो रही है। (१७-१८) विनयधर सब रहस्य राजा पर प्रगट करने को सन्नद्ध था। परन्तु राजकुमार ने कहा "यह सब मेरे कर्मों का फल है।" (१९-२०) राजकुमार ने राजा के आदेश को पालने के लिए विनयंधर से कहा। परन्तु विनयंधर ने अपने और राजकुमार के लिए सुरक्षित मार्ग अपनाना चाहा। राजकुमार उस स्थान से चले जाने के लिए सहमत हो गया। वह पोताध्यक्ष समुद्रगुप्त के जलयान द्वारा वसुभूतिके साथ सुवर्णद्वीप जानेको प्रस्तुत हुआ। विनयंधर ने क्षमा चाहते हुए उन्हें विदा दी। (२०) [श्लोक पृ० ३२३.१३–३७२.१२].

सन्धि तृतीय—जलयान समुद्र में संतरण करते हुए दो मास में सुवर्णभूमि में पहुँच गये। मार्ग मे सनत्कुमार ने रानी का पाखण्ड और अपने कार्य की कहानी सबसे कह सुनाई औररानी का भेद वहाँ प्रकट न करने का औचित्य सिद्ध किया। (१-२) वहाँ से श्रीपुर गये। वहाँ उनका एक मित्र मनोहरदत्त मिला। वह भी सेयाविया नगरी से वहाँ व्यापारार्थ आया था। सनत्कुमार एवं वसुभूति उसी के आतिथ्य में रहे। (३) सनत्कुमार ने अपने पिता से पृथक् होने का कारण उसे बताया और कहा कि अब मैं अपने मामा से मिलने लंका जाऊंगा। उसके मित्र के आतिथ्य के कारण पर्याप्त विलम्ब हो गया था। (४) चलते समय उसे एक नयनमोहन कम्बल भेंट दिया गया, जिसे ओढ़ने से उसे कोई न देख सकेगा। [तारांकित पृ० ३१७.१३–३२९.७]. उसके मित्र ने कहा कि मंत्रशक्ति के द्वारा सिद्धसेन ने एक देवता को बुलाया उसी यक्षगिरि देव ने यह कम्बल प्रदान किया है। (५-९) सनत्कुमार ने कम्बल सधन्यवाद स्वीकार किया। समुद्र-तट पर ईश्वरदत्त का सुन्दर जहाज तैयार था। ईश्वरदत्त ने मनोहरदत्त से कुशलक्षेम पूछा। (१०) राजकुमार तथा वसुभूति उसी जहाज पर चढ़ कर लंका की ओर प्रस्थान कर गये। (श्लोक पृ० ३२९.८–३३१.१३). प्रस्थान से तेरहवें दिन समुद्र में भारी तूफान आया। मल्लाहों ने महान् प्रयत्न किया परन्तु कर्मवश कोई उपाय सफल न हुआ। एक काठ का फलक पर तैर कर सनत्कुमार तीन दिन बाद किनारे पर पहुँचा। (११-१२) वह कर्मों की लीला पर विचार करने लगा। अपने प्रिय से वियोग आदि सभी बाते मन में विचरण करने लगीं। (१३-१४) वह जंगल में घूमते हुए एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठा। उस वृक्ष पर एक सारस पक्षी का जोड़ा बैठा था उसकी मधुर ध्वनि सुनकर राजकुमार को विलासवती की स्मृति आ गई। उसका वियोग उसे अति व्यथित कर रहा था। (१५) विलासवती की स्मृति के विचारों में डूबा हुआ सनत्कुमार एक शिला पर पत्तों का बिस्तर बना कर सो गया। प्रातःकाल पक्षियों के कलरव से वह जागा। एक नदी के किनारे चलते हुए उसने रेत में किसी स्त्री के पदचिह्नों को देखा। उस चिन्हों का अनुसरण करता हुआ वह आगे बढ़ा। (१६-१७) एकान्त प्रदेश में उसने एक तापस-बाला को देखा। उसके सुन्दर अगों का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है। वह पुष्पगुच्छ से शोभित थी। झाड़ी के पीछे छिपकर राजकुमार ने उसे आकर्षित दृष्टि से देखा। (१८) उसके तापस वेष के अतिरिक्त उसे सर्व प्रकार वह रूप विलासवती का प्रतीत

हुआ। उसका सोया प्रेमभाव जाग उठा। अपने भाव को छिपाकर हाथ जोड़कर उसने उसे प्रणाम किया। अपना परिचय देकर परिभ्रमण का कारण बताकर उससे अपना नाम, आश्रम का नाम और तपस्या का कारण पूछा। उस बाला ने ससम्भ्रम से उसे देखा और नीचा मुह कर लिया। (१६). बिना कुछ उत्तर दिये वह वहाँ से चली गई [श्लोक पृष्ठ ३३१.१४-३३५.११] राजकुमार ने किसी अन्य व्यक्ति से उस बाला का परिचय प्राप्त करने का विचार किया। उसे उसने पुन: आश्रम मे लौटते हुए देखा। उसने अनुभव किया कि वह प्रेम से आसक्त है। उसने अधिक उत्सुक होना अयोग्य समझा। (२०). वह नदी के किनारे पर पुन: वापिस लौट आया परन्तु वहाँ किसी व्यक्ति को न देखा। उसी रात को प्रातःकाल उसने स्वप्न में उस बाला द्वारा उसके गले में पवित्र पुष्पों का हार डालने का दृश्य देखा। सारसों की मधुर ध्वनि ने उसे प्रातःकाल जगाया। स्वप्न एवं अन्य शुभ लक्षणो से राजकुमार जान गया कि किसी कन्या से उसका मिलाप होने वाला है। वह तापसबाला जिसका रूपसाम्य विलास वती से है, कहीं विलासवती ही तो नही है। जगल मे ढूढते हुए उसने कुछ दिन बड़े कष्ट से बिताए, परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुआ। (२१-२३). श्लोक [३३५.१२-३३७-१२].

चतुर्थ सन्धि—माधवीलता से वेष्ठित एक आम्रतरु के नीचे सनत्कुमार विलासवती की स्मृति मे तल्लीन था, तभी एक प्रौढ़ वय की तापसी वहाँ आई। कवि ने तापसी (तपस्विनी) का अच्छा वर्णन किया है। राजकुमार ने उसे प्रणाम किया, तापसी ने उसे आशीर्वाद दिया और कार्यसिद्ध्यर्थ उसके सिर पर कमण्डल का पानी छिडका। (१) [श्लोक पृ० ३३७.१३—३३८.८-७]. तपस्विनी ने राजकुमार को अपने समीप बिठाया और उसकी बात सुनने को कहा। तापसी बोली—मैं वैताढ्य पर्वत पर गन्धसमृद्ध प्रदेश के स्वामी सहस्रबल की रानी सुप्रभा की कुक्षि से जन्म लेने वाली मदनमंजरी नाम की पुत्री हूँ। मैं पवनगति नामक विद्याधर से विवाहित हुई थी और पर्याप्त काल सानन्द व्यतीत हुआ। (२-३) एक बार हम आकाश मार्ग से मनोरंजनार्थ नन्दनवन को गये। तब मेरे पति सहसा स्वर्ण सिंहासन से गिरकर मृत्यु को प्राप्त हुए। मै शोक मे डूब गई। शीघ्र ही मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी नभ गामिनी शक्ति का भी नाश हो गया है। (ण). नि:सहाय होकर मै अपने भाग्य पर दुःखी हुई। मैने दृश्य,अदृश्य सभी शक्तियो से सहायतार्थ प्रार्थना की। तब मेरे पिता का मित्र एक तापस विद्याधर देवनन्दी वहाँ आया। (५). उसने मुझे सान्त्वना प्रदान की और उपाय हानि पर शोक न करने को समझाया। (६). मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए मैंने उससे तपस्वी का व्रत धारण किया। (७). विदित हुआ कि सिद्धकूट पर्वत को पार करते हुए मेरा हार गिर पड़ा था, उसी के परिणाम-स्वरूप मेरी नभगामिनी विद्या की भी समाप्ति हो गई थी। मेरे पिता की आज्ञा से देवनन्दि मुझे श्वेतद्वीप मे ले आया और अपनी तपस्वी शृखला मे समाविष्ट कर मुझे कुछ कार्य में नियुक्त कर दिया। एकदिन पुष्प और समिधा की खोज मे मैं समुद्र की तरगप्रवाह के समीप पहुँच गई। (८). समुद्रतट पर तरगप्रवाह मे सन्तरित एक काष्ठ फलक के पास मूच्छित पड़ी एक सुन्दर स्त्री को देखा। (९). मैने कमण्डल का पानी छिड़का तो वह प्रबुद्ध हुई। मैंने उसे धीरज बधाया। आश्रम में साथ लाकर कुलपति को सौंप दी। (१०). पूछे जाने पर उसने कहा कि मैं ताम्रलिप्ति से आई हूँ, इससे अधिक मैं कुछ नही कहूँगी (क्योंकि सम्भवतः वह किसी उच्च कुल से आई है)। मैंने कुलपति से खबर प्राप्त की (११). [श्लोक पृ० ३३८-८ ३४१-१२] कुलपति ने अपने दैवीय ज्ञान से परिज्ञान कर कहा कि यह राजकुमारी विलास वती है, यह राजकुमार सनत्कुमार के प्रति प्रेमासक्त है विवाह से पूर्व ही दोनो प्रेमासक्त थे। इसे मालूम हुआ कि निर्दोष सनत्कुमार राजा की आज्ञा से मार दिया गया है। (१२) राजा की आज्ञा से उसे अर्धरात्रि के समय राजमहल छोड़ना पड़ा और वह सनत्कुमार के शव को ढूंढने निकल पड़ी। जिससे कि एकबार उसके दर्शन करके फिर स्वय मृत्यु को वरण करले। परन्तु मार्ग में वह डाकुओं द्वारा पकड़ी गई उन्होंने उसकी सब सम्पत्ति छीन ली और अचल नामक एक व्यापारी को बेच दी, जो बरबराकूल जा रहा था समुद्र में जहाज टूट गया

परन्तु वह एक लकड़ी के तख्ते के सहारे तैरती हुई तीन दिन मे किनारे पहुँच गई। वह शीघ्र ही अपने प्रेमी से मिलेगी और उसका जीवन सफल होगा। (१३). उसका प्रेमी निश्चित रूप से मारा नही गया है। दूसरे दिन शाम को मैंने यह सब कुछ उसे बता दिया है। संसार की दशा का वर्णन कर समझाया है कि इसमे आसक्त होने वालो की क्या दशा होती है। (१४). तब मैने कोई दीक्षा आदिक ग्रहण न करने के लिए उसे समझाया। क्योंकि उसका पति अभी जीवित है, जैसा कि कुलपति के कथन से सिद्ध है। वह उसे शीघ्र ही मिलेगा इस तरह मैने उसे धैर्य दिया। (१५). कुछ दिन उसने तापस बाला जैसे वस्त्र धारण किये। एक बार वह कुछ फूल और समिधा लेने के लिये गई, परन्तु वापस आने के बाद उसकी दशा कुछ परिवर्तित और प्रतिदिन अधिक दुःखी होते हुए दिखाई दी (१६). कुलपति के आने की प्रतीक्षा है। उसके कार्य एव लक्षण स्पष्ट प्रकट करते है कि वह कामदेव से ग्रस्त है। (१७) [श्लोक पृ० ३४१.१३-३४५.२] दूसरे दिन मैने उसकी कामासक्त दशा का अनुभव किया। वह मंजूषा लेकर पुष्प सग्रहार्थ एक स्थल पर गई। मै भी चुपचाप उसके पीछे-पीछे गई। वह केले के वृक्ष समूह के पीछे बैठकर अपने भाग्य को धिक्कारने लगी और रोने लगी। (१८) हाथ जोडकर आंसू बहाती हुई वह वन देवता को पुकारने लगी। यही तो वह स्थान है जहा मुझे मेरा प्रेमी मिला था, उसने अपना पता बताया था, परन्तु लज्जा ने मेरा मुख बन्द कर दिया था और मैंने उसके प्रश्न का कोई उत्तर न दिया था। (१९) वह जंगल मे दृष्टि से परे हो गया। मुझे आश्चर्य है कि मेरा केवल भ्रम था या वह कोई विद्याधर था और कोई उस प्रेमी का भेष बनाकर मुझे ठगने आया था। इस वियोग को मैं अब और अधिक सहन नही कर सकती।" तब एक वृक्ष से फांसी लगाकर मरने को तैयार हुई और वन देवता से प्रार्थना करने लगी कि मेरा सब वृत्तान्त मेरे प्रेमी को सुना देना। (२०) मैं ठीक समय पर उसे बचाने पहुँच गई। उसे धर्माचरण विरुद्ध कार्य न करने के लिए समझाया। (२१) माता के समान मुझमे विश्वास न रखने के लिए डाटा तब उसने अनुचित कार्य के लिए क्षमा मांगी। मैंने उसे समझाया कि कुलपति के कथनानुसार तुम्हारा प्रेमी जीवित है वह यही कही है, उसे लेकर मै आश्रम में लौट आई। तुम्हे खोजने के लिए कुछ तपस्वी बालक इधर-उधर भेजे गये। अन्त में मै स्वयं तुम्हें ढूंढने निकली। तुम यहाँ मिले हो, अब कृपा करके आश्रम मे चलो और उस बाला के प्राण बचाओ। (२२) [श्लोक पृ० ३४५.३—३४७.१७]।

पचम सन्धि—वह राजकुमार तपस्विनी का अनुगमन करते हुए विनय पूर्वक आश्रम में पहुँचा। विलासवती यह जानकर कि उसका प्रेमी आश्रम द्वार पर उपस्थित है, कुछ शरमा कर, बिस्तर से उठ कर कुटी के अन्दर चली गई। (१) तापसी ने योग्य सत्कार करके विलासववती को संकेत दिया, तदनुसार विलासवती ने सनत्कुमार के चरण प्रक्षालित किए। वन में प्राप्त अन्न और फलो द्वारा भोजन तैयार किया गया। तदनन्तर विधिपूर्वक विलासवती का परिणय सनत्कुमार से सम्पन्न हुआ। वे दोनों सुन्दर वन नामक उद्यान मे चले गये। (२-३) वह उद्यान अनेक फल वृक्षो एव पुष्पित लताओ से सुसज्जित था। (४) उद्यान के दृश्य अति मनोहारी थे। (५) वहाँ उन दोनों ने प्रथमरात्रि सानन्द समाप्त की। (६) [श्लोक पृ० ३४७.१८—३४९.१२]।

तदनुसार कुछ दिन उन्होने आश्रम के भव्य वातावरण मे व्यतीत किए। एक बार जब वे पुष्प और समिधा संचय के लिए गए थे, विलासवती को पुष्पचयन मे व्यस्त देखकर, उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए एवं कुछ मनोविनोद करने के लिए सनत्कुमार ने पूर्वोक्त चमत्कारी कम्बल ओढ़ लिया और अदृश्य हो गया। उसे वहा न पाकर विलासवती डर गई और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडी। सनत्कुमार ने प्रकट होकर धैर्य बँधाया और कम्बल विषयक समस्त रहस्य उस पर प्रकट कर दिया। (७-९) वह कम्बल उसे सुरक्षित रखने के लिए सौंप दिया। [श्लोक पृ० ३४९.१३—३५०.१५]। उन दोनो ने स्वदेश लौटने की सलाह की। समुद्रतट पर खडित जलयान का संकेतक एक झण्डा लगाया गया। यह सकेत पट पोताध्यक्ष सानुदेव के जलयान ने देखा जो महाकटाह स्थान से मलयदेश की तरफ जाने वाला था। सानुदेव

ने मल्लाहों द्वारा उन्हें आमंत्रित कर जहाज पर उचित स्थान दिया। उन दोनों ने आश्रमवासियों से विदा प्राप्त की। (१०-११) विदा होते समय विलासवती ने आश्रम निवासियों से वियुक्त होने के दुख को बहुत अनुभव किया। (१२) एक दिन पूर्व प्रातःकाल मे सार्थवाह पुत्र (सम्भवतः सानुदेव स्वयं) ने धक्का देकर सनत्कुमार को समुद्र में गिरा दिया। एक काष्ठफलक के सहारे तैरता हुआ वह पाँच दिन में मलय पहुँच गया। वह विलासवती के प्रति विषयासक्त था और विलासवती के शुद्ध चरित्र से अनभिज्ञ था। विलासवती मेरे वियोग मे जीवित नही रहेगी, इसलिए सनत्कुमार एक नीम के वृक्ष मे फन्दा डाल कर एकात मे फासी लगा कर मरना चाहता था। (१४) उसी समय एक हंस पक्षी दृष्टिगत हुआ। उसने विलासवती के पुनर्मिलन की भविष्यवाणी कर मरने से रोका। (इस वर्णन प्रसंग मे हंस पक्षी का अति सुन्दर वर्णन किया गया है)। (१५-१८) [श्लोक पृ० ३५०.१६—३५४.१२]। इन्ही विचारो मे व्यस्त सनत्कुमार समुद्रतट के समीप पहुँचे। उसने देखा कि एक काष्ठ-फलक तैरता हुआ आ रहा है और विलासवती उस पर तैरती हुई दृष्टिगोचर हुई। विलासवती ने सनत्कुमार को विगत घटना बताई कि सार्थवाह बाद मे कितना पछताया और स्वय समुद्र मे डूबने का विचार किया। रात्रि को जहाज मध्य भंवर मे फंस गया। भाग्य से मैं काष्ठफलक के सहारे जीवित रही। सत्य है "जो जाको खोदे कुआँ वाको कूप तैयार।" परन्तु सब कर्म की बलिहारी है, दूसरो को दोष देना व्यर्थ है। (१९-२१) विलासवती बहुत प्यासी थी। सनत्कुमार उसे पार्श्ववर्ती झील के समीप परन्तु वह बहुत थका हुआ था अतः वह अधिक चल न सका। तब वह अर्जुन वृक्ष के नीचे विश्राम कर पत्रपुट में पानी लेने गया तथा विलासवती को चमत्कृत कम्बल ओढ़ा गया। [श्लोक ३५३.१३—३५६.१४]। वह पानी और कुछ सन्तरे लेकर वापिस लोटा। सनत्कुमार ने इससे प्रकट होने एवं पानी पीने को कहा। (२२-२३) उसने देखा कि वह वहाँ उपस्थित नही थी। एक अजगर कम्बल सहित उसे निगल गया था। अजगर के पैर के निशान रेत पर पड़े हुए थे। उन चिह्नों का अनुसरण कर राजकुमार वहाँ पहुँचा। परन्तु विलासवती को न पाकर मूर्च्छित हो गया। (२४-२५) मूर्च्छा दूर होने पर वह अजगर के पास इस हेतु गया कि उसे भी निगल ले और अजगर के उदर में वह विलासवती से मिल सके। अजगर अपराधी की तरह काँप गया। राजकुमार ने क्रोधपूर्वक उसके सिर पर यष्टिका प्रहार किया। वह आघात से उलटा हुआ तो कम्बल उसके उदर से बाहर आ गया। (२६) उसने कम्बल अपने वक्षस्थल पर रखा और अर्जुनवृक्ष की शाखा मे फन्दा लगाकर मरना चाहा। (श्लोक पृ० ३३६.१५—३५८.१३)। राजकुमार मरा नही, केवल एक निद्रा सी आ गई। स्वप्न मे एक ऋषि ने पुण्य करने का उपदेश दिया। (२७-२९) जिससे कि वह अगले जन्म मे विलासवती को प्राप्त कर सके। उसे मलय पर्वत शृंखला मे स्थित मनोरथपूर्ण गिरि शिखर पर जाने को और शिखर से गिरकर मर जाने को कहा। क्योकि इस प्रकार की मृत्यु निश्चित ही अगले जन्म में अभीष्ट फलदायक होती है। वह ऋषि के द्वारा सकेतित दिशा को प्रस्थान कर गया। (३०-३१) [श्लोक पृ० ३५८.१४—३६०.१०]।

षष्ठ सन्धि—तीसरे दिन वह वृक्षो और जंगली पशुओ से परिपूर्ण मलय पर्वत पर पहुँच गया। शिखर से अग्रिम जन्म मे अपनी प्रेमिका से मिल सकू, ऐसा निदान करके वह पर्वत से कूद पड़ा, परन्तु मध्य मे ही एक विद्याधर ने ग्रहीत कर उसे बचा लिया। विद्याधर ने उससे सर्व वृत्तान्त पूछा। (१-२) राजकुमार ने सर्व वृत्तान्त विस्तार से कहा और जीवित रहने पर अपने को अभाग्यशाली माना। (३) विद्याधर ने ऐसे स्नेह (मोह) को सब दुःखों का कारण बतलाया। (४) उसने कहा—दान, शील, तप आदि से ही ऐसे मनोरथ सफल हो सकते है। (५) उसने दृष्टान्तरूप मे एक प्रार्थना कथा सुनाई। [श्लोक ३६०.११—३६२.४१)। इस मलय-मण्डल प्रदेश मे एक सिंहा नाम की कुरूपा स्त्री रहती थी, वह अपने पति से बहुत प्रेम करती थी परन्तु वह उसे नहीं चाहता था। पति उससे कभी न मिलने के इरादे से इस शिखर से कूदा और मरा। अतः पर्वत शिखर से आगामी भव मे पति से पुनः मिलने के लिए कूद पड़ी

(६) परन्तु दोनों का ही अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ। [पृ० ३६२.५—३६२.१६]।

विद्याधर ने राजकुमार से वह समय पूछा जब विलासवती को अजगर ने निगला था। विगत तीन दिवस पूर्व समय जानकर उसने कहा— विलासवती अभी जीवित है। क्योंकि विद्याधरों का राजा चक्रसेन यहाँ से दस योजन दूर अप्रतिहतचक्रविद्या की सिद्धि एक वर्ष से कर रहा है। सात दिवस से अडतालीस योजन तक विद्याधर का आदेश है कि कोई भी किसी जीव को नही मार सकता। इसी कारण तुम भी बचे थे और विलासवती भी अवश्य जीवित है। शीघ्र ही उसकी खबर तुम प्राप्त करोगे। (७-१०) वह रात्रि व्यतीत हुई। कठिन साधन द्वारा चक्रसेन को विद्या सिद्ध हो गई। दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमार विद्याधर के साथ चक्रसेन को बधाई देने गये। विद्याधर ने राजकुमार का वृत्तान्त चक्रसेन से कहा। इतने मे ही दो युवक विद्याधर आए और उन्होने कहा कि—हमने अपने प्रिय से वियुक्त एक स्त्री को अजगर के निगलने से बचाया है। (११-१३) निर्देशानुसार स्थान पर राजकुमार गया, अति व्यथित राजकुमारी के मिलाप मे दोनो प्रमुदित हुए। (१४) राजकुमार अति प्रसन्न था। चक्रसेन ने उसे अजितबल नामक अति उपयोगी साधना के साधन का उपाय बतलाया। (१५) [श्लोक पृ० ३६२.१७—३६६.१३]। राजकुमार ने अतिबल साधन का निश्चय किया परन्तु उसे कुछ सहायता की आवश्यकता थी। उसे अपने पूर्वमित्र वसुभूति का स्मरण किया। उसी समय तापसभेष में एक व्यक्ति आया। पहचानने पर ज्ञात हुआ कि वही वसुभूति है। इतने दिनों के सकट के पश्चात् दोनो मिलकर बडे प्रसन्न हुए। (१६) कुशलक्षेम के पूछने तथा किञ्चित् विश्राम के बाद वियुक्त काल के सब समाचार पूछे। वसुमति ने जहाज के ध्वस्त होने और काष्ठफलक के सहारे पाँच दिवस में मलय के समुद्रतट पर पहुँचने की बात सुनाई। वहाँ एक तपस्वी मिला और मुझे धर्माचरण की शिक्षा दी एवं संसार के क्षणभगुर स्वभाव का वर्णन किया। (१७-१९) परन्तु तपस्वी के समझाने पर भी मैं दीक्षा लेने को तैयार न हुआ। (२०) तपस्वी ने राजकुमार और विलासवती से तुम्हारा मिलना होगा, यह भी कहा था। यही कारण है कि मैं तपस्वी भेष मे तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। (२१) [श्लोक पृ० ३६६.१४—३६६.२]। सनत्कुमार ने छह मास तक विद्यासाधन की प्रारम्भिक तैयारी की। उसने विलासवती को साहसी और धैर्यवती होने की शिक्षा दी। जब मंत्र का एक लाख जाप हुआ, प्रकृति में हलचल सी मच गई। ज्यों ज्यों जाप की मात्रा (संख्या) बढी, सनत्कुमार के समक्ष प्रेतनियाँ, पिशाचनियाँ हाथी के वेष मे, सिंह के भेष मे, साँप के रूप, राक्षसी के रूप मे प्रगट हुई। (इस दृश्य का कवि ने पर्याप्तरूप से वर्णन किया है)। विलासवती और सनत्कुमार के धैर्य की यह परीक्षा थी। (२२-३०) अन्त मे भव्य-वातावरण के मध्य विद्या. सनत्कुमार के पास आई और उसके धैर्य की प्रशंसा की। (३१) वहाँ अति प्रसन्नमुद्रा मे विद्याधरो का समूह आया और उसकी विद्यासिद्धि पर बधाई दी। (३२) सनत्कुमार ने विद्याधरो का स्वामी बनना स्वीकार किया यदि उसे विलासवती और वसुभूति के साथ रहने दिया जाये। [श्लोक पृ० ३६६.३—३७२.१५]।

सप्तम सधि—जिस गुफा मे सनत्कुमार विद्यासिद्ध कर रहा था, उसके द्वार पर से न वसुभूति का स्वर सुनाई दिया, न उस गुफा मे विलासवती दिखाई दी। विद्याधरो की सहायता से उसने समस्त मलय के जगल में उन दोनो की खोज की। एक वृक्ष-समूह के मध्य मे उन्होने वसुभूति को देखा। वसुभूति ने समझा कि यह वही विद्याधरो का समूह है, जो विलासवती को हरण कर ले गया है और जिसके शोक मे वह रो रहा था। उसने विद्याधरो से युद्ध करना प्रारम्भ किया। परन्तु शीघ्र ही एक दूसरे को पहचान गये। वसुभूति ने विद्याधरो के एक दल द्वारा वसुमती का हरण, स्वय द्वारा विमान का अनुसरण करने एव उसमे प्राप्त असफलता का सर्व वृत्तान्त सुना दिया। राजकुमार ने अतिबल विद्या के द्वारा विलासवती की प्राप्ति के प्रति उसे विश्वस्त किया। (१-३) विद्या वहाँ आई और उन्हें वहीं ठहरने की आज्ञा देकर पवनगति को विलासवती की खोज के लिए भेजा। तीन दिन बाद पवनगति ने उसका पता लगाया और कहा कि वह रथनूपुर चक्रवाल नगर में है।

यह नगरी वैताढ्य पर्वत पर है। वहाँ का दुष्ट राजा अनंगरति उसे ले गया है और उससे बलात् विवाह करना चाहता है। यह सुनकर सनत्कुमार क्रुद्ध होकर उससे युद्ध करने को उद्यत हुआ परन्तु पवनगति ने उसे धैर्य दिया। पवनगति ने यह भी बताया कि तभी से उस नगरी पर महान संकट आ रहे हैं। महाकाली देवी ने उस राजा को चेतावनी दी है कि यदि इस पवित्र नगरी का सतीत्व हरण करोगे तो तुम्हारा सर्वथा विनाश हो जावेगा। विलासवती इस समय सख्त पहरे मे एक उद्यान मे स्थित है। [श्लोक पृ० ३७२, १६–३७६-२]। अनंगरति को समझाने के लिए दाम, दण्ड, भेद की उपेक्षा कर एक दूत भेजकर साम का ही आश्रय लिया। (४-६), उसे सदेश भेजा कि शीघ्र ही विलासवती को वापिस करे और अपने अयोग्य कार्य का पश्चाताप करे (१०-१३) पवनगति ने वह सन्देश अनंगरति को दिया। अनगरति ने कहा—मै किसी पार्थिव प्राणी (पृथ्वी के मानव) का अग्निमेत्थम स्वीकार नही करता। न मै विलासवती को लौटाऊंगा। वह अज्ञानवश मुझे युद्ध के लिए ललकार रहा है। पवनगति ने उसे समझाया कि तेरे राज्य पर विपत्ति आने वाली है, तेरा हाल रावण जैसा होगा। अनगरति पवनगति पर आघात करना चाहता था और पवनगति भी प्रत्याक्रमण के लिए तैयार था। परन्तु बडों ने उसे दूत के प्रति नम्र होने के लिए कहा। पवनगति ने वापिस आकर राजकुमार से शीघ्र प्रतिरोध करने के लिए कहा। (१४ १७), यह सुनकर सभी विद्याधर अति क्रोधित हुए (१८), राजकुमार से अकेले ही युद्ध करने का प्रस्ताव किया। विद्याधरो ने ऐसा न करके समस्त सेना सहित शत्रु से युद्ध करने को कहा। [श्लोक पृ० ३७६-६—३७८-७] उसकी समस्त सेना एकत्रित हुई। अजितबल देवता ने राजकुमार को एक विमान दिया। वसुभूति सहित वह विमान पर आरूढ हुआ। कवि ने इसका वर्णन विस्तार से किया है। (२०) युद्ध के ढोल और शखों की ध्वनि से आकाश परिपूरित हो गया। (२१) शुभ शकुनों के साथ भव्य वातावरण मे विमान आकाश मार्ग से चला। युद्ध के नारे लगाती हुई सेना आगे बढ़ी। वे सेना सहित मार्ग मे ग्राम, नगर, झील आदि को पार करते हुए वैताढ्यपर्वत पर पहुँचे। पर्वत की तलहटी में सेना ने शिविर स्थापित किया। (२२) राजकुमार ने समस्त विद्याओ और विद्याधरो को स्मृति किया। अनंगरति के प्रति सेना में जोश भरा हुआ था। अनगरति ने दुर्मुख नामक सेनापति के सरक्षण में अपनी सेना युद्धार्थ भेजी। राजकुमार की सेना भी युद्धार्थ सन्नद्ध थी। (२३) दूत द्वारा समाचार प्राप्त हुआ कि दुर्मुख की सेना आ रही है, राजकुमार सेनापति चण्डसिंह उसकी ललकार का सामना करने को तैयार था। दोनो की सेना एक दूसरे के आमने सामने खड़ी हो गई। (२५) सब व्यूहो पर युद्ध होने लगा। (२६) उस भयकर युद्ध मे दुर्मुख की सेना ने चण्डसिंह की सेना का विनाश कर दिया। (२७) चण्डसिह और दुर्मुख मे तुमुल संग्राम हुआ। चण्डसिंह के द्वारा दुर्मुख का वध देखकर शत्रु की सेना भाग खडी हुई। राजकुमार की विजय से देवताओ को बड़ी प्रसन्नता हुई। (२८-२९) [श्लोक पृ० ३७८-८—३८०-६)।

अष्टम सन्धि—राजकुमार विद्याधरो सहित वैताढ्य-पर्वत पर चढा, रथनूपुर के दृश्यो का अवलोकन किया और अनगरति को सन्देश भेजा कि या तो वह राज्य छोडकर अन्यत्र चला जावे या युद्ध के लिए तैयार हो जाये। कवि ने नगर एव पर्वतप्रदेश अति भव्य वर्णन किया है। दो विद्याधर राजकुमार का सन्देश ले गये थे। उनके लौटने पर मालम हुआ कि अनगरति ने राजकुमार के सन्देश को कोई मान नही दिया और अपनी सेना को युद्धार्थ शकटव्यूह के रूप मे अवस्थित होने की आज्ञा दी है। युद्ध के वादित्र बज उठे। (१-२) इस युद्ध घोषणा को नगर निवासियो ने बड़े विस्मयपूर्वक ग्रहण किया और राजा के चारित्र-विरुद्ध कार्य को बडी घृणा की दृष्टि से देखा। प्रजा राजा को धिक्कारने लगी। उभयपक्ष की सेनाएं तैयार हो गई। (३) विविध वीरता के भावो तथा शस्त्रों से युक्त दोनो सेनाएं तैयार थी। (४ ५) राजा अनंगरति युद्धार्थ चला तो उसे अति अशुभ शकुन हुए। इधर राजकुमार की सेना भी युद्धार्थ सन्नद्ध हो गई। अति भव्य दृश्य उपस्थित करती हुई वह सेना पद्मव्यूह के रूप मे खड़ी हुई। (६) [श्लोक पृ० ३८०-६—३८२ १६] चण्डसिह और समरसेन दोनों सेनापंक्तियो की रक्षा कर

रहे थे। अनंगरति आक्रमण करता हुआ सेना के मध्य भाग में आया। (१०) दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। सैनिक परस्पर जूझ पड़े। युद्ध का रचनाकार ने विस्तृत वर्णन किया है। (११-१३) चण्डसिंह ने कंचनदंष्ट्र के विमान को नष्ट कर दिया। (१४) परन्तु मल्लयुद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ। (१५) सनत्कुमार ने अपनी सेना मे वीररस का सचार किया, व्यूह के समक्ष स्वयं उपस्थित हुआ, आकाश को अपनी वाण वर्षा मे परिपूरित कर दिया। (१६) कुमार के भयकर पराक्रम स युद्ध स्थल मे भगदड़ मच गई। तब अनगरति और कुमार का भयंकर युद्ध हुआ। देवता इस दृश्य को देखने क लिए आकाश म उपस्थित हो गये। (१८-१९) अजितबल देवता के प्रभाव से अनगरति के वाण व्यर्थ हो गये। (२०) विविध आयुधा द्वारा युद्ध होने के पश्चात् दोनो का मल्लयुद्ध हुआ। अनगरति ने हार मान ली और उसने राज्य त्याग करना स्वीकार किया। राजकुमार ने यह बात अभी अप्रगट ही रखी कि वह केवल विलासवती को चाहता है। राजकुमार ने सबको शरण प्रदान की, घायल सैनिको का उपचार कराया, इस तरह राजकुमार वहाँ तीन दिन ठहरा और सभी की प्रसन्नता का कारण बना। (२४) उसने अपने सहायको सहित नगर मे प्रवेश किया, नागरिको द्वारा हार्दिक स्वागत तथा विविध भटे प्रदान की गईं। (२७) राजकुमार के स्वागत मे नगर विविध भाँति से सजाया गया, स्वागत एव उपहार अनेक भाँति से प्राप्त हुए। नगर की नारियो ने विविध प्रकार मंगलाचार किये। (२९) स्त्रियाँ नव-नव शृंगार सजाकर उसके दर्शनार्थ आईं। (३०) स्त्रियों ने राजकुमार के रूप आदि की प्रशसा की एव उसके सहायको के विषय मे वार्ताएँ की। इसके बाद राजकुमार राम के मन्दिर मे गये। तदनन्तर राजमहल मे प्रवेश किया, वहाँ सभी व्यक्ति उदास से खड़े थे। राजकुमार राजा के उपवन मे गया, वहाँ विलासवती से मिला, दोनों अति प्रसन्न हुए। विद्याधरों ने विलासवती को नमस्कार किया, उसका आशीर्वाद प्राप्त किया। राजकुमार एवं विलासवती दोनों दैनिक कार्यों से निवृत्त हुए, समस्त दिन उत्तम खान-पान एवं आनन्द में व्यतीत हुआ। यहाँ कवि ने स्वागत एवं मन्दिर के दृश्यों का अच्छा वर्णन किया है। (३२-३४) सनत्कुमार रथनूपुर चक्रवालपुर के राजा घोषित किये गये और विलासवती रानी घोषित की गई, वसुभूति मन्त्री घोषित हुआ। राजकुमार के चक्रवर्ती बनने पर प्रजा बहुत प्रसन्न हुई। (३६) [श्लोक पृ० ६८२-१९—३८६-१०]।

नवम सन्धि—सनत्कुमार को सफलतापूर्वक राज्य करते हुए पर्याप्त दिवस सानन्द व्यतीत हुए। एक दिन जब वह अपने मित्रों एव अनुचरों से परिवेष्ठित अपने अन्त.पुर मे उपस्थित था तो विद्याधर के भेप मे एक युवक किन्नरगीत प्रदेश स वज्रवाहु का पुत्र अनिलवेग आया और सनत्कुमार से निवेदन किया कि विद्याचरण ने जैसी भविष्यवाणी की थी (१) तथा विशदरूप से धर्मोपदेश दिया था (४-८) उसकी बहन चन्द्रलेखा तुम्हारी पत्नी बनेगी, जब कि वह अनगरति को जीतकर राज्य प्राप्त करेगा। (९) उसी समय दुष्ट विद्याधर चित्रवेग चन्द्रलेखा द्वारा अनादृत होने पर उसे हर कर ले गया। युद्ध मे अनिलवेग घायल होने पर एक औषधि से एक तापस द्वारा क्षतरहित कर दिया गया। उस औषधि का विस्तृत वर्णन है। (१२) राजा ईशानचन्द्र ने मुझे तुम्हारी (सनत्कुमार) की खोज के लिए भेजा था, मै खोज में असफल होने पर अग्नि मे प्रवेश कर रहा था, तभी वनदेवता ने मुझे मलयपर्वत पर के समीप प्रदेश से सजीवनी बूटी ले जाने के लिए तथा उसके द्वारा समुद्रतट पर राजकुमार को जीवित करने के लिए कहा और कहा कि वह तुम्हारी सहायता करेगा। मैं तापस बनकर तभी से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (१३) मैंने उस प्रदेश में रोती हुई राजकुमारी को देखा, उसने कहा—मेरा वाग्दान सनत्कुमार से हुआ था तथा उसने अपना समस्त विस्तृत परिचय दिया। मैंने उसे अपेक्षित सर्व कार्य करने का विश्वास दिलाया और आज तुमसे यहाँ मिलना हुआ है (१५) अनिलवेग तापस से चन्द्रलेखा को सान्त्वना प्रदान करने के लिए कहा और स्वयं चित्रवेग से युद्ध करने गया एव उसे मार डाला। वह चन्द्रलेखा को विमान पर बिठा कर अपने नगर मे ले गया और समस्त प्रजा के हर्ष का कारण बना। अनिलवेग विनयंधर के साथ आप

से मिलने आया है। सनत्कुमार ने विनयधर का आदर सत्कार कर सर्व वृत्तान्त पूछे। (१८) विनयधर ने सर्व वृत्तान्त बतलाये कि "तुम्हारे मारे जाने के समाचार से सारी प्रजा दुःखी थी। (२२) सभी मनुष्य कानाफूंसी करते थे कि रानी ने राजा को असत्य वचनों से भ्रमित कर दिया है। (२३) नगर की नारियां कुमार के अशुभ भाग्य पर और अनंगवती के दुराचरण पर शोक मना रही थी। (२४) जब राजा को मालूम हुआ कि राजकुमारी विलासवती अपहृत हो गई है तो राजा मूर्च्छित हो गया। उद्बुद्ध होने पर उसने राजकुमारी को ढूंढ लाने की आज्ञा दी। (२५-२६) अन्तःपुर मे महान शोक था। राजा तुम्हारे वध की आज्ञा देकर बहुत पछता रहा था। (२७-२६) वह रानी सहित अग्नि प्रवेशार्थ उद्यत था कि किसी निमित्तज्ञ ने सिद्धादेश दिया कि सनत्कुमार अभी जीवित है। विलासवती उसकी रानी बनेगी और तुम सब की सनत्कुमार से कालान्तर मे किसी प्रकार भेंट होगी। तब मैंने (विनयधर ने) सब सत्य बात प्रगट कर दी और राजा ने मुझे तुम्हारी खोज करने की आज्ञा दी। (३०) मैंने कहा कि मैं एक वर्ष मे सनत्कुमार का पता लगा दूगा अन्यथा अग्नि मे प्रवेश करूंगा। मेरा प्रयत्न व्यर्थ होने पर मै अग्नि प्रवेश कर गया। (३१-३२) परन्तु मैने अनुभव किया कि अग्नि ज्वाला के मध्य मे कमल सिंहासन पर बैठा था और एक देवी मुझे सवाधित कर रही थी। (३३) देवी ने मुझे सजीवनी दी, जिसमें मैं राजकुमार को जीवित कर सकू और कहा कि तदनन्तर सभी अभिलाषाएँ पूर्ण होगी। (३४) इस सन्धि के सदर्भ मे श्लोक संख्या उल्लिखित नही है।

दशमसंधि—सनत्कुमार ने विनयधर के साहसिक कृत्यों की बडी सराहना की। विलासवती ने उनके प्रयत्नो की सफलता चाही। प्रत्येक दशा मे माता-पिता का आदर तो होना ही चाहिए। सनत्कुमार का समस्त दल माता-पिता के दर्शनार्थ ताम्रलिप्ति और स्वेनावी नगरी जाने को तैयार हो गए। अनिलवेग ने आग्रह किया कि सर्वप्रथम चन्द्रलेखा का विवाह सनत्कुमार से हो जाना चाहिए। इसलिए वह समस्त दल सनत्कुमार के नेतृत्व में किन्नरपुर गए। वज्रबाहु ने अनुपम स्वागत किया एव योग्य विधि-विधान सहित वह विवाह सम्पादित हुआ। (१-५). इस अवसर पर ईशानचन्द्र महा प्रसन्न था। उसने विनयंधर को उसके साहसिक कार्यों के उपलक्ष मे बहुमूल्य उपहार दिया। राजकुमार से क्षमा याचना की। राजकुमार ने कहा—यह सब कर्मों के कारण था। (६-८). अनंगवती ने भी अपने अयोग्य कार्य के लिए क्षमा प्रार्थना की एवं खेद प्रकट किया। (६). राजकुमार ने सहर्ष क्षमा करते हुए कहा कि कर्मों के फल को कोई नही रोक सकता। माता-पिता के लिए पुत्र मिलाप का अवसर अति हर्षप्रद था। राज्य भर में यह दिवस पर्व के समान मनाया गया (१०-१२). ये सब समाचार सेयाविया नगरी मे भी पहुँचे। राजकुमार को बुलाने के लिए विशेष दूत ताम्रलिप्ति भेजे गए। (१३). वहां उनका विशेष स्वागत हुआ, माता-पिता के कुशल समाचार पूछे। मालूम हुआ कि सनत्कुमार के चले जाने पर माता-पिता ने बहुत खोज की थी, परन्तु कोई फल न हुआ। (१४). उस खबर ने सबको उदास बना दिया था। (१५-१६). तब ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि राजकुमार जीवित है और यह भविष्यवाणी झूठी नही हो सकती। (१७). विलासवती ने राजकुमार से माता-पिता के दर्शनार्थ चलने को कहा और वह अनुचरों सहित प्रस्थानित हुआ। (१८). विलासवती ने बडे दुख भरे हृदय से अपने माता-पिता से विदा ली। (१६). सेयावी मे राजा यशोवर्मन ने उनका स्वागत किया। राजकुमार को माता ने हृदय से लगा लिया। विलासवती और चन्द्रलेखा का अति स्वागत हुआ। नगर मे हर्षपूर्ण उत्सव मनाया जा रहा था। नगर के मध्य मे से होकर राजप्रासाद के द्वार तक उनका प्रस्थान अति हर्षजनक था। (२०-२१) [श्लोक पृ० ३८८.५]. एक दिन राजा ने सनत्कुमार को राज्य सिंहासन सभालने के लिए कहा। राजकुमार ने कहा—मेरे पास तो रथनूपुर चक्रवालपुर का राज है। जहां उसे शीघ्र वापिस जाना है। माता-पिता को अब पुत्र का वियोग असह्य था अतः माता-पिता को भी राजकुमार ने अपने साथ चलने को कहा। माता-पिता की सेवा से राजकुमार का जीवन सफल हो सकेगा। लघुभ्राता कीर्तिवमन राज्य सिंहासन पर बिठाया गया और माता-पिता राजकुमार

के साथ चले गए। (२२-२३). विनयंधर एवं अन्य सहायकों को योग्य पदों पर नियुक्त किया गया। सनत्कुमार अपनी रानियों सहित मधुरालापों एवं वनविहारों में अपना समय सुख से यापन कर रहा था [श्लोक संख्या उल्लिखित नहीं है]. काल पाकर रानी विलासवती ने पुत्र रत्न को जन्म दिया। उसका नाम अजितवाल रखा गया। [श्लोक ३८६.१८-३८७.१२). अन्य रानियों ने भी पुत्ररत्नों को जन्म दिया। सनत्कुमार उस विद्याधर राज्य मे हर्षपूर्वक होकर समय यापन करता था। (२४–२७).

एकादश संधि—एक अति ज्ञानवान साधु श्री चित्रांगद रथनूपुर चक्रवाल के उद्यान मे पधारे। सनत्कुमार अपने समस्त परिवार सहित उनके दर्शनार्थ गया। (१) साधुमहाराज का व्यक्तित्व अनुपम था। सनत्कुमार ने धर्मलाभ प्राप्त किया। (२) साधुमहाराज ने ससार की अस्थिरता का, धर्म की आवश्यकता का, मनुष्यभव की दुर्लभता का, सुख के दुर्लभत्व का धर्मोपदेश दिया। इसके समर्थन मे मधुबिन्दु की कथा का दृष्टान्त दिया। (३-१०) गुरु महाराज ने सविस्तार वर्णन किया। (११-१२). इसी अवसर पर सनत्कुमार ने साधु महाराज से पूछा, हे मुनिराज! मैंने पूर्वजन्म में क्या कर्म किए थे जो विभिन्न दशाओ मे मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़े? [श्लोक पृ० ३८६.३-३८६.१५] । साधु महाराज ने फरमाया—भागीरथी के तट पर कामिल्य नामक नगर मे चन्द्रगुप्त राजा के घर रानी कुवलयश्री के पुत्र तुम रामगुप्त नाम से प्रसिद्ध थे। और विलासवती पूर्वजन्म में तारापीड़ राजा की पुत्री हरिप्रभा थी। तुम दोनों विवाहित होकर सानन्द समय यापन करते थे। एक दिन वसन्तऋतु में विहार करते हुए तुम हंसो के जोडे को केसर के रग से लाल (पीत) रग मे रग दिया था। (१३-१४) वे हस रग परिवर्तन के कारण परस्पर एक दूसरे को न पहचानते परन्तु रग के कारण पुन: वियुक्त हो जाते। वे दोनों मरने के लिए गगा मे डूबने चले। वहाँ उन दोनों का रंग धुल गया, वे एक दूसरे को देख कर प्रसन्न हुए। इसी पाप के कारण तुम्हे भी इस जन्म में वियोग के सन्ताप से सन्तापित होना पड़ा है। अन्तरायकर्म के कारण तुम्हें वियोग का दुख सहना पड़ा है। (१५-१६)]श्लोक ३८६.१६-३६०.१७] । सन्ताप एवं कष्ट के पश्चात् तुम्हें इतना उच्च पद प्राप्त हुआ। इसका कारण यह है कि एक धार्मिक श्रावक चन्दन धर्मगुरु धर्मघोष जी के पास ले गया और तुम्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। (१७) तुम्हें धर्म का स्वरूप विस्तार से समझाया गया। (१८-२१) तुमने साधु धर्म, श्रावकधर्म का यथेष्ट पालन किया। उसी पुण्य से आज तुम अनेक कष्टों को पार करते हुए श्रेष्ठ सुख के अधिकारी बने हो। (२२-२५) गुरु मुख से यह सब सुनकर उन दोनों को पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। विलासवती को कर्मो की लीला पर बडा आश्चर्य हुआ और उसकी इच्छा संयोग-वियोग, दुख-शोक से रहित स्थान को (मोक्ष को) प्राप्त करने की तीव्र इच्छा हुई। गुरु महाराजने मोक्षका स्वरूप भली भाँति समझाया। सनत्कुमार के पिता ने दीक्षा लेना अगीकार किया। (२६-२६) सनत्कुमार भी पिता के साथ दीक्षित होना चाहता था। उसने अजितबल को विद्याधर राज्य का स्वामी बनाया। अन्य प्रदेश अन्य पुत्रों को सौप दिए। उसने विलासवती से अतिघोर तपश्चर्या न करने को कहा। प्रातःकाल उसने पचपरमेष्ठी का ध्यान किया। (३१) पचपरमेष्ठी के गुणो का एव स्वरूप का ध्यान किया। (३२) इस तरह वह अपनी पत्नी सहित प्रातः उठा और अनुचरो को आज्ञा दी कि व्रत ग्रहण करने की पूर्व तैयारी करे। उन्होने स्नान किया, व स्नानालकार धारण किए और समस्त प्रजा को कष्ट में डुबा कर नगरी का त्याग कर गए। (३३) सब मनुष्यों को आश्चर्य था कि वे ससार का त्याग क्यों कर रहे है? (३४) कुछ ने सन्देह किया कुछ ने अभिनन्दन किया। अपने परिजनों सहित उसने दीक्षा धारण की। उसने अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया और विविध तपश्चर्या की। (३६) इस तरह उन्हें दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई, अनेक प्रदेशों मे धर्मप्रचार करते हुए वे सौराष्ट्र में शत्रुंजय पर्वत पर पधारे। उनकी आत्मभावना (ध्यान) क्षपकश्रेणी तक पहुँच गई। (३८) सनत्कुमार ने सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष पद प्राप्त किया। अन्य सभी ने विभिन्न स्वर्ग के पद प्राप्त किये।

रचयिता ने अपने जीवन के विषय में भी कुछ परिचय-तथ्य दिये हैं। (वे अन्यत्र उद्धृत किये गये है।)

अनुवादक—रामकुमार जैन एम. 'स्नातक'

साहित्यिक एवं सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र :

जयपुर के प्रमुख दि० जैन मन्दिर

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए., पी-एच. डी.

जयपुर नगर की स्थापना संवत् १७८४ मे हुई थी। उस समय देहली पर मुगलो का शासन था। लेकिन वह इतना शक्तिशाली नहीं था कि महाराजा सवाई जयसिंह जैसे वीर, पराक्रमी एव राजभक्त शासक को नवीन नगर बसाने से मना करता। इसलिए महाराजा सवाई जयसिह ने बडे उत्साह एव शास्त्र विधि से नवीन नगर की नीव रखी। नगर का मानचित्र पहिले ही तत्कालीन इजीनियरो के परामर्श से तैयार कर लिया गया था। नगर का पूरा निर्माण योजनाबद्ध रीति से हुआ इसलिए कुछ समय पश्चात् ही नगर की कीर्ति चारों ओर फैल गयी। विद्याधर नामक नगर शास्त्री ने इस नगर के बसाने मे सबसे अधिक योग दिया था। विद्याधर के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों का मत है कि वह जैन था और कुछ उसे वैष्णव मानते है। राजस्थान इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् कर्मठ जेम्स टाड ने विद्याधर को जैन माना है।

जैन कवि बखतराम साह ने अपने बुद्धि विलास (स० १८२७) मे जयपुर नगर के बसावट का पूरा वर्णन दिया है। उनके वर्णन से ऐसा मालूम पड़ता है कि नगर का निर्माण कार्य स्वय कवि ने अपनी आँखो से देखा था। जयपुर नगर का इस तरह का वर्णन बहुत कम विद्वानों ने किया है। आमेर और सांगानेर के मध्य मे बसा हुआ यह नगर देश के ही नही किन्तु विश्व के सुन्दरतम नगरो मे गिना जाता है। कविवर बखतराम के द्वारा वर्णित ६ पंक्तिया निम्न प्रकार हैं—

नगर बसायो यक नयौ, जयस्यध सवाई।
जाकी सोभा जगत मैं, दसही दिसि छाई।
सोहै अंबावती की दक्षिण दिसि सागानेरि,
दोऊ बीचि सहर अनोपम बसायो है।
नांम ताकौ धरयौ है सवाई जयपुर
मानौ सुरनि मिलि सुरपुर सौ रचायौ है॥

नगर निर्माण के साथ ही यहा तेजी से जैन मन्दिरो का निर्माण होने लगा। जैनो के लिए दो चौकडिया निश्चित की गयी। एक मोदीखाना दूसरा घाट दरवाजा। इसलिए सबसे अधिक मन्दिरों की सख्या इन्हीं चौकडियों मे मिलती है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कौन-सा मन्दिर प्रथम बना और कौन-सा बाद मे लेकिन उपलब्ध तथ्यो के अनुसार चौकड़ी मोदीखाना, मे पाटोदी का मन्दिर, लश्कर का मन्दिर, संघीजी का मन्दिर, तथा चौकडी घाट दरवाजा मे तेरहपथी बड़ा मन्दिर, गोधो का मन्दिर, बधीचन्द जी का मन्दिर, नगर के उन प्राचीन मन्दिरों मे से है जिनका निर्माण नगर स्थापना के १०-१५ वर्षों में ही हो गया था। ये सभी मन्दिर गत २-२॥ शताब्दियो से समस्त जैन समाज की गतिविधियो के केन्द्र बने हुए है।

जयपुर विशाल मन्दिरो का नगर है। मन्दिरो एव चैत्यालयो की संख्या यहाँ १५० से भी अधिक है। इनमे ५० जैन मन्दिर तो ऐसे है जो विशाल होने के साथ-साथ कलापूर्ण भी है। जैन श्रावको ने इनके निर्माण मे जिस श्रद्धा एव उदारता के साथ अपने द्रव्य का सदुपयोग किया है वह आज के समाज के लिए तो आश्चर्य की बात है। उन्होने इन मन्दिरो को सभी दृष्टियो से आकर्षक एव प्रभावक बनाने का प्रयास किया तथा समय-समय पर उनमे उत्सवादि करके उनकी लोकप्रियता मे कमी नही होने दी। यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि एक ही नगर मे दिगम्बर जैन मन्दिरों की जितनी सख्या जयपुर मे है उतनी सख्या देश के किसी नगर मे भी नही है। हो सकता है कि देहली जैसे नगर मे दिगम्बर जैन समाज की अधिक सख्या हो लेकिन मन्दिरों की संख्या की दृष्टि से जयपुर नगर का प्रथम स्थान है। और इसी-

लिए जयपुर को देश के इतर प्रदेशो मे जैनपुरी कहते है। उनके कहने में सचाई भी है क्योंकि जयपुर नगर में होने वाले विद्वानो ने प्रत्येक क्षेत्र में सारे देश की जैन समाज का नेतृत्व किया और साहित्य, संस्कृति एवं समाज सुधार मे उनका पथ प्रदर्शन किया।

जयपुर के ये जैन मन्दिर साहित्य एवं साहित्यकारो के लिए वरदान सिद्ध हुए। वे इनमे बैठकर अपनी ज्ञान पिपासा को ही शान्त नही किया करते थे किन्तु वहाँ नये-नये ग्रथो की रचना करके विलुप्त, अज्ञात तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थों को नष्ट होने से बचा लिया। वह युग भाषा टीका का युग था इसलिए जयपुर के इन विद्वानों ने पचासों ग्रन्थों की भाषा टीका करके देश मे स्वाध्याय के प्रति अपूर्व जाग्रति पैदा कर दी थी। इस जाग्रति की हवा सारे देश मे अत्यधिक शीघ्रता से फैली और समाज के सभी वर्गों में अध्ययन एव अध्यापन का प्रचार बढता ही गया। नगर के विद्वानो की प्रशसा सारे देश मे फैल गयी और देश के विभिन्न भागों से लोग इनके दर्शनार्थ आने लगे।

नगर के प्रथम विद्वान् पं० दौलतराम जी कासलीवाल का किसी विशिष्ट मन्दिर का संपर्क नहीं रहा। उन्होने अपनी किसी भी रचना में वहाँ के किसी एक मन्दिर का नामोल्लेख नहीं किया। इनके पदमपुराण मे केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि नगर मे स्थान-स्थान पर मन्दिर बने हुए है और उनमे प्रतिदिन सैकडो श्रावक पूजा पाठ करते रहते है।

ठौर ठौर जिन मन्दिर बनें।
पूजें तिनकू भविजन घनै।

वैसे तेरहपंथी का बड़ा मन्दिर इनका प्रमुख मन्दिर होना चाहिए। महापंडित टोडरमल्ल की साहित्यिक एव सामाजिक गतिविधियो के प्रमुख मन्दिर थे वधीचन्द जी का मन्दिर एव तेरहपंथी बडा मन्दिर। मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना वधीचन्दजी के मन्दिर मे बैठ कर की गयी थी। लेकिन ये शास्त्र प्रवचन करते थे बडे मन्दिर में। इसी तेरहपंथी मन्दिर में सामाजिक क्रान्ति की योजनाए बनती थी तथा भाई रायमल्ल एव तत्कालीन विद्वानो से एवं दीवान रतनचन्द्र जी से इसी मन्दिर मे तत्वचर्चा होती थी। उनके प्रमुख श्रोताओं मे अजबराय जी, तिलोकचन्द जी पाटनी, महाराम जी ओसवाल, त्रिलोकचन्द जी सोगानी, मोतीराम जी पाटनी, हरिचन्द जी, चोखचन्द जी, नेमचन्द जी पाटनी के नाम उल्लेखनीय है। पंडितजी के कारण जयपुर नगर के श्रावकों में एक अद्भुत जोश फैल गया था और वे अपने धर्म एवं साहित्य के लिए सब कुछ करने को तैयार थे। उनके युग मे एक बार इन विशाल जैन मन्दिरों को राज्य सरकार की ओर से नष्ट करने की योजना ही नही बनी किन्तु अनेक जैन मन्दिरों को नष्ट भी कर दिया गया। इस जघन्य कृत्य मे तत्कालीन राजगुरु श्याम तिवारी का प्रमुख हाथ था। बुद्धि विलास मे इस घटना का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। लेकिन दो वर्ष पश्चात ही जब महाराजा को वास्तविक तथ्य का पता लगा तो राजगुरु को ही देश निकाला दे दिया गया और जैन मन्दिरो का राज्य सरकार के खर्चे से निर्माण करवाया गया।

फुनि मत वरप डचौढ मैं थप्पौ,
मिलि सबही फिरि अरहंत जप्पौ।
लिये देहुरा फेरि चिनाय,
दै अ कोड प्रतिमा पधराय ॥१३०१
नाचन कूदन फिर बहु लगे,
धर्म मांझि फिरि अधिके पगे।
पूजत फुनि हाथी सुखपाल,
प्रभु चढाय रथ नचत विसाल ॥१३०२

—बुद्धि विलास

लूणकरण जी पांडया का मन्दिर पाडे लूणकरण जी का प्रमुख मन्दिर था। ये जैन सन्त थे तथा साहित्य सेवा में अत्यधिक रुचि रखते थे। इन्होंने अपने मन्दिर में एक शास्त्र भण्डार की स्थापना की थी जिसमें ८०० से अधिक हस्तलिखित ग्रंथों का अच्छा सग्रह है। आयुर्वेद, ज्योतिष एव मंत्र शास्त्र के ग्रंथो का भी यहाँ उल्लेखनीय सग्रह है। इसी तरह लश्कर का मन्दिर भी विद्वानों का केन्द्र रहा है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास की रचना इसी मन्दिर में बैठ कर की थी। कवि ने लश्कर के मन्दिर का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अब सुनिये भविजन बात ऐक,

देउरे बनें पुर मैं अनेक।
सोहत सुन्दर शिव विष्णु जैन।
तिनकी उपमा कहते न बनै।
परमत के नर नारी प्रवीन।
निज धर्म माहि निति रहै लीन।
तिन मांहि देहुरा इक विसाल।
तह राजत नेम मन्नू दयाल।
लसकरो नाम कहियत महान।
मनु रच्यौ विरंचि जु करि समांन।
मधि चौरी प्रभु को प्रमांन।
अति बनी फटिक सम लखि पखांन।
ता मांहि जटित है स्याम संग।
मनु लसत नील मनि अति सुरंग।
चित्राम बन्यौ तामैं अनूप।
लखि भविजन पावत निज सरूप।
पंडित तहं राजत है कल्यान।
बहु तरक न्याय बांचत पुरान।
निज धर्म कर्म मैं सावधान।
विन धर्म बात जिनकै न आन।
गुन कीरति इक मुनिवर महांन।
तप करत अधिक जिनमत पुरान।।

यह तो केवल एक मन्दिर का वर्णन है इसी तरह और भी मन्दिरो का वर्णन मिलता है। पाटोदी का मन्दिर भट्टारको का प्रमुख मन्दिर रहा है। इसका निर्माण जोधराज पाटोदी ने करवाया था। इसलिए धीरे-धीरे यह केवल पाटोदी के मन्दिर के नाम से ही जाना जाने लगा। वैसे आरम्भ मे इसका नाम आदिनाथ चैत्यालय था। आमेर से भट्टारक गादी का जब जयपुर मे स्थानान्तरण हुआ तो उन्होने इसी मन्दिर को अपना केन्द्र बनाया। उनके आने के पश्चात् दिगम्बर समाज की वीस पथ आम्नाय की गतिविधियो का यह मन्दिर प्रमुख केन्द्र बन गया। वैसे यह एक पचायती मन्दिर भी है। यहाँ भट्टारक गादी आने के पश्चात् क्षेमेन्द्रकीर्ति (स० १८१५) सुरेन्द्रकीर्ति (सवत् १८२३), सुखेन्द्रकीर्ति (स० १८६३) तथा नरेन्द्रकीर्ति स० १८७६) का भट्टारक गादी पर पट्टाभिषेक हुआ। इस प्रकार करीब १०० वर्ष तक भट्टारको का इस मन्दिर से सीधा सम्पर्क रहा। बखतराम साह ने बुद्धि विलास मे निम्न दो भट्टारकों का उल्लेख किया है---

पट्ट दोय पाये मुनिराय, नगर सवाई जयपुर आय।
इक खेमेन्द्रकीर्ति गुनपाल, अठारहमें पन्द्रह के साल।
तिनकै पटिराजै बुधिवान, सुरेन्द्रकीर्ति तम हर भान।
साल अठारह सै तेईस, भये भट्टारक महामुनीस।।

पाटोदी के मन्दिर मे इन भट्टारको द्वारा सस्थापित एक अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रथ सग्रहालय है। इसमे ढाई हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह है। यहाँ के ग्रन्थो की पूरी सूची एव विवरण राजस्थान के शास्त्र भण्डारो की ग्रथ सूची चतुर्थ भाग मे प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी की आदि कालिक रचना जिणदत्त चरित की पाडुलिपि इसी भण्डार म लेखक को उपलब्ध हुई थी इन भण्डारो की सैकड़ों कृतिया अत्यधिक महत्वपूर्ण है जिनका प्रकाशित होना आवश्यक है।

इसी तरह छोटे दीवान का मन्दिर प० जयचन्द जी छावडा एव उनके पुत्र नन्दलाल छावड़ा की साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। उस समय के विद्वानो मे नवलराम, डालूराम, मन्नालाल सांगाना के नाम उल्लेखनीय है। मन्दिर की प्रतिष्ठा सवत् १८६१ मे हुई थी। जिसका वर्णन स्वय जयचन्द छावडा ने अपनी सर्वार्थसिद्धि वचनिका मे निम्न प्रकार किया है।

करी प्रतिष्ठा मन्दिर नयौ, चन्द्रप्रभ जिन थापन थयौ।
ताकरि पुण्य बढौ यश भयौ,
सब जैननि को मन हरखयौ।।

प० जयचन्द जी छावड़ा के पुत्र नन्दलाल छावडा भी विद्वान् थे। अमरचन्द दीवान उनकी विद्वत्ता से काफी प्रभावित थे इन्ही की प्रेरणा पाकर नन्दलाल जी ने मूलाचार की भाषा टीका की थी। स्वयं प० जयचन्द जी को साहित्यिक क्षेत्र मे प्रविष्ट कराने का श्रेय इन्ही को है जिसका साभार उल्लेख पडित जी ने इस प्रकार किया है:—

नंदलाल अरो सुत गुनी, बालपनें तैं विद्या सुनी।
पंडित भयौ बडौ परवीन, ताहू नै यह प्रेरणा दीन।।

पिता द्वारा अपने पुत्र की विद्वत्ता की प्रशंसा करना

यह बतलाता है कि नन्दलाल छावडा अपने पिता से भी अधिक विद्वान् थे।

निगोत्यों का मन्दिर चौकडी घाट दरवाजा मे स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण एक विद्वान् श्रावक ऋषभदास निगोत्या द्वारा कराया गया था, जो प्राकृत, सस्कृत एव हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। मूलाचार की भाषा टीका इन्होंने इसी मन्दिर मे बैठ कर समाप्त की थी। इनके तीन पुत्र थे मानजीराम जी, दौलतराम जी एव पारसदास जी। ये तीनो ही भजनानन्दी थे। पारसदास विशेष पडित थे। तथा इनकी तत्कालीन विद्वानो मे अच्छी धाक थी। इन्होंने अपने पिता के अतिरिक्त प० सदासुख जी कासलीवाल से भी अध्ययन किया था। तेरहपंथी बडा मन्दिर मे ये प्रतिदिन शास्त्र पढा करते थे। पारसदास जी ने ज्ञानसूर्योदय नाटक की भाषा के अतिरिक्त कितने ही पदो की भी रचना की थी। पारस विलास मे इनकी लघु रचनाओ एव पदो का सग्रह है। सार चौबीसी इनकी एक बृहद् रचना है। जिसका रचनाकाल संवत् १६१८ है। बडी प्रसन्नता की बात है कि हमारे परम मित्र डा० गगाराम गर्ग पारसदास के पदों को लेकर डी. लिट् उपाधि के लिए हिन्दी के अन्य भक्ति परक पदों का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं।

मन्दिरो को केन्द्र बनाकर जिन विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की थी उस कडी के अन्तिम विद्वान् थे पं० सदासुख जी कासलीवाल। ये जैन ग्रन्थों के अपार ज्ञाता थे तथा साहित्य निर्माता भी थे। तत्त्वार्थसूत्र की अर्थप्रकाशिका टीका एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार की भाषा टीका इनकी प्रमुख रचनाओं मे से है। साहित्य निर्माता के साथ-साथ ये वक्ता भी अच्छे थे। इनके प्रवचनो को सुनने के लिए श्रोताओं की अपार भीड लगती, इसलिए इन्हे प्रात: और साय तीन मन्दिरो मे शास्त्र प्रवचन करना पड़ता था। पंडित जी ने जो अपना परिचय दिया है वह निम्न प्रकार है—

डेडराज के वंश मांहि इक किञ्चित ज्ञाता।
दुलोचन्द का पुत्र कासलीवाल विख्याता।
नाम सदासुख कहै, आत्म सुख का बहु इच्छुक।
सो सुख वानि प्रसाद विषय तै भयं निरिच्छुक॥

इसी तरह नगर के और भी मन्दिर है जो विद्वानों एव पडितो के केन्द्र रहे—इनमे होबियो का मन्दिर, जो बनेट का मन्दिर, पार्श्वनाथ का मन्दिर आदि के नाम उल्लेखनीय है।

मृण्मूर्ति-कला में नैगमेष

डा० संकटा प्रसाद शुक्ल, एम. ए., पी-एच. डी.

नैगमेष शिशु-जन्म से संबधित देवता माने जाते हैं। एक श्वेताम्बर जैन कथा के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से नैगमेष ने ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से भगवान् महावीर को हटाकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापना भी की थी। इस कथानक का चित्रण एक कुषाण कालीन मथुरा से उपलब्ध पाषाणपट्ट पर प्राप्त है[1] जिसमे अजमुखी नैगमेष एक आसन पर बैठे है। साथ ही अकित अभिलेख मे उन्हें भगवा नै कहा गया है।

नैगमेष की उपासना का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[2] के खिल भाग मे आया है। यह स्थलीपाक आदि से विधिपूर्वक पूजित होने पर शिशुओं के प्रति दयालु हो जाते है। नैगमेष शब्द ('नेज' का अर्थ स्नान कराना तथा मेष का मेढा से है) का अर्थ उस मेष से लिया जाता है जिस पर शिशु

१. स्मिथ, वी० ए० दि० जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वेटीज आफ मथुरा पृ० २५, न प्ले० १८।

२. ऋग्वेद, ३०.१।

को बिठलाकर स्नान करायी जाती है।[३] आज भी कर्ण-वेध-संस्कार के अवसर कुछ स्थानों पर ऐसी ही प्रथा मनायी जाती हैं।

गृह्यसूत्रों मे नैगमेष—पूजा का विशेष विवरण उपलब्ध है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[४] के अनुसार सीमान्तोन्नयन संस्कार के चतुर्थ मास नेजमेष की पूजा अन्य देवताओं के साथ की जानी चाहिए। नैजमेष अथवा नैगमेष देवता स्कन्द का ही रूप है जिन्हे शिव-पार्वती का पुत्र माना जाता है। महाभारत[५] मे स्कन्द का संबन्ध दुष्ट ग्रहों के साथ मिलता है जो शिशुओ के प्रति अनुकूल नही होते है। एक प्रसंग[६] में स्कन्द द्वारा मातृदेवियो को १६ वर्ष तक की आयु के बच्चो के हरण (विनाश) की अनुमति प्रदान करने का उल्लेख है। सुश्रुत सहिता मे भी नैगमेष का बालग्रहों तथा स्कन्द, अपस्मार और विशाख के साथ उल्लेख है।[७] प्राचीन काल मे नैगमेष देवता की पर्याप्त लोकप्रियता थी। महामयूरी[८] मे तो नैगमेष को पाचाल-राज्य की राजधानी अहिच्छत्रा का यक्ष माना गया है।

नैगमेष-उपासना का शनैः शनैः विकास हुआ। सर्वप्रथम शिशु के स्नान के संबंध में, फिर नैगमेष अथवा नैगमेय अर्थात् वणिजों के देवता के रूप मे और अन्ततः हरिणैगमेषी अथवा इन्द्र देव के प्रमुख सहायक के रूप में मान्यता मिली।[९]

प्राचीन काल में नैगमेष देवता की आकृतियां बकरी के सिर से युक्त मिलती है। मथुरा की कुषाण-कला मे उनकी अनेक मूर्त्तिया उपलब्ध है।[१०] प्रायः अंक मे शिशु बैठाये दिखलाया गया है।

प्राचीन मृण्मूर्ति कला में नैगमेष की अपेक्षा नैगमेषी की आकृतियों का बाहुल्य है। उत्तरी भारत के कई प्राचीन स्थानो से इनकी मृण्मूर्तिया पायी गई है। अहिच्छत्रा से प्राप्त नैगमेष के नेत्र बकरी जैसे है और उनका मुख छोटा है तथा सिर मेहराब की आकृति जैसे है।[११] राज्य-सग्रहालय, लखनऊ के सग्रह में नैगमेषी की कई मृण्मूर्तिया सगृहीत है।[१२] इनमे से कुछ की आकृति स्त्री के मुख से बहुत कुछ समानता रखती है किन्तु कान अत्यधिक लम्बे दिखलाये गये हैं। मथुरा से प्राप्त एक उदाहरण मे नैगमेषी की आकृति बकरी जैसी ही है।[१३] डॉ० अग्रवाल[१४] ने इन स्त्री आकृतियो की पहिचान षष्ठी देवी से की है। षष्ठी देवी को स्कन्द की पत्नी माना जाता है और नैगमेष, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, स्कन्द का ही एक रूप है।

उत्तरी भारत के अनेक स्थानों यथा—मथुरा, अहिच्छत्रा, भीटा और राजघाट इत्यादि स्थानो से नैगमेष। नैगमेषी की मृण्मूर्तियों की उपलब्धि इस देवता की लोकप्रियता की परिचायक है। अहिच्छत्रा के उत्खननों से इस प्रकार की मृण्मूर्तियो की तिथि प्रायः ४५०—६५० ईसवी निर्धारित की गई है[१५] किन्तु कुमराहर (पटना) के पुरातात्विक स्तरीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नैगमेष/नैगमेषी की मृण्मूर्तियों का निर्माण ईसा की प्रारम्भिक शतियों से प्रारंभ हो गया था क्योंकि वहाँ से १००—३०० ईसवी के स्तर से वह पर्याप्त मात्रा मे पायी गई है।[१६]

३. अग्रवाल, पृ० कु०, स्कन्द-कार्तिकेय, वाराणसी पृ० ५२।

४. आश्व० गृ०, (से० आनन्द शास्त्री,) कलकत्ता, १.१४.३, पृ० ६३-६४।

५. महाभारत, आदि० ६६.२४; आरण्य० २३७.१३।

६. वही, आरण्य० २२७.१३।

७. सुश्रुत सहिता (स० नारायण राम आचार्य) बबई, १९४५, अ० २७.४.५, पृ० ८२२।

८. दृष्टव्यः कुमारस्वामी, यक्षाज पृ० १२।

९. अग्रवाल पृ० १ कु०, स्कन्द कार्तिकेय, पृ० ५२।

१०. अग्रवाल, वा० श० मथुरा म्यूजियम कैटलाग भाग २, पृ० ३२ तथा आगे।

११. राज्य-सग्रहालय, लखनऊ, स० ४२.२।

१२. उपर्युक्त, स० ४६८, ०.३२०।

१३. उपर्युक्त, सं० ०.३२१।

१४. एन्शेन्ट इंडिया सं० ४, १९४८, पृ० १३५।

१५. वही, पृ० १३४।

१६. अल्टेकर तथा अन्य, रिपोर्ट आन कुमराहर एक्सकेवेशन्स १९५१-५५, पटना, १९५९, पृ० ११०।

नलपुर का जैन शिलालेख

श्री रतनलाल कटारिया

गतांक मे २० श्लोक तक का हिन्दी अनुवाद दिया गया है शेष ५० श्लोको का हिन्दी अनुवाद नीचे प्रस्तुत है :—

गतांक मे मुद्रण की कुछ गलतिया हो गई है जिन्हे पाठक इस प्रकार संशोधित कर ले :—

श्लोक नं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	ससेविवितु	संसेवितु
६	सव्वत:	सर्व्वत:
८	पयोष	प्लोष
१२	किन्तु	किन्नु

(मदाक्रांता छद)

नानादानावसरविसरत्कल्पनावारिभिस्ते
भूय: पंकां यदियमवनिं त्वदयश: श्रीर्भ्रमित्वा ।
भेजे देवप्रवरभवनं चन्द्रपीयूषकुण्डे
धौतांह्रि: सन्मृगमिषमहापंकि तज्जैत्रसिंह ! ।।२१।।

अर्थ :—हे जैत्रसिंह ! आपकी यह कीर्ति-लक्ष्मी, आपके अनेक दानो के अवसर पर फैलने वाले सकल्प के कारण अत्यधिक कीचड से युक्त इस पृथ्वी पर भ्रमण कर, चन्द्रमा रूपी अमृत कुण्ड मे पैर धोकर जिन-मन्दिर को प्राप्त हुई इसी से वह चन्द्रकुण्ड विदयमान मृग के बहाने बहुत भारी कीचड से युक्त है ।

(**विशेष** :—जैत्रसिंह की कीर्ति पृथ्वी से गगन मंडल तक दिग्दिगंत मे फैलकर फिर जिन मन्दिर मे आकर स्थिर हुई । जिन मन्दिर मे बिना पैर धोये प्रवेश नही किया जाता, अतः यश: श्री ने चन्द्र रूपी अमृत कुण्ड मे पैर धोये इससे पैर की कीचड़ कुण्ड मे रह गई । चन्द्रमा मे जो मृग-चिह्न (कालिमा) है वह मानो वही कीचड़ है । अमृत कुण्ड में पैर धोने से यशोलक्ष्मी का अमरत्व भी द्योतित किया गया है ।

पहिले दानी, जल की धारा छोड़ते हुए दान का सकल्प करते थे यह पद्धति "कल्पना वारिभि:" से व्यक्त की गई है ।)

(उपजाति)

नाकेशवत्केशवदेवनामा, नित्यं सुधर्माश्रयवर्धितश्री: ।
यस्या: पिता सा कुलधर्महर्म्यं, विराजति श्रीर्दयिता तवीया ।। २२ ।।

अर्थ—देवतुल्य और सदा सद्धर्म (अथवा सुधर्मा= देवसभा) के आश्रय से बढी है शोभा जिनकी ऐसे केशव देव नाम के जिसके पिता है ऐसी कुलधर्म की महल श्री= लक्ष्मी देवी उन जैत्रसिंह की धर्मपत्नी है ।

सा सप्तगोत्रस्थिति सप्तभौमा, साध्वाकृतीन्सप्तसुतानसूत ।
महारथे श्रीजिनधर्मभानोराबिभ्रत: सप्ततुरंगभंगी ।।२३।।

अर्थ—सातवंशो की स्थिति के लिए सात भूमिका का रूप उस लक्ष्मी देवी ने सुरूपवान् सात पुत्रों को जन्म दिया जो मानों श्री जिनधर्म रूपी सूर्य के महान् रथ मे जुते हुए सात भग रूपी सात तुरग–घोडे ही है ।

(अनुष्टुप्)

तेषामुदयसिंहाख्यो, मुख्य: सिंह इवैधते ।
निर्भिदत्र कलिकालेभं, कीर्तिमुक्तावली: किरन् ।।२४।।

अर्थ :—उनमे सबसे बडा उदयसिंह है जो कलिकाल रूपी हाथी को चीरकर कीर्ति रूपी गज मुक्ताओ को बिखेरने वाला उदयत सिंह ही है ।

(वसततिलका)

अद्यापि किं दहति दूरदरिद्रमुद्रा,
विश्वं विभाति मयि दौस्थ्यवनैकदावे ।
किं दक्षिणस्तुवनपाणिरितीव,
कोपादुज्ज्वलीत्युदयसिंह सशोणशोचि: ।।२५।।

अर्थ :—दरिद्रता रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल स्वरूप मेरे विराजमान रहते हुए क्या अब भी अत्यन्त दारिद्रय मुद्रा संसार को जला रही है ? तो

उदार स्वभाव (दान वीरता) से क्या ! इस प्रकार वह तेजस्वी उदयसिंह (दान का संकल्प करने के लिए) जल हाथ में लिए हुए मानो क्रोध से तमतमा रहा है।

(**विशेष** :—विभाति सति, सप्तम्यन्त प्रयोगः। संशोणशोचिः=लाल प्रभा से युक्त अर्थात् तेजस्वी। दक्षिणः= उदार स्वभाव; —देखो 'पदचन्द्र कोष')

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वा सागरमिन्दुभालगरलं नित्यं ज्वलत्कौस्तुभ-
स्वाहावल्लभमाविहाय भुजयोर्मध्यं मुरारेरपि।
शश्वद्याति शिलीमुखालि विषमादम्भोरुहाद्बिभ्यती
धावात्यौदर्यसिंहमस्तदुरितं धाम प्रति श्रीर्ध्रुवम् ॥२६॥

अर्थ :—समुद्र मे कालकूट बिष होने के कारण और विष्णु का वक्षःस्थल कौस्तुभमणि रूपी अग्नि से नित्य प्रज्वलित रहने के कारण तथा कमल भ्रमर समूह से छेड़े जाने के कारण इन तीनों को छोडकर वास्तव मे लक्ष्मी सब आपत्तियों से रहित ऐसे उदयसिंह के घर की ओर ही दौड रही है।

(**विशेष** :—लक्ष्मी का निवास, समुद्र, बिष्णु का वक्षःस्थल और कमल इन तीन मे प्रसिद्ध है। इन्दुभाल= शिव। पौराणिक कथा है कि—शिवजी ने सागर-मथन से निकले काल कूट विष को पिया था)।

(उपजाति)

शृंगारसिंहस्तदनूज्जिहीते, शृंगाररत्नं सुविवेकभाजां।
ततोऽनुभूराजित राजसिंहः, कलानिधानं सुकृतैकतानः ॥२७

अर्थ :—उदयसिंह के बाद (दूसरा पुत्र) शृंगार सिंह हुआ जो विद्वद् शिरोमणि था उसके बाद पृथ्वी की शोभा-स्वरूप राजसिंह (तीसरा पुत्र) हुआ जो कलाओ मे पार-गत और सत्कार्य मे सदा लवलीन रहने वाला था।

तस्यानुजन्मा सुकृतार्थजन्मा, सन्मानसः खिल्लति वीरसिंहः।
यशः पराभूतसुधांशुधामा, तस्यानुजो लक्षणसिंह नामा ॥२८

अर्थ :— उसके बाद कृतकृत्य जन्मवाला और निर्मम हृदय वाला वीरसिंह (चौथा पुत्र) हुआ। यश से पराजित कर दिया है चन्द्रमडल को भी जिसने अर्थात् धवलकीर्ति वाला लक्षण (लक्खा) सिंह नाम का (पाचवा पुत्र) हुआ।

(**विशेष** :—सन्मानसः सुमनः=पुष्प, खिल्लति= खिलता है 'यह भी भावगर्भित है")

(अनुष्टुप्)

आस्ते विपश्चितां रत्नं, रत्नसिंहस्तदान्तिमः।
लघुर्नयनसिंहाख्यस्तस्मादप्यलघुर्गुणैः ॥२९॥

अर्थ :—तदन्तिम—उसके बाद (छट्ठा पुत्र) विद्वद्-रत्न रत्नसिंह हुआ और (सातवा पुत्र) नयनसिंह हुआ जो सबसे छोटा होते हुए भी गुणो से बडा था।

साधोरुदयसिंहस्य, सारिष्टाङ्गगुणिर्वधूः ?
चतुरश्चतुरम्भोधिविश्रुतान्सुषुवे सुतान् ॥३०॥

अर्थ—साहू उदयसिंह की पत्नी ने चारसागर विख्यात चार पुत्रो को जन्म दिया।

कर्मसिंहः पुरस्तेषां देहसिंहस्ततोऽनुजः।
तृतीयः पदमसिंहाख्यो धर्मसिंहश्चतुर्थकः ॥३१॥

अर्थ :—उनमे पहला कर्मसिंह दूसरा देहसिंह तीसरा पदमसिंह और चौथा धर्मसिंह था।

भार्ये शृंगारसिंहस्य शोभालदुअडाभिधे।
प्रेयसी राजसिंहस्य पदमा पदमालयाकृतिः ॥३२॥

अर्थ :—शृंगार सिंह के शोभाल और दुअडा नाम की दो पत्नियां थी और राजसिंह के लक्ष्मी स्वरूपा पदमा नाम की पत्नी थी।

नाम्ना विजयदेवीति वीरसिंहस्य गेहिनी।
पवित्रचरितस्तस्याः क्षेमसिंहस्तनूरुहः ॥३३॥

अर्थ :—वीरसिंह के विजयदेवी नाम की गृहिणी थी जिसके क्षेमसिंह नाम का सदाचारी पुत्र था।

अन्यदा धन्यधीः स्वान्ते जैनसिद्धांतपारिते।
जैत्रसिंहः प्रबुद्धात्मा चिन्तयामासिवानिति ॥३४॥

अर्थ :—किसी दिन धन्यबुद्धि-प्रबुद्धात्मा जैत्रसिंह ने जैन सिद्धान्त मे पारगत अपने हृदय मे इस प्रकार विचार किया।

(इन्द्रवज्रा)

नित्यैक जैनेन्द्रकृत प्रतिष्ठो, विलसस्ततोऽभूवणगोगुणज्ञः।
साकंभरी नाथकृत प्रसिद्ध, क्षेमंकराख्यः पुरुषोत्तमःप्राक् ॥३५

(उपजाति)

अस्मत्कुलालंकृतये बभूवुरन्येऽपि धन्या इति जैत्रसिंहः।
विमृश्य तन्नाम नवीचकार पलासकुंडे कृतजैनसौधः ॥३६॥

अर्थ :—नित्य ही एक जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले विल्ह हुए उनके बाद गुणज्ञ अणग हुए तथा साभर के नृपति से प्रसिद्धि को प्राप्त (अथवा साभर-राज को प्रसिद्ध करने वाले) नरपुंगव क्षेमंकर हुए। हमारे कुल को सुशोभित करने वाले पहिल और भी बहुत से धन्य पुरुष हुए। इस प्रकार बार-बार विचार कर जैत्रसिह ने पलास कुन्ड के पास जैन मन्दिर बना कर उक्त पूर्वजो के नाम को उजागर किया।

(मदाक्राता छंद)

व्योमाभोगात्किमयमरद्वीपिनीवारिपूरः
पृथ्वीपीठे पतति यदि वा तुंगमीशाद्रिश्रृंगं।
वेलाशैल: किमुत धवल:क्षीरसिंधूर्मि धौतम्
नो न श्रीमज्जिनवरगृहं राजते जैत्रसिंहं ।।३७।।

अर्थ : —आकाश मार्ग से क्या यह सुरगंगा का जल-प्रवाह ही पृथ्वी पर गिर रहा है अथवा समुन्नत हिमालय कैलाश का शिखर ही है या—क्षीरसागर की कल्लोलो से घोया हुआ धवल वेलाचल ही है? नही, नही यह तो जैत्रसिह के द्वारा बनाया हुआ श्री जिनमन्दिर सुशोभित हो रहा है।

(**विशेष** :—चतुर्थ चरण मे नो और न दोनो अव्यय है जिनका अर्थ "नहीं" है। न+ऊन=नौन=कम नही अर्थात् विशिष्ट इस अर्थ मे श्रीमान् का भी विशेषण हो सकता है।

(उपजाति)

श्रीपौरपाटान्वयजैनवर्गधुरंधरः श्रीधरबधुसूनुः।
अखडधी: पंडितपुंडरीकखडश्रिये हसति नागदेवः।।३८।।

अर्थ :—पौरवाट जाति के जैनो के नेता, श्रीधर के भाई के पुत्र, अखंड बुद्धि, पडित रूपी कमल समुदाय की शोभा के लिए हंस के समान नागदेव हुए।

(**विशेष** :—खड=समूह। हसति=हस इव आचरति (नामधातु)।

तस्यानुजौ चाहडगांगदेवौ, स्वकीर्तिवाचालितनागदेवौ।
सुतावुभावादिम आम्रदेवः, कम्राकृतिस्तल्लघु सोमदेवः।।३९

अर्थ :—उनके दो छोटे भाई थे—चाहड और गाग-देव जिन्होने अपनी कीर्ति से नागदेव को भी वाचालित कर दिया था। नागदेव के दो पुत्र थे पहिला आम्रदेव और उससे छोटा सुदर आकृति वाला सोमदेव।

(अनुष्टुप्)

श्रितमाहेन्द्रमुद्रेण, नागदेवमनीषिणा।
प्रतिष्ठात्र कृता चैत्ये, निधीन्द्वग्नीन्दुवत्सरे ।।४०।।

अर्थ :—महेन्द्र बनकर विद्वान् नागदेव ने १३१९ सवत् मे इस चैत्यालय मे प्रतिष्ठा की।

(**विशेष** :—निधि का अर्थ ९ इन्दु का १ अग्नि का ३ और इन्दु का १ है। 'अकाना वामतो गति:" इस नियम से १३१९ सवत् होता है)

(वसततिलका)

दुर्वादिगुर्व्वगुरुपर्वतवज्रदण्डः।
श्रीखडकीर्तिमहिमामरकीर्तिदेवः।
बोधामृतार्णवविधुश्च वसंतदेवः।
प्रातिष्ठ कृत्य विषयेऽत्र गुरुर्बभूव ।।४१।।

अर्थ :—कुवादि रूपी छोटे-बडे सभी पर्वतो के लिए वज्रदण्ड रूप, धवल कीर्ति वाले, महिमाशाली अमर कीर्ति देव तथा ज्ञानामृत रूपी सागर के लिए चन्द्रस्वरूप वसत देव इस प्रतिष्ठा विषयक कार्य मे गुरु बने।

(उपजाति)

श्री जैसवालान्वयपारिजात-बाल प्रवालश्चरितार्थनामा।
प्रफुल्लयन्नुल्वणकीर्तिवल्ली., श्रेष्ठीधनी राजति माधवाह्वः,

अर्थ :—जैसवाल वश रूपी कल्पवृक्ष की छोटी सी कोपल, यथा नाम तथा गुण, उच्चकीर्तिवेल को विकसित करने वाले, धनीसेठ माधवराज हुए।

(अनुष्टुप्)

तत्सूनुर्देवसिहाख्यः, श्रीणां लीलानिकेतनम्।
गुणकैरवपर्वेन्दुः, श्रद्धावल्लिनवाम्बुदः ।।४३।।

अर्थ :—उनका पुत्र देवसिह हुआ जो लक्ष्मी शोभा की लीला-भूमि था एव गुण रूपी समुद्र के लिए पूर्णिमा का चाद था तथा श्रद्धा रूपी वेल के लिए नवीन मेघ था।

वीराख्या गृहिणी तस्य, धीरौ तत्तनयावुभौ।
प्राक् सलक्षणसिहाह्वः, कृत्यसिहस्ततः परः ।।४४।।

अर्थ :—उन देव-सिह के धैर्यशालिनी वीरा नाम की पत्नी थी, उनके दो पुत्र थे पहला सलक्षणसिह, दूसरा कृत्यसिह।

जसे साधुतनूजन्मा, साधुर्विजयदेवकः ।
शृंगारदेवी तज्जाया, निर्माया धर्मकर्मसु ।।४५।।

अर्थ—जस्सा साहू का पुत्र विजय देव साहू था जिसकी पत्नी शृंगार देवी थी जो धर्म-कर्म मे छल-प्रपञ्च रहित थी।

तद्गर्भसंभवौ शोभावैभवध्वस्तमन्यथौ ।
सनाथौ तनयौ भातः सहदेवाम्रदेवकौ ।।४६।।

अर्थ—उन शृंगारदेवी के गर्भ से उत्पन्न सहदेव और आम्रदेव दो पुत्र थे जो युगल थे (साथ-साथ पैदा हुए थे) और जिन्होने अपने शोभावैभव से कामदेव को भी तिरस्कृत कर दिया था।

जाजे श्रेष्ठी सतां श्रेष्ठ., परवाटकुलाग्रणीः ।
कलिसंतापितक्षोणी चन्दनीकृतकीर्तिकः ।।४७।।

अर्थ—परवाड वंश के नेता, सज्जनोत्तम जाजे नाम के सेठ थे जिन्होंने कलिकाल से सतप्त पृथ्वी को सुशात कर कीर्ति पाई थी।

सहदेवः समाधुर्य-वाचावर्षः कलाविदां ।
अनध्यायः कुकृत्यानामसत्यानामनास्पदम् ।।४८।।

अर्थ—सहदेव कलावंतों के लिए मधुर वाणी की वर्षा करने वाले थे। दुराचार का जिन्होने कभी पाठ ही नही पढ़ा था और झूठ से जो कोसों दूर रहते थे।

(वसंततिलका)

सव्येतरप्रवरपाणिसरोजबंध-
निस्यंदमानधनदानजलेन जाते
जंबालभूमनि यशःसितपंकजाली
मेनाकसाधुरनुवर्धयते धरित्र्याम् ।।४९।।

अर्थ—बाये तथा दायें दोनो हस्त कमलों के बन्ध अर्थात अजलि से चूने वाले विपुल दान जल के द्वारा उत्पन्न बहुत भारी कीचड मे मैनाक साहू के यशरूपी सफेद कमलो की पक्ति पृथ्वी पर ज्यों-ज्यो मैनाक सा बढने लगे त्यो-त्यों वह भी बढ़ने लगी।

(स्वागता)

आहडः स्फटिकशैल इवास्ते, शकरं शिरसि धारयमाणः ।
मानसेन विमलेन पवित्रश्चित्रमेष न तु कूटसमेतः ।।५०।।

अर्थ—आहड़ साहू हिमालय पर्वत के समान थे, हिमालय शकर यानी शिवजी को धारण करने वाला है जबकि ये आहड़ साहू शिर पर भाल पर शकर यानी चन्दन को धारण करने वाले थे। अथवा शिर पर शकर यानी जिनेन्द्र को धारण करने वाले थे। हिमालय निर्मल मानसरोवर से पवित्र है जबकि आहड़ साहू निर्मल मानस-हृदय से पवित्र थे फिर भी आश्चर्य है कि—हिमालय तो कूट=शिखर समेत है किन्तु आहड साहू कूट=कुटिलता युक्त नही थे।

(अनुष्टुप्)

सुवर्णं चरितं यस्य कलिकालकषोपले ।
शुद्धिं दधाति साधूनां चाहडः सैष शेखरः ।।५१।।

अर्थ—कलिकाल रूपी कसौटी पर जिनका चरित्र सुवर्ण की तरह निर्दोष=खरा उतरता है ऐसे वे साहुओं के मुकुट चाहड़ थे।

(शालिनी)

······मानि ज्वालावीचिसाधुः
सर्वज्ञांह्रि स्मेरस्वम्भोजभृंगः ।
दानी मानी कीर्तिकान्त्या हिमानी
जेता नेता धीमतां धौतचेताः ।।५२।।

अर्थ—वीचि साहू थे जो मानियों के लिए ज्वाला स्वरूप थे तथा सर्वज्ञ के चरण रूपी विकसित सुन्दर कमलों के मानों भ्रमर थे। एव दानी, स्वाभिमानी और कीर्ति की कांति से हिम श्रेणी थे, विजेता और विद्वानों के नेता एव पवित्र चित्त थे।

(इन्द्रवज्रा)

गंभीरताधः कृतनीरनाथः स्थैर्येण संतर्जितसानुचूलः ।
दानावदानैर्बलिराजकल्पस्तल्पश्रिया नंदति साधुवीचि. ।।५३

अर्थ—गम्भीरता से तिरस्कृत कर दिया है समुद्र को भी जिन्होने तथा स्थिरता से पराजित कर दिया है पर्वत को भी जिन्होने एव दान कार्यो मे राजा बलि के तुल्य ऐसे वीचि साहू सुन्दर-सुन्दर स्त्रियों से आनदित थे।

(अनुष्टुप्)

साधुराभः पराभूतकुतीर्थपथसंकथः ।
हृदि सर्वज्ञरक्तेऽपि धत्ते वैमल्यमद्भुतम् ।।५४।।

अर्थ—आभ नाम के साहू थे जिन्होंने कुधर्म मार्गों की चर्चा को समाप्त कर दिया था और जिनका हृदय सर्वज्ञ में रक्त=लवलीन रहने पर भी अद्भुत विमलता

को धारण करता था अर्थात् रक्त=लाल (मैला) नहीं हुआ था।

माढचाहडनामानौ, गाढरक्तौ जिनाध्वनि।
गुणकेतकविस्मेरभाववर्षागमोपमौ ॥५५॥

अर्थ—माढ और चाहड नाम के साहू थे जो जिन-मार्ग मे प्रगाढ भक्ति रखने थे। और जो गुणरूपी केतकी के विकसित करने मे (खिलाने मे) वर्षाऋतु के समान थे।

(विशेष—विस्मेर भाव=विस्मेरता (भावे क्तः) विकाशिता।)

शक्रः श्रावकचक्रस्य, ग्रामणीः गुणशालिनां।
पंडितः खंडिताशेषविपथः श्रीहुलाभिधः ॥५६॥

अर्थ—श्री हुल नाम के साहू थे जो श्रावकसंघ के इन्द्र थे और गुणियों के नायक थे तथा पडित थे जिन्होंने सम्पूर्ण कुमार्गों को खंडित कर दिया था।

तमश्च्छेदविधिच्छेकमाबिभ्राणः सुदर्शनम्।
सत्यो नारायणः श्रीमान् भाति माथुरवंशजः ॥५७॥

अर्थ—श्रीमान् माथुरवशी सत्यनारायण थे जो मिथ्यान्धकार को छेदन करने की विधि मे कुशल ऐसे सम्यक् दर्शन को धारण करने वाले थे।

(विशेष—सत्यनारायण=श्रीकृष्ण के साथ इस प्रकार अर्थ होगा—श्रीमान्=लक्ष्मीपति। माथुरवंशज=मथुरा मे उत्पन्न, मथुरा वासी। सुदर्शन आबिभ्राणः=सुदर्शनचक्र को धारण करने वाले। तमश्छेदविधिच्छेकं=जयद्रथ वध मे सुदर्शनचक्र को सूर्य पर से हटा कर दिन कर दिया था—यह सुदर्शनचक्र का विशेषण है।)

साधुः कुलधरः शम्भु बुधश्च भृगुनन्दनः।
सौजन्यवल्लिपर्जन्यः, संन्यस्ताखिलदूषणः ॥५८॥

अर्थ—सज्जनता रूपी बेल के लिए मेघ स्वरूप, समस्त बुराइयों से रहित कुल के रक्षक, भृगु के पुत्र=भार्गववशी विद्वान् शम्भु साहू थे।

जौणपालः कृपालूनां धुरि धर्मसुधाम्बुधिः।
प्रह्वस्तिहुणपालाह्वः श्रीजिनाराधने धनी ॥५९॥

अर्थ—दयालुओं मे मुख्य और धर्मामृत के सागर जौणपाल सेठ थे तथा श्री जिनेन्द्र की भक्ति में आसक्त तिहुणपाल सेठ थे।

(विशेष—प्रह्व=आसक्त।)

सप्तव्यसनसप्तार्चिः संतापशमनाम्बुदौ।
धर्मकर्मणि धौरेयौ, साधू, माधव राशलः ॥६०॥

अर्थ—सात व्यसन रूपी आग के संताप को शात करने के लिए मेघ स्वरूप, धर्म कर्म मे अग्रणी माधव और राशल नाम के दो साहू थे।

कृपाव्रततिजीमूतः पूतधीः साधु···विधः ॥
तेजू नामा सुधीः पात्रं यशसां शशितेजसां ॥६१॥

अर्थ—कृपा रूपी बेल के लिए मेघ स्वरूप, पवित्र बुद्धि, तेजू नाम के विद्वान् साहू थे जो चन्द्रतेज के समान (श्वेत) यश के पात्र थे।

(विशेष—व्रतति=बेल।)

साधुमालूसुतौ सत्यशीलौ छीहुलवीहुलौ।
प्रणीतविबुधानंदौ, गीर्वाणभिषजाविव ॥६२॥

अर्थ—साहू मालू के पुत्र सत्यवादी छीहुल और वीहुल थे जो विद्वानों को आनंद पहुँचाने वाले एव अश्विनीकुमारों के तुल्य थे।

विशेष—अश्विनीकुमारो के साथ "प्रणीत विबुधानदौ" का अर्थ है विबुध=देवो को आनन्द पहुँचाने वाले। क्योकि अश्विनीकुमार सुरवैद्य है।)

(रथोद्धता)

पौरपाटकुलविन्ध्यभूधरे भद्रजातिमहिमन्युदीयते।
उद्यशः कुसुमसौरभ दिशामर्पयन्नवितथोऽयमद्भुत ॥६३॥

अर्थ—श्रेष्ठ जातियो से महिमाशाली पौरवाड वश रूपी विध्याचल मे उदीयमान यशरूपी फूलो की सुगध को चारो ओर फैलाते हुए ये 'अद्भुत' नाम के साहू उदित हुए।

(विशेष—विंध्याचल के पक्ष मे "भद्रजाति महिमनि" का अर्थ इस प्रकार है। भद्र=चदन, सोना आदि की उत्पत्ति से महिमाशाली। भद्रजाति=उत्तम जायफल, मालती चमेली आदि से महिमा शाली।)

(अनुष्टुप्)

एतेऽस्मिन्नाहते व्यक्ताः, जैनार्च्चालयकारिणः।
वर्द्धन्तां गोष्ठिकाः पुण्यवनकन्दलानां बुदाः ॥६४॥

अर्थ—इस उत्कीर्ण शिलालेख मे वर्णित, पुण्य रूपी वन के नवांकुरों के लिए मेघरूप, एक गोठ के, ये सब

जिनमन्दिर बनाने वाले सेठ साहूकार खूब बढ़े—वैभव-सपन्न हों।

(उपजाति)

चंद्रांशुमत्कुण्डलमंडितेयं, तारालिमुक्ताफलहारयष्टिः।
चकास्ति यावद् गगनस्य लक्ष्मीर्जैनालय नन्दतु तावदेतत् ॥६५

अर्थ—जब तक यह आकाशलक्ष्मी चन्द्र सूर्य रूपी कुण्डल से मंडित और तारागण रूपी मोतियो के हार से सुशोभित है तब तक यह जिनालय शोभायमान रहे।

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्ते केशगणारविन्दतरणिः श्रीदेवगुप्तप्रभुः।
व्याख्यानक्षणतोषितक्षितिपतिः श्वेतांबरव्याकुलः।
आसीदुग्रसमग्रवादिकरटिश्रौदैकपंचानन-
स्तत्पादाम्बुजराजहंसमहिमा श्रीवीरचन्द्र. कविः ॥६६॥

अर्थ—केशगण रूपी कमलों के लिए सूर्य, व्याख्यान के अवसर पर राजाओं को सन्तुष्ट करने वाले, जिनसे श्वेताबर व्याकुल रहते थे और जो समस्त उग्रवादी रूपी हाथियों के लिए कालरूप एक ही सिंह थे ऐसे श्री देवगुप्त स्वामी थे उनके चरण कमलो की शोभा के लिए राजहस रूप श्री वीरचन्द्र कवि थे।

तस्माज्जंगमभारतीति जगति ख्याताभिधानाद्गुरो-
र्वीरेन्दोरधिगत्य सत्यमहिमभ्राजिष्णुः सारस्वतम्।
संसिद्धांबरसिंधुबंधुरगिरां शुद्धिः सुधानीरधी:
श्रांतः प्रोतपदां प्रशस्तिमकृत श्रीदेवचन्द्रः कृती ॥६७॥

अर्थ—उन "जगम भारती" (चलती-फिरती सरस्वती) इस प्रकार विख्यात नाम वाले गुरु वीरचन्द्र से साहित्यिक ज्ञान प्राप्त कर (सिद्ध सारस्वत होकर) सत्य महिमा से दैदीप्यमान विद्वान् श्री देवचन्द्र ने परिश्रम से गूंथे गये हैं पदवाक्य जिसमें ऐसी इस प्रशस्ति को बनाया।

(अनुष्टुप्)

वास्तव्यान्वयकायस्थः शेखरः शरदात्मजः।
प्रशस्तिमलिखद्वेदेरिमां सोमासमुद्भवः ॥६८॥

अर्थ—वास्तव्य गोत्री कायस्थ, शरद् (पिता) के पुत्र और सोमा (माता) से उत्पन्न शेखर ने इस वेदी की प्रशस्ति को लिखा।

(विशेष—यह प्रशस्ति मदिर की वेदी पर सामने की तरफ उत्कीर्ण की गई थी।)

भूतः काश्यपगोत्रेऽसौ पायिकः सूत्रधारकः।
वामदेवो सुतस्तस्य प्रशस्ति प्रोच्चकार सः ॥६९॥

अर्थ—कास्यप गोत्र मे पायिक नामा शिल्पी (मन्दिर-निर्माता-कारीगर) हुए जिनके पुत्र वामदेव थे उन्होने इस प्रशस्ति को उत्कीर्ण किया। (शिलालेख पर टाकी से उकेरा)।

(वसततिलका)

श्री माथुरान्वयमहार्णवराजहसः, लोकोपकारकरणे…
……कलानां। सद्धर्मकर्म……॥७०॥ संवत् १३१६

अर्थ—श्री माथुर वश रूपी मानसरोवर के राजहस, लोकोपकार करने मे………॥सवत् १३१६॥

—इति शुभम्—

नोट—इस शिलालेख (प्रशस्ति पत्थर) का माप इस प्रकार है—लम्बाई २ फुट ३ इच तथा चौड़ाई २ फुट १०½ इच (२'३" × २'१०½")।

"शिलालेख की हूबहू छाप लेने की विधि"

जितना बड़ा शिलालेख हो उतने ही नाप का (देशी) सफेद कागज लें अगर उतना बड़ा कागज न मिले तो कागज को गोंद से जोड़ कर शिलालेख के नाप के अनुसार काट लें। फिर उस कागज को पानी से तर करके शिलालेख पर चिपका दें और अक्षरों के गड्ढों मे सावधानी से दाब दे। इसके बाद कोयले के पिसे चूर्ण को झीने कपड़े मे लेकर उस गीले कागज पर सर्वत्र पोत दे। सूखने पर कागज को उतार ले। बस हूबहू छाप तैयार है। गड्ढो का हिस्सा कोयले से न पुते जाने के कारण सफेद अक्षरों के रूप मे निकल आयेगा।

नलपुर-शिलालेख का श्लोकानुसार संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद

(मगलाचरण)

१. आदिनाथ प्रभु तुम्हारा कल्याण करें।
२. पार्श्व प्रभु तुम्हे विभूति प्रदान करें।
३. वीर प्रभु तुम्हे प्रसन्नता दे।
४. देवी सरस्वती मेरे हृदय में सदा कल्लोल करें।
५. मूलसघ के दि० मुनिवर तुम्हें पवित्र करे।

(प्रशस्ति)

६. यज्वपाल नामा एक प्रसिद्ध राजवंश था।
७. इस वंश में वीर चूड़ामणि परमाद्रिराज उत्पन्न हुए।

८. उनके स्वर्गवासी होने पर चाहड राजा हुए।
९. चाहड के भी स्वर्गगामी होने पर शत्रुहता नृवर्मा हुए।
१०. इन न्यायी नृवर्मा के राज मे प्रजा अत्यंत सुखी थी।
११. नृवर्मा के स्वर्गवासी होने पर आसल राजेन्द्र हुए।
१२. विजयश्री इन आसलनरेन्द्र के सदा चरण चूमती थी।
१३. इन्होंने अनेक शत्रुओ को पराजित कर विपुल पृथ्वी को अधिकृत किया था।
१४. इनके राज्य में पौनलख देश मे नलपुर नाम का नगर था।
१५. यहा जैसवाल वश जयवंत था।
१६. इस वंश मे पहिले विवेकी साटदेव हुए।
१७. उनके श्रीकुमार नाम का पुत्र था।
१८. श्रीकुमार के नागण नाम का पुत्र था।
१९. नागण की धर्मपत्नी राजल्लदेवी थी।
२०. उनके राज्य-भूषण प्रसिद्ध जैत्रसिह पुत्र हुआ।
२१. जैत्रसिह महादानी थे उन्होंने एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था।
२२. उनकी धर्मपत्नी श्रीलक्ष्मी थी जो केशवदेव की पुत्री थी।
२३. श्री (लक्ष्मी) ने सात पुत्रो को जन्म दिया।
२४. प्रथम उदयसिंह था जो महान् यशस्वी था।
२५. साथ ही वह महा धनसपन्न और दानवीर था।
२६. वह सब प्रकार के वैभवो से परिपूर्ण था।
२७. दूसरा पुत्र शृगार सिंह और तीसरा राजसिह था।
२८. चौथा वीरसिंह और पांचवा लक्षणसिंह था।
२९. छट्ठा रत्नसिंह और सबसे छोटा किन्तु गुणों मे बड़ा सातवा नयनसिंह था।
३०. साहु उदयसिंह (प्रथम पुत्र) की पत्नी ने चार पुत्रों को जन्म दिया।
३१. उनके नाम क्रमशः कर्मसिह, देहसिंह, पद्मसिह और धर्मसिंह थे।
३२. शृगार सिंह (द्वितीय पुत्र) के दो पत्नियां थी शोभाल और दुअडा। तथा राजसिंह (तृतीयपुत्र) के एक पद्मा नाम की स्त्री थी।
३३. वीरसिंह (चतुर्थपुत्र) के विजयदेवी थी। जिससे क्षेमसिंह हुआ।
३४. एक दिन जैत्रसिंह ने इस प्रकार विचार किया।
३५. नित्य एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले विल्ह और गुणवान् अणग तथा सांभर राज के कृपापात्र क्षेमंकर ये नरपुंगव हुए।
३६. हमारे कुल मे और भी बहुत से धन्यपुरुष हुए इस प्रकार विचार कर पलामकुन्ड के पास भव्य जिन-मन्दिर बनाकर जैत्रसिह ने पूर्वजों के नाम को रोशन किया।
३७. वह जिनमंदिर महान् सुन्दर और बडाही लाजवाब था।
३८. पौरवाड वंश में श्रीधर के भाई के पुत्र बुद्धिमान् नागदेव हुए।
३९. नागदेव के दो छोटे भाई चाहड और गांगदेव थे तथा दो पुत्र आम्रदेव और सोमदेव थे।
४०. विद्वान् नागदेव ने महेन्द्र बनकर संवत् १३१९ में इस चैत्यालय में प्रतिष्ठा की।
४१. कुवादि-जेता अमरकीर्तिदेव और ज्ञानी वसंतदेव इस प्रतिष्ठा में गुरु बने।
४२. जैसवाल वंश मे धनी सेठ माधवराज हुए।
४३. उनके पुत्र गुणवान् देवसिंह हुए।
४४. उनके वीरा नाम की पत्नी थी जिनसे सलक्षणसिंह और कृत्यसिंह ये दो पुत्र हुए।
४५. जस्सा साहू के पुत्र विजयदेव साहू थे जिनकी पत्नी शृगार देवी थी।
४६. उनसे सहदेव और आम्रदेव ये दो जुगल पुत्र हुए।
४७. परवाड़ वश में जाजे सेठ थे।
४८. गुणों के भंडार सहदेव थे।
४९. दानवीर मैनाक साहू थे।
५०. निर्मल हृदय वाले आहड साहू थे।
५१. साहूओं के मुकुट चाहड़ साहू थे।
५२. अनेक गुणो से युक्त वीचि साहू थे।
५३. वे गभीरता में समुद्र और स्थिरता में पर्वत तथा दान में राजा बलि के तुल्य थे।
५४. कुधार्मिक बातों से दूर रहने वाले आभ साहू थे।
५५. जिनधर्म मे दृढ़ माढ और चाहड साहू थे।

५६. श्रावक शिरोमणि, पंडित श्रीहुल साहू थे ।

५७. माथुरवंशी सम्यग्दृष्टि सत्यनारायण थे ।

५८. भार्गववंशी विद्वान् शम्भु साहू थे ।

५९. दयालु जौणपाल और जिनभक्त निहुणपाल थे ।

६०. सात व्यसनों के त्यागी धर्मात्मा माधव और राशल साहू थे ।

६१ विद्वान् यशस्वी तेजू शाह थे ।

६२. शाह मालू के पुत्र छीहुल और विहुल साहू थे ।

६३. पौरवाड वंश में अद्भुत साहू थे ।

६४. ये सब जिनमंदिर बनवाने वाले एक ही गोठ के सेठ साहूकार खूब वैभवशाली हों ।

६५. जब तक आकाश में चन्द्र सूर्य तारे है तब तक जिन-मन्दिर सुशोभित रहे ।

६६. केशगण में देवगुप्त स्वामी हुए उनके शिष्य वीरचंद्र कवि हुए ।

६७. उनसे ज्ञान प्राप्त कर विद्वान् देवचन्द्र ने यह प्रशस्ति बनाई ।

६८ शब्द-सोमा के पुत्र वास्तव्यगोत्री कायस्थ शेखर ने वेदी की यह प्रशस्ति लिखी ।

६९. काश्यपगोत्री पायिक शिल्पी के पुत्र वामदेव ने यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की ।

७०. माथुरवंशी लोकोपकारी·········। संवत् १३३९

—आभार प्रदर्शन—

(१) श्लोक नं० २१, २५, २६ और ४६ इन चार श्लोकों के अनुवाद में मान्यवर पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर से सहयोग लिया गया है। उन्होंने यह भी सूचित किया है कि—"श्लोक नं० ५ और २० में रोहणाद्रि का अर्थ उदयाचल नहीं है, कवि सम्प्रदाय में रोहण गिरि का अर्थ—'जिसमें मेघों की गर्जना से रत्न उत्पन्न होते हैं' लिया गया है। इस सबके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

(२) पंडित दीपचन्द्र जी पाड्या का तो इस महान् कार्य में आद्यन्त पूर्ण सहयोग रहा है अतः उनका क्या आभार स्वीकार करूँ—जो कुछ इसमें 'सत्यं शिवं सुंदर' है वह सब उन्हीं का प्रसाद है।

(३) अगर विशेषज्ञ विद्वानों को कोई गलती दृष्टिगत हो तो अवश्य सूचित करें मैं उनका आभारी होऊंगा।

विशेष—अगर कोई सज्जन या संस्था इस कृति को अलग ट्रैक्ट रूप से छपाना चाहे तो छपा सकते हैं। हमारी अनुमति है।

—:०:—

षड्दर्शन समुच्चय का नया संस्करण

पं० दलसुख मालवणिया

डायरेक्टर ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद

प्रास्ताविक

षड्दर्शनसमुच्चय मूल[1] और गुणरत्नकृत टीकाका अनुवाद श्री पं० महेन्द्रकुमारजी ने ता० २५-६-४० चार बजे पूरा किया था, ऐसी सूचना उनकी पांडुलिपि से मिलती है। और टिप्पण लिखने वाला कार्य उन्होंने ई० १९५९ में अपनी मृत्यु (ई० १९५९ जून) के कुछ मास पूर्व पूर्ण किया ऐसा डॉ० गोकुलचन्द्रजी की सूचना से प्रतीत होता है। टिप्पणी के लिखने मे डॉ० गोकुलचन्द्र जैन ने सहायता की थी ऐसा भी उनसे मालूम मालूम हुआ है। अनुवाद करके उन्होंने छोड रखा था और प्रकाशक की तलाश थी यह तो मैं जानता हूँ। किन्तु खेद इस बात का है कि उनके जीवनकाल मे इस ग्रथ को वे मुद्रित रूप से देख नहीं सके। और इस कार्य को मित्रकृत्य के रूप मे करने में दुःखमिश्रित सन्तोष का अनुभव मै कर रहा हूँ।

उनकी जो सामग्री मुझे मिली उसे ठीक करके, यत्र-तत्र सशोधित करके मैने प्रेस योग्य बना दी थी। कुछ पृष्ठों के प्रूफ भी मैने देखे और पूरे ग्रंथ के प्रूफ मुद्रण-कार्य शीघ्र हो इस दृष्टि से मेरे पास भेजे नहीं गये। आनन्द इस बात का है कि मेरे परम मित्र का यह कार्य पूरा हो गया।

यह भी आनन्द का विषय है कि इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ ने किया है। ज्ञानपीठ के आरम्भ काल से ही उनका सम्बन्ध ज्ञानपीठ से एक या दूसरे रूप में रहा है। अकलक के कई ग्रन्थों का उद्धार प० महेन्द्रकुमार जीने किया और ज्ञानपीठ ने उनका प्रकाशन किया—उससे दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। इतने उत्तम रूप से भारतीय दर्शनों के ग्रन्थ प्राय: नही मुद्रित होते। तुलनात्मक टिप्पणी देकर दर्शन ग्रंथों का संपादन पूज्य प० सुखलाल जी ने शुरू किया था। उसी पद्धति का अनुसरण करके पं० महेन्द्रकुमार जी ने जिस उत्तम रीति से उन ग्रंथों का सपादन किया और ज्ञानपीठ ने उन्हें सुन्दर रूप में छापा यह तो भारतीय दर्शन ग्रन्थ के प्रकाशन के इतिहास मे सुवर्ण पृष्ठ है। उन ग्रथो के जरिये भारतीय दर्शनो के तुलनात्मक अध्ययन को प्रगति मिली है—यह नि:सशय है। पं० महेन्द्रकुमार जी जीवित होते तो प्रस्तुत षड्-दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना कैसी लिखते यह नही कहा जा सकता किन्तु यहा जो लिखा जा रहा है उससे तो बढ़कर होती—इसमें सन्देह नही है।

षड्दर्शनसमुच्चय और उसकी वृत्ति के संशोधन मे उपयुक्त हस्तप्रतियों के विषय मे मेरे समक्ष प० महेन्द्र-कुमारजी के द्वारा लिखित कोई सामग्री नही आयी अतएव यह कहना कठिन है कि उन्होने तत्-तत् संज्ञाओं के द्वारा निर्दिष्ट कौन-सी प्रतियो का उपयोग किया है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्होने अच्छी हस्तप्रतियो का उपयोग प्रस्तुत ग्रथ के संशोधन मे किया है और उसे शुद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है।

उनके द्वारा सम्पादित अन्य ग्रन्थों की तरह इसमे भी उन्होने महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक टिप्पण अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये है। सकेत सूची के आधारपर-से एक तालिका तैयार की गयी है जिससे वाचक को पता लगेगा कि प्रस्तुत ग्रंथ के संशोधन के लिए उन्होंने कितना परिश्रम किया है। उन्होने विविध ग्रंथों के कौन से संस्करणो का टिप्पणी मे उपयोग किया है—यह भी पता लगाकर निर्दिष्ट किया गया है।

१. 'षड्दर्शन समुच्चय' गुजराती अनुवादक : श्री चन्द्रसिह सूरि, प्रकाशक-जैन तत्त्वादर्श सभा, अहमदाबाद, ई० १८९२; अष्टकप्रकरण के साथ, प्रकाशक : क्षेमचन्द्रात्मजो नारायण: सुरत, ई० १९१८; हरिभद्रसूरिग्रन्थमाला मे प्र० जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर, विक्रम स० १९६४ (ई० १९०७)।

प्रस्तुत ग्रंथ मे परिशिष्ट रूप से मणिभद्रकृत सक्षिप्त टीका और अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी मुद्रित की गयी है। उनका संशोधन भी प० महेन्द्रकुमारजी ने किया था। मणिभद्रकृत टीका वस्तुतः सोमतिलकसूरि की रचना है यह स्पष्टीकरण करना जरूरी है। इसकी चर्चा आगे की गयी है।

उन्होंने इस ग्रंथ की प्रस्तावना लिखी थी कि नहीं यह पता नही लगता। जो सामग्री मेरे समक्ष आयी उसमे तो उसकी कोई सूचना है नही। अतएव मैने प्रस्तावना के रूप मे थोड़ा लिख देना उचित समझा है।

ज्ञानपीठ के संचालको ने मित्रकृत्य करने का यह शुभ अवसर दिया एतदर्थ मै ग्रथमाला के सम्पादको का और ज्ञानपीठ के संचालकों का आभारी हूँ।

षड्दर्शन

दर्शनों की छह सख्या कब निश्चित हुई उसका इतिहास के पक्का पता नही लगता। विद्यास्थानों की गिनती के प्रसंग में दर्शनों या तर्कों की संख्या की चर्चा होने लगी थी, इतना ही कहा जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् (७-१-२) मे अध्ययन के अनेक विषयो की गिनती मे वाकोवाक्य का उल्लेख मिलता है। उसका अर्थ है वाद-प्रतिवाद। परन्तु[1] अर्थशास्त्र मे आन्वीक्षिकी विद्या मे भी साख्य, योग और लोकायतों का उल्लेख है तथा आन्वीक्षिकी के विषय मे कहा है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

स्मृतियो मे याज्ञवल्क्यस्मृति (१-३) मे १४ विद्यास्थानो को गिनाया है, उनमे केवल न्याय और मीमासा का उल्लेख है। पुराणों मे भी जहाँ विद्याओं का उल्लेख है वहा भी प्रायः याज्ञवल्क्यस्मृति का अनुसरण है[2]। किन्तु न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने तो न्यायशास्त्र को ही आन्वीक्षिकी विद्या माना है। उनका कहना है कि "सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥"

—न्यायभाष्य १. १. १.

वात्स्यायन ने ठीक ही कहा है क्योकि त्रयी हो या वार्ता या दण्डनीति—इन सभी विद्याओं के विषय में आन्वीक्षिकी ही निर्णायक है—ऐसा कौटिल्य का मत है—क्योकि आन्वीक्षिकी ही के द्वारा अर्थात् हेतुप्रयोग द्वारा तीनो विद्याओ का अन्तिम ध्येय सिद्ध होता है। सुख के अवसर पर या आपत्ति के अवसर मे बुद्धि को स्थिर रखनेवाली आन्वीक्षिकी ही है। प्रज्ञा मे, वचन में और क्रिया मे वैशारद्य आन्वीक्षिकी के कारण ही आता है। अतएव आन्वीक्षिकी सर्व विद्याओं की विद्या है। सब विद्याओ के लिए प्रदीप है।[3] साख्य हो या योग या लोकायत—ये सभी आन्वीक्षिकी का आश्रय लेकर ही अपनी बात को सिद्ध करते थे अतएव कौटिल्य ने भले उन तीनों का नाम आन्वीक्षिकी मे गिनाया किन्तु उन तीनो का आधार आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या ही है। वे प्रमाण, न्याय या तर्क का आश्रय लेकर ही अपनी बात को सिद्ध कर सकते है ऐसा अभिमत न्यायभाष्यकारका है। इस पर से हम कह सकते है कि कौटिल्य के समय तक भले ही न्यायशास्त्र को पृथक् दर्शन के रूप मे स्थान मिला नही था किन्तु आन्वीक्षिकी के रूप मे उसकी सत्ता माननी चाहिए। न्यायशास्त्र में जब वैशेषिक दर्शन को समान तन्त्र माना जाने लगा तब वह सब विद्याओ का आधार रूप न रहकर एक स्वतत्र दर्शन बन गया। यही कारण है कि पुराणो और स्मृतियो मे न्याय और मीमांसा को पृथक् गिनाया गया। इस प्रकार पुराण काल में न्याय, सांख्य, योग, मीमासा और लोकायत—ये दर्शन पृथक् सिद्ध होते है। स्मृति और पुराणो में विद्यास्थानों मे साख्य-योग लोकायत को स्थान मिलना सम्भव नहीं

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१-२ (काँगले)।

२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भा० ५, पृ० ८२०, ९२६, ११५२।

३. साख्य योगो लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी।१०। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायां नयापनयौ दण्डनीत्यां बलाबलौ चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति।११।—कौटिलीय अर्थशास्त्र १।२।

था, क्योंकि उनका आधार वेद नहीं था। किन्तु महाभारत और गीता से स्पष्ट है कि दर्शनों मे सांख्य-योग का स्थान पूरी तरह से जम चुका था। और वे अवैदिक नहीं, किन्तु वैदिक दर्शन मे शामिल कर लिए गये थे। इस प्रकार ईसा की प्रारम्भ की शताब्दियो मे न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा—ये दर्शन वैदिको मे पृथक्-पृथक् रूप से अपना स्थान जमा चुके थे। उनके विरोध मे जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये तीन अवैदिक दर्शन भी ईसा पूर्व काल से वैदिक दार्शनिको के लिए समस्या रूप बने हुए थे। मीमासो मे कर्म और ज्ञान के प्राधान्य को लेकर दो भेद हो गये थे। अतएव वैदिको मे षट्तर्क या षड्दर्शन की स्थापना हो गयी थी जिसमे न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग पूर्व और उत्तर मीमासा—ये प्राधान्य रखते थे।

प्रस्तुत ग्रथ मे षड्दर्शनो का विवरण है किन्तु दर्शनो की छह् सख्या और उस छह सख्या मे भी किन-किन दर्शनों का समावेश है—इस विषय मे ऐकमत्य नही दीखता। वैदिक दर्शनो के अनुयायी जब छह् दर्शनो की चर्चा करते है तब वे छह दर्शनो मे केवल वैदिक दर्शनो का ही समावेश करते है। किन्तु प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चय मे वैदिक-अवैदिक सब मिला कर छह सख्या है। यह भी ध्यान देने की बात है कि दर्शनो को छह गिनने की प्रक्रिया भी ईसवी सन् के प्रारम्भ की कई शताब्दियों के बाद ही शुरू हुई है। वाचस्पति मिश्र ने एक वैशेषिकदर्शन को छोड कर न्याय, मीमासा—पूर्व और उत्तर, सांख्य और योग—इन पाँचो की व्याख्या की। इससे यह तो पता लगता है कि उनके समय तक छहो वैदिक दर्शन प्रतिष्ठित हो चुके थे। वैशेषिक दर्शन पर पृथक् लिखना इसलिए जरूरी नही समझा कि उन दर्शन के तत्त्वों का विवेचन न्याय मे हो ही जाता है। वाचस्पति एक अपवाद रूप वैदिक लेखक है। इनके पहले किसी एक वैदिक लेखक ने तत्तद्दर्शनो के ग्रथो का समर्थन तत्तत्दर्शनोकी मान्यता के अनुसार नहीं किया केवल वाचस्पति ने यह नया मार्ग अपनाया और जिस दर्शन पर लिखने बैठे तो उसी दर्शन के होकर लिखा। आचार्य हरिभद्र और वाचस्पति मे यह अन्तर है कि वाचस्पति ने टीकाकार के रूप मे या स्वतंत्र रूप से विरोधी दर्शन का निराकरण करके तत् तद्दर्शनो का समर्थन किया है। जब कि हरिभद्र ने मात्र परिचय दिया है। यह भी अन्तर है कि वाचस्पति ने दर्शनों पर पृथक्-पृथक् ग्रंथ लिखे किन्तु हरिभद्र ने एक ही ग्रन्थ में छहो दर्शनों का परिचय दिया। यह भी ध्यान देने की बात है कि वाचस्पति के दर्शनों मे चार्वाक दर्शन का समर्थन नहीं है और न अन्य अवैदिक जैन बौद्ध का। जब कि हरिभद्र ने वैदिक-अवैदिक सभी दर्शनों का अपने ग्रन्थ मे समावेश परिचय के लिए कर लिया है। आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इन छह दर्शनों का समावेश षड्दर्शनसमुच्चय मे किया है।

दार्शनिको में प्रथम तो यह प्रवृत्ति शुरू हुई कि अपने विरोधी मतो का निराकरण करना। किन्तु आगे चलकर वैदिकों मे यह प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि सच्चे अर्थ मे वेद के अनुयायी केवल वे स्वयं है और उनका दर्शन वेद का अनुयायी है, अन्य दर्शन वेद की दुहाई तो देते है किन्तु वस्तुत: वेद और उसके मत से उनका कोई सम्बन्ध नही। जब स्वयं वैदिक दर्शनो मे ही पारस्परिक ऐसा विचार हो तब अवैदिक दर्शनो का तो ये वैदिक दर्शन तिरस्कार ही करे यह स्वाभाविक है। इस भूमिका मे हम देखते है कि न्यायमजरीकार जयन्त केवल वैदिक दर्शनो को ही तर्क मे या न्याय मे समाविष्ट करते है और बौद्धादि अन्य दर्शनो का बहिष्कार घोषित करते है।[1] यह प्रवृत्ति उनके पहले के [2]कुमारिल मे भी स्पष्टरूप से विद्यमान है। और [3]शंकराचार्य भी उसका अनुकरण करते है। विशेषता यह कि वे सांख्य-योग-बौद्ध, वैशेषिक, जैन और न्यायदर्शन को तथा शैव और वैष्णव दर्शनो को भी वेद विरोधी मानते है।

---

१. न्यायमंजरी पृ० ४।

२. तन्त्रवार्तिक १, ३, ४। हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र भाग ५, पृ० ६२६ मे उद्धरण है। अन्य उद्धरण उसी मे. पृ० १००६, १२६२ मे है।

३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २, १, १; २, १, ३; २, १, ३; २, १, ११-१२; २, २, १-४४

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक ये दर्शन अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे वैदिक थे नहीं किन्तु उनकी व्याख्या और व्यवस्था जैसे-जैसे होने लगी वे अपने को वैदिक दर्शनो म शामिल करने लगे और अपने आगमरूप से वेद को स्थान देने लगे। एक ही वेद परस्पर विरोधी दर्शन का मूल कैसे हो सकता है—इस विचार के विकास के साथ ही ये दर्शन एक-दूसरे को अवैदिक घोषित करने लगे थे। और केवल अपने को ही वैदिक दर्शन गिनने लगे थे। किन्तु वेद की नाना व्याख्याए हुई है और हो सकती है—इस विचार के विकास के साथ ये ही दर्शन अन्य दर्शनों को भी वैदिक दर्शन मानने लगे थे—ऐसा भी हम कह सकते है। इस विचार के मूल मे बौद्धो के अनेक दर्शनों की उपस्थिति भी एक कारण हो सकता है। क्योंकि बौद्ध दर्शनों के विविध भेद हुए। उसके बाद ही परस्पर विरोधी होकर भी वे वैदिक दर्शन है ऐसे विचार की भूमिका वैदिको मे हम देखते है। और वैदिक दर्शनो की गिनती भी इस भूमिका के बाद देखते है। वैदिक दर्शन छह हैं—इस बात का उल्लेख जयन्त में हम पाते है किन्तु उनके पूर्व भी षट्तर्क या षड्दर्शन की प्रसिद्धि हो चुकी थी। आगे चलकर बौद्धों के दर्शन भेद के विषय मे बौद्ध टीकाकार ने यह स्पष्टीकरण करना शुरू किया कि ये दर्शनभेद अधिकारी भेद से है। स्वय बुद्ध के उपदेश को लेकर जब ये विविध विरोधी व्याख्याएँ होने लगी तो प्रश्न होना स्वाभाविक ही था कि एक ही भगवान् बुद्ध परस्पर विरोधी बातों का उपदेश कैसे दे सकते है? इसके उत्तर मे यह भी कहना शुरू हुआ कि ये उपदेश अधिकारी भेद से भिन्न थे अतएव इन उद्देशो मे विरोधी नही। अतएव बौद्धो के दर्शनभेदो मे भी परस्पर विरोध नही। किन्तु अधिकार भेद से ही उन दर्शनो की प्रवृत्ति हुई है ऐसा समझना चाहिए। दर्शन भेद का यही स्पष्टीकरण परस्पर विरोधी वैदिक दर्शनों के विषय में भी होने लगा—यह हम सर्वदर्शनसग्रह जैसे ग्रथों से जान सकते है।

षड्दर्शनसमुच्चय की रचनाभूमिका

वेद से लेकर उपनिषदों तक भारतीय चिन्तनधारा उन्मुक्त रूप से बह रही थी। अनेक आश्रमो और प्रतिष्ठानों में अनेक ऋषि मुनि और चिन्तक अपने-अपने विचार शिष्यों और जिज्ञासु के समक्ष रख रहे थे। उन विचारो की व्यवस्था थी नहीं। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के बाद यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक और अवैदिक ऐसी दो धाराएँ मुख्य है। अवैदिक में भी गोशालक आदि कई विचारक थे उनमें से बौद्ध, जैन और चार्वाक आगे चलकर स्वतन्त्र दर्शनरूप से स्थिर हुए। वैदिकों में भी कई शाखाएँ स्पष्ट हुई। और साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा (कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमासा) आदि दर्शन स्थिर हुए। इनमें से सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक प्रारम्भ में अवैदिक दर्शन थे किन्तु बाद मे वैदिक हो गये।

वस्तुत: देखा जाय तो विविध दर्शन एक तत्त्व को अनेक रूप से निरूपित करते थे। अतएव जैसा भी तत्त्व हो किन्तु उसके निरूपण के ये अनेक दृष्टिबिन्दु थे—यह स्पष्ट है। किन्तु ये दार्शनिक अपने ही मत को दृढ करने मे लगे हुए थे और अन्य मतों के निराकरण में तत्पर थे। अत: उन दार्शनिकों से यह आशा नही की जा सकती थी कि वे अनेक दृष्टियों से एक ही तत्त्व का निरूपण करें। नैयायिकादि सभी दर्शन वस्तु तत्त्व की एक निश्चित प्ररूपणा लेकर चले थे और उसी ओर उनका आग्रह होने से तत्-तत् दर्शन की सृष्टि हो गयी थी। तत्-तत् दर्शन के उस परिष्कृत रूप से बाहर जाना उनके लिए सम्भव नहीं था।

जैन दार्शनिकों के विषय मे ऐसी बात नही है। वे तो दार्शनिक विवाद के क्षेत्र मे नैयायिकादि सभी दर्शनों के परिष्कार के बाद अर्थात् तीसरी शती के बाद आए। अतएव वे अपना मार्ग निश्चित करने मे स्वतन्त्र थे और उनके लिए यह भी सुविधा थी कि जैनागम ग्रन्थों में वस्तु-विचार नयो के द्वारा अर्थात् अनेक दृष्टियों से हुआ था। जैन आगमों में मुख्यरूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा विचारणा करने की पद्धति अपनायी गयी है। इसके अलावा व्यवहार और निश्चय इन दो नयों से भी विचारणा देखी जाती है। इन आगम ग्रन्थो की जब व्याख्या होने लगी तब सात

नयों का सिद्धान्त विकसित हुआ। यही समय है जबसे लेकर जैनदार्शनिक भारतीय दर्शन क्षेत्र में जो वाद विवाद चल रहा था उसमें क्रम से शामिल होते गए। परिणाम स्वरूप विविध मतों के बीच अपने मत का सामंजस्य कैसा है और कैसा होना चाहिए—इस विषय की ओर उनकी दृष्टि गयी। यह तो स्पष्ट हो गया कि वे जब द्रव्यार्थिक दृष्टि से वस्तुविचार करते हैं तब वस्तु को नित्य मानने वाले दार्शनिकों से उनका ऐकमत्य होता है और जब पर्यायदृष्टि से विचार करते हैं तब वस्तु को अनित्य मानने वाले बौद्धों से ऐकमत्य होता है। अतएव इस बात को लेकर वे दर्शनों के अन्य विचारों से भी परिचित होने की आवश्यकता को महसूस करने लगे और अन्य दर्शनों से जैनदर्शन का किन-किन बातों में मतैक्य और विभेद है—इसकी तलाश में प्रवृत्त हुए। उस प्रवृत्ति के फलस्वरूप जैन आचार्यों में अपने नयसिद्धान्त का पुनरवेक्षण करना जरूरी हो गया तथा अन्य मतों का सही-सही ज्ञान भी आवश्यक हो गया। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति नयसिद्धान्त की समयानुकूल व्याख्या करके की गयी और अन्य दर्शनों के विषय में सही ज्ञान देने वाले प्रकरण लिख कर और अन्य दर्शनों का नयसिद्धान्त से सम्बन्ध जोडकर भी की गयी। इसी प्रवृत्ति के फल आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय मे हम विभिन्न रूप में देखते हैं। इन दोनों ग्रन्थों की अपनी-अपनी क्या विशेषता है यह हम आगे कहेंगे। किन्तु उसकी पूर्वभूमिका किस प्रकार बनी यह प्रथम बताना जरूरी है। अतएव इसी की चर्चा यहाँ की जाती है।

नयों के विषय में सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने प्रश्न उठाया है कि एक ही वस्तु का विविध रूप से निरूपण करने वाले ये नय क्या तन्त्रान्तरीय मत हैं या अपने ही मत में प्रश्न कर्ताओ ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार कुछ मतभेद खड़े किए है? उत्तर दिया है कि न तो ये नय तन्त्रान्तरीय मत हैं और न ये अपने ही मत के लोगों ने मतभेद खड़े किए हैं। किन्तु एक ही वस्तु के जानने के नाना तरीके हैं। पुनः प्रश्न किया कि तो फिर एक ही वस्तु के विषय में नाना प्रकार के निरूपण करने वाले नयों में परस्पर विरोध क्यों नहीं? उत्तर में स्पष्ट किया है कि एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिय से देखा जा सकता है अतएव इनमें विरोध को अवकाश नहीं है। जैसे एक ही वस्तु नाना प्रकार के ज्ञानों से अनेक रूप देखी जा सकती है वैसे ही नाना नयों से उसे अनेक प्रकार से जाना जा सकता है—उसमे कोई विरोध नहीं।[१]

स्पष्ट है कि विविध नयों के द्वारा किया गया दर्शन एक ही मत के अनुयायी द्वारा—अर्थात् जैनधर्म के अनुयायी द्वारा नाना प्रकार के अध्यवसाय=निर्णय हैं। उनका सम्बन्ध परवादी के मतों से नहीं है—ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आचार्य उमास्वाति का है। किन्तु चिन्तनशील व्यक्ति को आचार्य उमास्वातिके इस उत्तरसे सन्तोष हो नहीं सकता। क्योंकि दार्शनिक वाद विवाद के क्षेत्र में परस्पर ऐसे कई विरोधी मत वह देखता है और उनका साम्य जैनों के द्वारा विविध रूप से किये गये निर्णयों के साथ भी वह देखता है, तब नयों का जैनेतर मतों से सामंजस्य या संयोजन बिठाने का प्रयत्न वह न करे यह हो नही सकता। इसी प्रक्रिया में से प्रथम तो सर्वदर्शनों का अभ्यास बढाने की ओर जैनाचार्य प्रवृत्त हुए। और उसके फलस्वरूप नय और जैनेतर विविध मतों का किस प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है इस विचारणा की प्रक्रिया शुरू हुई।

इस विचारणा में अग्रसर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर हुए ऐसा जान पडता है। विक्रम चौथी-पाँचवीं शती में होने वाले आचार्य सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं उनमें से ८वी में जल्पकथा, ७वी में वाद, ६वी मे वेदवाद, १२वी में न्यायदर्शन, १३वीं में सांख्यदर्शन, १४वीं में वैशेषिकदर्शन, १५वीं में बौद्धदर्शन, १०वीं में योगविद्या, १६वीं में नियतिवाद आदि जैनेतर दर्शनों की चर्चा की है। और सन्मतितर्क में नय और नयाभास सुनय-दुर्नय का भी स्पष्टीकरण करके नयों में नयी विचारणा का सूत्रपात कर दिया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय अपने दृष्टिबिन्दु से विचार करें यह ठीक है किन्तु अपनी मर्यादा से बाहर जाकर ऐसा आग्रह रखे कि वस्तु का यही एक रूप है तो प्रत्येक मिथ्यादृष्टि होंगे (१,१३), किन्तु यदि दोनों नय अपने विषय का विभाग करके चलें तो दोनों एकान्त मिलकर अनेकान्त बन जाता है (१,१४)। प्रत्येक

१. तत्त्वार्थभाष्य—१,३५।

नय दुर्नय बन जाता है यदि अपनी दृष्टि का ही आग्रह हो (१,१५)। सभी नय मिथ्यादृष्टि होते हैं यदि वे स्वरूप के साथ ही प्रतिबद्ध हैं किन्तु यदि वे परस्पर की अपेक्षा रखते हैं तो सम्यक् हो जाते हैं (१,२१), दोनों नय माने जायें तब ही संसार-मोक्षकी व्यवस्था बन सकती है अन्यथा नही (१,१७,२०)। आचार्य सिद्धसेन ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए सुन्दर उदाहरण दिया है। उसका निर्देश भी जरूरी है। उन्होंने कहा है कि कितने ही मूल्यवान् वैडूर्य आदि मणि हों किन्तु जब तक वे पृथक्-पृथक् है 'रत्नावलि' के नाम से वंचित ही रहेगे। उसी प्रकार अपने-अपने मतो के विषय में ये नय कितने ही सुनिश्चित हो किन्तु जबतक वे अन्य-अन्य पक्षों से निरपेक्ष हैं वे 'सम्यग्दर्शन' नाम से वंचित ही रहेगे। जिस प्रकार वे ही मणि जब अपने-अपने योग्य स्थान मे एक डोर में बंध जाते हैं तब अपने-अपने नामों को छोड़कर एक 'रत्नावलि' नामको धारण करते है, उसी प्रकार ये सभी नयवाद भी सब मिलकर अपने अपने वक्तव्य के अनुरूप वस्तुदर्शन मे योग्य स्थान प्राप्त करके 'सम्यग्दर्शन' नाम को प्राप्त कर लेते है और अपनी विशेष संज्ञा का परित्याग करते है। (१,२२-२५)। यही अनेकान्तवाद है।

स्पष्ट है कि सन्मतिकार सिद्धसेन के मत से नयों का सुनय और दुर्नय ऐसा विभाग जरूरी है। तात्पर्य इतना ही है कि अन्य दर्शनों के जो मत हैं यदि वे अनेकान्तवाद के एक अंश रूप से हैं तब तो सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। यहीं से नयवाद के साथ अन्य दार्शनिक मतों के संयोजन की प्रक्रिया शुरू हुई है। स्वयं सिद्धसेन ने इस प्रक्रिया का सूत्रपात भी इन शब्दों में कर दिया है—जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय=परमत हैं। कपिलदर्शन द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य है, और शुद्धोदनतनय का वाद परिशुद्ध पर्यायार्थिक नय का वक्तव्य है। तथा उलूक (वैशेषिक) मत में दोनों नय स्वीकृत हैं फिर भी ये सभी 'मिथ्यात्व' है क्योकि अपने-अपने विषय को प्राधान्य देते हैं और परस्पर निरपेक्ष हैं। सारांश कि यदि वे अन्य मतसापेक्ष हो तब ही 'सम्यग्दर्शन' संज्ञा के योग्य हैं, अन्यथा नहीं (३,४७-४९)।

सिद्धसेन की इस सूचना को लेकर तत्कालीन सभी मतो का सग्रह विक्रम पांचवी शती के पूर्वार्ध में आचार्य मल्लवादी ने अपने नयचक्र मे कर दिया है[1]। मल्लवादी का यह ग्रन्थ अपने कालकी अद्वितीय कृति कही जा सकती है। वर्तमान में अनुपलब्ध ग्रन्थ और मतों का परिचय केवल इस नयचक्र से इसलिए मिलता है कि आचार्य मल्लवादी ने अपने काल तक विकसित एक भी प्रधान मत को छोडा नहीं। अतएव अपने-अपने मत को प्रदर्शित करने वाले तत्-तत् दर्शनो के ग्रन्थो की अपेक्षा सर्वसंग्राहक यह ग्रन्थ षड्दर्शन समुच्चय जैसे ग्रन्थों की पूर्वभूमिका रूप बन जाता है। नयचक्र की रचना की जो विशेषता है वह उसके नाम से ही सूचित हो जाती है। नयों का अर्थात् तत्कालीन नाना वादों का यह चक्र है। चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने-आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरुद्ध मत की दलीलों से हो सकता है। स्थापना-उत्थापना का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद मे ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें तब ही उनका औचित्य है, अन्यथा नहीं। इसी आशय को सिद्ध करने के लिए आचार्य ने क्रमशः एक-एक मत लेकर उसकी स्थापना की है और अन्य मत से उसका निराकरण करके अन्य मत की स्थापना की गई है। तब तीसरा मत उसकी, भी उत्थापना करके अपनी स्थापना करता है—इस प्रकार अन्तिम मत जब अपनी स्थापना करता है तब प्रथम मत उसीका निराकरण करके अपनी स्थापना करता है—इस प्रकार चक्र का एक परिवर्त पूरा हुआ किन्तु चक्र का चलना यही समाप्त नही होता, पूर्वोक्त प्रक्रिया का पुनरावर्तन होता है।

अपने काल के जिन मतों का संग्रह नयचक्र में हैं वे ये हैं—अज्ञानवाद, पुरुषाद्वैत, नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, भाववाद, प्रकृति-पुरुषवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, द्रव्य-क्रियावाद, षड्पदार्थवाद, स्याद्वाद, शब्दाद्वैत, ज्ञानवादा सामान्यवाद, अपोहवाद, अवक्तव्यवाद, रूपादिसमुदायवाद, क्षणिकवाद, शून्यवाद—इन मुख्य वादों के अलावा गौण

---

१. इसके विशेष परिचय के लिए देखो, आगमयुग क जैनदर्शन (आगरा) पृ० २९६।

भी अनेकवादों की चर्चा देखी जा सकती है जैसे कि प्रत्यक्ष लक्षण, सत्कार्य असत्कार्य वाद आदि।

नयचक्र के नयविषयक मत का सारांश यह है कि अंश से किया हुआ दर्शन नय है अतएव वही एकमात्र दर्शन नहीं हो सकता। उसका विरोधी दर्शन भी है और उसको भी वस्तुदर्शन मे स्थान मिलना चाहिए। उन्होने उस समय प्रचलित विविध मतो को अर्थात् विविध जैनेतर मतों को ही नय माना और उन्ही के समूह को जैनदर्शन या अनेकान्तवाद माना। ये ही जैनेतर मत पृथक्-पृथक् नयाभास है और अनेकान्तवाद के चक्रमे यथास्थान सन्निहित होकर नय है।

स्पष्ट है कि आचार्य उमास्वाति की नय की समझ और आचार्य मल्लवादी की नय की समझ मे अन्तर है। उमास्वाति नयों को परमतो से पृथक् ही रखना चाहते है वही मल्लवादी परवादों—परमतो को ही नयचक्र मे स्थान देकर अनेकान्तवाद की स्थापना का प्रयत्न करते हैं। नयचक्र का यह प्रयत्न उन्ही तक सीमित रहा। केवल नयाभासों के वर्णन मे परमतों को स्थान दिलाने मे वे निमित्त अवश्य हुए। अकलक से लेकर अन्य सभी जैनाचार्यो ने नयाभास के दृष्टान्तरूप से विविध दर्शनो को स्थान दिया है किन्तु नयो के वर्णन मे केवल जैनदृष्टि ही रखी है। उसे किसी अन्यदीय मत के साथ जोड़ा नही है।

यहाँ यह भी प्रासगिक कह देना चाहिए कि विशेषावश्यक के कर्ता आचार्य जिनभद्र नयचक्र के इस मत से सहमत है कि विविध नयों का समूह ही जैननदर्शन है (गा० ७२)। किन्तु उन्होने भी नयवर्णन के प्रसंग मे नयरूप से अन्यदीय मत का निरूपण नही किया किन्तु जैनसम्मत नयों का निरूपण किया। इस अर्थ मे वे उमास्वाति का अनुसरण करते है, नयचक्र का नहीं। सारांश कि इतना तो सिद्ध हुआ कि सर्वनयों का समूह ही जैनदर्शन या सम्यग्दर्शन हो सकता है। यही मत सिद्धसेन ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया था।

षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय

आचार्य हरिभद्र ने ये दो ग्रन्थ लिखे। उन दोनों मे उनकी रचना की दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है। षड्दर्शनसमुच्चय मे तो छहो दर्शनोका सामान्य परिचय करा देना ही उद्दिष्ट है। इसके विपरीत शास्त्रवार्तासमुच्चय में जैनदृष्टि से विविध दर्शनों का निराकरण करके जैनदर्शन और अन्य दर्शनो में भेद मिटाना हो तो तद्दर्शन मे किस प्रकार का सशोधन होना जरूरी है यह निर्दिष्ट किया है। अर्थात् जैनदर्शन के साथ अन्य-अन्य दर्शनों का समन्वय उन दर्शनों में कुछ संशोधन किया जाय तो हो सकता है—इस ओर इशारा आचार्य हरिभद्र ने किया है। नयचक्र की पद्धति और शास्त्रवार्ता की पद्धति मे यह भेद है कि नयचक्र मे प्रथम एक दर्शन की स्थापना होने के बाद उसके विरोध मे अन्य दर्शन खडा होता है और उसके भी विरोध में क्रमश अन्य दर्शन--इस प्रकार तत्काल के विविध दर्शनों का बलाबल देखकर मल्लवादी ने एक दर्शन के विरोध मे अन्य दर्शन खडा किया है। और दर्शनचक्र की रचना की है। कोई दर्शन सर्वथा प्रबल नही और कोई दर्शन सर्वथा निर्बल नही। यह चित्र नयचक्र मे है। तब शास्त्रवार्तासमुच्चय मे अन्य सभी दर्शन निर्बल ही है और केवल जैनदर्शन ही सयुक्तिक है—यही स्थापना है। दोनो ग्रन्थो में समग्रभाव से भारतीय दर्शनों का सग्रह है। नयचक्र मे गौण-मुख्य सभी सिद्धान्तो का और शास्त्रवार्ता मे मुख्य-मुख्य दर्शनो का और उनमे भी उनके मुख्य सिद्धान्तो का ही सग्रह है।

जिस रूप मे आचार्य हरिभद्र ने दर्शनों की छह संख्या मान्य रखी है वह उनकी ही सूझ है। सामान्य रूप से छह दर्शनों में छह वैदिक दर्शन ही गिने जाते है किन्तु आचार्य हरिभद्र को छह दर्शनो में जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन भी शामिल करना था अतएव उन्होंने १ सांख्य, २ योग, ३ नैयायिक, ४ वैशेषिक, ५ पूर्वमीमांसा और ६ उत्तरमीमांसा इन छह वैदिक दर्शनों के स्थान मे छह संख्या की पूर्ति इस प्रकार की—१ बौद्ध, २ नैयायिक, ३ सांख्य, ४ जैन, ५ वैशेषिक और ६ जैमिनीय। और ये ही दर्शन हैं और इन्हीं में सब दर्शनों का संग्रह भी हो जाता है—ऐसा स्पष्टीकरण किया है (का० १–३) और इन छह दर्शनों को आस्तिकवाद की सज्ञा दी है। (का० ७७)।

यह भी निर्दिष्ट है कि कुछ के मत से नैयायिक से वैशेषिकों के मत को भिन्न माना नहीं जाता अतएव उनके मतानुसार पाँच आस्तिक दर्शन हुए (का० ७८) और

छह संख्या की पूर्ति वे लोकायत दर्शन को जोड़कर करते हैं। अतएव हम यहां लोकायत दर्शन का भी निरूपण करेंगे (का० ७९)। सारांश यह हुआ कि आ० हरिभद्र ने छह आस्तिकदर्शन और एक नास्तिकदर्शन—लोकायत दर्शन का प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चय मे निरूपण किया है। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्र ने वेदान्तदर्शन या उत्तरमीमांसा को इसमें स्थान दिया नही। इसका कारण यह हो सकता है कि उस काल मे अन्य दर्शनो के समान वेदान्त ने पृथक् दर्शन के रूप मे स्थान पाया नही था। वेदान्तदर्शन का दर्शनो मे स्थान आ० शकर के भाष्य और उसकी टीका भामती के बाद जिस प्रकार से प्रतिष्ठित हुआ सम्भवतः उसके पूर्व उतनी प्रतिष्ठा उसकी न भी हो। यह भी कारण हो सकता है कि गुजरात राजस्थान में उस काल तक वेदान्त की उतनी प्रतिष्ठा न भी हो।

शास्त्रवार्तासमुच्चय की रचना तत्त्वसग्रह को समक्ष रखकर हुई है। दोनो मे अपनी अपनी दृष्टि से ज्ञातदर्शनों का निराकरण मुख्य है। शास्त्रवार्तासमुच्चय मे जिनदर्शनो का निराकरण है उनका दर्शनविभाग क्रम से नही किन्तु विषय-विभाग को लेकर है। प्रसिद्ध दर्शनो मे चार्वाकों के भौतिकवाद का सर्वप्रथम निराकरण किया गया है तदनन्तर ईश्वरवाद जो न्याय-वैशेषिक समत है, प्रकृति-पुरुषवाद (साख्यसंमत), क्षणिकवाद (बौद्ध), विज्ञानाद्वैत (योगाचार बौद्ध), पुनः क्षणिकवाद (बौद्ध), और शून्यवाद (बौद्ध) का निराकरण किया गया है। तदनन्तर नित्यानित्यवाद (जैन) की स्थापना करके अद्वैतवाद (वेदान्त) का निराकरण किया है। तदनन्तर जैनों के मुक्तिवाद की स्थापना और सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद (मीमांसक) और शब्दार्थसम्बन्धप्रतिषेधवाद का निराकरण है। इससे स्पष्ट है कि षड्दर्शनसमुच्चय मे जिस वेदान्त को स्थान नहीं मिला था उसे शास्त्रवार्तासमुच्चय मे (का० ५३४-५५२) मिला है इसका कारण सम्भवतः यह है कि आचार्य हरिभद्र ने शान्तिरक्षित का तत्त्व-संग्रह देखा और उसमे से प्रस्तुत वाद के विषय में उन्होने जाना तब उस विषय की उनकी जिज्ञासा बलवती हुई और अन्य सामग्री को भी उपलब्ध किया। तत्त्व-सग्रह की टीका में उस औपनिषदिक अद्वैतावलम्बी कहा गया है (का० ३२८)। यह भी ध्यान देने की बात है कि तत्त्वसग्रह में भी आत्म-परीक्षा प्रकरण मे औपनिषदात्मपरीक्षा—यह एक अवान्तर प्रकरण है। वेदान्त के विषय मे उसमें कोई स्वतंत्र 'परीक्षा' नहीं है। तत्त्व-संग्रह के पूर्व में भी समन्तभद्राचार्य की आप्तमीमांसा मे अद्वैतवाद का निराकरण था ही। वह आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन की रचना के पूर्व न देखा हो यह सम्भव नही लगता। अतएव षड्दर्शन मे वेदान्त को स्वतत्र दर्शन का स्थान न देने मे यही कारण हो सकता है कि उस दर्शन की प्रमुख दर्शन के रूप मे प्रतिष्ठा जम पायी न थी।

दर्शनसंग्राहक अन्य ग्रन्थ

प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करके अन्य जैनाचार्यों ने दर्शनसंग्राहक ग्रथ लिखे। और उनमें भी उन्होंने आचार्य हरिभद्र जैसा ही दर्शनों का परिचय मात्र देने का उद्देश्य रखा है।

आचार्य हरिभद्र के बाद किसी जैन मुनि ने "सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः" ग्रन्थ लिखा था। उसकी तालपत्र मे वि० १२०१ मे लिखी गयी प्रति उपलब्ध है—इससे पता चलता है कि वह राजशेखर से भी पूर्व की रचना है। मुनिश्री जंबूविजय जी ने इस पुस्तिका का सम्पादन किया है और जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से वह ई० १९६४ में प्रकाशित है। इसमे क्रमशः नैयायिक, वैशेषिक, जैन, साख्य, बौद्ध, मीमासा और लोकायत दर्शनों का परिचय है। आचार्य हरिभद्र का षड्दर्शन पद्यो मे है तब यह गद्य मे है। वही दर्शन इसमे भी है जो आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शन मे है। इस ग्रन्थ मे दर्शनो के प्रमाण और प्रमेय का परिचय कराना लेखक को अभिप्रेत है।

वायडगच्छ के जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (वि० १२६५) ने 'विवेकविलास'[1] की रचना की है (प्रकाशक, सरस्वती ग्रथमाला कार्यालय, आगरा, वि० १९७६) उसके अष्टम उल्लास मे 'षड्दर्शनविचार' नाम का प्रकरण है—उसमे जैन, मीमासक, बौद्ध, साख्य, शैव (नैयायिक और वैशेषिक) और नास्तिक—इन छहों

१. इसी ग्रन्थ में से सर्वदर्शनसग्रह मे 'बौद्धदर्शन' के श्लोक उद्धृत है—सर्वदर्शनसग्रह पृ० ४६ (पूना)।

दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ मे शैव में न्याय-वैशेषिक का समावेश है—यह ध्यान देने योग्य है। यह भी आचार्य हरिभद्र के समान केवल परिचयात्मक प्रकरण है। अन्त मे जो उपदेश दिया है वह ध्यान देने योग्य है—

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि सरहस्यानि दूरतः।
एकमप्यक्षरं सम्यक् शिक्षितं निष्फलं नहि ॥ ८.३११

यह प्रकरण ६६ श्लोक प्रमाण है।

आचार्य शंकरकृत माना जानेवाला 'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' अथवा सर्वदर्शनसिद्धान्तसग्रह' मद्रास सरकार के प्रेस से ई० १६०६ मे श्री रंगाचार्य-द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री पं० सुखलाल जी को यह प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्त के आद्यशंकराचार्य की कृति होने में सन्देह है (समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४२)। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह कृति सर्वदर्शनसग्रह (माधवाचार्य) से प्राचीन है। इस ग्रंथकार के मत से भी वैदिक और अवैदिक ऐसा दर्शन विभाग है। वैदिको मे इनके मत से जैन, बौद्ध और बृहस्पति के मतों का समावेश नहीं है। इस ग्रन्थ में भी माधवाचार्य के सर्वदर्शनसग्रह की तरह पूर्व-पूर्व दर्शन का उत्तर-उत्तर दर्शन के द्वारा निराकरण है। दर्शनों का इस प्रकार निराकरण करके अन्त में अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की गयी है। दर्शनों का क्रम इस ग्रंथ में इस प्रकार है—

१. लोकायतिक पक्ष, २. आर्हतपक्ष, ३. माध्यमिक, ४. योगाचार, ५. सौत्रान्तिक ६. वैभाषिक, ७. वैशेषिक, ८. नैयायिक, ६. प्रभाकर, १०. भट्टाचार्य, (कुमारांश=कुमारिल), ११. सांख्य, १२. पतञ्जलि, १३. वेदव्यास, १४. वेदान्त। इन दर्शनों में से वेदव्यास के दर्शन के नाम से जो पक्ष उपस्थित किया गया है वह महाभारत का दर्शन है। जैनदर्शन को आर्हतपक्ष में उपस्थित किया गया है किन्तु लेखक ने भ्रमपूर्ण बातों का उल्लेख किया है। पता नहीं उनके समक्ष जैनदर्शन का कौन-सा ग्रंथ था। लेखक जैनों के मात्र दिगम्बर सम्प्रदाय से परिचित है। बौद्धों के चार पक्षों को अधिकारी भेद से स्वीकृत किया है। इतना ही नहीं किन्तु बृहस्पति, आर्हत और बौद्धों के मतों को भी अधिकारी के भेद से भिन्न माने हैं। अन्य वैदिक मतों के विषय में भी इनका कहना है कि ये सभी वेदान्त शास्त्र के अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए ही तत्पर हैं —

वेदान्तशास्त्रसिद्धान्तः संक्षेपादथ कथ्यते।
तदर्थप्रवणाः प्रायः सिद्धान्ताः परवादिनाम् ॥१२.१

वेदबाह्य दर्शनों को लेखक नास्तिक की उपाधि देता है—

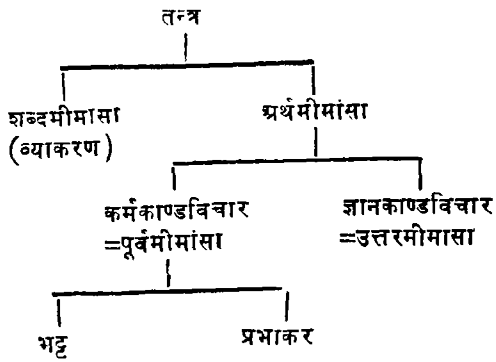
"नास्तिकान् वेदबाह्यांस्तान् बौद्धलोकायतार्हतान् ॥५.१

सायण माधवाचार्य (ई० १३००) ने 'सर्वदर्शन-सग्रह' नामक ग्रंथ की रचना की—उसकी पद्धति नयचक्र से मिलती है। भेद यह है कि उन्होने क्रमश नयचक्र की तरह, पूर्व-पूर्व दर्शन का उत्तर-उत्तर दर्शन से खण्डन करा कर भी अन्त में अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की है। उस अन्तिम दर्शन का खण्डन किसी दर्शन से नहीं कराया। जब कि नयचक्रगत अन्तिम मत का निराकरण सर्वप्रथम उपस्थित मत के द्वारा किया गया है और खण्डन-मण्डन का चक्र प्रवर्तित है। 'नयचक्र' के मत से उपस्थित सभी मत सम्मिलित हो तो सम्यग्दर्शन या अनेकान्त होता है। जब कि 'सर्वदर्शनसग्रह' के मत से अन्तिम अद्वैतदर्शन ही सम्यक् है। सायण माधवाचार्य ने क्रमशः जिन दर्शनों का निराकरण किया है और अन्त में अद्वैतवाद उपस्थित किया है—वे ये है—१. चार्वाकदर्शन, २. बौद्धदर्शन (चारों भेद), ३. दिगम्बर (आर्हतदर्शन), ४. रामानुज, ५. पूर्णप्रज्ञदर्शन, ६. नकुलीशपाशुपतदर्शन, ७. माहेश्वर (शैव दर्शन), ८. प्रत्यभिज्ञादर्शन ६. रसेश्वरदर्शन, १० औलूक्यदर्शन (वैशेषिक) ११. अक्षपाददर्शन (नैयायिक), १२. जैमिनिदर्शन (मीमासा), १३. पाणिनिदर्शन, १४. सांख्यदर्शन, १५. पातंजलदर्शन, १६. शांकरदर्शन (वेदान्तशास्त्र)।

'प्रस्थानभेद' के लेखक ने जिस उदारता का परिचय दिया है वह भी इस सर्वदर्शनसंग्रह में नही। वह तो अद्वैत को ही अन्तिम सत्य मानता है। नयचक्र में सर्वदर्शनो के समूह को अनेकान्तवाद कहा है और प्रत्येक दर्शन को एकान्त कहा है। उनके अनुसार अद्वैत मत भी एक

एकान्त ही ठहरता है अन्तिम सत्य नहीं। जब कि 'सर्व-दर्शन संग्रह' के मत से अद्वैत ही अन्तिम सत्य है। बाकी सब मिथ्या है। वस्तुतः नयचक्र और सर्वदर्शनसंग्रह इन दोनों का एक ही ध्येय है और वह यह कि अपने-अपने दर्शन को सर्वोपरि सिद्ध करना।

माधवसरस्वती (? ई० १३५०) ने 'सर्वदर्शनकौमुदी' नामक ग्रंथ लिखा है जो त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रंथमाला में ई० १९३८ में प्रकाशित है। इस ग्रंथकार ने भी वैदिक-अवैदिक—इस प्रकार का दर्शनविभाग स्थिर किया है। वेद को प्रमाण मानने वालों को वह शिष्ट मानता है और वेद के प्रमाण को स्वीकार नहीं करनेवाले बौद्ध को अशिष्ट[1]। माधव सरस्वती ने वैदिक और अवैदिक ऐसे दो भेद दर्शनों के किये हैं। वैदिक दर्शनो मे इनके अनुसार तर्क, तंत्र और साख्य ये तीन दर्शन हैं। तर्क के दो भेद है—वैशेषिक और नैयायिक। तन्त्र का विभाजन इस प्रकार है—



सांख्यदर्शन के दो भेदों का निर्देश है—सेश्वरसांख्य योगदर्शन और निरीश्वरसाख्य=प्रकृतिपुरुष के भेद का प्रतिपादक। इस प्रकार वैदिक दर्शनों के छह भेद हैं—योग, साख्य पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, नैयायिक, और वैशेषिक।

अवैदिकदर्शन के तीन भाग हैं—बौद्ध, चार्वाक और आर्हत। तथा बौद्धदर्शन के चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक[2]।

इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि वह इस क्रम से दर्शनों का निरूपण करता है—वैशेषिकदर्शन का सर्वप्रथम निरूपण है। किन्तु वैशिषकों के ही विपर्यय के निरूपण प्रसंग में ख्यातिवाद की चर्चा की गयी है—उसी में सदसत्ख्याति को मानने वाले जैनो का दर्शन पूर्वपक्ष में निरूपित है। और वैशेषिकों द्वारा विपरीतख्याति की स्थापना के लिए उसका निराकरण किया गया है। अतएव जैनदर्शन का निरूपण पृथक् करने की आवश्यकता लेखक ने मानी नहीं है[3]।

वैशेषिक के अनन्तर नैयायिक दर्शन का निरूपण है (पृ० ६३) और क्रमशः मीमांसा, सांख्य और योगदर्शन का निरूपण है।

राजशेखर का 'षड्दर्शनसमुच्चय' आचार्य हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय का अनुकरण होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से विस्तृत है। इसमें तत्तत् दर्शनों के आचारों और वेशभूषा का भी निरूपण है। इस ग्रंथ में दर्शनों का परिचय इस क्रम से है—

१ जैन, २ सांख्य, ३ जैमिनीय, ४ योग, ५ वैशेषिक और ६ सौगत। योगदर्शन का परिचय, अष्टांगयोग, जो कि सर्वदर्शन साधारण आचार है, उसका परिचय देकर सम्पन्न किया है। तथा उक्त सभी दर्शन जीव को मानते है जब कि नास्तिक उसे भी नहीं मानते यह कहकर चार्वाकों की दलीलों का संग्रह करके उस दर्शन का भी परिचय अन्त में दे दिया है। ये राजशेखर वि० १४०५ में विद्यमान थे ऐसा उनके द्वारा रचित प्रबन्ध कोश की प्रशस्ति से ज्ञात होता है। यह षड्दर्शनसमुच्चय यशोविजय जैन ग्रन्थमाला मे वाराणसी से वीर सं० २४३८ में प्रकाशित है।

आचार्य मेरुतुंगकृत (ई० १४वी का उत्तरार्ध) 'षड्-

१. वेदप्रामाण्याभ्युपगन्ता शिष्टः। तदनभ्युपगन्ता बौद्धोऽशिष्टः।—पृ० ३।

२. सर्वदर्शनकौमुदी पृ० ४।

३. सर्वदर्शनकौमुदी पृ० ३४ और पृ० १०८। लेखक ने जैनदर्शन का पूर्वपक्ष जो उपस्थित किया है वह अभ्रान्त नहीं है।

दर्शननिर्णय' नामक ग्रंथ की हस्तप्रति नं० १६६६ बाम्बे ब्रांच, रायल एसियाटिक सोसायटी में विद्यमान है। उसकी फोटो कापी लालभाई द० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद मे हैं। उसकी प्रतिलिपि डॉ० नगीन शाह की है। उसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसमे आचार्य मेरुतुंग ने क्रमशः बौद्ध, मीमांसा (वेदान्त के साथ), साख्य, नैयायिक, वैशेषिक और जैनदर्शन—इन छह दर्शनों-सम्बन्धी मीमासा की है। इस ग्रंथ में तत्तत् दर्शन-सम्बन्धी खासकर देव, गुरु और धर्म के स्वरूप का निरूपण करके जैनमतानुसार उसकी समीक्षा की गयी है और अन्त मे जैनसंमत देव-गुरु-धर्म का स्वरूप निरूपित करके, वैसा ही स्वरूप महाभारत, पुराण, स्मृति आदि भी समर्थित होता है ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया गया है। आ० मेरुतुग की यह रचना वि. १४४४ और वि० १४४६ के बीच हुई है ऐसा श्री देसाई कृत 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' (पृ० ४४२) से प्रतीत होता है।

मधुसूदन सरस्वती (ई० १५४०-१६४७) द्वारा रचित 'प्रस्थानभेद' भी सर्वदर्शनसग्राहक ग्रंथ कहा जा सकता है। उसमें सभी प्रधान शास्त्रों का परिगणन किया है। तदनुसार वेद के उपागो में पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र का संग्रह किया गया है। और उनके मतानुसार वैशेषिक दर्शन का न्याय, वेदान्त का मीमांसा में तथा सांख्य और पातञ्जल, पाशुपत और वैष्णव आदि का धर्मशास्त्र में समावेश है।[1] और इन सभी को उन्होंने 'आस्तिक' माना है।[2]

मधुसूदन सरस्वती ने नास्तिकों के भी छह प्रस्थानों का उल्लेख किया है। वे ये हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—ये चार सौगत प्रस्थान तथा चार्वाक और दिगम्बर।[3] मधुसूदन का कहना है कि शास्त्रों में इन प्रस्थानों का समावेश उचित नहीं क्योंकि वेदबाह्य होने से पुरुषार्थ मे परम्परा से भी म्लेच्छ आदि प्रस्थानों की तरह उनका कोई उपयोग नहीं है।[4] सारांश यह है कि उनके मत में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा—इन छह प्रसिद्ध वैदिक दर्शनो के अलावा पाशुपत और वैष्णव=पाचरातो का भी वैदिक आस्तिक दर्शनों में समावेश है। और नास्तिक अवैदिक दर्शनों मे भी छह दर्शन उनको अभिप्रेत है।

वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान उन्होंने यह कहकर किया है कि ये सभी मुनि भ्रान्त तो हो नहीं सकते क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। किन्तु बाह्य विषय मे लगे हुए लोगों को परमपुरुषार्थ मे प्रविष्ट होना कठिन होता है अतएव नास्तिको का निराकरण करने के लिए इन मुनियो ने प्रकार भेद किये है। लोगो ने इन मुनियो का आशय समझा नही और कल्पना करने लगे कि वेद से विरोधी अर्थ में भी इन मुनियों का तात्पर्य है और उसी का अनुसरण करने लगे है।[5]

षड्दर्शनसमुच्चय की सोमतिलककृत वृत्ति के अन्त मे 'लघुषड्दर्शनसमुच्चय' के नाम से अज्ञातकर्तृक एक कृति मुद्रित है उसके प्रारम्भ मे—

जैनं नैयायिकं बौद्धं काणादं जैमनीयकम्।
सांख्यं षड्दर्शनीयं [च] नास्तिकीयं तु सप्तमम्॥

यह कारिका देकर क्रमशः उक्त दर्शनो का परिचय अति संक्षेप में दिया गया है। अन्त मे अन्य दर्शनों को दुर्नयकोटि में रख कर जैन दर्शनों को 'प्रमाण बताया ग है। इससे सिद्ध है कि इसका कर्ता कोई जैन लेखक है।

[षड्दर्शन समुच्चय की भूमिका से साभार]

१. प्रस्थानभेद (पुस्तकालय स० स० मंडल, बरोडा, ई० १९३५) पृ० १।
२. वही प० १। ३. पृ० ५।
४. पृ० ५।
५. प्रस्थानभेद पृ० ५७।
६. मुक्ताएाई ज्ञानमन्दिर, उभोई द्वारा प्रकाशित।

अनेकान्त का अगला अंक

अनेकान्त का अगला अंक संयुक्तांक होगा तथा फरवरी के अन्तिम सप्ताह में प्रकाशित होगा। अनेकान्त के तेईसवें वर्ष के इस पूर्णांक मे महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री तथा तेईसवें वर्ष के अंकों में प्रकाशित शोध निबन्धों की अनुक्रमणिका भी रहेगी। चौबीसवें वर्ष के प्रथम अंक से ही अनेकान्त को अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बनाने के विभिन्न प्रयत्न किये जा रहे हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर २१, दरियागंज
दिल्ली।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
२५१) श्री शिखरचन्द जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१ श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन, मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, [illegible]बाई (राज०)
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दोर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूपित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५·००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८·००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २·००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १·५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १·५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युतम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३·००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४·००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४·००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १·२५

(१५ महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·१६

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १·००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२·००

(२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७·००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५·००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०·००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६·००

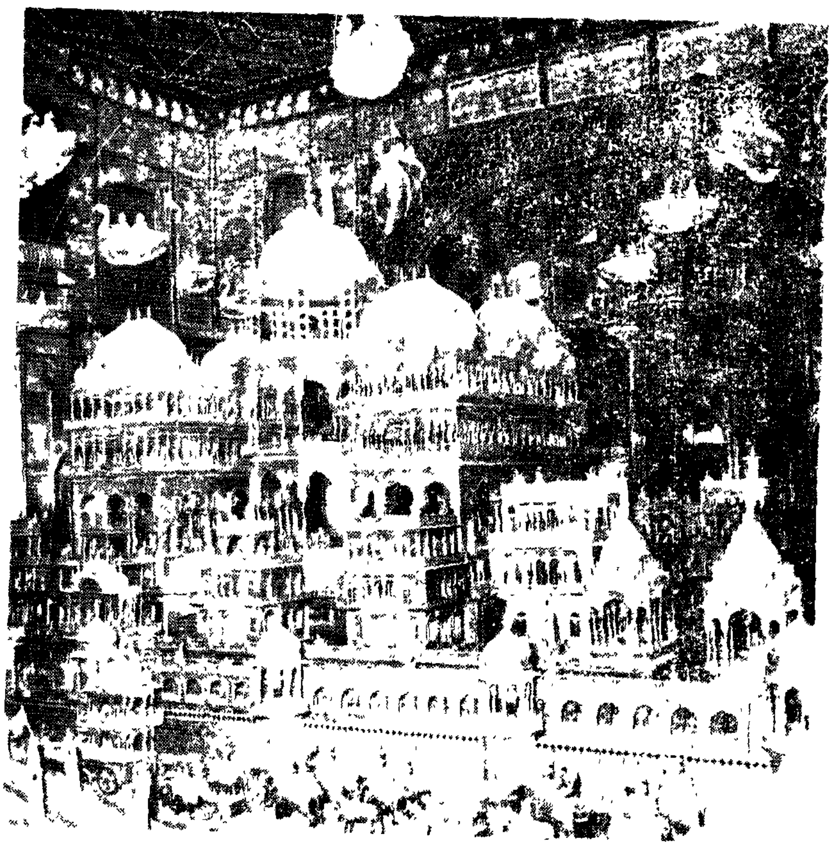
प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

दिसम्बर १९७०
फरवरी १९७१

अनेकान्त

वर्ष २३ : किरण ५-६



सोनी जी का मन्दिर, अजमेर. दूसरा खण्ड, भीतरी दृश्य

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१. श्रीअरिष्टनेमिजिनस्तवनम्—आचार्य समन्तभद्र १९३
२. धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य —डा० आ० ने० उपाध्ये १९४
३. भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों की देन —डा० दरबारीलाल कोठिया २०७
४. अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विचार —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री २१२
५. कुवलयमाला मे उल्लिखित राजा अवन्ति —प्रो० प्रेमसुमन जैन २२१
६. शान्तिवर्णीकृत प्रमेयकण्ठिका —डा० गोकुलचन्द्र जैन २२५
७. आराधनासमुच्चय का रचना-स्थल —पं० के० भुजबली शास्त्री २३४
८. तिलकमंजरी : एक प्राचीन कथा —डा० वीरेन्द्रकुमार जैन २३५
९. ज्ञात कवियों की कतिपय अज्ञात हिन्दी रचनाएँ डा० गंगाराम गर्ग २४०
१०. दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर प्रतिमाएँ —श्री मारुतिनन्दन तिवारी २४२
११. वत्स जनपद का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास —डा० शशिकान्त २४६
१२. जैन दर्शन में आत्मद्रव्य विचार —श्री मुक्ताप्रसाद जैनदर्शनाचार्य २५१
१३. राजस्थान सेमिनार— —प्रो० प्रेमसुमन, प्रकाश परिमल २५८
१४. साहित्य-समीक्षा
 १. भरत और भारत
 २. मुसङ्गीत जैन पत्रिका
 ३. दिल्ली जैन डायरेक्टरी
 —पं० बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री २६१

आगामी अंक के कुछ विशेष लेख

१. जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान की प्रगति के बढ़ते चरण।
२. कोशल जनपद के प्राचीन जैन तीर्थ।
३. जैन शिल्प मे सरस्वती की मूर्तियाँ।
४. भगवान महावीर के पच्चीस सौवे निर्वाण महोत्सव की अखिल भारतीय योजनाएँ।

वीर सेवा मन्दिर के सदस्यों को अनेकान्त भेंट :

वीर सेवा मन्दिर के द्वारा सचालित विभिन्न साहित्यिक और सास्कृतिक प्रवृत्तियो को गति देने और उनमे सक्रिय सहयोग देने के लिए आप भी इसके सदस्य बन सकते है। सदस्यो को सस्थान का मुखपत्र अनेकान्त भेट स्वरूप तथा प्रकाशित ग्रन्थ निर्धारित कम मूल्य मे उपलब्ध होते है। जिन सदस्यो का वार्षिक सदस्यता शुल्क अभी तक नही आया है, उनसे अनुरोध है कि यथा शीघ्र भेजने का कष्ट करे।

व्याख्यानमाला

श्रमण संस्कृति तथा जैन धर्म के विषय मे जिज्ञासा दिनो-दिन बढ रही है। इस विषय में प्रामाणिक एव पर्याप्त जानकारी दी जा सके, इस उद्देश्य मे श्रमण सस्कृति तथा जैन धर्म के विभिन्न अंगो—धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, कला, पुरातत्त्व आदि विषयो पर एक व्याख्यानमाला आयोजित की गई है। इसके अन्तर्गत क्रमश. एक-एक विषय पर उस विषय के विशेषज्ञ एव ख्याति प्राप्त विशिष्ट विद्वानो के गवेषणापूर्ण तथा स्थायी महत्त्व के व्याख्यान होगे। व्याख्यानमाला का शुभारंभ ७ मार्च को मध्याह्न २ बजे, वीर सेवा मन्दिर मे मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज के मंगल प्रवचन द्वारा होगा।

संयोजक : डा० गोकुलचन्द्र जैन

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३ किरण ५-६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | दिसम्बर १९७०

वीर निर्वाण संवत् २४९७, वि० सं० २०२७ | फरवरी १९७१

श्रीअरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षणः ॥
हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः ।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥

अर्थ—विकसित कमलदल के समान दीर्घ नेत्रों के धारक और हरिवश में ध्वजरूप हे अरिष्टनेमि जिनेन्द्र, आप भगवान् ऋषि और शील-समुद्र हुए है; आपने परमयोग रूप शुक्ल ध्यानाग्नि से कल्मषेन्धन को भस्म किया है और ज्ञान की विपुल किरणों से सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोक को जानकर आप निर्दोष विनय तथा दम रूप तीर्थ के नायक हुए है, आप जरा से रहित और भव से विमुक्त हुए हैं ।

—समन्तभद्र : स्वयम्भू स्तोत्र

धनञ्जयकृत द्विसन्धान महाकाव्य

डा० आ० ने० उपाध्ये

संस्कृत भाषा का अर्थ-सामर्थ्य

संस्कृत भाषा मे ऐसी उर्वरा सामर्थ्य है कि उसमे एक उक्ति एक से अधिक अर्थों को व्यक्त करती है। सर्वप्रथम एक ही शब्द, चाहे वह क्रिया हो या संज्ञा, विभिन्न अर्थ रखता है जिसका सही निश्चय सन्दर्भ के अनुसार किया जा सकता है। इस प्रकार के पद संस्कृत कोशो मे, जिन्हे अनेकार्थ या नानार्थ कोश कहा जाता है संगृहीत हैं। दूसरे एक दीर्घ समस्त पद अक्षरो के विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत वियोजित होने पर भिन्न शब्दो और भिन्न अर्थों को प्रकट करते है। तीसरे, एक-एक संयुक्त पद की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है और संयोजित शब्दो के सम्बन्ध के अनुसार उसका अर्थ बदल जाता है।

संस्कृत कवियो के निर्माण मे यह अनिवार्य उपस्करण था कि उन्हे शब्दकोश तथा व्याकरण के सूत्र कण्ठस्थ होने चाहिए। इस प्रकार से दक्ष कवि (विदग्ध कवि) संस्कृत की इस प्रकृति का लाभ सहज ही ले सकता था। यह प्रवृत्ति उतनी ही पुरानी है जितना संस्कृत का उपयोग। जैसे 'इन्द्रशत्रु' इस समस्त पद में स्वरचिह्न कैसे और क्यों सही सम्बन्ध अभिव्यक्त करते है। संस्कृत के इस पक्ष ने दोहरी अर्थवत्ता या श्लेष को तथा घुमावदार कथन या वक्रोक्ति को जन्म दिया जो काव्यालंकरण माने जाते थे, जब मितव्ययिता और प्रभावकारी ढंग से सुबन्धु और बाण जैसे नैसर्गिक प्रभावशाली कवियों द्वारा उपयोग किये गये।

सविशेष रूप से दक्षता प्राप्त प्रतिभा तथा कतिपय कवियो के श्रमपूर्ण प्रयत्नो ने संस्कृत के इस लचीलेपन को बेहिसाब हद तक विकृत किया है जिसका परिणाम सधान काव्यो मे स्पष्ट रूप से देखा जाता है। राघवपाण्डवीय (१-३७-८, काव्यमाला, ६२; बम्बई १८९७) में कविराज ने ठीक ही कहा है—

> प्रायः प्रकरणैक्येन विशेषण-विशेष्ययोः।
> परिवृत्त्या क्वचित्तद्वदुपमानोपमानयोः॥
> क्वचित्पदैश्च नानार्थैः क्वचिद्वक्रोक्तिभङ्गिभिः।
> विधास्यते मया काव्यं श्रीरामायणभारतम्॥

प्राप्त विवरण से पता चलता है कि जब अकबर १५९२ ई० मे कश्मीर जाते हुए लाहौर रुके तो उनके आमन्त्रण पर जिनचन्द्र सूरि उनकी विद्वत्सभा मे गये। वहाँ उनके शिष्य समयसुन्दर ने उनके द्वारा बनायी गयी एक कृति (अष्टलक्षार्थी ग्रन्थ) को बादशाह के सामने पढ़ा। यह अष्टलक्षी थी। उन्होने बादशाह को स्पष्ट किया कि इसमें तीन साधारण संस्कृत शब्दों का एक वाक्य है—'राजानो ददते सौख्यम्' जिसकी व्याख्या आठ लाख प्रकार से की जा सकती है। यह कृति प्राप्य है तथा मुद्रित और प्रकाशित हो चुकी है। (देखे भानुचन्द्रचरित, प्रस्तावना, पृष्ठ १३, सम्पा० एम० डी० देसाई, सिन्धी जैन सीरीज, संख्या १५, बम्बई १९४१)। सौ अर्थ देने वाले पद्य, जिन्हें शतार्थी कहा जाता है, के उदाहरण उपलब्ध है, उदाहरण के रूप मे सोमप्रभ चरित को लिया जा सकता है (ई० ११७७-७९, एम० विन्टरनित्ज, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग दो पृष्ठ ५७३, तथा एच० डी० वेलणकर, जिनरत्नकोश, पूना १९४४, पृष्ट ३७१)।

सन्धान काव्य

१—हेमचन्द्र (१०८९-११७२ ई०), जिनके द्वयाश्रय काव्य संस्कृत तथा प्राकृत दोनों मे सुविदित है, ने एक सप्तसन्धान काव्य रचा बताते है (देखे जि० को० पृष्ठ ४१६), किन्तु अभी तक यह प्रकाश मे नही आया। इसी नाम का एक और काव्य मेघविजयगणि (१७०३ ई०) द्वारा लिखित है। यह नौ सर्गों का एक संक्षिप्त काव्य है।

इसके प्रत्येक श्लोक से सात अर्थ निकलते है पाँच तीर्थंकरों के तथा राम और कृष्ण विषयक। यह जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला ३, बनारस १९१७ में प्रकाशित हैं। २—कवि शान्तिराज कृत स्वोपज्ञ टीका सहित पंचसधान काव्य उपलब्ध है। जैन मठ कारकल (सा० क०) मे इसकी दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध बतायी जाती है। अब तक यह प्रकाशित नही हुआ है (देखें, कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची, बनारस १९४८, पृष्ठ २९१)। ३—चिदम्बर कृत राघव-पाण्डवीय-यादवीय (विन्टरनित्ज हि० इं० लि० भाग ३, आई, पृष्ठ ८३) त्रिसन्धान काव्य है, प्रत्येक पद्य से तीन अर्थ निकलते है—एक रामायण से सम्बन्धित, दूसरा महाभारत तथा तीसरा भागवतपुराण से सम्बन्धित।

द्विसन्धान की विशेष लोकप्रियता

द्विसन्धान पद्धति अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है और उसके कुछ नमूने हमारे समक्ष है। (१) नेमिनाथचरित एक साथ ऋषभ और नेमि जिन की जीवनी को व्यक्त करने वाला एक सस्कृत द्विसन्धानकाव्य है। धार नरेश भोज के समय १०३३ मे द्रोणाचार्य के शिष्य सूराचार्य ने इसकी रचना की थी (देखे जि० को० पृ० २१६)। (२) रामपालचरित काव्य सन्ध्याकरनन्दि ने रचा है। इसके प्रत्येक पद्य के दो अर्थ है एक नायक नाम से सम्बन्धित, दूसरा राजा रामपाल से सम्बन्धित, जो ग्यारहवी शताब्दी मे बगाल के शासक थे (विन्टरनित्ज, हि० इ० लि० भाग तीन, खण्ड १, पृ० ८२)। (३) नाभेय-नेमिकाव्य (ईसवी बारहवी शती का प्रारम्भ अनुमानित) स्वोपज्ञ टीका युक्त एक द्विसन्धान काव्य है। इसके लेखक मुनि चन्द्रसूरि के प्रशिष्य तथा अजितदेव सूरि के शिष्य हेमचन्द्र सूरि है। कवि श्रीपाल ने, जो सिद्धराज तथा कुमारपाल राजाओ के समकालीन थे, इस रचना को सशोधित किया था। इसमे ऋषभ तथा नेमि जिन के चरित्र का वर्णन है। (४) सूरि या पडित नाम से ज्ञात कविराज, जिनका सही नाम सम्भवतया माधव भट्ट था, कृत राघवपाण्डवीय एक द्विसन्धान काव्य है। यह एक साथ रामायण तथा महाभारत की कथा कहता है। जयन्तीपुर के कदम्बवंशीय नरेश कामदेव (११८३-९७ ई०) उनके आश्रयदाता थे, जिनकी उन्होंने खुलकर प्रशंसा की (१.१३)। उन्होंने उनकी तुलना धारा के मुंज (९७३-९५ ई०) से की है। उनका समय ईसा की बारहवीं शती का अन्तिम चरण माना जा सकता है। (५) हरदत्त जिनका समय निश्चित नहीं है, ने राघव-नैषधीय की इस प्रकार की पद्य रचना की है कि प्रत्येक पद्य के दो अर्थ हैं—एक राम से सम्बन्धित, दूसरा नल से सम्बन्धित। इस प्रकार की कुछ और भी रचनाएँ है। (६) वेंकटाध्वरिन् कृत यादवराघवीय राम की कथा कहती है, किन्तु उलटा कहने पर कृष्ण कथा कहती है। (७) पार्वतीरुक्मिणीय मे दो विवाहों की कहानी है—एक शिव और पार्वती की तथा दूसरी कृष्ण और रुक्मिणी की (विंटरनित्ज, हि० इं० लि० भाग ३, आई, पृ० ८३)।

धनंजय कृत द्विसन्धान

१—पाण्डुलिपियाँ तथा टीकाएँ—धनंजयकृत द्विसन्धानम् (द्विसं०) द्विसन्धानकाव्य अथवा राघवपाण्डवीय (रा० पा०) यदि उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन द्विसन्धान न भी माना जाए तो भी प्राचीनों मे से एक अवश्य है। धनजय के समय तक यह (द्विसन्धान) नाम पर्याप्त प्रचलित हो चुका होगा। इसकी पाण्डुलिपियाँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। (जि० को० पृ० १८५, क० ता० ग्र० पृ० १२१-२) इसकी कतिपय टीकाओं का भी पता चलता है।

१. विनयचन्द्र के प्रशिष्य देवनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी।

२ पुष्पसेनशिष्य कृत टीका।

३. कवि देवर कृत टीका। वे रामघाट (परवादि धरट्टि के नाम से ख्यात) के पुत्र थे। यह उन्होंने अपने आश्रयदाता अरलु श्रेष्ठिन् के लिए लिखी थी। कहा जाता है कि इस टीका का नाम राघवपाण्डवीयपरीक्षा है। अरलु श्रेष्ठिन् कीर्ति कर्नाटक के एक बडे व्यापारी तथा जैन धर्म के प्रति तीव्र आस्थावान् तथा जया के पुत्र थे। उनमें नैसर्गिक अच्छे गुण थे तथा वे कवियों के आश्रयदाता (संरक्षक) थे। देवर ने प्रारम्भ में अमरकीर्ति, सिंहनन्दि, धर्मभूषण, श्री वर्धदेव तथा भट्टारक मुनि को नमस्कार किया है (जि० को० पृ० १८५ तथा क० ता० ग्र० पृ० १३१-२)। देवर की टीका की एक प्रति ताडपत्र पर कन्नड लिपि मे जैन सिद्धान्त भवन, आरा में है, (देखें,

जैन हितैषी १५, पृ० १५३-५४)।

पूर्वप्रकाशन तथा यह संस्करण

धनंजय कृत द्विसन्धान सन् १८९५ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला संख्या ४९ मे बद्रीनाथ की टीका जो कि विनयचन्द्र के प्रशिष्य तथा देवनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र की टीका का संक्षिप्तीकरण है, के साथ प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत सस्करण मे विनयचन्द्र के प्रशिष्य तथा देवनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका शामिल की गयी है। प्रत्यक्ष ही काव्यमाला संस्करण में दी गयी बद्रीनाथ की टीका इस टीका पर आधारित है। सूक्ष्म रूप से तुलना करने पर पता चलता है कि बद्रीनाथ ने कतिपय विस्तार को छोड़ दिया तथा संक्षिप्त किया और अपना ध्यान मूल की व्याख्या करने में अधिक रखा।

धनंजय की कृतियां

परम्परानुसार धनजय की तीन कृतियाँ मानी जाती है: (१) विषापहार स्तोत्र (२) नाममाला तथा (३) द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय।

विषापहारस्तोत्र (काव्यमाला ७, बम्बई १९२६) ऋषभजिन की स्तुतिरूप लिखित एक ४० पद्यो (३९ उपजाति तथा अन्तिम पुष्पिताग्रा) की धार्मिक स्तुति है। यह पूर्ण रूप से सरल शब्दावली में प्रभावकारी कल्पना और उपमाओं मे रची गयी है। अन्तिम पद्य श्लेष से धनंजय का नामोल्लेख करता हुआ इस प्रकार है:

वितरति विहिता यथाकथचिज्-
जिनविनताय मनीषितानि भक्तिः।
त्वयि नुतविषया पुनर्विशेषाद् दिशति
सुखानि यशो धनं जयं च ॥४०॥

दक्षिण कर्नाटक मे मूडबिद्री के जैन मठ मे इसकी एक सस्कृत टीका उपलब्ध है। (देखे, क० ता० ग्र० पृष्ठ १९२-३)। सम्भवतया इसका नाम इसके १४वे श्लोक के प्रथम शब्द से पडा और इस पद्य के साथ एक अनुश्रुति सम्बद्ध हो गयी कि इसका पाठ विष का नाश करता है। इसके कुछ विचार सकेत जो कि अपनी संचेतना मे पर्याप्त रूपसे परम्परागत है, आदिपुराण मे जिनसेन ने तथा सोमदेव ने यशस्तिलक मे ग्रहण किए है (देखे प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १०९, ff बम्बई १९५६)।

नाममाला (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५०) जिसे कुछ पाण्डुलिपियों में धनजय निघण्टु भी कहा गया है, पर्यायवाची शब्दों का एक सस्कृत शब्दकोश है। इन्हीं के नाम से एक अनेकार्थ नाममाला भी मानी जाती है। नाममाला के अन्त में निम्नलिखित तीन पद्य है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥२०१॥
कवेर्धनंजयस्येयं सत्कवीनां शिरोमणेः।
प्रमाणं नाममालेति श्लोकानां हि शतद्वयम् ॥२०२॥
ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात् तुषाराचल-
स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदीव्याजात्तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधिध्वानोपदेशादहो,
फूत्कुर्वन्ति धनंजनस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ॥२०३॥

कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे निम्नलिखित दो श्लोक सम्भवतया २०१ प्रमाण इत्यादि के बाद प्राप्त होते है:—

जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्मृतः।
कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि ॥
कवयः कवयश्चेति बहुत्व दूरमागतम्।
विनिवृत्तं चिरादेतत् कलौ जाते धनंजये ॥

ये पद्य श्री एस० वी० वी० वीर राघवाचेरियर ने अपने निबन्ध, जिसकी नीचे समीक्षा की गयी है, मे पुनरुद्धृत किये है। यह एक मजे की बात है कि पहला पद्य (तीसरे पाद मे किंचित् अन्तर के साथ—व्यासे जाते कवी चेति) जल्हण ने अपनी सूक्ति मुक्तावलि (बड़ौदा १९३८) में कालिदास का बताया है। इसमें दण्डिका सन्दर्भ है इसलिए यह कालिदास का बनाया नही हो सकता है।

द्विसन्धान की रचना से धनंजय की कवि-योग्यताएँ प्रमाणशास्त्र मे अकलंक तथा व्याकरण मे पूज्यपाद के समकक्ष सिद्ध होती है, एक वास्तविक रत्नत्रय, सभी विशिष्ट तथा अप्रतिम। इन पद्यो में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि द्विसन्धान तथा नाममाला का लेखक एक ही व्यक्ति है। यह स्वाभाविक है कि एक कवि जिसका सस्कृत शब्दो के समुद्र पर अधिकार हो, वह द्विसन्धान काव्य सहज ही लिख सकता है।

धनंजय का व्यक्तिगत परिचय

धनजय ने अपने को अकलंक तथा पूज्यपाद के सम-

कक्ष बताने के अतिरिक्त अन्य कोई परिचयात्मक जानकारी नहीं दी। द्विसन्धान सर्ग १८, श्लोक १४६ जिसमे अत्यधिक श्लेष है, के आधार पर निम्नलिखित परिचयात्मक विवरण निकाला है। धनजय वासुदेव तथा श्रीदेवी के पुत्र थे। उनके गुरु का नाम दशरथ था। वे दशरूपक के लेखक से भिन्न हैं।

धनंजय तथा उनकी कृतियों के विषय में सन्दर्भ

धनंजय तथा उनके काव्य को पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई है और उनकी कविता को यह वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है कि वह द्विसन्धान कवि कहलाने लगे। द्विसन्धान शब्द या नाम दण्डि (७वी शताब्दी अनुमानित) जितना प्राचीन तो प्रतीत होता ही है, तथा भोज के निम्नलिखित उद्धरण स्पष्ट बताते है कि धनंजय की तरह दण्डि ने भी द्विसन्धान प्रबन्ध रचा था, जो यद्यपि हमे उपलब्ध नही हुआ। सम्भवतया काव्यादर्श और दशकुमारचरित के अतिरिक्त यह उनका तीसरा ग्रन्थ था।

जैसा कि आर० जी० भण्डारकर (नीचे देखें) ने स्पष्ट किया है कि वर्धमान (११४१-११४६ ई०) ने अपने गुणरत्नमहोदधि पृष्ठ ४३५, ४०६ तथा ६७ एगलिग एडीशन मे धनंजय कृत द्विसन्धान के पद्य ४।६, ६।५१ तथा १८।२२ उद्धृत किए है।

भोज (११वी शती ईसवी का मध्य) के अनुसार द्विसन्धान उभयालकार के कारण होता है। यह तीन प्रकार का है—वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध। प्रथम वाक्यगत श्लेष है, द्वितीय अनेकार्थक स्थिति है तथा तीसरा राघवपाण्डवीय की तरह पूरा काव्य दो कथाओं को कहने वाला है। भोज ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि दण्डि ने रामायण तथा भारत की कथा पर द्विसन्धान काव्य की रचना की थी।

"तृतीयस्य यथा दण्डिनो धनंजयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धौ रामायणमहाभारतार्थावनुबध्नाति।" जिल्द २, पृष्ठ ४४४ (वी० राघवन्, भोजकृत—शृगारप्रकाश, पृ० ४०६, मद्रास १९६३) हमारे लिए सर्वाधिक रुचिकर यह है कि भोज ने धनजय और उनके द्विसन्धान का उल्लेख किया है। साथ-साथ दण्डि के द्विसन्धानप्रबन्ध का उल्लेख है।

प्रभाचन्द्र (११वीं शती ईसवी) ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९१२, पृष्ठ ११६, पक्ति एक बम्बई १९४१ पृष्ठ ४०२) मे द्विसन्धान का उल्लेख किया है।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेरश्रुतकाव्यादिवत्। तन्न प्रतिपत्तावतीन्द्रियार्थदर्शिना किंचित्प्रयोजनमित्यप्यसारम्। लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितेरन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियमस्तेषामप्यनेकप्रवृत्तिद्विसन्धानादिवत्।

वादिराज ने १०२५ ई० मे लिखे अपने पार्श्वनाथचरित (बम्बई, १९२६) मे धनंजय तथा एकसे अधिक सन्धान में उनकी प्रवीणता का उल्लेख किया है (१।२६)।

अनेकभेदसंधाना खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रिया कथम्॥

जैसा कि के० बी० पाठक ने स्पष्ट किया है, दुर्गसिंह (१०२५ ई० अनुमानित) ने अपने कन्नड़ पचतन्त्र (मैसूर १८९८) मे धनंजय के राघवपाण्डवीय का इन शब्दों मे उल्लेख किया है—

अनुपमकविव्रजं जो-
येने राघवपाण्डवीय पेलदु यशो-
वनिताधीश्वरनादं
धनंजयं वाग्वधूप्रियं केवलने ॥८॥

डॉक्टर बी० एस० कुलकर्णी, धारवाड़, ने सूचित किया है कि आरा स्थित पचतन्त्र की ताडपत्रीय प्रति मे पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख करने वाले ये सब पद्य नहीं है।

विद्वानों मे इस विषय मे मतभेद है कि एक ही नागवर्मा हुए अथवा विभिन्न समयो मे दो नागवर्मा (९९० तथा ११४५ ई० अनुमानित)। उनके बताये जाने वाले इस या उस ग्रन्थों के नाम से (कर्नाटक कविचरित, बेंगलौर, १९६१, पृ० ५३, १५४ इ०) कन्नड़ में छन्दशास्त्र पर लिखित उनके छन्दोम्बुधि ग्रंथ मे निम्नलिखित पद्य मिलते हैं—

जितबाणं हरियंतधःकृतमयूरं तारकारातियंततिमाद्यं
शिशिरांशुवदंते सुरपप्रोच्चंडकोदंडदं-।

ते तिरोभूतगुणाढ्यनञ्जनवंताविर्भद्दंडिभारतवंतात्त-धनंजयैकविभवं वाग्गुफदोलनाकिगं ॥

यहाँ पूर्वकवियो मे धनंजय का उल्लेख किया गया है। आर० नरसिंहाचार्य का मत है कि यह द्विसन्धान के रचयिता धनंजय का उल्लेख है, किन्तु ए० वेंकट सुब्बय्या का मत है कि दशरूपककार धनजय का उल्लेख अभिप्रेत [3]।

जल्हण (१२५७ ई० अनुमानित) ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर (६०० ई० अनुमानित) के मुंह से धनंजय के विषय मे निम्नलिखित पद्य कहा है (गा० ओ० सी० स०, ८२, बडौदा १६३८, पृष्ठ ४५)

द्विसन्धा। निपुणतां स तां चक्रे धनंजय ।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः ॥

यह लेखक के नाम का धन तथा जय रूप पृथक्करण ठीक वैसा ही है जैसा स्वयं धनजय ने अपने काव्य म किया है।

जैसा कि डॉ० हीरालाल जैन ने षड्खण्डागम धवला-टीका सहित, जिल्द १, अमरावती १६३८, प्रस्तावना पृ० ६२, वीरसेन (वही जिल्द ६, पृ० १४) ने इति की व्याख्या मे उपयोगी एक पद्य उद्धृत किया है। यह ठीक वैसा ही है जैसा धनंजयकृत नाममाला का ३६वां पद्य।

धनंजय का समय

उपर्युक्त संदर्भ हमे धनंजय का समय निर्धारित करने में मदद करते है। अकलंक (७-८वी शती ईसवी) तथा वीरसेन जिन्होंने ८१६ ईसवी मे धवला टीका पूर्ण की थी के मध्य मे हुए। धनंजय का समय ८०० ईसवी अनुमानित निर्धारित किया जा सकता है। किसी भी प्रकार वह भोज (११वीं शती का मध्य) जिन्होंने स्पष्ट रूप से उनका तथा उनके द्विसन्धान का उल्लेख किया है, से बाद के नहीं हो सकते।

द्विसन्धानकाव्य

धनजयकृत द्विन्धान मे १८ सर्ग है तथा कुल श्लोक संख्या ११०५ जो कि विभिन्न छन्दो मे लिखे गये है (सूची अन्त मे)। प्रारम्भिक मंगल पद्य मे मुनिसुव्रत या नेमिका स्मरण किया है, उसके बाद सरस्वती की प्रशंसा की गयी है। दिगम्बर जैन लेखकों की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि कथा राजा श्रेणिक के लिए गौतम द्वारा कही गयी बतायी जाती है। लेखक ने घटनाओ के वर्णन की अपेक्षा विशिष्ट वर्णनो पर अधिक बल दिया है। अधिकाश श्लोक अलंकारयुक्त है और टीकाकार ने उनको पूरी तरह अंकित किया है। अन्तिम अध्याय (विशेष रूप से श्लोक संख्या ४३ से आगे) मे लेखक ने अनेक शब्दालंकारों का चित्रांकन किया है, जैसा कि भारवि, माघ तथा अन्य कवियो मे समान रूपसे मिलता है, श्लोक संख्या १४३ सर्वगत प्रत्यागत का उदाहरण है यह मानकर कि सर्गों के अन्त मे दिए हुए पुष्पिकावाक्य (१, २, १६वे सर्गों मे उपलब्ध नही है) लेखकके स्वय के है, यह स्पष्ट है कि उन्होने अपना नाम धनजय, या धनजय कवि, अथवा द्विसन्धान-कवि दिया है तथा अपनी कृति को द्विसन्धान काव्य अथवा अपर नाम राघवपाण्डवीय महाकाव्य कहा है। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे अन्तिम पद्य मे श्लेष से अपना नाम धनजय दिया है जैसा कि विषापहार स्तोत्र मे। इसका अनुकरण राजशेखर के नाम से अभिहित पद्य मे जल्हण ने किया है।

यदि द्विसन्धान नाम रचना पद्धति को व्यक्त करता है, जैसे प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ या व्याख्या की जा सकती है, तो दूसरा नाम राघवपाण्डवीय काव्य की विषयवस्तु का आभास देता है कि यह एक साथ राम तथा पाण्डवों की कथा कहता है। इन दोनों से सम्बद्ध कथा-परम्परा भारतीय सांस्कृतिक विरासत का ऐसा अपरिहार्य अंग है कि कोई भी कवि जो एक साथ दो विषय लेना चाहता है, उस ओर अभिमुख होता है विशेषतया इसलिए कि उन दोनो का वर्णन करने वाले तथा वैकल्पिक चुनाव प्रस्तुतिकरण के लिए बड़ी संख्या में विस्तृत विवरण प्रदान करने वाले महाकाव्य उपलब्ध है। राघवपाण्डवीय नाम पर्याप्त प्रचलित है। धनंजय के अतिरिक्त कविराज, श्रुतकीर्ति आदि कवियो ने इसे चुना है तथा इसी तरह के शीर्षक राघव-यादवीय, राघव-पाण्डव-यादवीय उपलब्ध है।

धनंजय के काव्य का प्रथम शीर्षक द्विसन्धान है और

दण्डि के बाद वह इस विधा के पुरस्कर्ता प्रतीत होते है : राघव-पाण्डवीय मात्र दूसरा शीर्षक है ।

धनंजय तथा कविराज कृत राघव-पाण्डवीय

धनंजय तथा कविराज के काव्य की तुलना रुचिकर है । धनंजय के काव्य का एक नाम राघव-पाण्डवीय है जो कि कविराज के काव्य का मूल शीर्षक है । धनजय के काव्य मे अठारह सर्ग तथा ११०५ पद्य है, जब कि कविराज के काव्य मे तेरह सर्ग तथा ६६४ पद्य है। धनंजय ने श्लेष से अपने नाम का उल्लेख किया है जबकि कविराज ने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में अपने आश्रय-दाता कामदेव का नामोल्लेख किया है । वास्तव मे उनका काव्य कामदेवाक है । इन दोनों काव्यो की विषयवस्तु की पूर्ण तुलना एक प्रबन्ध का विषय है । साधारणतया पढने पर लगता है कि इन दोनो काव्यों मे कोई बहुत बडी समानता नही है । धनंजय के वर्णन अधिक है जब कि कविराज ने श्लेष की बाध्यता के बावजूद अपनी कथा के विवरणो को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है (देखे १.५४, ६६ आदि) । जहाँ तक श्लेष का सम्बन्ध है कविराज भाषा पर अधिक योग्यता तथा अधिकार व्यक्त करते है । धनजय का काव्य सर्वोच्च काव्य का प्रतीक स्मारक कहा जाता है । नि.सन्देह उनका पाण्डित्य विशाल है, विशेषरूप से नीतिशास्त्र का और उनके कतिपय अर्थान्तरन्यास वास्तव मे गम्भीर एव प्रभावकारी हैं। कविराज की शैली सहज तथा सक्षिप्त है जबकि धनजय ने प्रायः कठिन सस्कृत लिखी है, जिसे समझने के लिए प्रायः प्रयत्न की अपेक्षा होती है । उनके वर्णनो की प्रस्तुति मे द्व्यर्थक श्लोक बहुत कम है जब कि कविराज की रचना मे यह सामान्य बात है। जहा तक हमने देखा है इन दोनों काव्यो मे किचित् ही ऐसा होगा जिसे एक दूसरे का अनुकरण कहा जा सके ।

श्रुतिकीर्ति और उनका राघव-पाण्डवीय

एक और कवि है श्रुतिकीर्ति त्रैविद्य जिन्होंने गत-प्रत्यागत पद्धति से राघव-पाण्डवीय की रचना की, जो विद्वानों के लिए आश्चर्य और औत्सुक्य की वस्तु है, जैसा कि नागचन्द्र या अभिनव पम्प ने अपने कन्नड मे लिखित रामचन्द्रचरित पुराण (पाण्डुलिपि) या पम्परामायण (१.२४-५, बगलोर, १९२१) में लिखा है—

आवों वादिकथात्रयप्रवणदोल् विद्वज्जनं मेच्चे
विद्यावष्टंभमनप्पुकेय्दु परवादिक्षोणिभृत्पक्षभ ।
देवेंद्रं कडितंददिंदे कडिदं स्याद्वादविद्यास्त्रदिं
त्रैविद्यश्रुतकीर्ति दिव्यमुनियोल् विख्यातियं ताळ्दिं ।।२४।।
श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रति राघवपाण्डवीयमं विबुधचमत्-
कृतियेनिसि गतप्रत्या-
गतदितेल्दमलकीर्तियं प्रकटिसिदं ।।२५।।

ये दो पद्य श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख सख्या ४० सी ६४ सन् ११६३ ई० मे उद्धृत है । इन श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का उल्लेख तेरदाल के ११२३ ईसवी के एक शिलालेख में है—

नतु परवादीभपचाननर सधर्म्मरु । श्रुतकीर्तित्रैविद्य-व्रतिपर् षट्तर्ककर्कशरु परवादिप्रतिभाप्रदीपपवनर् जत-दोषर् नेगलूदरखिलभुवनान्तरदोल् ।

राजा गोंकने कोल्लागिरि या कोल्हापुर के माघनन्दि सैद्धान्तिक के (निम्ब सामन्त गुरु) के लिए भेजा था तथा उनके साथी कनकनन्दी तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य थे । कोल्हापुर से प्राप्त ११३५ ईसवी के एक अन्य शिलालेख (एपिग्राफिया इडिका, जिल्द १९, पृष्ठ ३०, जैन शिला-लेख सग्रह भाग ४, बनारस १९६४, पृष्ठ १९२-९६) मे श्रुतकीर्ति का उल्लेख कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के आचार्य रूप मे हुआ है—

शकवर्षद सासिरदय्वत्तेटनेय राक्षससवत्सरद कार्तिक-बहुलपचमिसोमवारददु श्रीमूलसघदेसीयगण पुस्तकगच्छद कोल्लापुरद श्रीरूपनारायणवसदियाचार्यरप्प श्रीश्रुतकीर्ति त्रैविद्यदेवर कालं कर्चि—इत्यादि ।

नागचन्द्र ने उन्हें व्रती कहा है । उसी तरह तेरदाल शिलालेख में भी । अर्थात् ११२३ ईसवी में वे व्रती थे किन्तु ११३५ ईसवी मे एक आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे । विद्वानो की राय में (आर. नरसिंहाचार्य कर्नाटक कविचरित भाग १, बेंगलोर १९६१, पृष्ठ १२० ई०) नागचन्द्र ११०० ईसवी के लगभग हुए । इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रुतकीर्ति का समय ११०० से ११५० ईसवी के मध्य अनुमानित किया जा सकता है । अभी तक

उनके राघव-पाण्डवीय की कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हुई ।

के. बी. पाठक धनंजय तथा श्रुतकीर्ति की एकता श्रुतकीर्ति के राघवपाण्डवीय से निश्चित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे । श्रार. जी. भण्डारकर ने इसे स्वीकार करने मे संकोच ठीक ही व्यक्त किया है । किन्तु इस समानता के श्राधार पर प्रस्तावित धनजय के समय की बात मे पर्याप्त वजन है ।

धनजय तथा उनका द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय श्रुतकीर्ति श्रौर उनके राघव-पाण्डवीय से भिन्न है : सर्वप्रथम क्योकि धनजय एक गृहस्थ थे जब कि श्रुतकीर्ति एक व्रतिन् तथा बाद में एक श्राचार्य । दूसरे, न तो धनजय ही न श्रन्य स्रोत जो श्रुतकीर्ति का उल्लेख करते है, ऐसा प्रमाण देते है कि दोनों नाम एक ही कवि के है । तीसरे धनंजय की नाममाला से वीरसेन (८१६ ईसवी) ने एक पद्य उद्धृत किया है तथा उसके द्विसन्धान का विशेष रूप से धनंजय के नामोल्लेख के साथ भोज ने (१०१०-६२ ईसवी श्रनुमानित) उल्लेख किया है, जब कि श्रुतकीर्ति का समय ११०० से ११५० ठहरता है । श्रन्तत, यदि धनजय का द्विसन्धान दण्डि की समकक्षता के लिए प्रसिद्ध है श्रौर भोज (ग्यारहवी शती का मध्य) के द्वारा उल्लेख किया जा सकता है तो निश्चय ही यह श्रुतकीर्ति, जो ११३५ ईसवी मे श्राचार्य थे, की रचना नही हो सकती । इसलिए इस एकता का कोई श्राधार नही है, श्रौर इसलिए इस एकता के श्राधार पर धनजय का समय ११२३-४० ईसवी निर्धारित नही किया जा सकता ।

धनंजय के श्रध्येता

धनंजय तथा उनके द्विसन्धान ने बहुत पहले से ही विद्वानों का ध्यान श्राकर्षित किया है । यह श्रावश्यक है कि विस्तार से उनके मन्तव्यो को यहां प्रस्तुत किया जाए तथा उपर्युक्त प्रमाण सामग्री के सन्दर्भ मे जांचा-परखा जाए ।

पाठक द्वारा श्रुतकीर्ति तथा धनंजय की एकता

के. बी. पाठक ने इडियन एन्टीक्वेरी जिल्द १४, पृष्ठ १४-२६ में तेरदाल के एक कनडी शिलालेख का सम्पादन किया है । पैंतीसवी पंक्ति में उन्हें श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का नाम मिला । श्रभिनव पम्प ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का उल्लेख राघवपाण्डवीय के लेखक के रूप में किया है । मेघचन्द्र ने समाधिशतक पर कन्नड भाषा मे पम्प के सुपुत्र के निमित्त एक टीका लिखी श्रौर मेघचन्द्र के पुत्र (१) वीरनन्दि ने शक सं० १०७६ मे श्रपने श्राचारसार की रचना समाप्त की । इस उल्लेख के श्राधार पर पाठक पम्प का समय शक सवत् १०७६ के कुछ पूर्व का स्वीकार करते है । तेरदाल शिलालेख, जिसमें श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का नाम उल्लिखित है, का समय शक स. १०४५ है । "इसमे श्रौर श्राचारसार के रचनाकाल मे इक्कीस वर्ष का श्रन्तर है । श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ने शक सं. १०४५ के बाद ही श्रपने ग्रन्थ का निर्माण श्रवश्य कर लिया होगा ।" परन्तु चूंकि कवि ने श्रपना वास्तविक नाम रचना से सम्बद्ध नही किया, राघवपाण्डवीय का लेखक श्रज्ञात रहा होगा, यहाँ तक कि श्रपने समकालीनों को भी इस बात से परिचित नही कराया । श्रौर पम्प, जो जैन श्रौर कवि के रूप मे उससे श्रवश्य परिचित रहा होगा, ने उसके रचयिता के विषय मे यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सुरक्षित रखा । यहाँ फुटनोट मे के. बी. पाठक ने लिखा है कि राघवपाण्डवीय नाम के दो संस्कृत काव्य उपलब्ध है एक ब्राह्मण श्रौर दूसरा जैन । परन्तु उपर्युक्त जैन सस्कृत काव्य, जिसका रचयिता पम्प ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को बनाया, ब्राह्मण संस्कृत काव्य की श्रपेक्षा लम्बा है । श्रौर वह धनंजय की रचना के रूप में प्रसिद्ध है यहाँ श्राठवे श्रध्याय की पुष्पिका श्रौर प्रथम श्रध्याय का श्रन्तिम पद प्रस्तुत किया गया है ।" इससे स्पष्ट है कि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य श्रौर धनजय एक ही व्यक्तित्व श्रौर कृतित्व के दिग्दर्शक है । यहाँ यह उल्लेख करना श्रावश्यक नही कि धनंजय कोश के रचयिता कर्णाटक के दिगम्बर जैन है ।

पाठक का निष्कर्ष तथ्य संगत दिखाई नही देता । उनसे निर्णय में कुछ त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं । लगता है कि वे धनजय को तो रचयिता मानते है श्रौर श्रुतकीर्ति को धनजय की उपाधि स्वीकार करते है । परन्तु द्विसन्धान काव्य में उन्होने कही भी इस श्रुतिकीर्ति त्रैविद्य जैसी उपाधि का उल्लेख नहीं किया है । यहां तक कि नाममाला में भी इसका कोई जिक्र नही जिसे पाठक धनंजय

की रचना मानते हैं। दूसरे त्रैविद्य एक उपाधि है जो आगम, तर्क और व्याकरण में दक्षता पाने की सूचिका है परन्तु श्रुतकीर्ति इस प्रकार की कोई उपाधि नही, उसे तो अनेक जैनाचार्यों ने अपने नियमित नाम के रूप मे स्वीकारा है। अतएव धनजय और श्रुतकीर्ति को एक मानना युक्ति-युक्त नही। कविराज के समान श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ने भी सम्भवत: राघवपाण्डवीय लिखा होगा। वह हमे उपलब्ध नही। परन्तु उसे धनजय के राघवपाण्डवीय से पृथक् ही मानना होगा। क्योंकि धनंजय और श्रुतकीर्ति को एक व्यक्तित्व मानने के लिए कोई प्रमाण हमारे पास नही है। तीसरे, श्रुतकीर्ति तेरदाल शिलालेख और पम्प के कथनानुसार व्रती था और बाद मे कोल्हापुर शिलालेख मे इन्हे आचार्य के रूप मे स्मरण किया है। परन्तु उपलब्ध प्रमाणो से यह हम जानते है कि धनजय गृहस्थ थे, मुनि नहीं। उन्होने अपनी ऐसी किसी परम्परा का भी उल्लेख नही किया और श्रुतकीर्ति के राघवपाण्डवीय के सन्दर्भ मे अभिनव पम्प द्वारा प्रस्तुत वर्णन धनजय के द्विसन्धान काव्य से मेल नही खाता। श्रुतकीर्ति का राघवपाण्डवीय, गत-प्रत्यागत प्रकार का है जब कि धनजय का द्विसन्धान इस प्रकार का नही, उसमे तो गत-प्रत्यागत प्रकार के एक दो पद्य ही प्राप्त है। इस प्रकार, जैसा स्पष्ट है, वीरसेन ने नाममाला से एक पद्य उद्धृत किया है और भोज ने धनजय और द्विसन्धान का उल्लेख किया है श्रुतकीर्ति और धनजय एक सिद्ध नही होते।

भण्डारकर द्वारा मान्य धनंजय का काल

आर. जी. भण्डारकर (रिपोर्ट आन द सर्च फार मैनुस्क्रिप्ट्स इन द बाम्बे प्रेसीडेंसी डूरिंग द इयरस १८८४-८५, १८८५-८६ तथा १८८६-८७, बम्बई, १८९४) ने धनजय नामक एक दिगम्बर जैन के काव्य की दो प्रतियों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रथम भाग के अन्तिम पद्य मे रचयिता को कवि कहा गया है। उन्होने बाद के पद्य को भी उद्धृत किया है, जिसमे कहा गया है कि "अकलक की तर्कपद्धति, पूज्यपाद का व्याकरण और द्विसन्धान के कवि का काव्य ये त्रिरत्न है।" उन्होने यह कह कर निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत कोष का रचयिता द्विसन्धान का भी रचयिता है। "काव्य का प्रत्येक पद्य द्व्यर्थक है, दो प्रकार की अर्थ-प्रस्तुति को द्विसन्धान कहा जाता है।" उनके समक्ष काव्य की दो प्रतियाँ (नम्बर ११४२ और ११४३) रहीं जिनमे दूसरी प्रति नेमिचन्द्र की टीका सहित है। उन्होने भी लिखा है कि वर्धमान (सवत् ११७९–सन् ११४७)ने अपने गुणरत्न महोदधि (१०.५१, १८.२२, ४.६) मे द्विसन्धान को उद्धृत किया है (एगलिंग सस्करण, पृष्ठ ९७, ४०९, ४३५)।" काव्य का सही शीर्षक है—राघव पाण्डवीय : प्रत्येक पद्य मे दो अर्थ है, प्रथम अर्थ महाभारत कथानक से सम्बद्ध है और दूसरा रामकथा को व्यक्त करता है।" चूकि जैनाचार्यों ने ब्राह्मण लोक-साहित्य (Profane literature) का अनुकरण किया है, और हम जैनों के मेघदूत से परिचित है, यह कल्पना निरर्थक नही होगी कि धनजय ने राघव-पाण्डवीय की कथा कविराज नामक किसी ब्राह्मण कवि से ली है। कविराज का समय धाराधीश मुज के बाद होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपने सरक्षक जयन्तीपुरा के कामदेव की तुलना मुज (मृत्यु ९९६ मे हुई) से की है। वर्धमान का काल ११४७ है। अतएव भण्डारकर कविराज और धनजय को सन् ९९६ और ११४७ के बीच रखते है, यदि अनुकरण की कल्पना को सत्य माना जाए तो कविराज को धनजय से अवस्था में बड़े होना चाहिए। भण्डारकर ने पाठक के मत पर भी विचार किया। उन्होने लिखा है : ऐसा कोई प्रमाण नही जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि श्रुतकीर्ति और धनजय एक है। परन्तु समकालीन पम्प के पुत्र के समय के आधार पर पूर्व निर्णीत समय सही बैठता है और निष्कर्ष दो व्यक्तित्वो और काव्यो को पृथक् स्वीकार करने के विपरीत नही पहुँचता।

भण्डारकर के मत की समीक्षा

आर. जी. भण्डारकर अपने मत की अभिव्यक्ति मे अत्यन्त सावधान रहते है। उन्होने धनजय और श्रुतकीर्ति को एक मानने मे पूर्ण स्वीकृति व्यक्त नही की। उनका यह दृष्टिकोण सामान्य कथन के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अपने कथा-साहित्य का अनु-

करण किया है, परन्तु धनंजय ने कविराज का अनुकरण किया है, यह तथ्य किसी विशेष प्रमाण पर आधारित होना चाहिए। यहाँ भी भण्डारकर आग्रह करते हुए दिखाई नही देते, क्योंकि वे कहते है, "यदि अनुकरण की कल्पना सही है।" यदि धनंजय ने किसी का अनुकरण किया है तो अब यह कहा जा सकता है कि उनके समक्ष दण्डी का द्विसन्धान रहा होगा जिनका उल्लेख एक नीचे के पद्य में किया गया है। भण्डारकर का यह निष्कर्ष सही है कि कविराज मुज (९९६ ई) के उत्तरवर्ती और धनजय ११४७ ई. के पूर्ववर्ती रहे होगे। नये तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धनंजय भोज के पूर्ववर्ती होगे और कविराज का समय बारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे नियोजित किया जा सकता है।

पाठक द्वारा स्वमत की पुनरुक्ति

प्रो. मेक्समूलर के उत्तर मे के. बी. पाठक ने १९७० मे "द जैन पोइम राघवपाण्डवीय ए रिप्लाई टू प्रो. मेक्समूलर" शीर्षक एक और शोधपत्र प्रकाशित किया ("द जर्नल आव द बाम्बे ब्राच आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी जिल्द २१, पृष्ठ १, २, ३, बम्बई १९०४) उन्होने अपनी पूर्व विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि तेरदाल शिलालेख के माघनन्दि सैद्धान्तिक श्रवणबेलगोल के शिलालेख नम्बर ४० मे उल्लिखित किए गए है। उन्होने यह बताया कि पम्प के पद्य श्रवणबेलगोल शिलालेख मे भी पाये जाते है। श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और देवकीर्ति (मृत्यु शक स. १०८५) साथी—समकालीन होना चाहिए। उन्होने अधोलिखित गणना सम्बन्धी तथ्य हमारे समक्ष प्रस्तुत किए है—

१. तेरदाल शिलालेख शक स. १०४५ मे श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का उल्लेख करता है परन्तु राघवपाण्डवीय के रचयिता के सन्दर्भ मे वह मौन है।

२. अभिनव पम्प शक स. १०२७ मे श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के काव्य का उल्लेख करता है।

३. श्रवणबेलगोल शिलालेख (नं. ४०, शक स. १०८५) अभिनव पम्प के पद्यों को श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के पद्य रूप मे उल्लेख करता है और श्रुतकीर्ति की पहचान तेरदाल शिलालेख में उल्लिखित श्रुतकीर्ति से करता है।

इन कारणों से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रुतकीर्ति का ग्रन्थ शक स. १०४५ में लिखा नही गया जब कि शक स. १०६७ और १०८५ के बीच वह एक प्रसिद्ध काव्य माना जाता था। यह भी उल्लेखनीय है कि पम्प उसे विद्वत्ता का आश्चर्यकारी नमूना मानता है जिससे श्रुतकीर्ति ने सुप्रसिद्धि अर्जित की। इन कथनों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पम्प केवल एक जैन काव्य से परिचित थे और वह था सभी द्वारा प्रशसित राघवपाण्डवीय। पाठक ने यह भी देखा कि वर्धमान (वि. सं. ११९७ अथवा शक सं. १०६२) किस प्रकार अपने गुणरत्नमहोदधि मे धनंजय के राघवपाण्डवीय का अनेक बार उद्धरण देते है और किस प्रकार चालुक्य नृपति जगदेवमल्ल द्वितीय (शक सं. १०६-७२ (?) का समकालीन दुर्गसिंह यह कहता है कि धनजय राघवपाण्डवीय की रचना से बृहस्पति हो गए। यह कथन श्रुतकीर्ति के ग्रन्थ के सन्दर्भ में होना चाहिए जिनका समय शक स. १०४५ सिद्ध है। ऐसी कल्पना निरर्थक सिद्ध होगी कि अल्प समय मे शक सं. १०४५ और १०६२ के बीच समान शीर्षक वाले द्वयर्थक काव्य दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के दो कवियों ने रचे होंगे। यदि ऐसा होता तो श्रुतकीर्ति का ग्रन्थ शक स. १०६० मे विद्वत्ता की आश्चर्यकारी कृति के रूप मे माना जाना समाप्त हो जाता। अतएव यह स्पष्ट है कि धनजय श्रुतकीर्ति का द्वितीय नाम था और उनके ग्रन्थ का रचनाकाल शक स. १०४५ से १०६२ के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

पाठक के मत की दुर्बलताएँ

यह स्वीकार कर लिया गया है, जैसा हमने अभी देखा, कि तेरदाल, कोल्हापुर और श्रवणबेलगोल शिलालेखों में उल्लिखित श्रुतकीर्ति वही हैं जिन्हे पम्प ने उद्धृत किया है। पम्प ने और तेरदाल शिलालेख (शक स. १०४५-११२३ ई.) ने उन्हें व्रती कहा है। परन्तु कोल्हापुर शिलालेख में उन्हें ११३५ ई. के आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है। पम्प ने राघव-पाण्डवीय को उनसे सम्बन्धित माना है। विद्वानों के बीच उसे आश्चर्य-

जनक इसलिए नहीं स्वीकार किया गया था कि वह द्व्यर्थक काव्य है बल्कि इसलिए कि वह गत-प्रत्यागत प्रकार का था। पाठक ने कुछ तथ्यहीन तर्क प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उन्होंने 'धनंजय का दूसरा नाम श्रुतकीर्ति है' यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। अतएव वह स्वीकार्य नहीं। यह उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भोज धनंजय और उनके द्विसन्धान से परिचित था। वह और उनका ग्रन्थ स्पष्टतः श्रुतकीर्ति और उनके राघवपाण्डवीय से भिन्न है, परन्तु राघवपाण्डवीय प्रकाश में नहीं आया है। हाँ, कविराज कृत राघवपाण्डवीय अवश्य प्रसिद्ध है, पर इन दोनों से वह भिन्न है।

धनंजय पर राघवाचारियर के विचार

एस. ई. व्ही. वीर राघवाचारियर का निघण्टुक धनंजय का काल (The date of Nighantuka Dhananjaya) शीर्षक एक लेख जर्नल आव द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, भाग २, नंबर २, पृष्ठ १८१-८४, राजमुद्री, १९२७ मे प्रकाशित हुआ था। उनका उद्देश्य द्विसन्धान महाकाव्य अथवा राघव पाण्डवीय और धनंजय निघटु अथवा नाममाला के रचयिता धनंजय का काल निर्णय करना था।

सुबन्धु और बाण मे श्लेष काव्य रचने का एक विशेष गुण प्रसिद्ध है, परन्तु उनमें कोई भी द्व्यर्थी कवि नहीं अर्थात् किसी ने भी ऐसा काव्य नही रचा जो दो कथाओं अथवा सिद्धान्तों को लिए हुए समानान्तर रूप से समूचे काव्य में दो व्याख्याओं को उपस्थित कर सके। राघवपाण्डवीय के रचयिता कविराज (६५०-७२५ ई.) द्व्यर्थी प्रबन्ध लिखने मे पूर्ण दक्ष है। निघंटुक धनंजय, जो द्विसन्धान काव्य के समकक्ष है, भी उनके इस गुण की पुष्टि करता है। दशरूपककार धनंजय से वे भिन्न हैं। निघंटुक धनंजय राजशेखर (८८०-९२० ई.) से पूर्ववर्ती और जैन (श्रीदेवी और वासुदेव के पुत्र, देखिए द्विसन्धान काव्य १८, १४६) है जब कि ब्राह्मण कुलीन (विष्णु के पुत्र और मुंज का दरबारी कवि) दशरूपककार धनंजय राजशेखर का उत्तरवर्ती है। 'प्रमाणमकलंकस्य' पद्य के अतिरिक्त दो अन्य अधोलिखित पद्य (निघंटु २.४६-५०) भी उद्धृत मिलते हैं (नाममाला के ज्ञानपीठ संस्करण में अनुपलब्ध)—

जाते जगति वाल्मीको शब्दः कविरिति स्मृतः।
कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि ॥
कवयः कवयश्चेति बहुत्वं दूरमागतम्।
विनिवृत्तं चिरादेतत्कलौ जाते धनंजये ॥

इन श्लोकों से वीर राघवाचारियर ने यह अनुमान लगाया है "कि दंडी (६०० ई. के बाद नही) और धनंजय के बीच पर्याप्त अन्तर रहा है।" यह अन्तर ६०० और ८०० ई. के मध्य रखा जा सकता है।

कविराज वामन (८वीं शती) की काव्यालंकार वृत्ति में उल्लिखित हैं। उनका समय सुबन्धु और बाणभट्ट (५९०-६५० ई.) के बाद ठहरता है जिनका उल्लेख कविराज ने वक्रोक्ति में दक्ष कवि के रूप में किया है। द्विसन्धान कलापूर्ण है और ऐसा होने पर यदि कविराज धनंजय अथवा उनके द्विसन्धान से परिचित होता तो निश्चय ही वे उन्हें भी यहाँ (राघवपाण्डवीय, १.४१) सम्मिलित कर लेते। धनजय का द्विसन्धान काव्यत्व प्रदर्शन की भव्यता लिए हुए है। वह कविराज के राघवपांडवीय से किसी भी प्रकार हीन नहीं, सम्भवतः (अथवा निश्चित ही) उच्च श्रेणी का ही बैठे। धनजय ने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख नही किया, अतएव कविराज का उल्लेख नहीं किया होगा, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि धनंजय कविराज अथवा उनके काव्य से अपरिचित रहे हों। इसका कारण उपेक्षा अथवा समय का अन्तराल हो सकता है। अतएव कविराज का समय ६५०-७२५ और निघंटुक धनंजय का समय ७५०-८०० ई. नियोजित किया जा सकता है।

राघवाचारियर के मत की समीक्षा

राघवाचारियर जब कभी निषेधात्मक प्रमाणों का उपयोग करते है। यह उल्लेखनीय है कि जल्हण (१२५७ ई.) ने राजशेखर (९०० ई.) के नाम पर धनंजय के पद्य को उद्धृत किया है। इसके बाद कविराज अपने राघव पांडवीय (१.१८) में स्पष्टतः धार (९७३-९५ ई.) के मुंज का उल्लेख करते है और अपने आश्रयदाता कदम्ब वंशीय कामराज (१.१३) के विषय में पर्याप्त कहते है।

यह समझ मे नहीं आता कि वीर राघवाचारियर ने इन तथ्यों की उपेक्षा क्यों की। कविराज का कालनिर्णय करने के लिए उनका समय आधार रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।

वेंकट सुब्बिय का खण्डन और विचार

वेंकट सुब्बिय 'दी आथर्स आव दी राघवपांडवीय एण्ड गद्यचिन्तामणि' नामक शोधपत्र (जर्नल आफ द बी. बी. एस. सीरीज न्यु सीरीज ३, व २, १९२७; पृ. १३४) मे पाठक के निष्कर्ष का विरोध करते है : (१) तेरदाल शिलालेख के श्रुतकीर्ति राघवपांडवीय के कर्ता के रूप मे पम्प-रामायण में उल्लिखित श्रुतकीर्ति से अभिन्न होना चाहिए। (२) श्रुतकीर्ति कवि का मूल नाम था और धनंजय मात्र संक्षिप्त नाम था, और (३) वह तथ्य अभिनव पम्प जानते थे जिन्होंने उनका उल्लेख उनके वास्तविक नाम रामायण से किया है।

वी. सुब्बिय के अनुमार अभिनव पम्प की रामायण का रचनाकाल ११०० ई. के बाद और १०४२ ई. के पूर्व नहीं हो सकता। अतएव श्रुतकीर्ति का राघवपांडवीय १०४३ ई. के पूर्व लिखा गया होगा। उन्होने आर. नरसिंहाचार्य के मत का उल्लेख किया है कि "श्रुतकीर्ति की रचना का वर्णन जो पम्प की रामायण मे किया गया है, गत-प्रत्यागत काव्य प्रकार का है, अर्थात् ऐसा काव्य जिसके एक ओर पढने से रामकथा और दूसरी ओर पढ़ने से पाडुकथा निकलती है, यह धनजय के द्विसन्धान काव्य मे लागू नही होता। यहाँ यद्यपि एक ही पद्य मे राम और पाडु की कथा शब्द-चमत्कृति दिखाते हुए कही गयी है, फिर भी उसे गतप्रत्यागत काव्य नही कहा जा सकता; अतएव धनजय का राघवपाडवीय व श्रुतकीर्ति का राघवपाडवीय अभिन्न नही और इसलिए धनजय और श्रुतकीर्ति एक नही कहे जा सकते।

वादिराज द्वारा पार्श्वनाथ चरित (समाप्तिकाल बुधवार, २७ दिसम्बर १०२५ ई.) मे उल्लिखित पूर्वकवि सुब्बिय के अनुसार वादिराज के पूर्ववर्ती रहे होंगे। अतएव अधिक सम्भावित यही है कि राघवपाडवीय के रचयिता धनजय वादिराज के पूर्ववर्ती थे। श्रवणबेलगोल शिलालेख नं. ५४ (६७) मे प्राप्त आचार्य परम्परा में मतिसागर के पश्चात् हेमसेन (९८५ ई) का नाम आता है। इन्ही का दूसरा नाम विद्याधनजय भी था। "अतएव यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि हेमसेन राघवपांडवीय अथवा द्विसन्धान काव्य के कर्ता है और यह काव्य ९६०-१००० ई. मे लिखा गया है।"

श्रुतकीर्ति का काव्य प्रकाश में नही आया। वह निश्चित ही संस्कृत मे लिखा गया होगा। तेरदाल और श्रवणबेलगोल शिलालेख के श्रुतकीर्ति ११२३ ई. मे विद्यमान थे और उनका राघवपाडवीय १०६० ई. के पूर्व नही लिखा गया।

अभिनव पम्प द्वारा उल्लिखित श्रुतकीर्ति वही नही जिनका उल्लेख शिलालेख मे आया हुआ है, क्योकि वे भिन्न-भिन्न परम्पराओ से सम्बद्ध है। "इन दोनो श्रुतकीर्ति नामक आचार्यो ने राघवपाडवीय की रचनाएँ की और वे गतप्रत्यागत प्रकार के पद्यो मे थी, यह कल्पना तथ्यसंगत नही। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उक्त दोनो श्रुतकीर्तियो मे कोई एक श्रुतकीर्ति ग्रन्थ के रचयिता थे और इन श्रुतकीर्ति की प्रशसा मे भी पम्प रामायण मे अथवा श्रवणबेलगोल शिलालेख मे इन पद्यो का उपयोग किया है ताकि द्वितीय श्रुतकीर्ति भिन्न सिद्ध हो सके। और चूंकि अभिनव पम्प जैसे उच्चकोटि के कवि के सन्दर्भ मे यह सोचना व्यर्थ है कि उन्होने अन्य कवियो द्वारा निर्मित पद्यो को अपने ग्रन्थ मे सम्मिलित किया होगा, अतः यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गतप्रत्यागत प्रकार का राघवपाडवीय पम्प रामायण मे उल्लिखित श्रुतकीर्ति द्वारा रचा गया था न कि उक्त शिलालेख मे उल्लिखित श्रुतकीर्ति द्वारा।"

धनजय और श्रुतकीर्ति के राघवपाडवीय भिन्न-भिन्न ग्रन्थ है, और उसमे कोई एक पूर्ववर्ती होगे। परन्तु मुझे लगता है कि गतप्रत्यागत राघवपाडवीय द्विसन्धान की अपेक्षा अधिक कठिन है और इसलिए उत्तरवर्ती काव्य पहले लिखा गया और श्रुतकीर्ति ने अपना ग्रन्थ धनजय के अनुकरण पर बाद मे लिखा। यदि यह विचार तथ्ययुक्त माना जाये तो श्रुतकीर्ति निश्चित रूप से धनजय के उत्तर,

वर्ती होंगी और उन्होंने अपना ग्रन्थ १००० १०२५ ई. में लिखा होगा।

पाठक के मत की विस्तृत समीक्षा करने के बाद वेंकट सुब्बिय कविराज और उनके राघवपाडवीय के सन्दर्भ मे इन निष्कर्षों पर पहुँचे : कविराज का आश्रयदाता कदम्बवशीय कामदेव द्वितीय है। कविराज धनंजय के उत्तरवर्ती है, और उनका राघवपाडवीय १२३६ और १३०७ ई. के बीच लिखा गया है न कि ११८२-९७ ई. के बीच जैसा कि पाठक ने सुझाया है।

वेंकट सुब्बिय के निष्कर्षों की समीक्षा

वेकट सुब्बिय का यह विचार स्वीकार्य है कि श्रुतकीर्ति और उनका राघवपाडवीय धनजय और उनके राघवपाडवीय से भिन्न है। परन्तु उनका यह निष्कर्ष कि तेरदाल और श्रवणबेलगोल शिलालेख मे उल्लिखित श्रुतकीर्ति अभिनव पम्प द्वारा उल्लिखित श्रुतकीर्ति से भिन्न होगे, सदिग्ध सम्भावित और भ्रमित प्रमाणो पर आधारित है। उन्होने जो कहा वह सही हो सकता है परन्तु जैन आचार्य इतने सकीर्ण विचारधारा के नही रहे कि उन्होने सघ, गण, गच्छ और बलि से बाह्य साहित्यकारो को सम्मान न दिया हो। वादिराज ने अपने काव्य मे अपने पूर्ववर्ती लेखक और आचार्यों का उल्लेख किया है। वे आचार्य और लेखक वादिराज के पारम्परिक पूर्ववर्ती हो, यह आवश्यक नही। धनजय वादिराज के पारम्परिक आचार्य थे और हेमसेन व धनंजय एक थे, यह स्वीकार नही किया जा सकता। यह एक अन्य पहचान वैसी ही आधारहीन और प्रमाण रहित है जैसी कि पाठक की कल्पना जिसकी वेंकट सुब्बिय ने कटु आलोचना की है। प्रथम, धनजय गृहस्थ थे। उन्होने मुनि अवस्था का कोई वर्णन नही किया और न आचार्य परम्परा का। अतः वे वादिराज के निकट पूर्ववर्ती होगे, यह स्वीकार नही किया जा सकता। द्वितीय, धनंजय ने अपने किसी भी ग्रन्थ मे अपना दूसरा नाम हेमसेन सूचित नही किया, और अन्तिम यदि विद्या-धनजय नाम उपयुक्त माना जाये (क्योकि उसे विद्याधनंजयपद विशद दधानो' भी पढ़ा जा सकता है) तो 'विद्या' शब्द ही हेमसेन को किसी अन्य पूर्ववर्ती धनजय से पृथक् कर देता है। अथवा यदि धनजय को अर्जुन रूप में स्वीकारा जाए तो हेमसेन विद्या धनंजय माने जा सकते है। अतएव उनकी यह पहचान और तिथि ९५०–१००० ई. स्वीकार नही की जा सकती।

धनंजय पर साहित्यिक इतिहासकार

पाठक, भडारकर व अन्य विद्वानो के अध्ययन से यह पता चलता है कि साहित्यिक इतिहासकारो ने धनंजय और उनके द्विसन्धान के विषय मे विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। एम. विन्टरनित्ज (भा. सा. इ., भाग ३; जर्मन संस्करण, पृ. ९५, लिपजिग, १९२२, अंगरेजी अनुवाद पृ. ८२-३, वाराणसी १९६३) यह स्वीकार करते है कि धनंजय ने ११२३-११४० ई. के बीच अपनी उपाधि श्रुतकीर्ति के नाम पर ग्रन्थ लिखा। उन्होने कदम्बवंशीय कामदेव (११८२-९७) के दरबारी कवि कविराज से उन्हे पूर्ववर्ती माना। वामन की काव्यालकार वृत्ति (४. १.१०) मे उल्लिखित कविराज से वे भिन्न है। ए. बी. कीथ (ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १३७, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४८) ने कहा है कि दिगम्बर जैन लेखक धनजय, जिन्हें शायद श्रुतकीर्ति कहा जाता था, ने ११२३ और ११४० के बीच अपना ग्रन्थ लिखा। इसके बाद कविराज का नाम आता है जिनका वास्तविक नाम कदाचित् माधव भट्ट था और जिनके आश्रयदाता कदम्बवशीय राजा कामदेव (११८२-९७) थे। एम. कृष्णमाचारी (हिस्ट्री आफ क्लासिकल सस्कृत लिटरेचर, पृ. १९९, १८७, फु. मद्रास, १९३७) धनंजय को नवी-दसवी शती में रखते है और कविराज को १२वीं शती के उत्तरार्ध मे। अन्य प्रमाणो मे नाममाला (वाराणसी, १९५०) की प्रस्तावना नाथूराम प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १०८, बम्बई १९५६, व द्वी. गैरोला का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ३५०-५१, वाराणसी, १९६० भी देखा जा सकता है।

धनंजय का द्विसन्धान महाकाव्य संस्कृत साहित्य में उपलब्ध द्विसन्धान काव्यों मे सर्वाधिक पुराना और महत्त्वपूर्ण काव्य है। वह रामायण और महाभारत की कथा को समानान्तर रूप से प्रस्तुत करता है। अर्थात् प्रत्येक

पद्य दो अर्थों को प्रस्तुत करता है, प्रथम अर्थ रामायण से सम्बद्ध है और द्वितीय अर्थ महाभारत से। वह संस्कृत भाषा के विविध अर्थशक्ति का सुन्दर निदर्शन है। उसकी संस्कृत व्याख्या सहित सम्पादित एक सुन्दर संस्करण की आवश्यकता थी। भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला द्वारा सम्पादित द्विसन्धान महाकाव्य का प्रकाशन करके इस कमी को पूरा कर दिया है। इसके लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

द्विसन्धान महाकाव्य में प्रयुक्त छन्द

वृत्तनाम सर्गाङ्कः (आंग्लः) श्लोकाङ्कः (नागरी)

१ अनुकूला 8.३०-३३;
२ अनुष्टुभ् 7. १-६४; 9.१-५१; 18.१-१४४;
३ अपरवक्त्र 13.३६; 15.३४-४४; 18.६५-६६;
४ इन्द्रवज्रा 8.२१,२३,४१,४२,४४; 10.३६; 17.८५-८६;
५ इन्द्रवंशा 17.७६;
६ उद्गता 17.१-३६
७ उपजाति 2.३१, ३३; 3.१-३८,४०; 5.१-६४; 6.४७-४८; 8.१८,२५,२८,२६, ३४-४०, ४३,४५-४७, ४६,५१,५४,५५,५७; 10. ३६,४०; 11.३२,३३,३५,३६; 12.४८; 13.३०,३२,३५; 14.२५,२७-२८,३३-३६; 16.१-८२; 17.४५,४६,५३.५५,५७,६०, ६२-६४,६८,७३,७७;
८ औपच्छन्दसिक 10.४१ ४२; 13.३१ (विषम चरण) 17.४६,५४,६१,७६;
९ जलधरमाला 8.७,११,१३,१५,१७;
१० जलोद्धतगति 8 २४;
११ तोटक 8.४७, ५३;
१२ द्रुतविलम्बित 5.६८; 6.५०; 8.१-५,२०;
१३ पुष्पिताग्रा 2.३४; 5.६७; 13.३८; 15.१-३३; 17.५८,८३;
१४ पृथ्वी 13.४४;
१५ प्रमिताक्षरा 8.५६; 12.१-४६, 17.४३,४४,७८,८४;
१६ प्रमुदितवदना 13.४०-४१;
१७ प्रहर्षिणी 5.६५; 8.६,८,२६; 9.५२; 14.१-२४;
१८ मत्तमयूर 3.३६; 8 १४,१६; 10.३७-३८; 13.१-२८,३६; 14.२६;
१९ मन्दाक्रान्ता 13.४३; 14.३०;
२० मालिनी 6.५१; 13.४२; 16.८३,८५; 17.87;
२१ रथोद्धता 8.१२; 10.१,३,५ ७,६,११,१३,१५ १७, १६,२०,२१ २३ २५,२७,१६,३१,३३,३५, ४४; 17.४८,५६;
२२ वसन्ततिलका 1.५२; 2.३०; 4.५५; 6.५२; 8.६, २२,५२; 10.४६; 11,३४,३८,३६; 12.४७,५१,५२; 14.३८-३६; 15. ४६-४८,५०; 16.८६-८७; 17.८६, ६१;
२३ वंशपत्रपतित 8.१६;
२४ वंशस्थ 1.१-५१; 6.१-४६; 10.४३; 11.३१; 13. ३३,३६; 17.७१,७२,८२;
२५ वियोगिनी 4.१-५४; 11.३६; 18.३१ (समचरण); 17.४१-४२;
वैतालीय व वियोगिनी एकच.
२६ वैश्वदेवी 2.१-२६; 8.२७;
२७ शार्दूलविक्रीडित 7 ६५; 14.३६; 18.१४५-१४६;
२८ शालिनी 2.३२; 3.४१-४२; 6.४६; 8.१०,५०; 11.१-३०,४०; 12.४६; 14.३२; 17. ४७,७०,७४,७५,८०,८१,६०;
२९ शिखरिणी 11.३७; 12.५०; 13.३४; 14.२६; 15.४६; 16.८४; 17.४०;
३० स्वागता 5.६६; 10.२,४,६,८,१०,१२,१४,१६,१८, २२,२४,२६,२८,३०,३२,३४; 14.३७; 17.५०,५२,५६,५६,६७,८८;
३१ हरिणी 3.४३; 5.६६; 8.५८; 10.४५; 13.२६; 15.४५; 17.६६;

— धवला, ८ राजरामपुरी, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों की देन

डा० दरबारीलाल कोठिया

भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों की क्या देन है, उन्होंने उसमें क्या अभिवृद्धि या सशोधन किया है, इस सम्बन्ध मे यहा जैन तर्क शास्त्र मे चिन्तित अनुमान एव उसके परिकर का ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत है।

अध्ययन से अवगत होता है कि उपनिषद् काल मे अनुमान की आवश्यता एव प्रयोजन पर भार दिया जाने लगा था, उपनिषदो मे "**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**,"[1] आदि वाक्यो द्वारा आत्मा के दर्शन और श्रवण के साथ मनन पर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों (युक्तियों) के द्वारा किया जाता था।[2] इससे स्पष्ट है कि उस काल मे अनुमान को भी श्रुति की तरह ज्ञान का एक साधन माना जाता था उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था। यह सच है कि अनुमान का 'अनुमान' शब्द से व्यवहार होने की अपेक्षा '**वाक्यो-वाक्यम्**' '**आन्वीक्षिकी**', '**तर्कविद्या**', '**हेतुविद्या**' जैसे शब्दो द्वारा अधिक होता था।

प्राचीन जैन वाङ्मय मे ज्ञानमीमासा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमान का 'हेतुवाद' शब्द से निर्देश किया गया है और उसे श्रुत का एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने "**अभिनिबोध**" नाम से उसका उल्लेख किया है। तात्पर्य यह कि जैनदर्शन मे भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (साव्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञान) की तरह उसे भी प्रमाण एव अर्थ-निश्चायक माना गया है। अन्तर केवल उसमे वैशद्य और अवैशद्य का है। प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष)।

---

१. बृहदारण्य० २।४।५।

२. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

अनुमान के लिए किन घटकों की आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणाद ने किया प्रतीत होता है। उन्होने अनुमान का 'अनुमान' शब्द से निर्देश न कर '**लैङ्गिक**' शब्द से किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमान का मुख्य घटक लिङ्ग है। सम्भवतः इसी कारण उन्होने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गाभासों का का निरूपण किया है। उसके और भी कोई घटक है, इसका कणाद ने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके भाष्य-कार प्रशस्तपाद ने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवो को उसका घटक प्रतिपादित किया है और उनका विवेचन किया है।

तर्कशास्त्र का निबद्धरूप मे स्पष्ट विकास अक्षपाद के न्यायसूत्र मे उपलब्ध होता है। अक्षपाद ने अनुमान को 'अनुमान' शब्द से ही उल्लेखित किया तथा उसकी कारण सामग्री, भेदो, अवयवों और हेत्वाभासो का स्पष्ट विवेचन किया है। साथ ही अनुमान परीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमान-सहायक तत्त्वो का प्रतिपादन करके अनुमान को शास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया है। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाच-स्पति, उदयन और गङ्गेश ने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वों को विविक्त करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है। वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकों ने अनुमान को इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन 'न्याय (तर्क-अनुमान)-दर्शन' नाम से ही विश्रुत हो गया।

असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने न्यायदर्शन की समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओं के आधार पर अनुमान का सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इनके चिन्तन का

अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमान की विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़ने के साथ सूक्ष्म से-सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी। वास्तव में बौद्ध तार्किकों के चिन्तन ने तर्क मे आयी कुण्ठा को हटाकर और सभी प्रकार के परिवेशों को दूर कर उन्मुक्त भाव से तत्त्वचिन्तन की क्षमता प्रदान की। फलतः सभी दर्शनो मे स्वीकृत अनुमान पर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानो, प्रभाकर, कुमारिल, पार्थसारथि प्रभृति मीमासक चिन्तको ने भी अपने-अपने ढग से अनुमान का चिन्तन किया है। हमारा विचार है कि इन चिन्तकों का चिन्तन-विषय, प्रकृति, पुरुष और क्रियाकाण्ड होते हुए भी वे अनुमान-चिन्तन से अछूने नही रहे। श्रुति के अलावा अनुमान को भी इन्हे स्वीकार करना पड़ा और उसका कम-बढ विवेचन किया है।

जैन विचारक आरम्भ से ही अनुमान को मानते आये है। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' सज्ञा से उन्होने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वसिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावन के लिए उसे स्वीकार करके उन्होने उसका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तन मे जो विशेषताएं उपलब्ध होती है उनमे कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

अनुमान का परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव—अनुमान प्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किको ने अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किको ने उसे स्वतत्र प्रमाण नही माना। प्रमाण के उन्होने मूलतः दो भद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। इनकी परिभाषाओं (वैशद्य और अवैशद्य) के अनुसार अनुमान परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत है, क्योकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष प्रमाण का क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थ के परिच्छेदक अविशद ज्ञानों का इसी मे समावेश है। अतः वैशद्य एवं अवैशद्य के आधार पर स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो मूल प्रमाणों के अतिरिक्त अनुमान पृथक् प्रमाण मान्य नही है।

अर्थापत्ति अनुमान से पृथक नहीं—प्राभाकर और भाट्ट मीमांसक अनुमान से पृथक् अर्थापत्ति नाम का स्वतत्र प्रमाण मानते है। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थ के बिना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। जैसे "**पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते**" इस वाक्य मे उक्त '**पीनत्व**' अर्थ भोजन के बिना न होता हुआ '**रात्रि भोजन**' की कल्पना करता है, क्योकि दिवा भोजन का निषेध है। इस प्रकार के अर्थ का बोध अनुमान से न होकर अर्थापत्ति से होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमान से भिन्न स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतु से उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपद्यमान अर्थ से। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्यथानुपपद्यमान अर्थ दोनो एक है—उनमे कोई अन्तर नही है। अर्थात् दोनो ही व्याप्ति विशिष्ट होने से अभिन्न है। डा. देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते है कि 'एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनो मे व्याप्यव्यापक भाव या व्याप्ति सम्बन्ध हो।'[1] देवदत्त मोटा है और दिन मे खाता नहीं है, यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है। पर वास्तव मे मोटापन भोजन का अविनाभावी होने तथा दिन में भोजन का निषेध करने से वह देवदत्त के रात्रिभोजन का अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—'**देवदत्तः रात्रौ भुंक्ते, दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वान्यथानुपपत्तेः**।' यहाँ अन्यथानुपपत्ति से अन्तर्व्याप्ति विवक्षित है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्ति नही, क्योकि ये दोनो व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नही है। अतः अर्थापत्ति और अनुमान दोनो व्याप्तिपूर्वक होने से एक ही है—पृथक्-पृथक प्रमाण नही।

अनुमान का विशिष्ट स्वरूप—न्यायसूत्रकार अक्षपाद की '**तत्पूर्वकमनुमानम्**,' प्रशस्तपाद की '**लिङ्गदर्शनात्संजायमान लैङ्गिकम्**' और उद्योतकर की '**लिङ्गपरामर्शोऽ-**

१. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

नुमानम्' परिभाषाओं में केवल अनुमान के कारण का निर्देश है, उसके स्वरूप का नहीं। उद्योतकर की एक अन्य परिभाषा 'लैङ्गिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्' मे भी लिङ्ग-रूप कारण का उल्लेख है, स्वरूप का नही। दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामी की **'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्'** परिभाषा मे यद्यपि कारण और स्वरूप—दोनों की अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारण के रूप में लिङ्ग को सूचित किया है, लिङ्ग के ज्ञान को नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञायमान धूमादि लिङ्ग अग्नि आदि के अनुमापक नही है। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूर्च्छित है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वत मे धूम के सद्भाव मात्र से अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नही है। अतः शङ्करस्वामी के उक्त अनुमान के लक्षण मे **'लिंगात्'** के स्थान मे **'लिङ्गदर्शनात्'** पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमान लक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलङ्कदेव ने जो अनुमान का स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओ से मुक्त है। उनका लक्षण है—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥[1]

इसमे अनुमान के साक्षात् कारण—लिङ्गज्ञान का भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी **'लिङ्गिधीः'** शब्द के द्वारा निर्दिष्ट है। अकलङ्क ने स्वरूप निर्देश मे केवल **'धीः'** या **'प्रतिपत्ति'** नही कहा, किन्तु **'लिङ्गि धीः'** कहा है, जिसका अर्थ है साध्य का ज्ञान; और साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान है। न्याय प्रवेशकार शङ्करस्वामी ने साध्य का स्थानापन्न **'अर्थ'** का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होने कारण का निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलङ्क के इस लक्षण की एक विशेषता और भी है। वह यह है कि उन्होने **'तत्फलं हानादिबुद्धयः'** शब्दों द्वारा अनुमान का फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन सभी बातो से उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किको ने अकलङ्क की इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषा को ही अपनाया। इस अनुमान लक्षण से स्पष्ट है कि वही साधन अथवा लिङ्ग-लिङ्गि(साध्य-अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभाव का निश्चय है। यदि उसमें अविनाभाव का निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पाँच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'वज्र लोह लेख्य है,' 'क्योंकि पार्थिव है, काष्ठ की तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपों से सम्पन्न होने पर भी अविनाभाव के अभाव से सद्धेतु नही है, अपितु हेत्वाभास है और इसी से वे अपने साध्यों के अनुमापक नही माने जाते। इसी प्रकार 'एक मुहूर्त बाद शकट का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है,' 'समुद्र में वृद्धि होना चाहिए अथवा कुमुदों का विकास होना चाहिए, क्योंकि चन्द्र का उदय है' आदि हेतुओं मे पक्षधर्मत्व न होने से न त्रिरूपता है और न पचरूपता। फिर भी अविनाभाव के होने से कृतिका का उदय शकटोदय का और चन्द्र का उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुद विकास का गमक है।

हेतु का एक लक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप—हेतु के स्वरूप का प्रतिपादन अक्षपाद से आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धान से प्रतीत होता है। उनका वह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य—दोनों दृष्टान्तो पर आधारित है।[2] अतएव नैयायिक—चिन्तको ने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उसकी व्याख्याएं की है। वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य आदि विचारकों ने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ तार्किकों ने षड्-लक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, पर जैन लेखकों ने अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान और एक लक्षण स्वीकार किया है तथा त्रैरूप्य, पांचरूप्य आदि को अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसा कि ऊपर अनुमान के स्वरूप मे प्रदर्शित उदाहरणों से स्पष्ट है। इस अविनाभाव को ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकों को ही उपलब्धि है, जिसके उद्भावक आचार्य समन्तभद्र हैं।[3]

१. लघीयस्त्रय का० १२।

२. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्। —न्या० सू० १।१।३४, ३५।

३. विशेष के लिए देखें, जैन तर्कशास्त्र मे अनुमान विचार, पृ० ३७–४१।

अनुमान का अङ्ग एकमात्र व्याप्ति—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमासक और बौद्ध—सभी ने पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनो को अनुमान का अङ्ग माना है। परन्तु जैन तार्किकों ने केवल व्याप्ति को उसका अङ्ग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमान मे पक्षधर्मता अनावश्यक है। **'उपरिवृष्टिरभूत् अधोपूरान्यथानुपपत्तेः'** आदि अनुमानों मे हेतु पक्षधर्म नही है फिर भी व्याप्ति के बल से वह गमक है। **'सश्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्'** इत्यादि असद् अनुमानो मे हेतु पक्षधर्म है किन्तु अविनाभाव न होने से वे अनुमापक नही है। अत: जैन चिन्तक अनुमान का अङ्ग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते है, पक्षधर्मता आदि को नही।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओं की परिकल्पना—अकलङ्कदेव ने कुछ ऐसे हेतुओ की परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नही माने गये थे। उनमे मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर—ये तीन हेतु है। इन्हे किसी अन्य तार्किक ने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नही। किन्तु अकलङ्क ने इनकी आवश्यकता एव अतिरिक्तता का स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप-प्रतिपादन किया है। अत: यह उनकी देन कही जा सकती है।

प्रतिपाद्यों की अपेक्षा अनुमान प्रयोग—अनुमान-प्रयोग के सम्बन्ध में जहाँ अन्य भारतीय दर्शनो मे व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की विवक्षा किये बिना अवयवो का सामान्य कथन मिलता है। वहाँ जैन विचारकों ने उक्त दो प्रकार के प्रतिपाद्यो की अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन किया है। व्युत्पन्नो के लिए उन्होने पक्ष और हेतु—ये दो अवयव आवश्यक बतलाये है। उन्हे दृष्टान्त आवश्यक नही है। **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** जैसे स्थलो मे बौद्धो ने और **'सर्वं अभिधेयं प्रमेयत्वात्'** जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानों मे नैयायिको ने भी दृष्टान्त को स्वीकार नही किया। अव्युत्पन्नो के लिए उक्त दोनो अवयवो के साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन—इन तीन अवयवो की भी जैन चिन्तको ने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यो समझिए—

गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेन के प्रतिपादनों से अवगत होता है कि आरम्भ मे प्रतिपाद्य-सामान्य की अपेक्षा से पक्ष, हेतु और दृष्टान्त—इन तीन अवयवो से अभिप्रतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकाल में अकलङ्क का सकेत पाकर कुमारनन्दि और विद्यानन्द ने प्रतिपाद्यो को व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न—दो वर्गो मे विभक्त करके उनकी अपेक्षा से पृथक्-पृथक् अवयवों का कथन किया। उनके बाद माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि आदि परवर्ती जैन तर्क ग्रन्थकारो ने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नो के लिए पक्ष और हेतु—ये दो तथा अव्युत्पन्नो के बोधार्थ उक्त दो के अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन—ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहु ने प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवो का भी उपदेश दिया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजय ने किया है।

व्याप्ति का ग्राहक एकमात्र तर्क—अन्य भारतीय दर्शनो मे भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रह को व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शन मे वाचस्पति और सांख्यदर्शन मे विज्ञानभिक्षु—इन दो तार्किको ने व्याप्तिग्रह की उपर्युक्त सामग्री मे तर्क को भी सम्मिलित कर लिया है। पर स्मरण रहे, जैन परम्परा मे आरम्भ से तर्क को, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दो से व्यवहृत किया गया है, अनुमान की एकमात्र सामग्री के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। अकलङ्क ऐसे जैन तार्किक है जिन्होने वाचस्पति और विज्ञान भिक्षु से पूर्व सर्व प्रथम तर्क को व्याप्तिग्राहक समर्थित एव सम्पुष्ट किया तथा सबलता से उसका प्रामाण्य स्थापित किया। उनके पश्चात् सभी ने उसे व्याप्तिग्राहक स्वीकार कर लिया।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति—यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति के भेद से व्याप्ति के तीन भेदों, समव्याप्ति के तीन भेदो समव्याप्ति और विषम-व्याप्ति के भेद से उसके दो प्रकारो तथा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति—इन दो भेदो का वर्णन तर्कग्रन्थो मे उपलब्ध होता है किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दो व्याप्ति प्रकारो (व्याप्ति प्रयोगों) का कथन

केवल जैन तर्कग्रन्थों में पाया जाता है। इस पर सूक्ष्म ध्यान देने पर जो विशेषता ज्ञात होती है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है उसका उपादान कारण ज्ञान भी होना चाहिए। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति—ये दोनों ज्ञानाभास है, जबकि उपर्युक्त व्याप्तिया ज्ञेयात्मक (विषयात्मक) है। दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियो मे एक अन्तर्व्याप्ति ही ऐसी व्याप्ति है, जो हेतु की गमकता मे प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्तर्व्याप्ति के बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त है, अतएव वे साधक नही है। तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति-रूप है अथवा उनका विषय है। इन दोनो मे से किसी एक का ही प्रयोग पर्याप्त है।

साध्याभास—अकलङ्क ने अनुमानाभासों के विवेचन मे पक्षाभास या प्रतिज्ञाभास के स्थान मे साध्याभास शब्द का प्रयोग किया है। अकलङ्क के इस परिवर्तन के कारण पर सूक्ष्म ध्यान देने पर अवगत होता है कि चूंकि साधन का विषय (गम्य) साध्य होता है और साधन का अविनाभाव (व्याप्ति सम्बन्ध) साध्य के ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञा के साथ नही, अतः साधनाभास (हेत्वाभास) का विषय साध्याभास होने से उसे ही साधनाभासो की तरह स्वीकार करना युक्त है। विद्यानन्द ने अकलङ्क की इस सूक्ष्म दृष्टि को परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया। यथार्थ मे अनुमान के मुख्य प्रयोजक साधन और साध्य होने से साधनाभास की भाति साध्याभास ही विवेचनीय है। अकलङ्क ने शक्य, अभिप्रेत और असिद्ध को साध्य तथा अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्ध को साध्याभास प्रतिपादित किया है—(साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्ध ततोऽपरम्। साध्याभास विरुद्धादि साधनाविषयत्वत ॥)

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास—हेत्वाभासो के विवेचन-सन्दर्भ मे सिद्धसेन ने कणाद और न्यायप्रवेशकार की तरह तीन हेत्वाभासो का कथन किया है, अक्षपाद की भाति उन्होने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नही किए। प्रश्न हो सकता है कि जैन तार्किक हेतु का एक (अविनाभाव—अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते है, अतः उसके अभाव मे उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए। वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य तो हेतु को त्रिरूप्य तथा नैयायिक पंचारूप्य स्वीकार करते है, अतः उनके अभाव मे उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त है। पर सिद्धसेन का हेत्वाभास-त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्त है? इसका समाधान सिद्धसेन स्वय करते हुए कहते है कि चूकि अन्यथानुपपन्नत्व का अभाव तीन तरह से होता है—कही उसकी प्रतीति न होने, कही उसमें सन्देह होने और कही उसका विपर्यास होने से, प्रतीति न होने पर असिद्ध, सन्देह होने पर अनैकान्तिक और विपर्यास होने पर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास सम्भव है।

अकलङ्क कहते है कि यथार्थ मे हेत्वाभास एक ही है, और वह है अकिञ्चित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में होता है। वास्तव मे अनुमान का उत्थापक अविनाभावी हेतु ही है, अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) के अभाव मे हेत्वाभास की सृष्टि होती है। यत. हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है, अतः उसके अभाव मे मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथा उपपन्नत्व अर्थात अकिञ्चित्कर। असिद्धादि उसी का विस्तार है। इस प्रकार अकलङ्क के द्वारा 'अकिञ्चित्कर' नाम के नये हेत्वाभास की परिकल्पना उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास—माणिक्यनन्दि ने आभासो का विचार करते हुए अनुमानाभास सन्दर्भ मे एक 'बालप्रयोगाभास' नाम के नये अनुमानाभास की चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभास का तात्पर्य यह है कि जिस मन्दप्रज्ञ को समझाने के लिए तीन अवयवो की आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवों का प्रयोग करना, जिसे चार की आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँच की जरूरत है उसे चार का ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रम से अवयवो का कथन करना बालप्रयोगाभास है और इस तरह वे चार (द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयवप्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयवप्रयोगाभास) सम्भव है। माणिक्यनन्दि से पूर्व इनका कथन दृष्टिगोचर नही होता। अत. इसके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते है।

[शेष पृष्ठ २२० पर]

अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विचार

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

पहले अपभ्रंश को प्राकृत से भिन्न नही समझा जाता था। आज भी कई विद्वान् प्राकृत शब्दकोश से अपभ्रंश का शब्द-भण्डार भिन्न नही मानते। किन्तु वास्तविकता यह है कि जब तक अपभ्रंश का विशाल शब्द-भण्डार एक शब्दकोश के रूप में सकलित तथा निर्णीत होकर सामने नही आता तब तक अपभ्रंश का वास्तविक मूल्याकन नही हो सकता। कतिपय ऐसे शब्दो का अर्थ-विचार संक्षेप में प्रस्तुत है जो प्राकृत ग्रन्थो के अर्थ से भिन्न है—

णाहल

इस शब्द का अर्थ 'पाइअसद्दमहण्णव' मे इस प्रकार लिखा हुआ है—णाहल पु० (लाहल) म्लेच्छ की एक जाति (पृ० ३८७)। सम्भवतः इसी अर्थ को ध्यान मे रख कर वीर कवि विरचित 'जबूसामिचरिउ'[1] की निम्नलिखित पक्ति मे 'नाहल' का अर्थ म्लेच्छ किया गया है।

कहिं मि पज्झरियखलखलियजलवाहला कसणतणुनाहला।
५. ८. २१

—कही खल-खल करके झरते हुए जल के छोटे-छोटे प्रवाह थे, और कही काले शरीर वाले म्लेच्छ थे।

प्रसगतः यह विन्ध्याटवी का वर्णन है। इस मे बतलाया गया है कि कही गिरिमेखला पर गज व क्रुद्ध सिंह गर्जन कर रहे थे। कही शस्त्रो से आहत बाघो की चिंघाड़ से अटवी गूँज रही थी और कही नील गाय विदीर्ण कर दी गयी थी। कही घुरघुराते हुए वनैले सुअरो की दाढो से उखाडे हुए कन्द सूख रहे थे। कही हुंकारा भरते हुए शक्तिशाली महिषों के सीगों से आहत हुए वृक्ष गिर गये थे। कही लम्बी चीत्कारें छोडते हुए बन्दर दौड रहे थे। कही घू-घू करते हुए सैकडों उल्लुओं की आवाज से रुष्ट हुए कौवे कांव कांव कर रहे थे। कही खल खल करते हुए जलभरित झरने थे, और कहीं काले (चितकबरे) नाहल—चीते थे।

'महापुराण'[2] मे 'णाहल' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित रूप मे हुआ है—

कत्थइ झरझरियइं णिज्झरहं कत्थइ जलभरियइं कंदरइं।
कत्थइ वीणियवेल्लीहलइं विट्ठइ मज्जंतइं णाहलइं।
१५. १. ८–९

यह भी सिन्धसर के सघन वन के वर्णन के प्रसंग मे वर्णित है। घनी अटवी का वर्णन इस प्रकार है—

कही पर झर-झर कर झरने बह रहे थे, और कही पर कन्दराओ मे जल भर गया था। कही पर बिम्बीफल झूम रहे थे। भागते हुए णाहल—चीते दिखाई पड रहे थे। कही पर पर हिरन छलांगे भर रहे थे।......

इस प्रकार उक्त दोनो स्थलो पर 'नाहल' तथा 'णाहल' शब्द का प्रयोग चीते अर्थ मे हुआ है। किन्तु 'पाइअ-सद्द-महण्णव' मे म्लेच्छ अर्थ—सम्भवतः प्राकृत साहित्य की किसी पहाडी जाति के लिए आगत जान पडता है। महापुराण के टिप्पण मे श्री प्रभाचन्द्र ने 'शबर' अर्थ लिखा है। उक्त पंक्ति के टिप्पण मे अंकित है—

णाहलइं शबराः (महापुराण १५. ११. ९)

किन्तु यह विचारणीय है कि वन-पशुओ के वर्णन के प्रसग मे शबर कहा से आ गया? उक्त दोनो ही उद्धरण इतने स्पष्ट एवं स्फीत है कि सरिता के तट पर सघन वन की जो स्वाभाविक सुषमा होती है उसे ही प्रकट करने वाले हैं। वन-पशुओ के प्रसग मे 'णाहल' का अर्थ व्याघ्र या चीता उपयुक्त प्रतीत होता है। पुष्पदन्त के महापुराण मे एक अन्य स्थल पर भी इसका प्रयोग मिलता है—

१. जबूसामिचरिउ : सम्पा०-अनु० डॉ० विमलप्रकाश जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

२. महापुराण : सम्पा० डॉ० पी० एल० वैद्य, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

उड्डावियाइं कोइलकुलइं भयतसियइं रसियइ णाहलइं ।
१३. ११. ६

प्रसग है—राजा भारत दिग्विजय के हेतु मालवा होते हुए दक्षिण के देशो पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करते हुए विजयार्द्ध पर्वत के निकट पहुँच गये । वहाँ पर गुफा के द्वार से दूर डेरा डाला । राजा की षडंग सेना ने वहाँ आवास किया । वहा के सरोवर भैंसो के झुण्डों से मर्दित हो कीचड युक्त दिखलाई पड़ रहे थे । पके हुए फलों का स्वाद लिया जा रहा था, शाद्वल (हरी-हरी घास) काटी जा रही थी । उड़ाया हुआ कोकिल वृन्द भय से त्रसित था । णाहल–चीते दहाड रहे थे । सैकडों झुण्डों मे दसो दिशाओं मे चिंघाड़ते हुए हाथी इधर-उधर घूमते फिर रहे थे ।

इन प्रसंगो को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि नाहल या णाहण का अर्थ शबर या म्लेच्छ न होकर बाघ या चीता है । पुष्पदन्त के प्रभाचन्द्र के टिप्पण के अतिरिक्त एक टीका और मिली है, जिसमे णाहल का अर्थ व्याघ्र किया गया है जो उचित है । शब्द के विकास का दृष्टि से भी देखें तो यह शब्द इस प्रकार है—

णाहल—णाहर—नाहर

आज भी नाहर शब्द एक विशेष प्रकार के बाघ के अर्थ मे देश के कई भागो मे प्रचलित है । अतएव मेरी दृष्टि मे 'णाहल' का अर्थ चीता होना चाहिए । यद्यपि प्राकृत के सबसे बृहत कोश 'अभिधान राजेन्द्र कोष' मे णाहल का अर्थ म्लेच्छ विशेष है, किन्तु मूल मे वह 'लाहल' शब्द है । कहा गया है—

णाहल–लाहल न० । **लाहललाङ्गललाङ्गूले वा वेर्णः ८।१।२५६ इत्यादेर्लस्य वा णः । म्लेच्छविशेषे ।**—(अभि० को० पृ० २०१६) णाहल शब्द 'णाह' से व्युत्पन्न हुआ है और उसका अर्थ वन का स्वामी नाहर तथा जम्बूस्वामीचरित के सन्दर्भ के अनुसार चीता है ।

कल्होण

यह शब्द वीर कवि विरचित जंबूसामीचरिउ मे मिलता है । इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

कल्होडबइल्लें आयरेल्लु संघाडुल्लालिउ गयउ तेल्लु ।
५. ७. २३

इसका का अर्थ किया गया है—दुष्ट बैल के द्वारा (तेलवाहक बैलों की) जोड़ी को लात मार देने से तेल नष्ट हो गया ।

इस अर्थ में दुष्ट बैल के साथ जुड़ा हुआ दुष्ट विशेषण अर्थ की दृष्टि से ठीक नहीं है । क्योंकि 'कल्होड' का अर्थ दुष्ट नही है । डॉ० विमलप्रकाश जैन ने अनुवाद करते समय 'दुष्ट' अर्थ किया, पर शब्द-कोष के अन्तर्गत लिखा है—

कल्होड (वि०)—वत्सतर, बछड़ा (जबूसामि पृ० ३०४)

यह स्पष्ट है कि उक्त 'कल्होड' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप मे हुआ है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ दुष्ट या बछडा नही है । वत्सतर का अर्थ सस्कृतकोशों में क्षुद्र वत्स है परन्तु क्षुद्र वत्स का अर्थ दुष्ट नहीं होता । वाचस्पत्य कोश मे इसका विवरण इस प्रकार है—

वत्सतर पुं. स्त्री क्षुद्र वत्स. अल्पत्वे तरप् । क्षुद्रवत्से । अप्राप्तदमनकाले गवादौ अमरः स्त्रियां ङीप् । वत्सतरी
(पृ० ४८४४)

वस्तुतः 'कल्होड' शब्द देशी है । इसलिए प्राकृत के शब्दकोशो मे नही मिलता । पाइअसद्दमहण्णव में देशीनाममाला से संकलित किया गया है । उसमें इसका वत्सतर अर्थ ही किया गया है—

कल्होडो वच्छयरे वगम्मि कंडूरकाउल्ला ।—देशी ४,३२६

'वत्सतर' का अर्थ क्षुद्र वत्स न होकर जवान बछडा है । और इससे भी स्पष्ट अर्थ है—गाडी, हल आदि में जोतने योग्य बैल । अभिधानचिन्तामणि में यही अर्थ है—
वत्सः शकृत्करिस्तर्णो दम्यवत्सतरौ समौ । ४,३२६

अल्पावस्था वाले बछड़ा-बाछियों को वत्स, शकृत्करि तथा तर्ण कहते है तथा जुतने योग्य बैल को दम्य और वत्सतर कहते है । अतएव यहाँ कल्होड का अर्थ जोतने योग्य बैल है; दुष्ट बैल नही । अधिक से अधिक हम उन्हें युवा बैल कह सकते हैं । इस अर्थ की पुष्टि गोस्वामी तुलसीदास की शब्दावली से भी होती है, कवितावली की पंक्तियां है—

सोहै सितासित को मिलिबो,
तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे ।

मानों हरे तृन चारु चरे,
बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे ॥ १४४ ॥

उक्त कलोरे शब्द जवान बछड़े के लिए प्रयुक्त हुआ है। शब्द के विकास की दृष्टि से कलोरा शब्द कल्होड का विकसित रूप है—

कल्होड—कल्लोड—कलोड—कलोर

पिल्लिखिखणि

यह शब्द करकण्डचरिउ[1] मे मिलता है—

पिल्लि खिखणि फंफरि उंबरी वि
जो वज्जइ इह पंचुंबरी वि। ९. २१. ५

'पिल्लिखिखणि' एक शब्द है; न कि दो। सम्पादक ने इसे दो शब्दों के रूप मे विश्लेषित किया है, जिससे अर्थ मे विसंगति आ गई है। इसका अर्थ उस प्रकार किया है —'फिर जो कोई मद्य, मांस, मधु और पाच उदुम्बरों को छोडता है (वह श्रावक है)।

यह गृहस्थ के आठ मूलगुणो का प्रसग है। सामान्यत: मद्य, मांस, मधु और पाच उदुम्बरो (बड़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर) के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा गया है--

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः॥

अतएव उक्त प्रसंग मे णावणिघाइ तथा पिल्लिखिखणि का नवनीत और पिल्लो, खिरनी अर्थ उचित नही है। पिल्लिखिखणि एक शब्द है और इसका अर्थ पिलखन है। पिलखन पाकर के पेड़ को कहते है। सस्कृत मे इसे प्लक्ष, पर्कटी और जटी भी कहते है। पिलखन शब्द प्लक्षिन् का विकसित रूप जान पड़ता है। आज भी पिलखन शब्द पाकर के लिए प्रचलित है। फिर, खिखणि का खिरनी अर्थ अपभ्रंश के किसी काव्य मे नही मिलता। इसलिए पिल्लिखिखणि का पाकर अर्थ समुचित प्रतीत होता है। उदुम्बरी का अर्थ यहां गूलर है। और फंफरी का अर्थ सभवतया जघनफल अर्थात कठूमर।

१. करकंडचरिउ : सम्पा०-अनु० डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

कतिपय टिप्पणों के अर्थ पर विचार

अहिट्ठिय

पउमचरिउ[2] में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—

जोइस भवणन्तरेहिं अहिट्ठिय। २. १. ४

इसके टिप्पण मे 'हर्षित' अर्थ किया गया है।

यह शब्द सस्कृत के अधिष्ठित से विकसित हुआ है। अधिपूर्वक स्था धातु से अधिष्ठान और अधिष्ठित निष्पन्न होते है। जंबूसामिचरिउ मे कई स्थानों पर तथा महापुराण मे कई स्थलों पर यह शब्द प्रयुक्त है। इसके विभिन्न अर्थगत प्रयोगो पर विचार कर लेना सगतिपूर्ण होगा। पुष्पदन्त के महापुराण मे एक स्थल पर इसका अर्थ सहित किया गया है—

अहिट्ठियउ सहितम्. म० पु० १५. २१. ६।

जबूसामिचरिउ मे अधिष्ठित अर्थ मे प्रयोग हुआ है—

जहि देसि न दिट्ठउ ताउ अहिट्ठिउ तहि उज्जलउ-सुवण्णु जइ। ४. १३. १६

अन्य स्थलो पर भी इसी अर्थ मे प्रयोग परिलक्षित होता है।

पाइअसद्दमहण्णव मे भी यह अर्थ दिया हुआ है। अतएव अहिट्ठिय का अर्थ अधिष्ठित है; हर्षित नही। यदि 'अहिहट्ठिय' शब्द होता तो अत्यन्त हर्ष अर्थ हो सकता था। क्योकि सस्कृत के 'हृष्ट' के लिए 'हट्ठ' शब्द मिलता है। इसलिए या तो 'हट्ठिय' प्रयोग होगा, अन्यथा अहिहट्ठिय।

अर्द्धमागधी कोश मे भी अहिट्ठिय शब्द का अर्थ अधिष्ठित है। इस प्रकार व्युत्पत्ति तथा शब्द-प्रयोग एव कोशगत अर्थ की दृष्टि से अधिष्ठित अर्थ ही मान्य होगा।

वड्ढिउ

टिप्पणगत अर्थों के सन्दर्भ मे पउमचरिउ के एक प्रसग का उल्लेख करना अनुचित न होगा। भोजन का वर्णन करते हुए महाकवि स्वयम्भू कहते है—

वड्ढिउ भोयणु भोयण-सेज्जए
अच्छए पच्छए लण्हए पेज्जए। ५०. ११. ४

२. पउमचरिउ : सम्पा० डॉ० एच० सी० भायाणी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बंबई।

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया गया है। उन्होने भोजन की थाली मे सुन्दर सूक्ष्म पेय के साथ भोजन परसा।[1]

यहाँ पर सर्वप्रथम 'वड्ढिउ' शब्द विचारणीय है। टिप्पण मे इसका अर्थ 'परोसितः' तथा हिन्दी अनुवाद परसा किया गया है। सामान्य रूप से वड्ढिउ का अर्थ वर्धित—बढा हुआ है।

अर्द्धमागधी कोश मे वड्ढि के तीन अर्थों का उल्लेख मिलता है—उपज; आवज और वृद्धि। पउमचरिउ मे कई स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है और अधिकतर स्थानो पर इसका बढा या बढाया हुआ अर्थ लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

देवासुर-बल सरिसइं वड्ढिय हरिसइं कंचुय-कवय-विसट्टइं।
४. ७. १०

अभिभट्टइं वड्ढिय कलयलाइं, भरहेसर बाहुबलो बलाइं।
४. ८. १

एक अन्य स्थल पर 'वड्ढविय' का प्रयोग भी मिलता है।

अरे पुतहो णउ पडिरक्ख किय जं लालिय पालिय वड्ढविय।
६. १०. ६

किन्तु एक स्थान पर उक्त शब्द स्पष्ट रूप से बढिया या उत्तम अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—

बिहि मि राम-रामण-बलहुं एक्कु वि वड्ढिमउ ण दीसइ।
४५. २. ६

यहाँ पर 'वड्ढिमउ' शब्द का अर्थ वृद्धिमान् या बढ़िया है।

बढ़ा हुआ—वड्ढिय—आगे चल कर बढिया हो गया। इसका सबसे स्पष्ट प्रयोग उपर्युक्त सदर्भ मे हुआ है, जहाँ 'वड्ढिउ' का अर्थ परोसा न होकर बढ़िया है, जो भोजन का विशेषण है। अतएव अर्थ होगा—भोजन के लिए बढ़िया भोजन सिद्ध किया गया (पकाया गया)। स्वच्छ पथ्य तथा चिकने पेय तैयार किए गए। 'लण्ह' का अर्थ सूक्ष्म न होकर चिकना है।

१. पउमचरिउ, भाग १ : सम्पा०-अनु० डॉ० देवेन्द्र-कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

धूमवत्ति

पउमचरिउ के उपर्युक्त सन्दर्भ मे ही एक पक्ति इस प्रकार है—

विंजणेहिं स-महिय-दहि-खीरेहिं सिहरिणी-धूमवत्तिसोवीरेहिं।
५०. ११. ११

यहाँ टिप्पणो के आधार पर 'सिहरिणि' का अर्थ बघारा हुआ तथा 'धूमवत्ति' का अर्थ कांजी किया गया है, जो गलत है। धूमवत्ति का अर्थ हीग से बघारा हुआ है।[2]

सौवीर

उपर्युक्त पक्ति मे आये सौवीर का अर्थ कांजी है। डॉ० हीरालाल जैन ने 'णायकुमारचरिउ' के शब्द-कोश मे सउवीर-सौवीर (बटर-मिल्क, पाइअलच्छी० २६८) का अर्थ मट्ठा, तक्र किया है जो गलत है। (दे० पृ० १६७)। पाइअलच्छी का पाठ है—

सौवीरं आरनालं, नेहो पिम्मं रसोय अणुरागो।

आरनाल का तथा सौवीर का अर्थ सभी सस्कृत तथा प्राकृत कोशो मे 'कांजी' है।

काञ्चिकं काञ्जिकं धान्याम्लारनाले तुषोदकम्॥
महारसं सुवीराम्लं सौवीरं क्षणं पुनः॥
—अभिधानचिंतामणि, ३, ७९-८०

इसी प्रकार के अन्य टिप्पण भी है जिनके कारण कही-कही अर्थ का अनर्थ हो गया है।

उदाहरण के लिए पउमचरिउ के कतिपय टिप्पण इस प्रकार है—

मालूर

हे मालूर-पवर-पीवर-थणे कुवलय-दल-पफुल्लिय-लोअणे।
३१.१.६

मालूर का अर्थ टिप्पण मे 'बिम्बफल इव' दिया हुआ है किन्तु यह अर्थ गलत है। स्तन की उपमा बिम्बफल से नही दी जाती। स्तन के लिए प्रायः बेल उपमान प्रयुक्त किया गया है। अतएव मालूर के कोशगत कैथ तथा बेल

२. सम्भवतया यह टिप्पण की भूल सख्या क्रम बदल जाने से हुई है। ३ सिहरिणि की संख्या ३ धूमवत्ति की होनी चाहिए और ४ धूमवत्ति की संख्या ४ सौवीर की होनी चाहिए।

फल इन दो अर्थों में से बेल का फल ही ग्रहण करना चाहिए। और यहाँ स्पष्ट रूप से मालूर का अर्थ बेल का फल है। एक अन्य स्थल (४.३२.२) पर मालूर का अर्थ टिप्पण मे भी बिल्बफलवत् लिखा हुआ मिलता है।[1]

टालिउ

टिप्पणी मे इसका अर्थ शतखण्ड लिखा हुआ मिलता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पउमचरिउ की पंक्ति है—

केण पहञ्जणु बद्धु पडेण मेरु महागिरि टालिउ केण।
३१.६.८

इस पंक्ति का अर्थ है—वस्त्र से प्रभजन (पवन) को कौन बांध सकता है और सुमेरु पर्वत को कौन हटा सकता है।

एक अन्य स्थल पर भी सुमेरु को हटाने के अर्थ मे 'टालइ' शब्द का प्रयोग मिलता है। देखिए—

मेरु वि टालइ वद्धामरिसु तहो अण्णु णराहिउ तिणसरिसु।

पउमचरिउ के शब्दकोश मे भी 'टाल' का अर्थ हटाना (गुजराती टालवु) है। अतएव हटाना या खिसकाना अर्थ उचित है।

रङ्खोलइ

पउमचरिउ की एक पंक्ति है—

जो डिण्डीर णियरु अन्दोलइ णावइ सो जे हारु रङ्खोलइ।
१४.३.७

इसकी टिप्पणी मे 'रङ्खोलइ' का अर्थ 'विलासति' किया गया है। किन्तु रङ्खोलइ शब्द दोलय् का समानार्थी है। अतः इसका अर्थ है—झूलना। प्राकृत के शब्दकोशो मे यही अर्थ मिलता है। उक्त पंक्ति मे तथा दो अन्य स्थलों पर प्रयुक्त शब्द का भी यही अर्थ है। स्वयं टिप्पण-कार ने अन्यत्र यह अर्थ दिया है—

पवलय-माला-रङ्खोलिराइं मरगय-रिञ्छोलि-पसोहिराइं।

यहाँ 'रङ्खोलिराइं' शब्द के टिप्पण मे लिखा है—आन्दोलिता (नि)। अतएव रङ्खोल का अर्थ झूलना उचित है। अपभ्रंश के प्रकाशित तथा अप्रकाशित लगभग दस ग्रन्थों मे यह शब्द झूलने के अर्थ में मिलता है।

उक्त टिप्पणों के अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जो प्राकृत शब्दों से अर्थ में भिन्न हैं। यही नहीं, निम्नलिखित ऐसे शब्दो की सूची प्रस्तुत है जो प्राकृत कोशों में लक्षित नही होते—

पउमचरिउ

छिव्वर—चपटी (१, २ ११)
घुम्भल—शेखर (१७, १२, २)
जालोलि—ज्वालावली (८, २, ६)
णियासण—निवसन (६, १४, ४)
णियल—निगड (१, ५, ६)
णियच्छिय—निरच्छ दृश् (१६, ६, ६)
दोर—पशु (२, ७, ३)
णाइसप्प—नैसर्प (४, ६, ६)
जिणाल—जिनालय (६, २, ५)
डोह—क्षोभ (२, १३, ४)
लजिया—दासी (२३, ४, २)
रसय (रसक)—मद्य-भाजन (२६, ७, ६)
सरुजा—वाद्य विशेष (४०, १७, ४)
सोयवत्ति—मिष्टान्न विशेष (५०, ११, ६)
मुसुमूर—चूर्ण, चूरन (३८, ६, ५)
टिविल—ढुलकिया, छोटी ढोलक (२४, २, २)
आडोह—विलोडन (२८, ७, १)
खडक्क—पर्वत (३१ ३, ६)
ढेक्कार—गर्जना, डकारना दलाकना (२४, १३, ३)
भज्जिय—भाजी, पत्ती वाली शाक (५०, ११, ११)
पत्तिय—पत्नी (४६, २०, ६)
तुणव - भेरी (२६, १४, ३)
जूरवणी—सन्तापदायिनी (४१, ४, ४)
आयल्लिय—पीड़ित (२७, ३, ७)
आहुट्ठ—अर्द्ध चतुर्थ (४०, १८,१०)
गत्तल—गर्त (४६, ७, ७)
अवलुय—खेद (२०, ११, ४)
घोट्टिउ—घोट डाला (४६, ४, ६)
गिल्ल—हौदा (४६, १३, ७)
वाउलि—पक्षी विशेष (२७, १५ ५)
पाणिय-हारि—पनिहारी (२४, १, ६)
वल—वृषभ, बेल (२७, १७, ३२)

---

१. संभवतया पहले टिप्पण मे मुद्रण की भूल है। 'ल' के के स्थान पर 'म' हो गया है।

लोणिय—नवनीत, लोनी (३७, १, ५)
सूडिय—त्रुटित, भंजित (२४, ७, ५)
हलुवारय—लघुकतर (३४, १३, १)
हेवाइय—गर्वित (५६, १०, ६)
चिक्कमइ—जाता है (५६, १४, ४)
रह—रथ्या, मार्ग, गली (५६, १४, ६)
पारक्क—शत्रु जन (५६, १०, ६)
भंसी—वृक्ष विशेष (५, ८, ७)

जंबूसामिचरिउ

विटलटल—गठरी (११, ६, ३)
घार—चील (७, १, १२)

करकंडचरिउ

णण्ह—स्निग्ध (८, २, ६)
टेवंत—तेज करना, टेना (१०, १६, ८)
तेइया—पेटिका (१, ७, २)
फेफरि—फल विशेष (६, २१, ५)
परिणडिअ—वंचित (३, २१, ४)
हउ—हौ (ब्रज), मै (२, ५, ८)
हिलहिलत—हीसना, हिनहिनाना (३, १३, ४)
सूय—सून (सस्कृत), पारद (६, ६, ६)
वेल्लत—व्याकुल होना (५, ११, १४)
लबेल्लि—ललक पूर्वक (८, ७, ८)

महापुराण

वीसढु—बीभत्स (७, १२, ८)
अलियल्लि—व्याघ्र (१५, १३, ३)
ढेक्क—दहाड (३, ५, १०)
तंडउ—टोली, जत्था (१६, २२, ८)
केया—वरत्रा, हाथी कसने का रस्सा (१२, ११, ५)
विड्डुम—भय (१८, २३, १)
विसभर—कोरी, जुलाहा (३१, १७, १२)
सल—चिना, शवशयनस्थान (२३, ८, ६)
सवलहण समालम्भन (विलेपन) (३, ४, ७)
हेडि—शृंखला (७, १३, ८)
हवाइद्ध—कुपित (३२, २०, ४)
सेहीर—सिंह (२५, ३, ५)
झपड—सिंह (१२, १२, ५)
बिलिव्विल—बीभत्स (२०, १०, ११, प० च० ५४, ११, १)
खेउ—आलिंगन (२६, १६ २)
डावि—मुद्रिका, अँगूठी (३५, ५, ३)
णियणी—रस्सा २५, १८, १२)
दवट्टि—शीघ्र (२६, ६, ३)
णेहीर—कुंकुम (२५, ६, १२)
तक्कारि—सारथि (१२, १३, ६)
तियाउस—भस्म (३७, २२, ६)
तिडिक्क—स्फुलिंग (३७, २१, १०)
तालवट्ट—पुच्छ (३४, १०, १५)
सूय—श्री (३४, १, ६)
वट्टप—अतिशय, अत्यन्त (३२, १६, १३)
लूया—कोरी, जुलाहा (३१, १०, ६)
तोतडिल्ल—मिश्रित (२८, १, ५)
वंकेल—वक्र, टेढ़ा (२३, ४, १३)
मउंद मृदंग (२२, ८, ८)
अग्ठाण—कायोत्सर्ग (२१, ७, १)
दुवालि—अन्याय (२०, २४, १०)
सोणरि—शृगाल (२०, २१, १)
णिहाउ—समूह (२०, २२, १२)
कुयल—भूतल (२०, ३, ६)
तुदाहि—गण्डूपद, केंचुआ (७, १, २, ७)
वेट—वृन्त (४, ११, ११)
पासुय—प्रासुक, शुद्ध (६, ७, ४)
मेल—अति वृद्ध, बहुत बूढ़ा (२६, २५, १२)
मल्लारअ—भला, उत्तम (७, १७, ११)
वोवाण—यष्टि, लाठी (१, १६, १०)
चेचइय—अलंकृत (३ २, ४)
चदकव—मयूर, मोर (१३, ७, १०)
डुंग—समूह (६, २, २७)
थेम—बिन्दु (३, १४, २०)
पेल्लावेल्लि—सम्भ्रम (६, १८, १६)
पालिद्धय—झंडी (१२, ६, ४)
दडत्ति—शीघ्र (धड़कन ?) (६, १३, २)
लाणि—मर्यादा (४, ५, १४)

इस प्रकार के अनेक शब्द महाकवि पुष्पदन्त रचित 'महापुराण' में उपलब्ध है। सम्भव है कि इनमे से कई शब्द 'देशी नाममाला' या पाइयलच्छीनाममाला' में समान या भिन्न अर्थ मे देखने को मिल जाये, किन्तु अधिकतर शब्द नये टकसाली या भिन्न भाषाओ से आगत है। कतिपय शब्द-सस्कृत की काव्य परम्परा से समागत है। ऐसे शब्दो की सख्या भी कम नही है जो आर्येतर भाषाओं के कहे जाते है। विशेष कर महापुराण में ऐसे शब्द प्रचुर है, जो द्रविड भाषाओं के है। उनमे से कुछ सब्द देशी नाममाला मे भी मिलते है। प्राकृत बोलचाल की भाषा होने के कारण अनेक देशी प्रवाहो के शब्द सहज ही चिर काल से व्यवहृत होते आ रहे है।

महापुराण के अतिरिक्त कई अपभ्रंश के हस्तलिखित तथा अप्रकाशित प्रबन्ध काव्यों मे ऐसे शब्द मिलते है जो अन्य काव्य-कृतियो मे तथा कोशो मे नहीं मिलते। ऐसे ही कुछ शब्दो की सूची यहाँ प्रस्तुत है—

सुदंसण चरिउ (अब प्रकाशित)

मंट (६,११) फरिय (५, २१)
गोल्ली (४, ६) टरटर (८,१६)
खुट्ट (६, ११) घवघव (३, ७)
ममण (३,७) थडा (२, १३)
भडा (२ १३) रिट्टी कागुली (४, ५)
डेडा (३, ७) छेरइ-छिनत्ति (६, ११)
घुग्घुर (३, ७) सल्लइ (८, ६)

जिनदत्तचरित-लाखू

णीउ-नीच (१ ८) खणरूवा-विद्युत् (५, ६)
हीर-अधीर (४,५) पायाल-शेष (४, ३)
मल्हाविय-भ्रमित (४, ३) विच्छिड्डु-निरन्तर (३, ३३)
फर-खेडा, गाव (३, ३१) सीयर-स्वीकार (३,३०)
बालुब्बि-भयचकित (३,२७) कंधर मेघ (३, २५)
विसउ विश्रुत, प्रसिद्ध (३ २५) तिमिय-मत्स्य (३, २५)
अलयद्द-सर्प (१, ११) उक्कोविय-उद्घाटित (१,१६)
वणफणि-मयूर (२, १५) भुसुरु ताम्बूल (२, १७)
णिहुवउ-मौन (३, १०) बरु-श्रेष्ठ (३, १२)

सिद्धकथा-नरसेन

वरटियाल (१, १, १) जणवास-जनवासा (१, १२)
गुडर-गूदड़ (१ १०) लगुण्ण-लगुन (१, १२)
संट (१, १३) जण-मत (१, १४)
किकाण (१, १५) पहाड-पहाड (१, २३)
घाड-घाटी (१-२३) टोपरी-टोपी (१, २६)
टाटर-शिरस्त्राण (१,२६) वाखरु (१, २६)
चाटी (१, ३२) कचोल-कटोरा (१, ३५)
राणा-राजा (१, ३६) विल्लहइं-बिललाती (१, ३७)
लूह-लोहू, रक्त (१, ४४) पाछे-पीछे (१, ४४)
णातियउ-नाती (१,४६) कब्बलि-कण्ठ का आभूषण (१,५४)
कडय-कडा (२, १६) दमाम-दमामा वाद्य (१, ५४)
छड-है (२-१६) दडि-वाद्यविशेष (४२, १)

संतिणाहचरिउ-महिंदु

सवील-पक्षिविशेष (१, ६) दुगानि (१, ७)
विटिट्र-टिटहरी (१, ६) डुग्डुव (१, ४)
सप्पर (१, ३) डोहिय (१, ७)
वरकर (१, ८) णिब्भमिउ (२, १६)
भट्टउ (१, १४) छायाल-छियालीस (३,११)
चडफड-छटपटाना (२, २०)

रिट्ठणेमिचरिउ-धवल

ललक्क (४१, ६) दट्टर (२३, ६)
डिक्करु (१३, १०) विट्टल (१३, १२)
पहिलली-प्रथम, पहली (१४,१) लड मनोज्ञ ? (१४, ५)
वियाई (१४, ६) वहल-विपुल (१४, १०)
मट्टि (१४, १४) गागी (१४, १६)
मिग्ग-मृग (१४, १६) चदोबा-चदोवा (१५, १
भडारी (१५, ३) ढोउ (१६, १०)
रडी-विधवा (१५, १०) माढा (१५, १३)।
अल्ल-पशु विशेष, व्याघ्र ? (१३,६)
अणुवेक्ख अनुप्रेक्षा, अनुचिन्तन (१५,४)
पिछल्ली-पिछली-पिछली (१४, १)
णइगम-जाति विशेष के देव (१४, ३)
मोट्टिया 'मोट्टियारुण घडियउ वज्जे' (१४, १२)

अपभ्रंश के कई प्रकाशित काव्यों में भी ऐसे शब्द मिलते है जिनके दर्शन प्राकृत-कोशो में नहीं होते । विशेष रूप से 'प्राकृत शब्द-महार्णव' में नही पाये जाने वाले शब्दों की तालिका इस प्रकार है :—

करकंडचरिउ

काणि-लज्जा (१, २, ६)
टेवंत-टेना, तेज करना (१०, १६, ८)
णण्ह-स्निग्ध (८, २, ६)
पेइया-पेटिका, पेटी (१, ७, २)
फेंफरि-फल विशेष (६, २१, ५)

जंबूसामिचरिउ

उसं-ओस (१० ७, ६) प्राकृत शब्द मे उस्स है ।
उच्चेडिय-उच्चाटित, उचटा हुआ (६ ४, ६)
उण्णाह-बाढ (६, १०, १)
उद्दस-उपदेश (प्रशस्ति २०)
उड्डस-रोमाचिन (१, ८, ३)
उप्पुछिय-ऊपर से पोंछी हुई (१०, १६, ६)
उप्फेरिय सवारी हुई (१०, १६, ६)
उल्लिच्चण-रहट (४, ११, ६)
ओडिय-उठाने वाला (१, ११, ६)
ओडिय-उठाने वाला (१, ११, ८)
ओहालिय-अवलिप्त (६, १०, १३)
कचाइणि-कात्यायनी (५, ८, ३५)
डोह-दोह्, अवगाह (४, २१, ३)
तरिया तैराक (१०, ११, ७)
तोर-तुम्हारा (४, १८, १) छत्तीसगढी तोरा, तोला
थगदुग-वाद्य (५, ६, ११)
कच्छडय-कछोटा (५, ७, १३) प्राकृतशब्द. कच्छोटी
घडि-कुण्डल (१०, १६, ४)
नेसणय-वस्त्र (५, ६, ११)
पट्टोल-वस्त्र विशेष (४, ८, ६)
पड्डुल-पाटल पुष्प (८, १६, ४)
पद्धा-स्पर्द्धा (१, ११, १३)
पल्लीवण-चोरो के निवास योग्य सघन वन (५, ८, २४)
पारग्गह-युद्ध (६, १, १२)
पियलि-टीका, तिलक (८, १४, १४)
रसट्ट-रसाढ्य (४, ८, १४)
खुद-एक वाद्य (५, ६, १३)
सलसलिय-सलसलाया, कांसे का शब्द (५, ६, ८)
हुहुय-शंख का शब्द (१, १५, ६)

भविसयत्तकहा

गयारि-गवार (१४, ५, ७)
आभुरीय-दही बडा ? (१२, ३, ६)
खज्जा-खाजा, एक प्रकार का पक्वान्न (१२, ३, ४)
सुहाली-एक प्रकार का पक्वान्न (१२, ३, ४)
हुक्कडं ? (२, २, ६)
ढोक्कर आयुध विशेष (२, २, ७)
णिरारिउ-अनग किया हुआ (२, १२, ३)
मंच्छुडु-शीघ्र (२, १४, ३)

यद्यपि महाकवि धनपाल कृत 'भविसयत्तकहा' के विशिष्ट शब्दो का संकलन 'पाइअ-सद्द-महण्णव' के द्वितीय सस्करण मे किया गया है, फिर भी अनेक शब्द ऐसे है जो उसमे आकलित नहीं हो सके है । उन सबका उल्लेख करना इस छोटे से निबन्ध मे सम्भव नही है । इसी प्रकार अपभ्रश के अन्य अप्रकाशित तथा प्रकाशित काव्यो मे अनेक शब्द ऐसे मिलते है जो प्राकृत के कोशो मे परिलक्षित नही होते है ।

उक्त तथ्यो को ध्यान मे रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रश की शब्द-सूची प्राकृत से अभिन्न नही है । यद्यपि कही कही अपभ्रंश शब्दो की बनावट तथा अर्थ समझने के लिए प्राकृत शब्द समूह से बहुत कुछ सहायता मिलती है, किन्तु अपभ्र श का झुकाव देशी भाषाओ के अधिक निकट होने के कारण इसमे देश्य शब्दो की प्रचुरता है । जो विद्वान् यह कहते है कि अपभ्र श मे ६५ प्रतिशत से अधिक शब्द वे ही है जो पाइय-सद्द महण्णवो तथा देशी नाममाला आदि मे पाये जाते है, वे केवल अपभ्र श के कुछ प्रकाशित तथा परिशिष्ट मे सलग्न शब्द-कोशो के आधार पर निर्मित अपनी धारणा प्रकट करते है । और जिन विद्वानो का यह मत है कि अपभ्रंश कोश

प्राकृत कोश से भिन्न नहीं हो सकता वे अपभ्रंश के स्वतन्त्र अस्तित्व को नकारते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु अब भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राकृत तथा अपभ्रंश भिन्न-भिन्न युगों की साहित्यिक भाषाएँ रही है। उनकी शब्द तथा पद-रचना मे ही नही वाक्यो की बनावट तथा शब्द-सम्पदा में भी विशिष्ट अन्तर लक्षित होता है। केवल उच्चारण की भिन्नता से ही नही युग की मनोवृत्ति तथा सम्पर्क के कारण अपभ्रंश मे जो बहुविध परिवर्तन हुए उसके कई रूप आज भी साहित्य में लक्षित होते हैं। अतएव यह कथन—अपभ्रंश-कोश प्राकृत से भिन्न नही हो सकता। क्योकि अपभ्रंश के बहुत से शब्द प्राकृत मे मिलते है। जो शब्द सरलता से प्राकृत कोशों में नही मिलते वे देश्य वर्ग मे परिगणित किये जाते है। इस प्रकार एक ओर अपभ्रंश का शब्द-समूह देशज है और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का—उचित प्रतीत नही होता। ऐसे ही विचारो के कारण आज तक किसी अपभ्रंश-कोश का निर्माण नही हो सका। अपभ्रंश की शब्द-संपदा केवल देशज या आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की नहीं है, उसमे संस्कृत-प्राकृत तथा द्रविड़ भाषाओं के शब्द उसी प्रकार समाये हुए है जैसे कि हिन्दी में विविध प्रान्तीय बोलियो के शब्द सहज ही समाविष्ट है। स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सर्वप्रथम 'अपभ्रंश-कोश' के सम्पादन का कार्य अपने हाथ मे लेने का विचार किया था और सम्भवतः कुछ कार्य भी किया था। उन्हीं की प्रेरणा से मैने सन् १९६४ मे प्रथम बार यह प्रयत्न किया था कि ऐसे शब्दो का आकलन किया जाये जो प्राकृत कोशो मे तथा संस्कृत के कोशों मे नहीं मिलते हैं। ऐसे लगभग एक सहस्र शब्दो का सकलन किया जा चुका है।

विचारणीय यह है कि केवल उन्हीं शब्दो का आकलन किया जाये जो 'प्राकृत-शब्द-महार्णव' मे नही मिलते या अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येता अनुसन्धित्सु का दृष्टि मे रखकर एक परिपूर्ण अपभ्रंश कोश का निर्माण किया जाये।

—हिन्दी-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच (मन्दसौर : म० प्र०)

[पृष्ठ २११ का शेषांश]

अनुमान में अभिनिबोध मतिज्ञानाभास और श्रुतरूपता—जैन वाङ्मय मे अनुमान को अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुति–दोनो निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञान के पर्यायो मे पठित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्त ने उसे 'हेतुवाद' नाम से उसे व्यवहृत किया है और श्रुत के पर्यायनामो में गिनाया है। यद्यपि इन दोनो कथनो मे कुछ विरोध-सा प्रतीत होगा। पर विद्यानन्द ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्वार्थानुमान को अभिनिबोध कहा है, जो वचनात्मक नही है और षट्खण्डागमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेन ने परार्थानुमान को श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्द का यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्र मे एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है, इस उपलब्धि का सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञानमीमासा के साथ है।

इस तरह जैन चिन्तको का अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्र के लिए कई नये तत्त्व देता है।

—संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कुवलयमालाकहा में उल्लिखित राजा अवन्ति

प्रो० प्रेम सुमन जैन

राजस्थान मे रचित ग्रन्थों के ऐतिहासिक महत्त्व की परम्परा मे उद्योतनसूरि द्वारा ७७९ ई० मे जालौर मे रचित कुवलयमालाकहा प्राकृत भाषा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपयोगी है। यद्यपि यह एक कथा ग्रन्थ है किन्तु प्रसंगवश उद्योतन ने कई ऐतिहासिक तथ्य उद्घाटित किये है, जिनसे राजस्थान एव मालवा के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है।

कुवलयमाला मे हाल, देवगुप्त, प्रभजन, दृढ़वर्मन, जयवर्मन, महेन्द्र, भृगु, अवन्तिवर्द्धन, श्रीवत्स, विजयनराधिप, अवन्ति, चन्द्रगुप्त, वैरिगुप्त, हरिगुप्त, तोरमाण, श्रीवासराज रणहस्तिन आदि राजाओ के उल्लेख है, जिनमे अधिकाश ऐतिहासिक है। प्रस्तुत निबन्ध मे अवन्ति राजा के सम्बन्ध मे विचार किया गया है।

अवन्तिवर्द्धन अवन्ति

उद्योतन ने कुवलयमाला मे विनीता के राजा दृढवर्मन और मालव नरेश (?) के बीच युद्ध होने का सकेत दिया है, जिसमे मालव नरेश का पाँचवर्षीय पुत्र महेन्द्र अपने पिता के हार जाने के कारण दृढ़वर्मन के समक्ष उपस्थित किया जाता है।[1] कुमार महेन्द्र के कथनानुसार मालव नरेश हरिपुरन्दर, विक्रम जैसा प्रतापी था।[2] उत्तम वंश और कुल वाला था।[3] इससे ज्ञात होता है कि उस समय मालव पर किसी प्रतापी राजा का शासन था। वह कौन था, इस की पहचान विचारणीय है। आठवी शदी मे मालव (अवन्ति) की राजनैतिक स्थिरता अनिश्चित-सी बनी रही। अतः उद्योतन के समकालीन वहाँ किसका शासन था यह निश्चित करने में थोडी कठिनाई है। किन्तु उद्योतन के उल्लेखों के अनुसार ही इस समस्या पर विचार किया जा सकता है।

कुवलयमाला मे उद्योतन ने अवन्ति नरेश के सम्बन्ध मे तीन प्रमुख सन्दर्भ दिये है। प्रथम संदर्भ में उज्जयिनी के राजा की सेवा में कोई क्षत्रिय वश उत्पन्न क्षेत्र भटनाम का एक ठाकुर रहता था। बाद मे उसके पुत्र वीरभट एवं उसके पुत्र शक्तिभट ने उज्जयिनी के राजा की सेवा की, शक्तिभट क्रोधी स्वभाव का था। एक बार राज्य सभा मे शक्तिभट आया। उसने राजा अवन्तिवर्धन को प्रणाम कर अपने स्थान की ओर देखा, जहाँ कोई भूल से पुलिंदराज पुत्र बैठ गया था। शक्तिभट ने उसे न केवल अपने आसन से उठा दिया अपितु इसमे अपना अपमान समझकर उसकी हत्या भी कर दी और वहां से भाग गया।[4]

इस प्रसग में 'राइणो अवन्तिवद्धणस्स कय-ईसि-णमोक्कारो' का उल्लेख अधिक महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ हुआ कि उज्जयिनी का राजा अवन्तिवर्धन था, जिसकी सभा मे वंश परम्परा से सेवक ठाकुरो का अधिक सम्मान था तथा पुलिंद राजकुमार भी वहाँ उपस्थित रहते थे। यह अवन्तिवर्धन राजा कौन था, अवन्ति के राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है ?

उद्योतन ने एक दूसरे सन्दर्भ मे उज्जयिनी के राजा का नाम श्रीवत्स कहा है, जो पुरन्दर के समान सत्य और वीर्यशाली था। उसका पुत्र श्रीवर्धन था।[5] सम्भव है उपर्युक्त प्रसग के अवन्तिवर्धन एव इस श्रीवर्धन मे कोई वशानुगत सम्बन्ध रहा है। उज्जयिनी अथवा मालवा के के साथ अवन्तिवर्धन राजा का सम्बन्ध तत्कालीन

* राजस्थान इतिहास कांग्रेस के चतुर्थ अधिवेशन, बीकानेर मे पठित निबन्ध।

१. देवस्स चेव आणाए तइया मालव णरिंद विजयत्थ गओ। —कुव०, ९.२३

२. तायस्स हरि पुरदर-विक्कमस्स··· —वही, १०–२६

३. महावंश कुल-प्पसूया रायउत्ता —वही, ११-५

४. तओ राइणो अवन्तिवद्धणस्स कय-ईसि-णमोक्कारो... पइओ वच्छत्थलाभोए पुलिंदो इमिणा रायउत्तो। —वही, ५०-३१

५. उज्जयणीपुरी रम्मा (१२४-२८)···तम्मि य पुरवरीए सिरिवच्छो णाम पुरन्दर सम-सत्त-वीरिय-विहवो। तस्स य पुत्तो सिरिवद्धणो णाम। —वही, १२५-३

इतिहास मे नही मिलता। किन्तु इससे यह सोचने के लिए आधार प्राप्त होता है कि उद्योतन के थोड़े समय बाद लगभग ८१० ई० मे कश्मीर के उत्पलवश मे अवन्ति-वर्धन नाम का एक लोकप्रिय राजा हुआ है।[1] सम्भव है उसका मालवा से उद्योतन के समय मे कोई सम्बन्ध रहा है। किन्तु इसकी प्रामाणिकता के लिए अभी अनेक साक्ष्यो की प्रतीक्षा करनी होगी।

अवन्ति नाम के नरेश के सम्बन्ध मे उद्योतन द्वारा प्रस्तुत कुवलयमाला का तीसरा उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। अरुणाभ नगर के राजा कामगजेन्द्र के समक्ष एक चित्रकार अपने चित्र की यथार्थता को प्रामाणिक करते हुए कहता है कि—राजन, उज्जयिनी मे अवन्ति नाम का एक राजा है, उसकी पुत्री के सौदर्य को देखकर ही मैंने यह तद्रूप चित्र बनाया है :—

'उज्जेणीए राया अत्थि अवन्ति त्ति तस्स धूयाए।
दट्ठूण इमं रूवं तइउ चित्तच विलिहियं एत्थ॥'
(२३३.१९)

आगे भी अवन्ति की रानी—**रण्णो अवन्तिस्स** (३१) तथा **'अवन्तिणा-दिण्णा तस्स'** (३२-३३) जैसे शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उज्जयिनी के राजा का नाम अवन्ति था।

कुवलयमाला के उपर्युक्त तीन उल्लेख कई महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उपस्थित करते हैं, जिन पर इतिहासज्ञों को विचार करना आवश्यक है। यथा—

१. मालवा प्रदेश का पूर्ण नाम 'अवन्ति जनपद' प्रचलित होने का क्या आधार है? अवन्ति जनपद के अनुसार वहाँ जातियो के नाम यथा—अवन्तिब्रह्म, स्त्रियो के नाम यथा—अवन्ति[2], भाषा का नाम यथा—अवन्तिजा[3] तथा निवासियों का नाम यथा—अवन्तिक[4] आदि तो प्रचलित हुए हैं। किन्तु कहीं ऐसा तो नहीं है कि स्वय उस जनपद का नाम किसी अवन्ति के राजा के कारण अवन्ति पड़ा हो?

२. मालवा मे ६९६ ई० मे विनयादित्य राष्ट्रकूट के बाद ७९४ ई० में गोविन्दधारावर्ष तृतीय के शासन के बीच किन-किन राजाओं का शासन अवन्ति पर रहा? उनमें से अवन्ति नाम के राजा की पहचान किससे की जा सकती है? जिसका उद्योतन सूरि ने संकेत दिया है?

३. ७८३ ई० मे आचार्य जिनसेन द्वारा हरिवंश-पुराण मे उल्लिखित 'पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति' का इति-हासज्ञों ने अबतक जो अर्थ लगाया है उस पर उद्योतन के 'अवन्ति राजा' के उल्लेख से क्या प्रकाश पडता है?

४. तथा गुर्जर प्रतिहार राजा को अवन्ति जनपद का शासक मानने वाले विद्वानों के मत पर उपर्युक्त उल्लेखों का क्या प्रभाव पड़ता है तथा आठवी सदी मे मालवा और राजस्थान के क्या सम्बन्ध थे?

प्रथम प्रश्न के समाधान से सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि 'अवन्ति जनपद' का उल्लेख पाणिनी के समय भी होता था। उसके बाद यह नाम निरन्तर प्रयुक्त होता रहा। साहित्य में और यत्रतत्र कला अवशेषों में भी किन्तु इस जनपद विशेष का नाम अवन्ति कैसे पड़ा—इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही है। पौरा-णिक विचारधारा है कि प्रत्येक कल्प मे यह कुशस्थली देवता, तीर्थ, ओषधि, बीज एव प्राणियो का अवन (रक्षण) करती है अत: प्राचीन समय से ही अवन्ति नाम से इसकी प्रसिद्धि है।[5] यह प्राचीन समय क्या है? कह पाना कठिन है। किन्तु जहा तक रक्षण का प्रसंग है वह किसी प्रतापी प्रजावत्सल राजा के साथ भी हो सकता है। जो राजा वहा के निवासियों आदि का भली भाति रक्षण करता रहा हो बाद मे उसी के नाम से इस प्रदेश विशेष का नाम अवन्ति पड़ गया हो। साहित्य मे अवन्ति नाम के राजाओ की परम्परा प्राप्त होती है। कालिदास ने

१. राजतरगणी—कल्हण।

२. द्रष्टव्य पाणिनीकालीन भारतवर्ष—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १०१

३. प्राच्या विदूषकादीना योज्या भाषा अवन्तिजा—नाट्यशास्त्र।

४. आभीरकावन्तिककोशलाश्च मत्स्याश्च सौराष्ट्र-विन्ध्यपालाः।
—वरांगचरित, उपाध्ये, ६ अध्याय, १५ श्लोक ३३

५. पौराणिक अवन्तिका और उसका माहात्म्य—रामप्रताप त्रिपाठी, —विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४४३

अवन्तिनाथ,[1] उद्योतन ने अवन्ति एवं अवन्तिवर्धन,[2] जिनसेन के अवन्तिभूभृत का उल्लेख किया ही है।[3] इतिहास में कश्मीर के ९वीं सदी के एक राजा का नाम अवन्तिवर्मन था। अतः किसी राजा का नाम अवन्ति होना आश्चर्य की बात नहीं है। १२वी सदी मे अनहिल के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज ने अवन्ति पर विजय प्राप्त कर 'अवन्तिनाथ' उपाधि भी धारण की थी।[4]

दूसरे राजा के नाम पर नगर का नाम रखे जाने की परम्परा भी भारत मे खोजी जा सकती है। बीकानेर नगर का नाम महाराजा बीकाजी से जुड़ा हुआ है और नगर से पूरे स्टेट को भी बीकानेर स्टेट कहा जाता रहा है। अतः इस सम्भावना पर विचार किया जा सकता है कि किसी अवन्ति नाम के राजा ने उज्जयिनी के सीमावर्ती प्रदेश मे विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की हो और बाद मे उसकी स्मृति मे वह प्रदेश विशेष अवन्ति के नाम से जाना जाने लगा हो। पौराणिक मान्यता और साहित्य से इस सम्भावना को बल मिलता है, ऐतिहासिक तथ्य मिलने पर यह बात प्रमाणित भी हो सकती है।

उद्योतन द्वारा उल्लिखित उज्जयिनी के राजा अवन्ति का कोई समय नही दिया गया है। किन्तु यदि अवन्ति राजा को उनका समकालीन ही माना जाय तो यह देखना होगा कि इतिहास मे किससे पहचान की जा सकती है। अवन्ति जनपद (मालवा) पर ६९६ ई० मे विनयादित्य का शासन था, उसके बाद दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट राजा का वहाँ ७५३ ई० मे शासन रहा। ७९४ ई० मे गोविन्द्र-धारावर्ष ने नागभट्ट II से अवन्ति का शासन छीन लिया।[5] अतः ७५३ से ७९४ ई० के बीच के समय मे नागभट्ट II का अवन्ति मे कब शासन रहा यह विचारणीय है। तथा इसी समय क्या कोई अवन्ति नाम का शासन भी वहा रहा? यह एक खोज का विषय है। मेरे एक मित्र श्री प्रकाश परिमल का सुझाव है कि सम्भवतः उद्योतन ने दन्तिदुर्ग को ही अवन्ति समझ लिया है। अथवा लिपिकार ने यह गड़बड़ी पैदा की है। किन्तु कुवलयमाला के स्पष्ट उल्लेखों के सन्दर्भ मे यह सुझाव स्वीकार्य नही लगता। सम्भवतया मालवा से प्राप्त अवशेषो के अध्ययन से इस पर कुछ प्रकाश पड़ सके।

मालवा का (उज्जयिनी) राजा अवन्ति था, उद्योतन के इस कथन की पुष्टि उनके ठीक ५ वर्ष बाद के आचार्य जिनसेन द्वारा की जाती है। ७८३ ई० मे जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना की। उसमे उन्होने लिखा है—सात सौ पाच शक संवत मे, जबकि उत्तर दिशा का इन्द्रायुध, दक्षिण का कृष्णराज का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व दिशा का श्रीमान् अवन्तिराज और पश्चिम दिशा का वत्सराज तथा सौर्यों के अधिमण्डल सौराष्ट्र का वीर जयवराह पालन करता था...तब इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी।[6] जिनसेन के इस श्लोक के तीसरे पद 'पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपेवत्सादिराजेऽपरां' का विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि वत्सराज अवन्ति का राजा था। किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा ने अनेक साक्ष्यो के आधार पर इस अर्थ का खण्डन किया तथा यह स्थापना है कि वत्सराज पश्चिम प्रदेश का राजा था और पूर्वप्रदेश के राजा का नाम जिनसेन ने लिया नही, केवल अवन्तिराज कह दिया है।[7]

किन्तु उद्योतन के उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो गया कि उस समय मालवा का राजा कोई अवन्ति नाम का राजा था। अतः जिनसेन ने भी पूर्वदिशा के राजा का नाम छिपाया नही अपितु 'अवन्तिभूभृति' उसका असली नाम ही दिया है। जिसका मालवा पर ७७९ ई० से ७८३ ई० तक तो शासन था ही, जिसका इन दोनों आचार्यों—उद्योतन-जिनसेन ने उल्लेख किया है। अतः सम्भवतः दन्तिदुर्ग के बाद मालवा का शासन अवन्तिभूभृति के हाथों

---

१. अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः। —रघुवंश, ६-३२
२. कुवलयमाला, २३३-१९; १५०,३१।
३. हरिवंशपुराण, सर्ग ६६, श्लोक ५२।
४. विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४२७। —दृष्टव्य
५. वही, भास्कर आर.सी. मालेराव का लेख—दृष्टव्य।
६. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥ ६६.५२
७. राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ० १२९ इत्यादि।

मे रहा हो। उसके बाद नागभट्ट II शासक बना हो तथा उसे हटाकर गोविन्द धारावर्ष ने मालवा पर अपना अधिकार किया हो।

उद्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित उज्जयिनी के राजा अवन्ति की पहचान यशोवर्मन के उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मन से भी की जा सकती है। प्राचीन ग्वालियर राज्य से प्राप्त रनोड अभिलेख से ज्ञात होता है कि अवन्तिवर्मन नाम का एक राजा हुआ है, जो कि शैवधर्म का अनुयायी था[1] तथा मत्तमयूरनाथ (पुरन्दर) का समकालीन था।[2] डॉ० बुद्धप्रकाश ने विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर अवन्तिवर्मन का समय ७६२ ई० से ७६७ ई० के मध्य निश्चित किया है।[3] तथा यशोवर्मन के पुत्र आम एवं अवन्तिवर्मन को एक माना है, जिसका ग्वालियर राज्य पर शासन था।[4] अवन्तिवर्मन का पुत्र पुण्डुक था, सम्भवतः जिसे उद्योतनसूरि ने दृढ़वर्मन कहा है।[5]

इस अवन्तिवर्मन से उद्योतन द्वारा उल्लिखित अवन्ति राजा की पहचान करना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसका समय भी उद्योतन के समय से मिलता-जुलता है तथा उसका राज्य भी ग्वालियर स्टेट में था, जो सम्भव है उज्जयिनी तक फैला रहा हो।

उक्त प्रश्नों के इन समाधानों से चौथा प्रश्न कि वत्सराज प्रतिहार अवन्ति का शासक था—यह मान्यता स्वयमेव अर्थहीन हो जाती है! वत्सराज राजस्थान के विभिन्न स्थानों का शासक रहा तथा उसका अवन्ति-जनपद से कोई सम्बन्ध नहीं था—इस विषय मे डॉ० दशरथ शर्मा[6] एवं डॉ० हीरालाल जैन ने सतर्क प्रमाण प्रस्तुत किये है, जिनका डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने निम्नलिखित शब्दो मे अनुमोदन किया है।

I agree with Dr. Dasharatha Sharma and Dr. H. L. Jain that Vatsaraja need not be connected with Avanti the name of the rular of which is not obviously mentioned by Jinasena.[7]

इस मान्यता को कुवलयमाला के एक प्रसग से और बल मिलता है। उद्योतन ने वत्सराज की राजधानी जालौर मे रहकर कुवलयमालाकहा की रचना की है। वत्सराज उस समय वहाँ का प्रतापी राजा था। उद्योतन ने अनेक देशो के व्यापारियो के रूपरग एव स्वभाव का वर्णन करते हुए मालवा के व्यापारियों का वर्णन किया है कि शरीर से काले, ठिगने, क्रोधी, मानी एवं रौद्र स्वभाव वाले मालव 'भाउप भइणी तुम्हे' आदि शब्दों का उच्चारण कर रहे थे।[8] यदि उस समय का वत्सराज का मालवा पर शासन होता तो उसके राज्य मे रहने वाला लेखक मालवो के सम्बन्ध मे ऐसे शब्द लिखने का साहस न करता। इस वर्णन से तो यह स्पष्ट लगता है कि वत्सराज और मालव राज्य के बीच अच्छे सम्बन्ध नही थे, जो तात्कालिक राजनीतिक स्थिति को देखते हुए बहुत स्वाभाविक था।

—जैन कालेज, बीकानेर (राजस्थान)

---

१. एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग १, पृ० ३५१

२. तत्वप्रभावमहनीयतमस्य तस्य शिष्योऽवभवज्जगति मत्तमयूरनाथः।
नि:शेषकल्मषमशेषमपहृत्य येन सकामितम्परमहो नृपतेरवन्तेः।
—कार्पस् इन्सक्रिप्शनस् इण्डीकरुम, भाग ४, पृ० २१३, श्लोक ४६

३. In any case, it is Patent that this saint lived in the latter half of the eight century and his contemporary Avantivarman flourished at that time.
—प्रास्पेक्टस् आफ इंडियन कलचर एण्ड सिविलाइज़ेशन, पृष्ठ ११३–१५

४. It appears that this king (Ama) is the same as Avantivarman, the rular of the Gwalior region, mentioned above. His real name was Avantivarman and surname Ama. —वही, पृष्ठ ११६

५. वही, पृ० ११६

६. वही, पृ० १२५–२८५।

७. इण्ट्रोडक्शन टू कुवलयमालाकहा, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, पृ० १०७

८. तणु साम-मउह-देहे-कोवणए माण-जीविणो-रोद्दे।
'भाउय भइणी तुम्हे' भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥
—कुव० १५३.६

जैन न्याय की एक अप्रकाशित कृति :

शान्तिवर्णीकृत प्रमेयकण्ठिका

डा० गोकुलचन्द्र जैन, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

प्रमेयकण्ठिका जैन न्याय की एक लघुकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति है। माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख के प्रथम सूत्र, '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**' को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। लेखक ने ग्रन्थ के मगल श्लोक मे कहा है कि परीक्षामुख के प्रथम सूत्र का विवेचन कर रहा हूँ। वास्तव मे ग्रन्थ मे मात्र इसी सूत्रका विवेचन नही है प्रत्युत प्रमाण शास्त्र के सभी प्रमुख विषयो—प्रमाण का लक्षण, प्रमाण का फल, प्रामाण्य, प्रमाण का विषय, सर्वज्ञत्व विचार आदि का संक्षेप मे सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है। जैन न्याय साहित्य मे इस प्रकार का दूसरा उदाहरण न्यायदीपिका है। धर्मभूषण यति ने तत्त्वार्थसूत्र के "प्रमाण-नयैरधिगम." नामक सूत्र को आधार बनाकर इस की रचना की है तथा सक्षेप में प्रमाण शास्त्र के सभी विषयो को समाहित करने का प्रयत्न किया है।

विषय-विभाग

प्रमेयकण्ठिका पाच स्तबकों मे विभाजित है। विषय वस्तु के साथ वे इस प्रकार है—

१. प्रथम स्तबक मे प्रमाण का सामान्य लक्षण, प्रमाण और फल का परस्पर सम्बन्ध तथा कथञ्चित् उनके भेदाभेद का प्रतिपादन किया गया है।

२. द्वितीय स्तबक मे क्रमशः नैयायिक, साख्य, प्रभाकर, भाट्ट तथा बौद्ध सम्मत प्रमाण लक्षणो का विवेचन और उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

३. तृतीय स्तबक में प्रामाण्य की ज्ञप्ति तथा उत्पत्ति के विषय मे दर्शनान्तर सम्मत विचारधाराओ की समीक्षा करके जैन दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।

४. चतुर्थ स्तबक मे बताया गया है कि प्रमाण का विषय सप्तभंगी रूप है। संक्षेप में इसका विवेचन किया गया है।

५. पाचवें स्तबक मे विस्तार के साथ जगत्कर्तृत्ववाद की समीक्षा करके सर्वज्ञसिद्धि का प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकार ने प्रत्येक स्तबक तथा ग्रन्थ के अन्त में इसका नाम प्रमेयकण्ठिका दिया है। कठिका गले मे पहनने का एक विशिष्ट आभूषण होता है। जिस प्रकार कठ की शोभा कठिका से और अधिक बढ जाती है, उसी प्रकार प्रमेयकण्ठिका से प्रमाणशास्त्र की श्रीवृद्धि होगी। प्रमेयकण्ठिका मे जितना विषय है, उतना तो प्रमाण शास्त्रके अध्येता के गले मे रखा रहना चाहिए—उसे कठाग्र रहना चाहिए। कठिका समृद्धि की प्रतीक है, प्रमेयकण्ठिका विद्वत्ता की।

प्रमेयकण्ठिका की भाषा सरल सस्कृत है। पूरे ग्रंथ मे मगलाचरण तथा अन्त के चार पद्यो के अतिरिक्त शेष भाग गद्य मे है। शैली अन्य न्याय ग्रन्थो जैसी होते हुई भी सरस और प्रवाहमयी है। ग्रन्थकार ने न्याय जैसे दुरूह विषय को भी हृदयग्राही शैली मे प्रस्तुत किया है।

प्रमेयकण्ठिका का मैंने सर्वप्रथम सम्पादन किया है। इसका प्रकाशन शीघ्र होगा।

यह सस्करण निम्नलिखित दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया है—

अ—यह प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) की है। इसमे सफेद कागज पर लिखे ८½"×६½" आकार के ३८ पत्र है।[1] प्रत्येक पत्र में दोनों

---

१. इसी प्रकार के कागज पर लिखे किसी अन्य न्याय ग्रन्थ के आठ पत्र भी इसी बस्ते मे भूल से रख दिये गये लगते हैं, जिन्हे इसी ग्रन्थ का समझ लिया गया।

और मिलाकर २२ पंक्तियां तथा प्रति पंक्ति २१ अक्षर है। प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि करने का विवरण इस प्रकार दिया है—

"क्रोधनसंवत्सरे माघमासे कृष्णचतुर्दश्यां विजयचन्द्रेण जैनक्षत्रियेण श्रीशान्तिवर्णिविरचिता प्रमेयकण्ठिका लिखित्वा समापिता। भद्रं भूयात्। वर्धतां जिनशासनम् ॥"

यह प्रतिलिपि किस मूल प्रति से की गई है, इसकी जानकारी न तो इस प्रतिलिपि से प्राप्त होती है और न ही किसी अन्य स्रोत से पता लग सका। अक्षरों की बनावट साधारणतया स्पष्ट होते हुए भी ग्रन्थ बहुत अशुद्ध है। प्रस्तुत संस्करण में इस प्रति के पाठान्तर **अ** संकेत के साथ पाद टिप्पण में दिये गए है।

ब—यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन, ब्यावर (राजस्थान) की है। इसमें ११½"×६½" आकार के सफेद कागज पर लिखे १८ पत्र है। पहला पत्र एक ओर लिखा गया है। प्रत्येक पत्र में दोनों ओर मिला कर २२ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्ति मे पचास के लगभग अक्षर है। प्रतिलिपि का विवरण इस प्रकार दिया है—

"मिति पौष सुदी १२ संवत् १९९१ ह० पं० ठाकुरदास चौबे मुकाम चन्देरी।"

यह प्रतिलिपि किस मूल प्रति से की गयी है, इसका पता नही चलता। आरा की प्रति की अपेक्षा यह शुद्ध है, किन्तु पूर्णरूप से शुद्ध नहीं है। इस प्रति के पाठान्तर **ब** संकेत के साथ पाद टिप्पण मे दिये गए है।

उपर्युक्त दोनो प्रतियों के आधार पर पाठ संशोधन किया गया है। यदि अधिक प्राचीन और शुद्ध प्रति उपलब्ध होती तो सम्पादन मे विशेष उपयोगी होती। इन दोनो प्रतिलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्रतिलिपियाँ अलग-अलग मूलप्रतियो से की गयी है। आरा की प्रति श्री नेमिचन्द्र जैन तथा ब्यावर की प्रति पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसके लिए दोनों का आभारी हूँ।

विषय वस्तु के अनुसार पांच स्तबकों की सामग्री को मैंने एक सौ छब्बीस पेराग्राफों मे विभाजित किया है।

विषय विवेचन

प्रमाण-लक्षण विचार

प्रमाण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—**प्रमीयते येन तत् प्रमाणम्** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, वह प्रमाण है। सभी भारतीय दार्शनिको ने प्रमाण की यह सामान्य परिभाषा स्वीकार की है।

प्रमाण से वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। तदनुसार हेय, उपादेय और उपेक्षणीय अर्थों मे यथानुरूप प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा होती है। यही प्रमाण शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता का प्रमुख कारण है।

भारतीय चिन्तन मे प्रमाणशास्त्र के विकास की एक दीर्घकालीन परम्परा है। वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाले मीमांसक, ईश्वर को जगत का कर्ता मानने वाले नैयायिक, प्रकृति और पुरुष को सृष्टि का कारण और मूल तत्त्व मानने वाले सांख्य, सत्ता मात्र को क्षणिक मानने वाले बौद्ध तथा अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को मानने वाले जैनों की सुदीर्घ चिन्तन परम्परा, विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान एवं घात-प्रतिघात से प्रमाणशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ है और प्रत्येक चिन्तन पद्धति के अनेक विशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध होते है। उन्ही के आलोक मे यहाँ विचार किया जायगा।

न्याय-वैशेषिक

कणाद का प्रमाण-लक्षण

तार्किक परम्परा के उपलब्ध इतिहास मे कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होने प्रमाण सामान्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"अदुष्टं विद्या।" ९.२.१२

अर्थात् निर्दुष्ट विद्या को प्रमाण कहते है। प्रमाण का यह लक्षण कारण शुद्धिमूलक है।

गौतम का प्रमाण-लक्षण

अक्षपाद गौतम का न्यायसूत्र प्रमाणशास्त्र का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण सामान्य का लक्षण नही है। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने इस कमी को प्रमाण शब्द के निर्वचन द्वारा इस प्रकार पूरा किया है—

'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्यानिर्वचन—

सामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।" —न्यायभा० १.१.३

इस लक्षण मे कणाद की तरह कारण शुद्धि पर ध्यान न रखकर मात्र उपलब्धि रूप फल की ओर दृष्टि रखी गयी है।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति ने वात्स्यायन के उपर्युक्त निर्वचन मूलक प्रमाण-लक्षण में आने वाले दोषो का परिहार करते हुए 'अर्थ' पद का सम्बन्ध जोड़ कर प्रमाण लक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"**उपलब्धिमात्रस्य अर्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाणशब्देन अभिधानात्।**" —तात्पर्य०, पृ० २१

उदयनाचार्य

उदयनाचार्य ने उपर्युक्त लक्षण को 'गौतमनयसम्मत' कह कर इस रूप मे प्रस्तुत किया है—

"**यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।**
मितिः सम्यक् परिच्छित्ति तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेद. प्रामाण्यं गौतमे मते।।"

—न्यायकुसु० ४. १. ५

बाद के सभी न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों मे प्रमाण की यह परिभाषा समान रूप से मान्य है। इस परिभाषा के निष्कर्ष रूप मे प्रमाण-सामान्य के लक्षण मे मुख्यतया निम्नलिखित बाते ध्यान देने योग्य है—

१. कारणदोष के निवारण द्वारा कारणशुद्धि को सूचना।
२. विषयबोधक अर्थपद का लक्षण मे प्रवेश।

मीमांसक

प्रभाकर और उनके मतानुयायी मीमांसक विद्वानो ने अनुभूति को प्रमाण माना है—

"**अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।**" —बृहती १. १. ५

कुमारिल तथा उनकी परम्परा वाले अन्य मीमांसको ने यह लक्षण माना है—

"**औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते।**
अबाधो व्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता।।
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।।'

—श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०-११

मीमासकों की इस परम्परा मे न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनो परम्पराओं का संग्रह हो जाता है। 'अदुष्ट-कारणारब्ध विशेषण से कणाद कथित कारणदोष का निवारण हो जाता है तथा 'निर्बाधत्व' एव 'अपूर्वार्थत्व' विशेषण के द्वारा बौद्ध परम्परा का भी समावेश हो जाता है—

"**एतच्चविशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोष-बाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।।**"

—शास्त्रदीपि० पृ० १२३

कुमारिलकर्तृक माने गये निम्नलिखित श्लोक से यह और भी स्पष्ट हो जाता है—

"**तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।**
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाण लोकसम्मतम्।।"

इस लक्षण मे प्रमाणसामान्य लक्षण के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अनधिगत बोधक 'अपूर्व' पद का समावेश प्रमाणलक्षण मे देखा जाता है।

बौद्ध

दिङ्नाग ने प्रमाण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'**स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।**
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।।"

—प्रमाणस० १ १०

इस लक्षण में 'स्वसवित्ति' पद का फल के विशेषण रूप मे निवेश किया गया है।

धर्मकीर्ति ने प्रमाण लक्षण इस प्रकार दिया है—

"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितः।**
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्।।"

—प्रमाणवा० २. १.

इस लक्षण मे धर्मकीर्ति ने 'अविसवादित्व' विशेषण का निवेश किया है। यह वात्स्यायन के 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' तथा कुमारिल के 'निर्बाधत्व' विशेषण का पर्याय समझना चाहिए।

न्यायबिन्दु (१.२०) में धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के अर्थ-सारूप्य का ही निर्देश किया है।

शान्तरक्षित के लक्षण मे दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनो के आशय का सग्रह देखा जाता है।

"विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ।।"

—तत्त्वसं० का० १३४४

बौद्ध परम्परा के इस प्रमाण लक्षण में 'स्वसंवेदन' के विचार का प्रवेश हुआ तथा उसके द्वारा ज्ञान में 'स्वपर-प्रकाशत्व' को सूचित किया गया।

असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद स्थापित किया पर दिङ्नाग ने उसका ओरों से समर्थन किया। इस स्थापना और समर्थन पद्धति में स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त स्फुटतर हुआ, जिसका किसी न किसी रूप में अन्य दार्शनिकों पर भी प्रभाव पडा।

जैन

जैन परम्परा मे प्रमाण सामान्य के लक्षण का विकास निम्नलिखित रूप मे देखा जाता है—

१. **समन्तभद्र**

"तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।"

—आप्तमी० १०१

"स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।"

– बृहत् स्व० ६३

१. **सिद्धसेन**

"प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधाविवर्जितम् ।।"

—न्यायवा० १

३. **अकलंक**

"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।।"

—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

४. **माणिक्यनन्दि**

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।"

—परीक्षा० १.१

५. **विद्यानन्द**

"तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता ।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ।।"

—तत्त्वार्थश्लो० १.१०.७७; —प्रमाणपरी० पृ० ५३

६. **अभयदेव**

"प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम् ।'

—सन्मतिटी० पृ० ५१८

७. **वादी देवसूरि**

"स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम् ।"—प्रमाणनय० १.२

८. **हेमचन्द्र**

"सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।" —प्रमाणमी० १.२

९. **धर्मभूषण**

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।" —न्यायदी० पृ० १

जैन सम्मत प्रमाणलक्षण का विकास

प्रमाण के उपर्युक्त लक्षणों को देखने से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने सभी जैन-जैनेतर प्रमाण लक्षणों को ध्यान में रख कर अपना प्रमाण-लक्षण निश्चित किया है। इसमे पूर्वाचार्यों के स्व पद को सर्वथा अलग कर दिया गया है तथा 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदो के स्थान पर निर्णय पद रखा है एवं उमास्वामि धर्मकीर्ति तथा भासर्वज्ञ के सम्यक् पद को ग्रहण किया है।

धर्मभूषण ने सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा, क्योंकि वही सम्यग् अर्थ का निर्णायक है।

इस प्रकार प्रमाण के लक्षण में शाब्दिक अन्तर रहते हुए भी अर्थरूप में विशेष अन्तर नही है, प्रत्युत लक्षणो का क्रमिक विकास विचार विकास का द्योतक है।

भारतीय प्रमाण शास्त्र में प्रमाण

प्रमाण लक्षण के इस ऐतिहासिक विकास क्रम को देखने के उपरान्त वैचारिक दृष्टि से भी इसका पर्यालोचन अपेक्षित है।

प्रमाण के उक्त लक्षणों मे ज्ञात होता है कि भारतीय प्रमाणशास्त्र मे मुख्य रूप से दो दृष्टियाँ रही है—

१. ज्ञान को प्रमाण मानने वाली।

२. इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानने वाली।

जैन और बौद्ध परम्परा मे ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दोनो मे अन्तर यह है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते है बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को। इन मान्यताओ की पृष्ठभूमि मे दोनों परम्पराओ का सैद्धान्तिक चिन्तन विद्यमान है। जैनो की मान्यता है कि निर्विकल्पक ज्ञान अर्थ का निश्चायक नही हो सकता। इसलिए उनके यहाँ सविकल्पक ज्ञान नही बनता।

दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनो की है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक सभी किसी न किसी रूप मे इन्द्रियादि को प्रमाण मानते हैं। इसका भी कारण उनकी सैद्धान्तिक चिन्तन-परम्परा है। वैदिक दर्शनो मे ब्रह्म ही

सत्य है, जगत् मिथ्या है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियादिक की प्रमाणता अपेक्षित है।

चार्वाक आत्म तत्त्व को ही नही मानता। इसलिए उसे इन्द्रिय ज्ञान को ही प्रमाण मानना अनिवार्य है।

चिन्तन की इन दो विरोधी दृष्टियों का प्रभाव प्रमाण की परिभाषा, उसके भेद तथा प्रामाण्य आदि के निर्धारण पर पडा है। उसी का परिणाम है कि प्रारम्भ से अन्त तक यह दृष्टि-भेद सर्वत्र उपलब्ध होता है।

नैयायिकों का सन्निकर्षवाद

नैयायिक इन्द्रिय सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य मे प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है—

"अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञान वा, यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"

—न्यायभा० १. १. ३

उद्योतकर ने भी न्यायवार्तिक मे वात्स्यायन के भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर इसका प्रबल समर्थन किया है।

(न्यायवा० १. १. ३.)

न्यायसूत्र की व्याख्या मे वाचस्पति का भी वही तात्पर्य है—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" —न्याय० १. १. ४

न्यायभाष्य (पृष्ठ २५५) तथा न्यायमजरी (पृ० ७३, ४७९) में इसका विस्तृत विवेचन है।

सन्निकर्षवादी नैयायिको का कहना है कि अर्थ का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है। चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर घट का ज्ञान होता है। जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नही होता, उसका ज्ञान भी नही होता। यदि इन्द्रियों से असन्निकृष्ट अर्थ का भी ज्ञान माना जाएगा, तो सबको सब पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु देखा जाता है कि जो पदार्थ दृष्टि से ओझल होते है, उनका ज्ञान नही होता।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक है, और कारण दूर रह कर अपना काम नही कर सकता। अतएव यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय जिस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं करती, उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, जैसे बढई का बसूला लकड़ी से दूर रह कर अपना काम नहीं करता। जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पदार्थ को छू कर जानती है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी पदार्थ सस्पृष्ट हो कर जानती है।

सन्निकर्ष की प्रवृत्ति-प्रक्रिया (न्यायमं० पृ० ७४)

प्रत्यक्षज्ञान चार, तीन अथवा दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। बाह्य रूप आदि का प्रत्यक्ष चार के सन्निकर्ष से होता है। आत्मा मन से सम्बन्ध करता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से। सुखादि का प्रत्यक्ष तीन के सन्निकर्ष से होता है। इसमे इन्द्रिय काम नहीं करती। योगियों को जो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। वह केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होता है।

सन्निकर्षवाद की समीक्षा

नैयायिको के इस लक्षण का निरास जैन तार्किकों ने विस्तार के साथ किया है (न्यायकुमु० पृ० २५-३२, प्रमेयक० पृ० १४-१८)। सक्षेप मे वह इस प्रकार है।

१. वस्तु का ज्ञान कराने मे सन्निकर्ष साधकतम नही है, इसलिए वह प्रमाण नही है। जिसके होने पर ज्ञान हो तथा नही होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है। सन्निकर्ष मे यह बात नहीं है। कही-कही सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष रहता है, फिर भी, आकाश का ज्ञान नहीं होता। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नही है।

२. सभी इन्द्रियाँ छू कर जानती हों, यह बात नहीं है। चक्षु छू कर नही जानती। यह छू कर जानती, तो आँख मे लगे हुए अजन को देखना चाहिए, किन्तु नहीं देखती। इसी प्रकार यदि छू कर जानती तो ढकी हुई वस्तु को नही जानना चाहिए, पर ऐसा नही है। काँच आदि पारदर्शी द्रव्य से ढकी हुई वस्तु को वह जान लेती है। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नही है। जैन दार्शनिकों ने चक्षु के प्राप्यकारित्व का विस्तार से खण्डन किया है (तत्त्वा० रा० वा० पृ० ६८, न्यायकु० पृ० ७५-८२, प्रमेयक० पृ० २२०-२२९)।

३. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सर्वज्ञ सन्निकर्ष द्वारा पदार्थों को जानेगा, तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य। मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने विषयों में क्रमशः होती है, तथा उनका विषय भी नियत है, जबकि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थों का अन्त नही है। सूक्ष्म, अन्तरित तथा व्यवहित पदार्थों का इन्द्रियो के साथ सन्निकर्ष नही हो सकता, अतः उनका ज्ञान भी नही होगा। इस तरह सर्वज्ञ का अभाव हो जाएगा (सर्वार्थ० पृ० ५७, तत्त्वा० पृ० ३६ न्यायकु० पृ० ३२)।

उपर्युक्त दोषों के कारण इन्द्रियादि के सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जरन्नैयायिकों का कारकसाकल्यवाद

जरन्नैयायिकों की मान्यता है कि अर्थ का ज्ञान किसी एक कारक से नही होता, प्रत्युत कारकों के समूह से होता है। एक दो कारको के होने पर भी ज्ञान उत्पन्न नही होता और समग्र कारको के रहने पर नियम से होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति मे साधकतम कारण है। अतएव वही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण नही है, क्योकि वह तो फल है। फल को प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योकि प्रमाण और फल भिन्न-भिन्न होते है। न्यायमंजरीकार ने लिखा है—

"अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" —न्यायमजरी पृ० १२

समीक्षा

कारकसाकल्य की उपयोगिता को स्वीकारते हुए भी जैन दार्शनिकों ने विशेष रूप से इसका खण्डन किया है (न्यायकु० पृ० ३५-३६, प्रमेयकमल० पृ० ७-१३)। उनका कहना है—

१. कारकसाकल्य ज्ञान की उत्पत्ति में कारण अवश्य है, पर अर्थोपलब्धि मे तो ज्ञान ही कारण है। इसलिए कारकसाकल्य को अर्थोपलब्धि मे साधकतम कारण नही माना जा सकता।

२. यदि परम्परा कारणों को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण माना जाएगा तो जिस आहार या गाय के दूध से इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है, वह आहार तथा दूध देने वाली गाय को भी साधकतम कारण मानना होगा। इस तरह कारणों का कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जाएगा।

सांख्य का इन्द्रियवृत्तिवाद

सांख्यों की मान्यता है कि अर्थ की प्रमिति में इन्द्रियवृत्ति ही साधकतम है, अतः उसी को प्रमाण मानना चाहिए। इन्द्रियाँ जब विषय के आकार परिणमन करती है तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती हैं। इस प्रकार पदार्थ का सम्पर्क होने से पहले इन्द्रियों का विषयाकार होना इन्द्रियवृत्ति है। वही प्रमाण है। योगदर्शन व्यासभाष्य में लिखा है—

'इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्।"

—योगद० व्यासभा० पृ० २७

इन्द्रियवृत्ति की प्रक्रिया के विषय मे सांख्यप्रवचनभाष्यकार ने लिखा है—

"अत्रेयं प्रकिया इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिंगज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।"

—सांख्यप्र० भा० पृ० ४७

इन्द्रियवृत्ति की समीक्षा

बौद्ध, जैन तथा नैयायिक तार्किको ने सांख्यों का खण्डन किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (१. २७) में, नैयायिक उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) मे, जयन्तभट्ट ने न्यायमजरी (पृ० १०९) मे तथा जैन तार्किक अकलक ने न्यायविनिश्चय (१. १६५) में, विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८७) मे, प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४०-४१) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १९) मे, देवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७२) मे तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा (पृ० २४) मे इन्द्रियवृत्ति का विस्तार से निरास किया है। जिसका सक्षिप्त सार यह है —

१. इन्द्रियवृत्ति अचेतन है, इसलिए वह पदार्थ को जानने में साधकतम नही हो सकती।

२. इन्द्रियों का पदार्थ के आकार होना प्रतीति विरुद्ध है। जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ पदार्थ के आकार को अपने मे धारण करती नहीं देखी जातीं।

३. इन्द्रियवृति यदि इन्द्रियों से भिन्न है तो उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध नही बनता और यदि अभिन्न है तो सुप्तावस्था मे भी इन्द्रिय व्यापार जारी रहना चाहिए।

इन कारणों से इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नही है।

मीमांसकों का ज्ञातृव्यापार

मीमांसक ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते है। उनका कहना है कि ज्ञातृव्यापार के बिना पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमे क्रिया होनी है। आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थ का मेल होने पर ज्ञाता का व्यापार होता है और वह व्यापार ही पदार्थ का ज्ञान कराने मे कारण होता है। अतः ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है (मीमासा श्लो० पृ० १५१, शास्त्रदी० पृ० २०२)।

ज्ञातृव्यापारवाद की समीक्षा

मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी तार्किकों ने किया है। वैदिक परम्परा मे उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) मे, वाचस्पति ने तात्पर्यटीका (पृ० १५५) मे तथा जयन्तभट्ट ने न्याय-मंजरी (पृ० १००) में विस्तार से खण्डन किया है। बौद्ध दार्शनिकों मे सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय (१. ३७) मे इसका खण्डन किया है। शान्त-रक्षित आदि ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

जैन परम्परा मे अकलंक, विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७, श्लो० ३७), प्रभाचन्द्र (न्यायकु० पृ० ४२-४५, प्रमेय० पृ० २०-२५), अभयदेव (सन्मति० पृ० ५३४, हेमचन्द्र (प्रमाणमी० पृ० २३) तथा देवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३२१) ने ज्ञातृव्यापार का विस्तार से खण्डन किया है। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. ज्ञातृव्यापार किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता इसलिए वह प्रमाण नही है।

२. प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञातृव्यापार सिद्ध नही होता। क्योंकि न तो ज्ञातृव्यापार का सम्बन्ध है और न मीमांसक स्वसंवेदन को मानते हैं।

३. अनुमान प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नही होता, क्योंकि उसमे साधन से साध्य का ज्ञान रूप अनुमान नहीं बनता।

४. अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नही होता क्योकि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का साध्य के साथ सम्बन्ध नही बनता।

५. प्रमाणो से सिद्ध न होने पर भी ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानना उपयुक्त नही है।

बौद्धसम्मत-लक्षण

बौद्ध न्यायशास्त्र मे प्रत्यक्ष-लक्षण की दो परम्पराए देखी जाती है—पहली अभ्रान्त पद रहित और दूसरी अभ्रान्त पद सहित। पहली परम्परा के पुरस्कर्ता दिङ्नाग है तथा दूसरी के धर्मकीर्ति। प्रमाणसमुच्चय (१.३) और न्यायप्रवेश (पृ० ७) मे पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्या है। न्यायबिन्दु (१. ४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्ति मे दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एव व्याख्यान है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसग्रह (का० १२१४) मे दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्।" —न्यायबि० १.४.

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

अभ्रान्त पद का ग्रहण या अग्रहण करने वाली दोनो परम्पराओ मे प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक माना गया है। बौद्धो का कहना है कि प्रत्यक्ष मे शब्द-संसृष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव नही है, क्योकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है,और वह क्षणिक है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है।

क्षणभंगवाद

बौद्धो की इस मान्यता की पृष्ठभूमि मे उनका दार्शनिक सिद्धान्त क्षणभगवाद है। 'सर्व क्षणिकम्'—सब कुछ क्षणिक है—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष जिस स्व-लक्षण को ग्रहण करता है उसमे कल्पना उत्पन्न हो, इसके पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए वह सवि-कल्पक नही हो सकता।

इन्द्रियज्ञान में तदाकारता का अभाव

बौद्धो का कहना है कि अर्थ मे शब्दो का रहना सम्भव नही है और और न अर्थ शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध ही है। इसलिए अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग नही रह सकता। क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता वह

उसके आकार को धारण नही कर सकता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनकरूप आदि के आकार को धारण नही करता। इन्द्रियज्ञान केवल नील आदि अर्थ से उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नही होता। इसलिए वह शब्द के आकार को धारण नही कर सकता। इस प्रकार शब्द के आकार को धारण न करने के कारण वह शब्दग्राही नही हो सकता। जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नही हो सकता। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

निर्विकल्पक ज्ञान और लोक-व्यवहार

निर्विकल्पक ज्ञान मे सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। अतः वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारो मे कारण होता है। निविकल्प प्रत्यक्ष के विषय को लेकर ही पीछे के विकल्प उत्पन्न होते है। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बौद्धों के लक्षण की समीक्षा

बौद्धो की इस मान्यता का बौद्धेतर तर्क ग्रन्थो मे विस्तार से खण्डन किया गया है। भामह ने काव्यालकर (५. ६. पृ० ३२) और उद्योतकर के न्यायवार्तिक (१. १. ४ पृ० ४१) मे दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण तथा वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका (पृ० १५४), जयन्तभट्ट की न्यायमजरी (पृ० ५२), श्रीधर की न्यायकन्दली (पृ० १६०) और शालिकनाथ की प्रकरणपरीक्षा (पृ० ४७) मे धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा की गयी है।

जैन दार्शनिको ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनो के लक्षणो की समीक्षा की है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५), प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४७) तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६) मे एव हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा (पृ० २३) मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विस्तार से खण्डन किया है।

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रमाण वही कहलाता हैं जो निश्चयात्मक हो।

लोक-व्यवहार में साधक न होने से अप्रमाण

निर्विकल्प ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से व्यवहार में अनुपयोगी है। जिस प्रकार मार्ग मे चलते हुए तृणस्पर्श आदि का अनध्यवसाय रूप ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से लोक व्यवहार में उपयोगी नहीं है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी अनुपयोगी है। अतएव वह प्रमाण नही हो सकता।

प्रमाण का फल

जैन न्याय मे ज्ञान को प्रमाण माना गया है। इसलिए अज्ञाननिवृत्ति को उसका फल माना है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—

"उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥"

— आप्तमीमासा १०२।

केवलज्ञान का फल उपेक्षा बुद्धि है। शेष मति आदि ज्ञानो का फल हेय, उपादेय और उपेक्षा है। यह परम्परा फल है। साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (१।१०) मे इसका विस्तार से विवेचन किया है। भट्ट अकलक ने लिखा है—

"प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।"

—सिद्धिवि० १।३।

अर्थात् प्रमाण का साक्षात् फल अभीष्ट अर्थ के निश्चय की सिद्धि रूप अज्ञान की निवृत्ति है।

बाद के जैन दार्शनिको ने भी इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। शान्तिवर्णी ने प्रमाण के फल का विस्तार से विवेचन किया है।

जैनेतर न्याय मे ज्ञान को प्रमाण का फल तथा ज्ञान के कारणो को प्रमाण माना गया है। वात्स्यायन और न्यायमजरीकार ने भी ज्ञान को प्रमाण मानने की स्थिति मे हेय, उपादेय और उपेक्षाबुद्धि को उसका फल कहा है—

"यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादेयोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"—वात्स्यायन भा० पृ० १७

"प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः॥"

—न्यायम० पृ० ६२।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

जैन न्याय मे प्रमाण और फल का कथचित् भेदाभेद माना गया है। जैन दर्शन में आत्मा को ज्ञान रूप माना है तथा ज्ञान रूप होने से प्रमाण और फल दोनों रूप में परिणमन करता है। अतएव एक प्रमाता की अपेक्षा

प्रमाण और फल में अभेद तथा कार्य और कारण रूप से पर्याय भेद होने के कारण दोनों में भेद है। शान्तिवर्णी ने यह भी लिखा है कि ज्ञान रूप से दोनों में अभेद है तथा प्रमाण और फल रूप से भेद है।

जैन और बौद्ध न्याय के अतिरिक्त अन्य सभी नैयायिकों ने ज्ञान को प्रमाण का फल तथा ज्ञान के कारणों को प्रमाण माना है। इस प्रकार वे प्रमाण और फल में सर्वथा भेद मानते है। विपरीत इसके बौद्ध प्रमाण और फल का सर्वथा अभेद मानते हैं।

सर्वज्ञसिद्धि

सर्वज्ञता की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

जैनदर्शन में आत्मा को ज्ञान गुण युक्त चेतन द्रव्य माना गया है। कर्मों के आवरण के कारण उसका यह ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट नही होता। जैसे-जैसे कर्म का आवरण हटता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का विकसित रूप प्रकट होता जाता है। इस प्रकार जब आवरण सर्वथा हट जाता है तो निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते है। केवलज्ञानी त्रिकालवर्ती सभी रूपी-अरूपी द्रव्यो की समस्त पर्यायो को एक साथ जानता है। कुन्दकुन्द ने लिखा है—

"जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगव समतदो सव्वं।
अत्थं विचित्त विसमं तं णाणं खाइयं भणिय ॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जय दव्वमेक वा ॥
दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि ॥
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ॥"

—प्रवचनसार १।४७-४९

सर्वज्ञसिद्धि का दार्शनिक आधार

सर्वज्ञ की उपर्युक्त सैद्धान्तिक मान्यता को बाद के दार्शनिको ने तार्किक आधार देकर सिद्ध किया है। मुख्य आधार अनुमान प्रमाण है। समन्तभद्र ने लिखा है—

"सूक्ष्मान्तरितदूरार्था: प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थिति: ॥"

—आप्तमीमासा श्लो० ५

सूक्ष्म पदार्थ परमाणु आदि, अन्तरित राम, रावण आदि, दूरार्थ सुमेरु पर्वतादि अग्नि आदि की तरह अनुमेय होने से किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

भट्ट अकलंक ने सर्वज्ञता का समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में उसके ज्ञान का ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का, पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों के जानने मे क्या बाधा है (न्यायवि० श्लो० ४६५)। यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अत: यह मानना अनिवार्य है कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ दर्शन के बिना नही हो सकता। जैसे सत्य स्वप्न दर्शन इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भावी पदार्थों मे सवादक और स्पष्ट होता है। जैसे ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है (सिद्धिवि० न्यायवि० आदि)।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

"प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धि:।"

—प्रमाणमी० १।१६

सर्वज्ञता की सिद्धि में बाधक प्रमाण का अभाव

अकलक ने सर्वज्ञता की सिद्धि मे एक और यह हेतु दिया है कि सर्वज्ञता की सिद्धि मे कोई भी बाधक प्रमाण नही है। बाधक का अभाव सिद्धि का बलवान् साधक है। जैसे मैं सुखी हूँ यहां सुख का बाधक प्रमाण नहीं है। चूंकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध है। अकलक ने लिखा है—

अस्ति सर्वज्ञ: सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।' —(सिद्धिवि०)

इसी सरणि पर बाद के जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञसिद्धि का विस्तृत विवेचन किया है।

—L २२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२

आराधनासमुच्चय का रचना-स्थल

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

श्री० क्षु० सिद्धसागर जी महाराज के द्वारा सम्पादित और हिन्दी में अनुवादित एवं दिगम्बर जैन समाज मोजमाबाद (जयपुर) के द्वारा प्रकाशित श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र विचरित आराधनासमुच्चय मेरे पास समालोचनार्थ आया है। प्रस्तुत कृति की प्रस्तावना डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच०डी० (जयपुर) के द्वारा लिखी गई है—

प्रस्तावना मे डॉ० कासलीवाल ने आराधनासमुच्चय के रचयिता रविचन्द्र मुनीन्द्र के सम्बन्ध मे लिखते हुए यो लिखा है—

"श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः पनसोगेग्रामवासिभिर्ग्रंथ. ।
रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी ।।

इस पद्य से केवल उनके नाम का तथा पनसोगे ग्राम का जहाँ इस कृति की रचना समाप्ति हुई थी, जानकारी मिलती है। पनसोगे ग्राम डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार कर्नाटक प्रदेश मे स्थित है। इससे यह तो सभवत: स्पष्ट है कि कवि दक्षिण भारत के निवासी थे और उनका कार्यक्षेत्र भी दक्षिण भारत ही रहा था। क्योकि अब तक जितने रविचन्द्र नाम के विद्वानों के उल्लेख मिले है, वे सब दक्षिण भारत से सम्बन्धित हैं।"

आगे कस्तूरचन्द जी फिर लिखते हैं कि उक्त (डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा) सभी रविचन्द्र कर्नाटक प्रदेश में हुए और वही प्रदेश उनकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। इसलिए यही अधिक सम्भव है कि आराधनासमुच्चय के कर्ता भी कर्नाटक प्रदेश के रहे हों और दक्षिण भारत ही उनकी गतिविधियों का केन्द्र रहा हो।"

अब हनसोगे का परिचय लीजिए। मैसूर जिलान्तर्गत कृष्णराजनगर तालुके में सालेग्राम से लगभग ५ मील दूरी पर अवस्थित हनसोगे ही आराधनासमुच्चय का रचना-स्थल है। यहां पर इस समय एक त्रिकूट जिनालय मौजूद है। इस जिनालय मे आदिनाथ, पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की मूर्तियाँ विराजमान है। यह मन्दिर प्राचीन और कलापूर्ण है। अनुमानतः ११वीं शताब्दी का यह मन्दिर वीरराजेन्द्र नन्नि चगाल्वदेव द्वारा पुनः प्रतिष्ठापित होकर 'राजेन्द्रचोल जिनालय के नाम से प्रसिद्ध है।

इस जिनालय के निकट कई शिलालेख हैं। इनसे सिद्ध होता है कि एक जमाने मे यह स्थान जैनो का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा। लेखों में कतिपय मुनियों की परम्परा भी दी गई है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में यहाँ पर एक विशाल जैन मठ और आसपास बहुत से जैन मन्दिर विद्यमान थे। बल्कि आज भी इस स्थान पर इसके बहुत से चिन्ह दृष्टिगोचर होते है।

दक्षिण कन्नड जिला अन्तर्गत कारकल मे जैनो का जो प्रसिद्ध 'जैन मठ' है, वह इस हनसोगे मठ का ही शाखा मठ है। यह बात अनेक शिलालेख एव ग्रथिक प्रमाणो से सिद्ध हो चुकी है। कारकल के मठ के ठीक सामने 'चतुर्मुख जिनालय' के सामने जो विशाल, कलापूर्ण मन्दिर है, तत्सम्बन्धी शिलालेख में भी स्थानीय ललितकीर्ति भट्टारक को हनसोगे अथवा पनसोगे के देशीय-गणीय स्पष्ट उल्लेख किया है। कविचन्द्रमविरचित 'गोम्मटेश्वरचरिते' में, इन्होने भट्टारक ललितकीर्ति को पनसोगे पूर्वाद्रि के अनुपम सूर्य बतलाया है।

इसी प्रकार 'जिनयज्ञफलोदय' के रचयिता मुनि कल्याणकीर्ति जी ने भी गुरु ललितकीर्ति जी को मूलसघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण, पुस्तक गच्छीय देवकीर्ति जी के शिष्य, पनसोगे वंश के रत्न चारित्रवान्, शीलवान् आदि बतलाया है। विशेष विवरण के लिए मेरे द्वारा सम्पादित और 'जैन सिद्धान्तभवन' आरा की ओर से प्रकाशित 'प्रशस्ति संग्रह' में कल्याणकीर्ति का 'जिनयज्ञ फलोदय' ग्रंथ का परिचय देखें।

इस प्रकार आराधनासमुच्चय का रचनास्थल का परिचय है। मुनि रविचन्द्रजी का विशेष परिचय मालूम होने पर उसे भी अवश्य प्रकाशित करूंगा।

—मूडबिद्री (दक्षिण कनारा)

तिलकमञ्जरी : एक प्राचीन कथा

डा० वीरेन्द्रकुमार जैन

धनपाल (११तीं शती) कृत तिलकमंजरी प्राचीन संस्कृत गद्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है। काव्य शास्त्र की दृष्टि से यह कृति जितने महत्व और उपयोग की है, उससे भी अधिक महत्व और उपयोग की इसलिए है, क्योंकि इसमे प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। पिछले वर्षों में तिलकमंजरी पर दो शोध-प्रबन्धों पर पी० एच० डी० मिली है तथा एक और तैयार हो रहा है—

१. तिलकमंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० वीरेन्द्रकुमार जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, १९६९, स्वीकृत, अप्रकाशित।
२. धनपालकृत तिलकमंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० जगन्नाथ पाठक, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, १९६९, स्वीकृत, अप्रकाशित।
३. ए क्रिटिकल स्टडी आफ तिलकमंजरी आफ धनपाल : श्री एस० के० शर्मा, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय (तैयारी में)

इन प्रबन्धों के प्रकाशित होने पर तिलकमंजरी की महनीय सामग्री का उपयोग हो सकेगा। अभी तक तिलकमंजरी का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नही हुआ इसलिए इसे व्यापक प्रसार नहीं मिला। यहाँ प्रस्तुत है तिलकमंजरी की संक्षिप्त कथा-वस्तु।

उत्तर कोशल देश मे अवस्थित अयोध्या नगरी मे सार्वभौम ऐक्ष्वाकुवंशी राजा मेघवाहन थे और उनकी रूप गुण युक्ता पट्टरानी मदिरावती थी। सर्वसुख उन्हें सुलभ थे किन्तु निःसन्तानता से वे दुःखी थे। एक बार विद्याधर मुनि आकाश मार्ग से उनके भवन के ऊपर से निकले। राजा रानी की भक्ति से प्रसन्न मुनि ने उन्हे राजलक्ष्मी-देवी की उपासना करने का उपदेश दिया। देवी की आराधना और अनन्य समर्पण से राजा को एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम हरिवाहन रखा गया। हरिवाहन को योग्य शिक्षा-दीक्षा दी गई और राजा उसके योग्य मित्र को खोजने को उत्सुक रहने लगे।

एक बार जब वे राजसभा मे बैठे थे तब ही दक्षिणा पथ के सेनापति वज्रायुध का प्रधान राजपुरुष विजयवेग आया और उसने बालारुण नामक अगुलीयक राजा को भेंट किया। राजा ने वज्रायुध की कुशलक्षेम पूछी—विजयवेग ने उसके उत्तर मे सेनापति और राजकुमार समरकेतु के बीच हुए अद्भुत युद्ध का विवरण सुनाया। उसने कहा कि आपसे भेंट करने हेतु वह नगर के बाह्योद्यान मे आया हुआ है। राजा ने हरदास नामक महाप्रतिहार को भेजकर समरकेतु को सादर बुलाया और उसका आदर सत्कार किया। राजा ने हरिवाहन और समरकेतु को अभिन्न मित्र बना दिया।

दोनों मित्र सुखपूर्वक रहने लगे। एक बार ग्रीष्म मे वे मत्तकोकिल उद्यान को गए। वहाँ पर उनकी गोष्ठी में मन्जीर नामक बन्दिपुत्र एक प्रेम पत्र ले आया। उसपर एक आर्या लिखी थी। उसके विचार-विनिमय से सभी प्रसन्न थे किन्तु राजकुमार समरकेतु को अपना प्रेमप्रसंग स्मरण आया और वह अत्यन्त खिन्न हुआ। हरिवाहन के द्वारा खिन्नता का कारण पूछने पर समरकेतु ने अपना कथन आरम्भ किया।

'सिंहलद्वीप की रंगशाला नगरी मे चन्द्रकेतु नाम का राजा है। मैं उनका अद्वितीय पुत्र हूँ। दुष्ट सामन्तो को दमन करने के लिए जल-सेना को लेकर पिता ने द्वीपांतरों को भेजा था। मेरी सहायता के लिए सकल कैवर्ततन्त्र का

नायक तारक मेरे साथ था। अपना राजकार्य पूर्ण करके जब एक बार मेरी सैन्य रत्नकूट नामक द्वीप पर विश्राम कर रही थी तब ही मुझे अद्भुत गीत-वादित्रों की ध्वनि सुन पड़ी। उसे सुनकर, उसके उद्भव का कारण जानने की मुझे जिज्ञासा हुई। तारक के साथ नाविकों सहित, रात्रि में ही, एक नौका द्वारा हम सबने उसी ध्वनि की दिशा की ओर प्रस्थान किया। जैसे ही नौका उस ध्वनि के निकट पहुँची वह ध्वनि समाप्त हो गई। मुझे अपने इस अविचारित कार्य पर पश्चात्ताप हुआ। तब ही एक प्रभाराशि युक्त खेचर नरेन्द्रवृन्द आकाश मार्ग से निकला। सम्मुख एक कांचन शिलामय दिव्य आयतन देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।

मैंने निश्चय किया कि मन्दिर के भीतर अवश्य ही कोई होना चाहिए। कुछ ही काल पश्चात कुछ सुन्दरी कन्यायें उस मन्दिर के ऊपरी छत पर दृष्टिगोचर हुई। उनके मध्य मे सविशेष रूप से सुन्दरी एक षोडशवर्षीया कन्या थी।' समरकेतु इतना कह ही रहा था कि प्रतिहारी एक दिव्य चित्रपट ले आई। उसने कहा कर्णामृत के पश्चात् ईक्षणामृत का स्वाद लीजिए और उसे हरिवाहन के आगे बढ़ा दिया। हरिवाहन ने गन्धर्वक से उस चित्र में अंकित राजकुमारी का परिचय प्राप्त किया। उनके मध्य चित्रकला के विषय में मधुरालाप हुए। चित्र मे विजयार्घ की दक्षिण श्रेणी के चक्रवर्ती चन्द्रसेन की पुत्री तिलकमंजरी अंकित थी। गन्धर्वक ने अपने दूरगमन का प्रयोजन कहकर राजकुमार से विदा ली और पुन दूसरे दिन आने को कह कर चला गया। उसे चलते हुए राजकुमार समरकेतु ने काची नगरी मे राजकुमुम शेखर और गन्धर्वदत्ता की पुत्री मलयसुन्दरी को एकान्त में देने के लिए एक पत्र भेंट किया।

राजकुमार हरिवाहन ने दूसरे दिन गन्धर्वक के आगमन का पथ देखा, किन्तु वह न आया। इस प्रकार कई मास निकलते गये और हरिवाहन तिलकमंजरी के विरह से व्याकुल रहने लगा। अन्त में देशदर्शन की आज्ञा लेकर वह मित्रों सहित वर्षों के पश्चात् अयोध्या से बाहर निकल पड़ा। चलते-चलते वह कामरूप देश में जा पहुँचा और लौहित्य नदी के तट पर स्कन्धावार डाल दिया।

एक दिन अकस्मात् वैरियमदण्ड नामक प्रधान हस्ती गजशाला से निकल गया और उसे वश मे करने के सभी उपाय निष्फल हो गए। करिसाधनाध्यक्ष के निवेदन पर हरिवाहन ने अपने अद्भुत वीणावादन से उसे वश में कर लिया और उस पर जा बैठा। ज्योंही उसने अंकुश मारा, हस्ती अत्यन्त वेग से बढ़ा और लाख प्रयत्नों के पश्चात् भी न रुक सका और राजकुमार को लिए हुए अदृश्य हो गया। समरकेतु आदि को अत्यधिक दुख हुआ। अन्त में हरिवाहन के लिखे हुए एक पत्र से सभी को उसकी सुरक्षा के विषय में आश्वासन मिला।

समरकेतु अपने मित्र के बिना एकाकी नही रह सकता था और उसे अन्वेषण करने के लिए वह एकाकी ही निरन्तर छह मास तक जंगलो, नगरो, पर्वतो पर भटकता हुआ एकशृंग पर्वत के निकटस्थ अदृष्टपार सरोवर पर जा पहुँचा। उसके शीतल एव सुगन्धित जल से आप्यायित होकर वह सो गया। उसे स्वप्न में पारिजात वृक्ष दिखाई दिया। उससे उसे मित्र के मिलने का शुभ संकेत प्रतीत हुआ। तत्पश्चात् अश्ववृन्द की हेषाध्वनि सुनाई दी। उसके उद्भव को जानने की कामना से वह उत्तर दिशा की ओर चल पडा। कुछ दूर चलने पर उसे एक मनोरम उद्यान, उसके भीतर कल्पतरु खण्ड और उसी के मध्य मे पद्मराग शिलाओ से निर्मित एक आयतन दिखाई दिया। उसके भीतर चिन्तामणिमयी, महाप्रमाण, आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा दृष्टिगोचर हुई। उसने बडी भक्ति से भगवान की स्तुति की।

अभी वह अपने आश्चर्य मे ही डूबा था कि उसे 'हरिवाहन' नाम सुनाई दिया। बाहर निकला तो उसे एक मठ दिखाई दिया। तत्पश्चात् गन्धर्वक मिला। गन्धर्वक ने कहा अभी-अभी हरिवाहन को विद्याधरों का चक्रवर्तित्व मिला है। आप भी उनके दर्शन करे। मन्दिर के बाहर चारों ओर अजितादि तीर्थंकरों की चौबीसी की वन्दना करके, तिलकमंजरी सहित बैठे हुए हरिवाहन से समरकेतु ने भेंट की।

तत्पश्चात उत्तर श्रेणी के विद्याधरों की राजधानी गगनबल्लभनगर मे प्रवेश के लग्न की सूचना विराध नामक नर्मसचिव ने दी। उसे श्रवण कर अपने-अपने

घोड़ों पर बैठ कर वे वहाँ पहुँचे। भोजनादि के पश्चात् समरकेतु ने हरिवाहन से हाथी के द्वारा अपहरण से आगे की कथा पूछी। हरिवाहन ने अपना लम्बा वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया। उसने कहा—जैसे ही मैंने आकाशगामी उस मायावी हाथी को रोकने के लिए खड्गधेनुका स्पर्श की, उसने चिंघाड़ कर अपने सहित मुझे नीचे स्थित अदृष्टपार सरोवर में गिरा दिया। मैं तैर कर किनारे लगा और कर्मशक्ति की प्रचण्डता को सोचने लगा। निर्जन वन मे किसी भी व्यक्ति से पथ पूछने हेतु एक दिशा की ओर चल पडा। चलते हुए मुझे मानुषपद श्रेणी दिखाई दी। उसके अनुसार चलकर एक एलालता-गृह में पहुँचा। उसमें एक दिव्य कन्या थी। मुझे देखकर वह डर गई। उसे आश्वस्त कर अपना परिचय देकर मैने उससे स्थान आदि का परिचय जानना चाहा किन्तु वह बिना उत्तर दिए ही चली गई।

उसके चले जाने पर चित्र के अनुरूप उसका स्मरण कर मैं अधीर हो गया और उसे तिलकमंजरी होना निश्चय करके उसका अन्वेषण करने लगा। उसकी पदपंक्ति का अनुसरण करते हुए उसी मन्दिर मे जा पहुँचा और आदि तीर्थंकर की स्तुति मे ध्यानमग्न होकर एक तापस कन्या को देखा। पूजन के पश्चात् उसने मेरा हार्दिक आतिथ्य किया। मैने अपना वहाँ तक पहुँचने का वृत्तान्त उसे सुनाया। उसके वृत्तान्त को श्रवण करने हेतु जब मैंने प्रश्न किया तो वह रोने लगी। आश्वस्त करने पर उसने कहना आरम्भ किया—

'मैं दक्षिण में कांची के राजा कुसुमशेखर और गधर्व-दत्ता की पुत्री हूँ। मेरा नाम मलय सुन्दरी है। जन्म के समय ही ज्योतिषी वसुरात ने कहा कि मुझसे विवाह करने वाला विशाल विद्याधर राज्य सम्पदा का उत्तरा-धिकारी होगा। एक बार शयनशाला से मेरा रात्रि मे अपहरण हो गया। अनेक राजकुमारियों से मैं घिरी थी। मुझे ज्ञात हुआ कि विचित्रवीर्य चक्रवर्ती, भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव मनाने आया है और नृत्य हेतु इन राज-कुमारियों का अपहरण कर लाया गया है। मेरी दिव्य नृत्य कला से विचित्रवीर्य को आश्चर्य हुआ। अनन्तर उसने मुझसे कहा कि मैंने यह नृत्य कला कैसे सीखी।

तब मैंने महाशय मुनि से सुनी अपनी माता गन्धर्व-दत्ता की कथा (अर्थात् उसके माता पिता, उनके नगर में विप्लव में हुआ उसका वियोग, उनसे पुर्नमिलन आदि की) सुनाई। विचित्रवीर्य और उनके मंत्री को इससे विश्वास हो गया कि यह गन्धर्वदत्ता उन्हीं की अपहृत पुत्री है। प्रातःकाल स्वस्थान को जाने के पूर्व विचित्रवीर्य ने एक विद्याधर को आदेश दिया कि वह राजकुमारियों को सुन्दर स्थानादि दिखाये और उन्हें अलक्षितरूपेण अपने अपने गृहों को भेज दे।

तत्पश्चात् मन्दिर की छत पर चढ़कर मैंने एक अठा-रह वर्षीय राजकुमार को समुद्र पर नाविकों सहित नाव में अवस्थित देखा। उसे देखकर मुझे उसके प्रति अनुराग हुआ। वह राजकुमार भी मुझे देखकर कामपीड़ित हुआ। उसके नाविक तारक और मेरी सखी वसन्त सेना के माध्यम से हम दोनों ने अपने को एक दूसरे को समर्पित कर दिया। इतने में उस विद्याधर ने आकर मुझे और सभी सखियों को हरिचन्दन के तिलक लगाये और दिव्य मालाएं पहनाईं। तिलक लगते ही हम सब अदृश्य हो गईं और माला को मैंने ऊपर से ही नीचे अवस्थित राजकुमार के गले मे वरमाला की भाँति डाल दी। राजकुमार अत्यधिक प्रसन्न था। इसी बीच तारक ने कहा कि तुम्हारी प्रेयसी का मायावियों ने अपहरण कर लिया है। मुझे वहाँ अवस्थित न देखकर राजकुमार ने शोकवश समुद्र में छलांग लगा दी। उसी के साथ सभी नाविक भी डूब गये। अपने प्रेमी की इस अप्रत्याशित घटना को देखकर शोकविह्वल हो समुद्र मे कूद गई।

जब मेरी निद्रा दूर हुई तो मैंने अपने को अपनी उसी शयनशाला मे पाया। सखी बन्धुसुन्दरी के आश्चर्य का दूर करते हुए मैने उसे समस्त घटना सुनाई। उसने मुझे आश्वस्त किया। एक युद्ध से त्रस्त मेरे पिता ने सन्धि के हेतु मुझे वज्रायुध को विवाहित करना चाहा। उस समा-चार से खिन्न होकर मैने कामदेवोद्यान मे फांसी लगाकर आत्म हत्या करनी चाही। बन्धुसुन्दरी के प्रयास से बची हुई मैंने, जब अपनी आँखें खोलीं तब समरकेतु को देखा। बन्धुसुन्दरी ने मेरा उसे परिचय दिया। समरकेतु ने भी अपने समुद्र से बचने, कांची में कुसुमशेखर की सहायता

को पाने आदि का वृत्तान्त मुझे बतलाया : बन्धुसुन्दरी ने हमारा पुनः पाणिग्रहण कराया।

तत्पश्चात् समरकेतु अपने शिविर में आया और मुझको लेकर बन्धु सुन्दरी अन्तःपुर में आई। फांसी लगाने की घटना से दुखी पिता ने मुझे वज्रायुध को न देने का निश्चय करके प्रशान्तवैराश्रम को रातोंरात भेज दिया। वहाँ पर एक दिन सायंकाल एक ब्राह्मण आया और उसने कुलपति को, वज्रायुध और समरकेतु के युद्ध तथा उसमें समरकेतु की दीर्घनिद्रा का समाचार सुनाया। उसको सुनकर मैंने पुनः समुद्र में मरण करने का निश्चय किया किन्तु तरंगलेखा को आती देखकर निकटस्थ किंपाक नामक विष फल का भक्षण कर लिया। मूर्च्छा के पश्चात् जब मेरी निद्रा समाप्त हुई तो सरोवर में पड़े हुए एक दारुमय विमान मे अपने को पड़े हुए पाया। मैने पुनः जल मे मरने की कामना से अपना गात्रिका-बन्धन दृढ़ करते हुए उसमें एक लेख बंधा पाया।

तत्पश्चात् प्रियतम से मिलने की आशा से मरण-निश्चय, छोड़कर यहां पर ही एकाकिनी रहती हुई भगवत्-भक्ति में समयापन करती हूँ। यहीं पर चित्रलेखा से पूर्व परिचय के कारण देवी पत्रलेखा एवं उनकी पुत्री तिलकमंजरी से परिचय हुआ और यह ज्ञात हुआ कि वह दारुमय-विमान विचित्र-वीर्य चक्रवर्ती ने अपनी दूसरी पुत्री पत्रलेखा के लिए गन्धर्वक द्वारा भेजा था।

मलयसुन्दरी की कथा को सुनकर मैंने उसे आश्वस्त किया और तुम्हारे जीवित होने का समाचार सुनाया। तत्पश्चात् हरिवाहन ने एक पत्र लिखा जिसे एक शुक लेकर उसके स्कन्धावार को ले गया। इसी बीच मलयसुन्दरी की दासी चतुरिका ने तिलकमंजरी की अस्वस्थता का समाचार दिया। (उसने तिलकमजरी के पुष्पावचय, एक हाथी के सरोवर मे गिरने, और सभी से तिलकमंजरी की अस्वस्थता का समाचार दिया)। मलयसुन्दरी ने उससे कहा कि मेरे यहाँ राजकुमार हरिवाहन अतिथि रूप से उपस्थित हैं अतएव उसे एकाकी छोड़कर नही आ रही हूँ।

दूसरे दिन तिलकमजरी स्वयं आई और मलयसुन्दरी को और मुझे अपने भवन को ले गयी। भोजन के पश्चात् जब मैं बैठा था, तभी वही शुक एक पत्र लाकर उपस्थित हुआ। उसी समय देवी तिलकमंजरी ने, अदृश्य रूप से नगरदर्शन हेतु एक निशीथ नामक दिव्य पट भेजा था। उस शुक को जैसे ही मैंने उठाया कि दिव्य पट के प्रभाव से वह गन्धर्वक बन गया। इस आश्चर्य से चमत्कृत गन्धर्वक ने, अपनी कथा कही।

अयोध्या में आपके प्रथमदर्शन के पश्चात् चक्रवर्ती विचित्रवीर्य से दिव्य दारुमय विमान लेकर, मैं कांची की ओर वेग से चला, मार्ग में मूर्च्छित मलयसुन्दरी को लेकर शीघ्र ही अपहृत करने हेतु, भगवान महावीर के जिनालय के ऊपर से दुर्भाग्यवश जा निकला। उसके रक्षक महोदर यक्ष से वाद-विवाद के कारण शापवश शुक बना दिया गया। महोदर ने ही बताया कि उसने समुद्रमरण से समरकेतु और उसके नाविकों तथा मलय-सुन्दरी की रक्षा की थी। उसी ने अपनी दिव्य-शक्ति से विमान सहित मलयसुन्दरी को अदृष्टपार सरोवर मे उपस्थित कर दिया था। इसी महोदर ने वेताल बनकर राजा मेघवाहन की परीक्षा ली थी।

पत्र को पढ़कर तुम्हें (समरकेतु को) देखने की इच्छा से, मलयसुन्दरी और तिलकमंजरी से अनुमत होकर चित्रमाय विद्याधर सहित, विमान मे बैठकर अपने मण्डल की ओर चल पडा। शिविर मे पहुँच कर जब मुझे ज्ञात हुआ कि तुम मेरे लिए जगलों में खोज रहे हो तब मैं भी चित्रमाय को लौटाने के लिए अपनी असमर्थता प्रदर्शित करके तुम्हें खोजने के लिए निकल पड़ा। एक बार मार्ग मे गन्धर्वक मिला। उसने मेरे वियोग में सन्तप्त तिलकमंजरी की करुणाभरी अवस्था का वर्णन किया—"जब चित्रमाय ने पहुंच कर मित्र को ढूंढने के लिए आपके प्रयत्न को, तिलकमंजरी को सुनाया तब तिलकमंजरी की आज्ञा से अनेक विद्याधर सैनिकों के द्वारा आपको ढूंढता हुआ मै यहाँ पहुँचा हूँ। आप चलिए और मठ में ठहरिए। आपके मित्र की खोज विद्याधर करेंगे।" मैं तिलकमंजरी के आग्रह से मठ में जा पहुँचा।

वहाँ रहते हुए एक बार पिता जी ने मेरे पास चन्द्रातप-दिव्यहार और बालारुण दिव्य अंगूठी भेजी। मैने तिलकमजरी देवी के लिए हार और मलयसुन्दरी के लिए बालारुण अंगुलीयक भेंट-स्वरूप भेज दिए। इसके

दूसरे दिन एक दासी ने आकर एक पत्र मुझे दिया जिसका आशय यह था कि इस हार के कारण अब तिलकमजरी देवी का आपसे विवाह न हो सकेगा। इस अप्रत्याशित समाचार से मैं मरण के लिए चल पड़ा। चलते हुए मैंने मार्ग में एक मरणोत्सुक राजकुमार को देखा जिसे उसकी पत्नी न मरने के लिए मना रही थी। उसका प्रयोजन जानकर उसके निमित्त मैंने अनेक विद्याओ की आराधना की। जब विद्यायें सिद्ध हुईं तब ज्ञात हुआ कि वह केवल एक स्वाग था। उत्तर-श्रेणी के विद्याधर चक्रवर्ती विक्रम-बाहु संन्यास लेकर चले गए थे। सर्वज्ञ की वाणी से निश्चय करके, चक्रवर्ती के बुद्धि-सचिव ने, मुझे उसके योग्य बनाने हेतु वह सब प्रपच रचा था। परिणामस्वरूप मैं उत्तर-श्रेणी के विद्याधर राज्य का चक्रवर्ती बना।

जिस समय राजधानी के पुरप्रदेश के लिए मैं तैयार था तभी गन्धर्वक आ पहुँचा। गन्धर्वक ने तिलकमजरी की अवस्था को शोचनीय बताया। गन्धर्वक ने कहा—जब मैंने दिव्यहार चन्द्रातप के, राजकुमार के हाथो तक पहुँचने की कथा सुनाई तब वह मूर्छित हो गई। प्रभात-काल मे सपरिजना देवी तिलकमंजरी ने एक त्रिकालज्ञ महर्षि के दर्शन करके उनसे अपने पूर्वज और अपने प्रेमी के पूर्व जन्म तथा इस जन्म मे अवतार लेने का प्रश्न पूछा और तब उसे ज्ञात हुआ कि पूर्वभव का प्रेमी ज्वलनप्रभ ही इस जन्म में हरिवाहन हुआ। और उसी ने पूर्वभव में यह हार अपने पिता राजा मेघवाहन को भेट किया था। इसी प्रकार मलयसुन्दरी के पूर्वभव तथा उसके पूर्वभव के प्रेमी सुमालीदेव और उसी को इस जन्म में राजकुमार समरकेतु जानकर उन दोनो को अपार दुःख हुआ। महर्षि ने इस जन्म मे मिलने का स्थान आदि भी बतलाया। उसने यह भी बतलाया कि इन दोनें देवियों क्रमशः मलयसुन्दरी और तिलकमंजरी ने ही अपनी दिव्य शक्ति से पूर्व जन्म में अन्तिम समय में रत्नकूट पर महावीर स्वामी का और एक शृंग पर आदिनाथ के मन्दिर बनवाये थे। महर्षि ने यह भी बतलाया कि हरिवाहन तद्भव मोक्षगामी है।

तभी से आपको निरंतर ढूंढने का प्रयत्न किया गया। एक बार ज्ञात हुआ कि आप सार्वकामिक प्रपात शिखर पर मरण हेतु जा चढ़े है। इसे सुनकर तिलकमजरी ने जल-समाधि द्वारा आत्म-हत्या करनी चाही, किन्तु पिता के अनुरोध पर छह मास और खोजने के लिए अपना निश्चय स्थगित कर दिया। आज छठे मास का अन्तिम दिन है।

इतना सुनते ही घोड़े पर बैठ कर मैं मठ में पहुँचा। तभी तुम भी मुझे अन्वेषण करते हुए आ मिले। इस प्रकार हरिवाहन ने हाथी द्वारा अपहरण से यहाँ तक की कथा सुनाई। इससे सभी प्रसन्न हुए। समरकेतु को अपने पूर्वभव के और इस भव के कृत्यों पर बड़ा दुःख हुआ। हरिवाहन के समझाने पर वह भी निःशल्य हुआ।

इसी बीच विचित्रवीर्य का पुत्र कल्याणक आया। हरिवाहन की सम्मति से समरकेतु उसके साथ विचित्र-वीर्य के नगर पहुँचा। वहाँ राजा कुसुमशेखर और गन्धर्वदत्ता एव अन्य सभी की साक्षी मे मलयसुन्दरी के साथ उसका सानन्द विवाह हुआ। यहाँ गगनवल्लभनगर से हरिवाहन को लाकर राजा चन्द्रसेन और पत्रलेखादेवी ने अपनी पुत्री तिलकमजरी का उससे विवाह किया।

तत्पश्चात् हरिवाहन ने अपने परममित्र समरकेतु को विजयार्ध की उत्तर-श्रेणी का राज्य समर्पित किया। राजा मेघवाहन ने अपने पुत्र को अपना राज्याधिकार समर्पित कर परलोक साधन का उद्यम किया। राजा चन्द्रकेतु ने समरकेतु को अपना राज्याधिकार समर्पित किया। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य मे सुव्यवस्था करते हुए सभी सानन्द रहने लगे।

—गवर्नमेन्ट डिग्री कालेज, गुना, (म० प्र०)

ज्ञात कवियों की कतिपय अज्ञात हिन्दी रचनाएं

डा० गंगाराम गर्ग

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की तरह हिन्दी भाषा मे भी पर्याप्त जैन साहित्य लिखा गया है। हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डारो की खोज करने पर अनेक जैन कवि प्रकाश मे आए है। फिर भी कुछ अच्छे कवि ऐसे हैं जिनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध नही हो पाई है। यहाँ कुछ प्रसिद्ध कवियो की अज्ञात रचनाओं का परिचय प्रस्तुत है—

हर्षकीर्ति :

डा० प्रेमसागर जैन ने इन्हें हर्षकीर्ति सूरि से पृथक मानते हुए इनका निवास स्थान जयपुर क्षेत्र मे होने की सभावना प्रगट की है। हर्षकीर्ति की रचनाएँ जयपुर के बधीचन्द, लूणकरण और ठोलियो के जैन मन्दिरों तथा टोक के पांच मन्दिरो मे मिलती है। दूसरे हर्षकीर्ति की रचनाओ पर ढूढ़ारी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है। इन दो कारणों से हर्षकीर्ति ढूढ़ाड़ प्रदेश के प्रतीत होते है। हर्षकीर्ति की एक रचना बड़ोदा गाँव मे लिखी गई, जो सवाई माधोपुर के पास स्थित है। इससे हर्षकीर्ति का मुख्य साधना-स्थल बडोदा गाँव प्रतीत होता है। डा० प्रेमसागर जैन ने हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि में हर्षकीर्ति की 'पंचगति बेलि', 'नेमिनाथ राजुल गीत', 'मोरड़ा' 'नेमीश्वर गीत', वीस तीर्थकर जखड़ी', 'चतुर्गति बेलि', 'कर्महिण्डोलना' छहलेश्या' 'कवित्त और भजन व पद संग्रह आदि रचनाओ की चर्चा की है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इनकी निम्नाकित रचनाएँ प्राप्त हुई है—

१. त्रेपन क्रिया जयमाल :

इस ग्रंथ की रचना बड़ोदा गाँव मे सवत् १८६४ में हुई। इसमें २६ छंदों मे श्रावकों की ५३ क्रियाओं का वर्णन किया गया है।

२. सीमन्धर का समोसरण :

इसमें ६ त्रोटक छंदों में तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के समवशरण का उत्सव वर्णित हुआ है।

३. जिनराज की जयमाल :

इसमे १० छदों मे जिनेन्द्र के नाम स्मरण की महत्ता कही गई है।

४. बारहमास्यो :

इसमे २१ छदों मे राजुल की विरहावस्था का चित्रण है। राजुल के विरह को उद्दीप्त करने वाला प्राकृतिक चित्रण भी बड़ा मर्मस्पर्शी बन पड़ा है :—

हो स्वामी चंतज आवा मोरीया,
नर नारी मोहै,
भंवर गुजार करं घणा, अलि ही गुण सोहै ।।१६।।
हे स्वामी बेसाखा वन मोरीया,
मोरी सब बेलि,
मोरी चम्पा केतकी मुझ वाल सही ।१७।।

५. जिनजी को वधावो :

यह आदि तीर्थंकर के जन्मोत्सव का बधाई-गीत है।

६. परनारी-निवारण गीत :

इस गीत मे परनारीगमन को स्वास्थ्य, सम्मान और आत्म-शान्ति का विनाशक कहा गया है—

जीव तपं जिम बीजली रे, मनड़ो रहै न ठांम।
काया दाह मिटै नहीं, गांठ न रहै दाम।

विनोदीलाल :

डा० प्रेमसागर जैन और पं० परमानन्द ने क्रमशः 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' तथा अनेकान्त में प्रकाशित 'अग्रवालों का जैन संस्कृति मे योगदान' निबन्ध में विनोदीलाल का परिचय देते हुए उनकी 'भक्तामर कथा' 'सम्यक्त्व कौमुदी' 'श्रीपाल विनोद' 'राजुल पच्चीसी' 'नेमिनाथ का व्याहला' 'फूलमाला पच्चीसी' और 'नेमिनाथ का बारहमासा' आदि सात रचनाओं की चर्चा की है। कवि विनोदीलाल के सवैयों की मर्मस्पर्शिता 'रसखान' की याद दिला देती है। तेरहपंथी

मन्दिर टोंक के गुटका न० ५० ब में 'विनोदीलाल' के तीन गीत भी उपलब्ध है—

१. सुमति कुमति को झगड़ो :

यह राग सारग मे लिखा हुआ १२ चरण का गीत है। इस गीत मे कुमति और सुमति दोनों ही 'चेतन' को अपने वश मे करने का प्रयत्न कर रही है। चेतन के प्रति कुमति का व्यवहार कुनारी जैसा ही है—

कुमति कहै सुनि कंत बावरे, यह तोकूं फुसलावै।
यह दूती चंचल सिवपुर की, कितेक फंद याहि आवे।
हौं सूधी आपनि घर बैठी, ताकौं अंक लगावै।
तो सौं कत पाय कर भोदू, क्यों नहिं नाच नचावै।

२ जिन गारी :

इस गीत की रचना फागुन शुक्ला १३ सवत् १७४३ मे हुई। इस गीत मे कवि ने कुमति के दुश्चरित्र की चर्चा करते हुए चेतन को 'सुमति' को ब्याहने का प्रेरणा दी है—

गारी तो एक सुनो तुम चेतन, सुनत श्रवण सुखदाई।
तुम्हरी तो कुमति बुरे ढंग लागी, समझत नहिं समुझाई।
अति ही प्रचंड भई दारी डोलै, जोबन की मतवारी।
पंचन स्यों दारी रति मानै, कांन न करत तुम्हारी।
....
छांड़ो संग कुमति बनिता को, घर तै देहु निकारी वे।
ब्याहो सुमति बधू सो बनिता उर न ब्याहनहारी वे।

३. चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति—

इस रचना मे कवि ने चौबीसो तीर्थङ्करो के प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित किया है—

श्री कुंथनाथ रिक्षा करो मेरी,
अरह जिनन्द सरनि हौं तेरी।
मलिनाथ बिन उमहा जोषा,
मुनिसुव्रत जिन जगत समोषा।
समोषि जगत उधार कीन्हो।
नमि जिनेस मनाइए।
श्री नेमिनाथ जिनन्द के गुन।
मधुर सुर स्यों गाइए।

विश्वभूषण :

आगरा जिले मे स्थित हथिकात नगर के प्रसिद्ध भट्टारक विश्वभूषण की 'निर्वाण मंगल', 'अष्टाह्निका कथा', 'आरती', 'नेमि जी का मंगल', 'पार्श्वनाथ का चरित्र', 'पचमेरु पूजा', 'जिनदत्त चरित्र', 'जिनमत खिचरी' और पदों का काव्यात्मक परिचय 'हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि' मे प्राप्त है। विश्वभूषण की अन्य एक रचना तेरहपथी मन्दिर टोंक के एक गुटके मे मिली है।

मुनीश्वरां की वीनती :

ढूढाडी भाषा के इस गीत मे ८ चरण है। इसमें मुनि के गुणो की प्रशसा करते हुए उनके प्रति कवि ने अपनी भाव-भीनी श्रद्धा प्रकट की है—

बाईस परीस्या सहै दिन राति,
असुभ करम पर जालतां।
भवि जीवानै समोधनहार,
आप तिरंजो भव त्यारता।
असा जो मुनिवर है कोई आजो,
ज्यानै नति उठि करस्यां वंदना।
विसभूषण इहि कीयो छ वषाण,
जे र भणै जी भव सुख लहै।

—राजकीय महाविद्यालय, टोंक

दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर प्रतिमाएँ

श्री मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी

'मानसार' के अनुसार ध्यान-निमग्न जिन मूर्तियो को मानवाकार, द्विभुज, दो नेत्रो, एक शरीर व श्रीवत्स चिह्न सहित निराभरण व वस्त्ररहित उत्कीर्ण किया जाना चाहिए—

निराभरणसर्वांग निर्वस्त्रांगमनोहरम् ।
सत्यवक्षस्थले हेमवर्णं श्रीवत्सलाञ्छनम् ।।

—मानसार, ८१–८२

आगे लिखा है कि तीर्थंकर को या तो समभग मुद्रा मे (कायोत्सर्ग) खड़ा या अभय मुद्रा का प्रदर्शन करते हुए होना चाहिए। पद्मासन मुद्रा में आसीन होने पर तीर्थंकर की वाम हथेली पर दाहिनी हथेली ऊपर की ओर स्थित होगी। सिंहासन व प्रभावली पर नारद, ऋषियों, विद्याधरों, देवगणों को खड़े या आसीन मुद्रा मे मूर्तिगत किया जाना चाहिए, जो देवता की वन्दना करते और भेंट चढ़ाते हुए चित्रित होगे। सिंहासन के नीचे दो तीर्थंकर आकृतियाँ उपासना मुद्रा मे अकित होगी। साथ ही सिद्धो, अर्हतो को भी उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। मध्यस्थ जिन आकृति उत्तम-दशताल-माप के अनुसार निर्मित होगी।

दक्षिण भारतीय तीर्थंकर प्रतिमाओ मे उत्तर भारतीय तीर्थंकर प्रतिमाओ के विपरीत सामान्यत: उष्णीष का अभाव होता है और श्रीवत्स चिह्न तीर्थंकर के दाहिने वक्ष पर उत्कीर्ण किया गया है।

तीर्थंकर महावीर को दक्षिण भारतीय शिल्प में उपर्युक्त निर्देशो के आधार पर ही विभिन्न युगो मे मूर्तिगत किया गया। कतिपय मूर्तियो का विवरण इस प्रकार है—

१. श्री हरिदास स्वालि के सग्रह मे स्थित एक महावीर प्रतिमा को डॉ० यू०पी० शाह दक्षिण भारत की कृति बतलाते है।[१] पृष्ठभाग मे आलेखयुक्त मूर्ति (ऊंचाई ३४.३ सें० मी०, चौडाई २२.१ सें० मी०) मे महावीर को उल्टे कमल के आसन पर अर्द्धपद्मासन मुद्रा मे आसीन प्रदर्शित किया गया है। इस चित्रण की विशेषता है पृष्ठभाग मे उत्कीर्ण कान्तिमण्डल से संबद्ध रूप म दो मकर मुख वाले चौड़े दण्डो का अकन, जिसे दो छोटे स्तम्भ दोनों पार्श्वों मे सहायता दे रहे है। इन दोनों स्तम्भो के बाह्य भाग में दो क्रोधित सिंह आकृतियों को मकर प्रणाली युक्त घुमाओं को सहायता देते हुए उत्कीर्ण किया गया है। इन दण्डों से पुन: दोनों ओर एक खड़ी चामरधारी आकृति को प्रकट होते दिखाया गया है। दोनो ही आकृतियाँ मुकुट आदि विभिन्न अलकरणो से सुसज्जित है। मध्य का समस्त अकन एक देवालय के रूप मे प्रदर्शित चित्रण से वेष्टित है। सपूर्ण अकन का सपुजन एक देवालय के रूप मे कल्पित है। इस चित्रण के ऊर्ध्व भाग मे दो माल्यधारी आकृतियाँ उत्कीर्ण है और अन्तिम वाम भाग मे मस्तक पर सप्तफणों के घटाटोप से आच्छादित तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चित्रण हुआ है। दूसरी ओर भी सभवत: एक तीर्थंकर प्रतिमा रही होगी, जो संप्रति नष्ट हो चुकी है। दूसरी प्रतिमा सभवत: आदिनाथ की रही होगी। पीठिका के मध्यभाग में उत्कीर्ण सिह आकृति महावीर के लाछन के लिए प्रयुक्त हुई है। इस अंकन के निचले भाग मे दाहिने पार्श्व के निकले (projection) हुए भाग में एक द्विभुज और तुदिली यक्ष आकृति प्रदर्शित है, जिसकी वाम भुजा में एक थैला उत्कीर्ण है। इस अकन के दूसरे पार्श्व मे अबिका को चित्रित किया गया

---

१. Shah, Umakant P., Jaina-Bronzes in Haridas Swali's collection, Bull. of Prince of Wales Museum of Western India, Bombay, No. 9, 1964–66, pp. 47–48.

है, जिसकी दाहिनी भुजा में एक बालक और बायी में आम्र फल प्रदर्शित है। डॉ. यू. पी. शाह ने निर्मिती, मण्डन, अलंकरण तत्वों के आधार पर इस कांस्य प्रतिमा को ६वीं शती के अन्तिम चरण मे तिथ्यांकित किया है। समूचे अंकन की देवालय के रूप में कल्पना के आधार पर उनका अनुमान है कि इस प्रतिमा का प्राप्ति-स्थल कही कर्नाटक मे होना चाहिए।

२. पालघाट जिले के कावश्शेरी अम्शोम नामक स्थान के आलटूर नामक स्थल (केरल) से प्राप्त जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेषो के साथ ही प्राप्त दो प्रतिमाओं में एक तीर्थंकर महावीर का चित्रण करती है।[२] महावीर प्रतिमा साधारण किन्तु भली भांति निर्मित है और महावीर को पूर्ण भद्रासन पर पर्यङ्कासन मुद्रा मे आसीन प्रदर्शित करती है। देवता की सम्पूर्ण निर्मिती भव्य और सानुपातिक है। मुखाकृति से ही महावीर की अन्तर्दृष्टि और आत्मानुभूति का भाव सुस्पष्ट है। महावीर की मुखाकृति का मण्डन वृत्ताकार है, और लम्बे कर्ण व सीधे व वर्गाकार स्कन्धों वाले देवता की भुजाओं व शरीर की निर्मिती भी प्रशंसनीय है। श्रीवत्स चिह्न अनुपलब्ध है, किन्तु देवता के मस्तक पर प्रदर्शित त्रिछत्र, नग्नता, लम्बी भुजाएं, युवा शरीर और महावीर के लाछन, सिंह का चित्रण स्पष्ट है। प्रतिमा मे गन्धर्व आकृतियो को मुख्य आकृति के दोनो ओर उत्कीर्ण किया गया है। गन्धर्वों के दाहिने हाथो मे चौरी स्थित है, जब कि उनके बाएँ हाथ नितम्बो पर स्थित है। इस चित्रण मे सिंहासन के सूचक दो सिंह आकृतियो का सुन्दर अंकन हुआ है। मूर्ति की कलागत विशेषताएँ इसके ६वीं-१०वीं शती में तिथ्यांकित किए जाने की पुष्टि करती है।

३. आन्ध्रप्रदेश के गुन्टूर जिले मे स्थित बपतला नामक स्थल से कुछ वर्ष पूर्व जैन कास्य प्रतिमाओ का एक सग्रह प्राप्त हुआ था, जो सम्प्रति हैदराबाद पुरातात्विक सग्रहालय में संगृहीत है।[३] इस निधि से उपलब्ध मूर्तियों को अन्य स्थलों से प्राप्त होने वाली कांस्य प्रतिमाओं की साम्यता के आधार पर ११वी-१२वी शती में तिथ्यांकित किया गया है। इस निधि से प्राप्त होने वाली एक प्रतिमा की पहचान महावीर अंकन से की गई है। किन्तु यह पहचान लाञ्छन के अभाव में निश्चित नही है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न का अभाव और दक्षिण भारत की सामान्य विशेषता के विपरीत उष्णीष का प्रदर्शन इस चित्रण की अपनी विशेषता है।

४. अकोला जिले के कारंजा नामक स्थल से प्राप्त होने वाली महावीर की एक अन्य कांस्य प्रतिमा (२३ इंच ऊँची) मे पद्मासनस्थ महावीर को सत्वपर्यङ्क आसन मे सिंहासन पर आसीन चित्रित किया गया है।[४] महावीर आकृति त्रिछत्र और एक मुख वाले सर्पफण के नीचे अवस्थित है। त्रिछत्र के चारों ओर शाल पत्तियाँ लिपटी है। पीठिका पर उत्कीर्ण सिंह आकृति के नीचे धर्मचक्र निर्मित है। साथ ही सिंहासन के निचले भाग पर अष्टग्रहों को मूर्तिगत किया गया है। सिंहासन का पृष्ठभाग अलकरणात्मक है, जिस पर गरजते हुई सिंह आकृतियो के ऊपर मकर-मुख निर्मित है। साथ ही देवता के दोनो पार्श्वों मे यक्ष-यक्षिणी और चांवरधारी आकृतियों का मनोहारी चित्रण हुआ है। तीर्थङ्कर आकृति के नीचे दो अलग पीठिकाओ पर दोनो पार्श्वों मे उनके यक्ष-यक्षिणी, मातंग और सिद्धायिका का काफी विशद अकन हुआ है। द्विभुज मातग को धन का थैला व जबीरी नीबू (Citron) धारण किये हुए उत्कीर्ण किया गया है। चतुर्भुज सिद्धायिनी के हाथो मे कुल्हाडी, कमल पुष्प, जबीरी नीबू और पुष्प(?) स्थित है। यक्ष आकृतियो के ऊपर महावीर प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में उत्कीर्ण दो रथिकाओ जैसे देवालयों मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे पार्श्वनाथ (दाहिनी

---

2. Unnithan, N. G. Relics of Jainism Alatur, Tour. Indian History, Vol XLIV, Pt. I, Serial No 130, April 1966, p 540.

३. Ramesan, N., Jaina Bronzes from Bapatala, Lalit-Kala, No. 13, p. 29.

४. Barrett, Douglas, A Jain Bronze from the Deccan, Oriental Art, Vol. V, No 1 (N. S.) 1959, pp. 162-65.

ओर) और बाहुबलि की आकृतियां निर्मित हैं। पार्श्वनाथ के मस्तक पर पांच सर्पफणों का घटाटोप प्रदर्शित है। निर्मिती और शैली के आधार पर इस मूर्ति को ६वी शती ई० मे तिथ्यांकित किया गया है। महावीर की एक अन्य ध्यानमुद्रा में आसीन मूर्ति (४ इंच ऊँची) पुडुकोट्टै से प्राप्त होती हैं, जिसे डा० यू० पी० शाह ने राष्ट्रकूट काल का बताया है।[५]

५. दक्षिण भारत के बेल्लरी जिला के हरपन हल्लित-लुक नामक स्थल के कोगली ग्राम स महावीर की तीन विशिष्ट कांस्य प्रतिमाए प्राप्त होती है।[६] ये सभी चित्रण संप्रति मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, मद्रास में संगृहीत है। इनमें से पहली मूर्ति (३६.३ से० मी० ऊँची, १६.५ से० मी० चौड़ी) मे पीठिका पर स्थित पद्मासन पर महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े है। महावीर के दोनो पार्श्वों में उनके यक्ष व यक्षिणी का चित्रण हुआ है। सिर के पीछे उत्कीर्ण प्रभावली पर, जो काफी खण्डित है, अन्य पूर्ववर्ती २३ तीर्थङ्करों का एक वृत्त के रूप मे अकन ध्यातव्य है। देवता की केश रचना छोटे-छोटे गुच्छको के रूप मे प्रदर्शित है। बालों के गुच्छकों का मस्तक के दोनो ओर से स्कन्धों तक लटकते हुए अकन इस प्रतिमा की अपनी विशेषता है। यह प्रतिमा निर्मिती की दृष्टि स उत्कृष्ट है। दूसरी मनोज्ञ प्रतिमा (१३.३ सें० मी० ऊँची १७.४ से० मी० चौड़ी) मे आसीन महावीर की पीठिका के मध्य म एक सिंह को दो घुटने टेके उपासक आकृतियो से वेष्टित प्रदर्शित किया गया है। पृष्ठभाग मे उत्कीर्ण प्रभामण्डल मे दो गन्धर्वों और महावीर से सम्बद्ध विद्या देवियो को चित्रित किया गया है। देवता के दोनो पार्श्वों मे उनके यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ स्थित है। २६ से० मी० ऊँची तीसरी प्रतिमा मे मूलनायक को तीन सिंहों का चित्रण करने वाले पादपीठ पर कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ा प्रदर्शित किया गया है। पीठिका के मध्य मे चित्रित सिंह देवता का लांछन है और पार्श्व-स्थित सिंह आकृतियाँ पीठिका के सिंहासन होने के सूचक है। प्रतिमा के काफी भग्नावस्था मे होने के उपरान्त भी पृष्ठभाग मे प्रभा-मण्डल रहे होने का आभास स्पष्ट है। महावीर की पीठिका पर ध्यानमुद्रा मे आसीन एक अन्य कास्य प्रतिमा का प्राप्ति-स्थल अज्ञात है। पात्र शैली मे निर्मित कास्य प्रतिमा के पादपीठ के मध्य मे महावीर का लाञ्छन उत्कीर्ण है, जिसके दोनो ओर चित्रित सिंह आकृतियाँ सिंहासन के सूचक है। यह प्रतिमा सप्रति मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, मद्रास मे स्थित है।

६. महावीर प्रतिमाओ के कई उदाहरण चित्तौड जिले मे स्थित पल्लव युगीन वल्लिमलाई की जैन गुफाओ मे उत्कीर्ण है।[७] पास-पास ही मे उत्कीर्ण दो महावीर मूर्तियों मे मूलनायक की आकृति एक पीठिका पर ध्यान मुद्रा मे आसीन है। तीन भागो मे विभक्त पादपीठ के दो छोरों पर प्रदर्शित सिंह आकृतियाँ सिंहासन के भाव का बोध कराते है, और मध्य मे स्थित सिंह महावीर का लाछन है। महावीर के दोनो पार्श्वों मे दो चाँवरधारी आकृतियाँ चित्रित है। इन दोनो महावीर प्रतिमाओ के दोनो पार्श्वों मे एक स्त्री व पुरुष आकृति प्रदर्शित है, जो सम्भवतः सम्मिलित रूप से दोनो के यक्ष-यक्षिणी आकृति के लिए प्रयुक्त हुआ लगता है। इसी गुफा के बाह्य चट्टान पर भी महावीर की दो आसीन प्रतिमाएं देखी जा सकती हैं। पूर्व प्रतिमाओ की तुलना मे ये कुछ दूर-दूर उत्कीर्ण है। दोनो ही मूर्तियो मे त्रिछत्र के नीचे ध्यान-निमग्न महावीर चौकोर रथिका मे उत्कीर्ण है। पृष्ठभाग मे समकोण चतुर्भुज के आकार का अलकरणहीन कान्ति-मण्डल प्रदर्शित है। इसी स्थल पर उत्कीर्ण एक अन्य प्रतिमा मे समकोण चतुर्भुज आकार के प्रभा मण्डल से युक्त महावीर को एक पीठिका पर त्रिछत्र के नीचे आसीन चित्रित किया गया है। महावीर के दोनो पार्श्वों मे अलग-

५. Sundaram T. S., Jaina Bronzes from Pudukottai, Lalit Kala Nos. 1-2, p. 79.

६. Ramachandran, T. N., Jaina Monuments and Places of First Class Importance, Calcutta, All India Sasana Conference, 1949, pp. 64-66.

७. Ramchandran, T. N. Ibid., descriptions of the images are mainly based on the plates of the Vallimalai figures given in the book.

अलग पीठिका पर उनके शासन देवताओं को उत्कीर्ण किया गया है। साथ ही स्कन्धों के समीप दोनों ओर दो चाँवरधारी आकृतियाँ प्रदर्शित है और ऊपर की ओर उड़ती हुई गन्धर्वों और अन्य कई सवाहन आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। बिल्कुल इन्ही विवरणों से युक्त एक अन्य प्रतिमा भी इसी गुफा मे उत्कीर्ण है।

७. महावीर की एक विशिष्ट ताम्र प्रतिमा दक्षिणी कन्नड क्षेत्र से प्राप्त हुई है[८] जिसमे उत्कीर्ण सिंह आकृति ही केवल इसके महावीर अंकन होने की पुष्टि करता है। पद्मासनस्थ देवता के हाथ योगमुद्रा मे प्रदर्शित है। मस्तक के चारों ओर सप्तफणों मे निर्मित एक छत्र के साथ ही शासन देवताओं और आभरण व अलंकरणो से युक्त सेवक-सेविकाओं की भी आकृतियो का भव्य संयोजन हुआ है। सहायक आकृतियों के अलंकृत होने के बावजूद मुख्य आकृति तुलनात्मक दृष्टि से बिल्कुल सादी है। पीठिका पर उत्कीर्ण लेख इस प्रतिमा को १०वीं–११वी सदी मे प्रतिष्ठित बतलाता है। किन्तु इस प्रतिमा की पहचान महावीर अंकन से करना पी०सी० नाहर को तर्कसंगत नही प्रतीत होता है।[९] उनकी धारणा है कि यह चित्रण पार्श्वनाथ का होना चाहिए क्योंकि सप्त सर्पफणों का घटाटोप २३वे तीर्थङ्कर की ही विशेषता है। स्वयं हडवे ने महावीर के दोनो पार्श्व स्थित आकृतियो की पहचान धरणेन्द्र और पद्मावती से की है, जो पार्श्वनाथ के शासन देवता है। महावीर के शासन देवताओं का नाम मातंग और सिद्धायिका है। जहाँ तक पीठिका पर उत्कीर्ण सिंह आकृति के औचित्य का प्रश्न है वह महावीर के लाछन रूप में उत्कीर्ण न होकर सिंहासन का प्रतीक है। मै भी मात्र सिंह के आधार पर इस प्रतिमा की महावीर अंकन से पहचान करना उचित नहीं समझता।

८. महावीर की कई प्रतिमाएँ हैदराबाद संग्रहालय में संकलित है।[१०] इस संग्रहालय मे स्थित एक विशिष्ट प्रतिमा मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडी महावीर की आकृति के चारो ओर अन्य २३ तीर्थङ्करों को मूर्तिगत किया गया है। नीचे की ओर दो चाँवरधारी आकृतियाँ चित्रित है। स्कन्धों के ऊपर दोनो पार्श्वों मे दो गजारूढ़ और वाद्य-वादन करती आकृतियाँ उत्कीर्ण है। मूलनायक की केशावलि गुच्छको के रूप मे प्रदर्शित है। एक अन्य मनोज्ञ प्रतिमा मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडी महावीर आकृति को २ खडी और २१ आसीन तीर्थङ्करो की आकृतियों से वेष्टित चित्रित किया गया है। देवता के पृष्ठ भाग मे वृत्ताकार प्रभामण्डल और त्रिरेखात्मक किरीट, जिस पर कलश स्थित है, उत्कीर्ण है। वारंगल से भी महावीर की दो आसीन प्रतिमाएँ प्राप्त होती है, जिनमे से एक मे देवता को वृत्ताकार प्रभामण्डल और गुच्छको के रूप मे प्रदर्शित केशावलि से युक्त चित्रित किया गया है। दूसरी प्रतिमा मे ये दोनो ही विशेषताएँ अनुपलब्ध है। चालुक्यों के विशिष्ट कलाकेन्द्र बादामी (६५० ई०) से भी महावीर की एक मनोज्ञ प्रतिमा उपलब्ध होती है। महावीर की कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कला-केन्द्र एलोरा मे भी उत्कीर्ण है।[११] गुफा नं० ३०, ३१, ३२ (इन्द्रसभा), ३३, ३४ मे महावीर को अनेकशः अपने यक्ष-यक्षिणी, मातङ्ग और सिद्धायिका के साथ ध्यानमुद्रा मे आसीन चित्रित किया गया है। इन चित्रणो मे महावीर को लांछन (सिंह), त्रिछत्र, श्रीवत्स आदि से युक्त प्रदर्शित किया गया है। ये समस्त मूर्तियाँ ६वी शताब्दी से ११वी शताब्दी के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती है।

—पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी-५

८. Hadaway, W. S., Notes on Two Jaina Metal Images, Rupam, No. 17, Jan. 1924, pp. 48-49.

९. Nahar, P. C., Note on Two Jain Images from South India, Indian Culture, Vol. 1., July 1934-April 1935 Nos. 1-4, pp. 127-28.

१०. Rao, S. Hanumantha, Jainism in the Deccan, Tour. Indian History, 69. XXVI, 1948, Pts. 1-3, pp. 45-49.

११. Gupte, Rames Shankar & Mahajan, B. D. Ajanta, Ellora and Aurangabad Caves, Bombav, 1962, pp. 129-223.

वत्स जनपद का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

डा० शशिकान्त एम. ए., डी. आर., पी-एच. डी.

वत्स जनपद भारतवर्ष के मध्यदेश में अवस्थित था और इसकी राजधानी यमुना नदी के उत्तरी तट पर स्थित कौशाम्बी नगरी थी जिसकी पहचान इलाहाबाद जिले के कोसम ग्राम से की जाती है। बौद्ध एवं जैन साहित्य तथा भास के नाटकों मे प्राप्त ज्ञातव्य के अनुसार भारत के छठी शती ई० पू० के राजनैतिक मानचित्र के आधार पर यह प्रतीत होता है कि वत्स जनपद यमुना नदी के उभय तटों पर गगा-यमुना दोआब के निचले भाग मे स्थित था। दोआब मे पश्चिम की ओर इसका प्रसार-पांडु-गगा और सेगर-यमुना सगमो तक का तथा पूर्व की ओर गंगा-यमुना संगम तक था, और इसकी सीमाओ को उत्तर मे गंगा, पूर्व मे करमनासा, दक्षिण मे सोन तथा पश्चिम मे केन नदिया आवृत करती थी। अक्षाश २५°४ व २६°२ उ० तथा देशान्तर ८०° व ८४° पू० के मध्य स्थित कानपुर, फतेहपुर, इलाहाबाद, बादा, मिर्जापुर, वाराणसी, गाजीपुर और रीवा के वर्तमान जिलो का अधिकाश भूभाग इसके अन्दर समाविष्ट था। कोसल, काशी, मगध, अग, कलिग, चेदि, अवन्ति, कुरु और पचाल जनपद उसे प्राय: वृत्ताकार व्यूह मे घेरे हुए थे और थल मार्गों एवं अन्तर्देशीय जल मार्गों द्वारा प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण राजनैतिक एव व्यापारिक केन्द्रो से इसका व्यवस्थित सम्पर्क था।

प्राय: गत सौ वर्षों मे की गयी खोजो के फलस्वरूप इस प्रदेश मे ऐतिहासिक महत्त्व के लगभग एक सौ स्थल प्रकाश में आ चुके है, और उन स्थलो से ऐसी काफी सामग्री मिली है जिसकी सहायता से इस प्रदेश के प्राचीन इतिहास का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। कौशाम्बी और भीटा मे बड़े पैमाने पर पुरातात्त्विक खुदाई भी हुई है और वहां खुदाई द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से अति मूल्यवान् विविध सामग्री प्राप्त हुई है।

अब तक प्रकाश मे आये प्राचीन स्थल यह सूचित करते है कि यह प्रदेश मानव के प्राचीनतम आवास-स्थलों मे से एक था और यहां भारत की पूर्व-पाषाण युगीन, मध्य-पाषाण युगीन, नव्य-पाषाण युगीन एव ताम्र-पाषाण युगीन सभ्यताओं का क्रमिक विकास हुआ था। यहा के ताम्र-पाषाण युगीन लोगो का पश्चिम भारत मे बसे अपने समवर्तियों से भी सहज सम्पर्क था। पौराणिक अनुश्रुतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे वत्स प्रदेश प्राय: काशी राज्य के अधीन रहा। कौशाम्बी मे प्रकाश मे आया पुरातात्त्विक साक्ष्य यह सूचित करता प्रतीत होता है कि वशो की आर्य जाति यहां महाभारत युद्ध (१५वी शती ई० पू०) के सौ-दो सौ वर्ष पहले ही आकर बसी होगी।

हस्तिनापुर के विनाश के उपरान्त लगभग १३वी-१२वी शती ई० पू० मे परीक्षित् के छठे वशज कुरु राजा निचक्षु ने कौशम्बी को अपनी राजधानी बनाया और तत्पश्चात २३ अन्य कुरु राजाओ ने कौशाम्बी से ही राज्य किया जब तक कि उसका विलय मगध साम्राज्य मे नहीं हो गया। उक्त राजाओं मे से शतानीक द्वितीय और उसका पुत्र उदयन छठी शती ई० पू० मे विद्यमान थे।

लौकिक सस्कृत साहित्य एव जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मणीय धार्मिक साहित्य मे उदयन के व्यक्तित्व एवं कार्यकलापो से सम्बन्धित कितने ही प्रसग मिलते है। अवन्ति के राजा प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ उसके प्रणय की कथा प्राचीन भारतीय साहित्य मे विशेष रूप से लोकप्रिय थी। उदयन लगभग ५५५ ई० पू० में सिंहासनारूढ़ हुआ प्रतीत होता है। तत्पश्चात् ही उस समय विद्यमान राज्यो का विघटन तेजी से प्रारम्भ हो गया और प्राय: एक दशक के भीतर ही वत्स के पूर्व मे सर्वशक्ति-सम्पन्न

लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का सार-संक्षेप।

मगध राज्य का उदय हुआ और पश्चिम की ओर उतने ही शक्तिशाली अवन्ति राज्य का। मगध राज दर्शक की बहन के साथ उसका विवाह यह सूचित करता है कि वह अजातशत्रु के राज्यकाल की समाप्ति के बाद भी विद्यमान था। कौशाम्बी मे किये गये उत्खनन यह प्रकट करते है कि उसके राज्यकाल मे नगर प्राचीर तथा राजप्रासाद का पुनर्निर्माण किया गया था।

लगभग ४६७ ई० पू० में मगधराज महानन्दिन् ने वत्स के कुरु राजा को अपना करद राजा बना लिया प्रतीत होता है। ४२४ ई० पू० में उसके पुत्र महापद्म ने करद राजा की व्यवस्था भी समाप्त कर दी और वत्स प्रदेश को मगध साम्राज्य का प्रत्यक्ष अधीनस्थ एक प्रान्त ही बना लिया। मौर्यो के राज्यकाल मे कौशाम्बी की नगर प्राचीर एव प्रासाद प्राचीर का कौटिल्य द्वारा निर्णीत प्रणाली के अनुसार पुनर्निर्माण हुआ प्रतीत होता है। मौर्य सम्राट अशोक के शासनादेश यह भी सूचित करते हैं कि कौशाम्बी नगर के प्रशासक महामात्र पदवी के अधिकारी होते थे और उसकी द्वितीय रानी कालुवाकी ने इस नगर को अपना निवास-स्थान भी बना लिया था।

लगभग २३६ ई० पू० मे अशोक की मृत्यु के तुरत बाद ही मौर्य साम्राज्य विच्छिन्न होने लगा। सम्प्रति के राज्यत्व मे कुछ समय के लिए मौर्यवश की पाटलिपुत्र और उज्जयिनी शाखाओं का एकीकरण हो गया प्रतीत होता है परन्तु उसकी मृत्यु के बाद पुन. वे अलग-अलग हो गई जिससे साम्राज्य के कुछ सेवको को यह अवसर मिल गया कि वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ले यथा मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी और युगशैल में, अथवा अपना प्रभाव बढा लें जैसा कि विदिशा मे सेनापति और विदर्भ में सचिव ने किया। विभिन्न अनुश्रुतियो एवं मुद्रा-सम्बन्धी साक्ष्य के समन्वय से ऐसा सूचित होता है कि सुवर्णगिरि प्रान्त मे सातवाहन और उज्जयिनी प्रान्त मे शुंग मौर्यों के उत्तराधिकारी हुए तथा विदिशा प्रदेश मे कण्व शुंगों के उत्तराधिकारी हुए, और यह भी कि मौर्य साम्राज्य के इन उत्तराधिकारियों का पाटलिपुत्र एव कौशाम्बी से शायद ही कोई सम्बन्ध था। मथुरा, अहिच्छत्रा, अयोध्या एवं कौशाम्बी से प्राप्त सिक्कों के मित्र-नामान्त वाले राजाओं का शुंगो से सम्बन्ध स्थिर करने योग्य सुनिश्चित साक्ष्य अभी उपलब्ध नही है।

सम्प्रति को मृत्यु के उपरान्त लगभग २१६ ई० पू० मे सुदेव द्वारा कौशाम्बी के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई प्रतीत होती है। सम्प्रति-पश्चात् और कनिष्क पूर्व-काल मे, जैसा कि सिक्को और अभिलेखों से विदित होता है, २८ राजाओ ने इस राज्य पर शासन किया प्रतीत होता है। उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बहसतिमित था। वह सम्भवत: मथुरा के नवोदित राजवश का कुमार था और उसी ने अपने नाना अहिच्छत्रा के राजा के साथ मिलकर पाटलिपुत्र से मौर्य वश का उच्छेद किया था तथा दूसरी शती ई० पू० के प्रारम्भ मे ही सुदेव के उत्तराधिकारी से कौशाम्बी छीन ली थी। एक अन्य महत्त्वपूर्ण राजा राजमित्र था जो पहली शती ई० पू० मे विद्यमान था, उसने सात सोम यज्ञ किये थे जिनमे कौशाम्बी के उत्खनन मे प्रकाश मे आये श्येनचिति के अव-शेषो से सम्बद्ध पुरुषमेध यज्ञ भी सम्भवत: सम्मिलित था।

७८ ई० मे अपने राज्यारोहण के तुरत बाद ही कुषाण वंशी राजा कनिष्क प्रथम ने पूर्व दिशा मे विजय अभियान किया प्रतीत होता है और उसने कुछ समय कौशाम्बी मे भी बिताया प्रतीत होता है। परन्तु हुविष्क के राज्य काल के प्रारम्भ मे सवत् ४० (११८ ई०) के पहले ही कौशाम्बी-वाराणसी क्षेत्र मे अश्वघोष ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली प्रतीत होती है। एक दशक अथवा उसके कुछ ही बाद बघेलखड प्रान्तर से भीमसेन ने आकर अश्वघोष को भी अपदस्थ कर दिया। कौशाम्बी तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर भीमसेन के वंशजो, तथाकथित मघ राजों, का आधिपत्य तीसरी शती ई० के अन्त तक रहा। तत्पश्चात् कुछ समय के लिए पद्मावती के नाग राजा गणेन्द्र का आधिपत्य रहा प्रतीत होता है और अन्ततः लगभग ३३० ई० मे समुद्रगुप्त द्वारा आर्यावर्त्त युद्धों में विजय प्राप्त करने के समय यह प्रदेश श्री रुद्र या स्वदेश के आधिपत्य में था।

समुद्रगुप्त द्वारा विजय किये जाने के पश्चात् तोरमाण

हूण द्वारा किये गये विनाश के अल्पकालीन अन्तराल को छोड़कर कौशाम्बी तथा निकटवर्ती प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों तक उसी का अग बना रहा । यशोधर्मन् द्वारा गुप्त सत्ता की समाप्ति के पश्चात् इस प्रदेश का भाग्य कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजवशो के इतिहास के साथ जुड गया और यहां एक-दूसरे के बाद क्रमशः मौखारियो, हर्ष, यशोवर्मन्, आयुधो, गुर्जर-प्रतीहारो तथा गाहडवालो का आधिपत्य रहा । यशोवर्मा के समय मे कश्मीर के राजा मुक्तापीड का अभियान तथा प्रतीहारो एव गाहडवालों के मध्य अन्तराल मे कलचुरियो और पालो के अभियान अल्प कालिक थे । १२वी शती ई० के अन्त मे तुर्को द्वारा गाहडवाल सत्ता के समाप्त कर दिये जाने के उपरान्त १२४८ ई० तक जब कि यह प्रदेश अन्ततः दिल्ली के तुर्की सुलतानो के अधिकार मे चला गया, कडा और कौशाम्बी के निकट अपने गढो से राणक सामन्तो ने स्वातन्त्र्य समर जारी रखा । १० वी शती ई० के द्वितीय चतुर्थाश मे कालिजर पर यशोवर्मन् द्वारा अधिकार कर लिये जाने के बाद कालिजर का निकटवर्ती प्रदेश चन्देल राज्य का ही अग बना रहा ।

समुचित साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक सामग्री उपलब्ध है जो यह सूचित करती है कि भारत के प्रधान धर्मों के विकास मे वत्स प्रदेश का विशिष्ट भाग रहा और वह यह भी सकेत करती है कि वहा अम्बा, यक्ष और नाग-पूजा का प्रचलन भी था । निचक्षु द्वारा कौशाम्बी को अपनी राजधानी बना लिये जाने के बाद वैदिक विद्या की कोई पीठ भी वहां स्थापित हो गई प्रतीत होती है और वैदिक गुरु प्रोति कौसुर-बिन्द औद्दालकि संभवतः उसी पीठ के स्नातक थे । कौशाम्बी मे याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रचलन के स्पष्ट प्रमाण के रूप मे श्येनचिति के अवशेष प्रकाश मे आये है । ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग इस चिति का प्रयोग पुरुषमेध यज्ञ करने के लिए किया गया था । कोटिया मे प्राप्त मेगालिथ भी किसी याज्ञिक क्रिया से ही सम्बन्धित प्रतीत होते है । इस प्रदेश मे वैदिक कर्मकाण्ड एव शैवमत के पारस्परिक समन्वय तथा शैवमत के नागपूजा से सम्बन्धो के प्रमाण भी मिले है और प्राप्त प्राचीनतम शिवलिगो मे से एक लिग भीटा से ही मिला है । गढवा में प्राप्त वैष्णव अवशेष वैष्णव मत एव शाक्तमत, राम-पूजा एव कृष्ण-पूजा तथा वैष्णव मत एव बौद्ध धर्म के बीच पारस्परिक समन्वय के सकेत सूचित करते है ।

जैन पौराणिक अनुश्रुति मे कौशाम्बी का बहुधा उल्लेख आता है, और महावीर के जीवन की कतिपय मुख्य घटनाओ के प्रसग से भी इस नगर का उल्लेख आता है । महावीर के बाद के युग मे भी यहा जैन गुरुओ का काफी आवागमन रहा, और ऐसा भी प्रतीत होता रहा है कि जैनो के प्रारम्भिक साहित्य प्रणयन से भी इसका सम्बन्ध रहा ।

बुद्ध ने वत्स प्रदेश मे तीन वर्षावास किये थे । और उनके कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवचन भी यही हुए थे । विनय के कितने ही महत्त्वपूर्ण नियमो का हेतुक भी कौशाम्बी का भिक्षु सघ ही था । बुद्ध के बाद भी लगभग एक हजार वर्ष पर्यन्त कौशाम्बी मे स्थित घोषिताराम बौद्धधर्म का एक प्रमुख केन्द्र बना रहा । इस विहार के अवशेषो का उत्खनन १९५० ई० के दशक मे किया गया है । कौशाम्बी के अतिरिक्त भीटा, देवरिया, मानकुंवर, अहरौरा, भारहुत और बान्धोगढ इस प्रदेश मे बौद्ध धर्म के अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे ।

अब तक प्रकाश मे आये पत्थर के विविध उपकरणो, मिट्टी के पात्रो और मिट्टी, पत्थर, धातु, अस्थि एव शख-सीपी के बने भांति-भांति के व्यजनो की सहायता से इस प्रदेश के मानव सभ्यता के विकास के क्रम को जाना जा सकता है और यह भी देखा जा सकता है कि वर्तमान काल मे भी उस सस्कृति के कौन से अश प्रतिभासित हो रहे है । कौशाम्बी और सहजाति (भीटा) यहाँ के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे तथा व्यापारियो के विभिन्न वर्गो एवं कारीगरो व उत्पादको की श्रेणियो के माध्यम से व्यापार की सुव्यवस्थित योजना थी । श्रेष्ठि सम्मानित थे । व्यावसायिक श्रेणियो तथा नगरो एवं ग्रामो के निगमो का संचालन पंचायती व्यवस्था के अनुसार होता था और उनके मामलो मे राज्य के अधिकारियो का हस्तक्षेप यदा-कदा ही होता था । पुरुषो का परिधान सामान्यतः धोती, चादर (उत्तरीय) और पगड़ी (उष्णीष)

थे परन्तु योद्धा लोग कसा बटनदार कोट और लम्बे जूते पहनते थे। स्त्रियां साड़ी पहनती थीं, अपने वक्ष पर अंगिया धारण करती थीं और सिर पर पल्ला ढंकती थीं। अपने शरीर के विभिन्न अंगो को वे विविध आभूषणो से अलंकृत करती थी, शारीरिक सौष्ठव के प्रति सजग थी, शृंगार-प्रसाधनो की शौकीन थी और उनकी रुचि परिष्कृत थी। जन-जीवन सामान्यतः आमोद-प्रमाद मय था। नगर सुनियोजित थे और उनमे व्यापारिक माल, भोज्य पदार्थों एवं मनोरंजन के साधनो की प्रचुरता थी।

कौशाम्बी मे नगर प्राचीर की खुदाई के परिणामस्वरूप लगभग दूसरे सहस्राब्द ई० पू० के मध्य से पहले सहस्राब्द ई० के मध्य के बीच हुए नगर की किलेबन्दी के क्रमिक विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। कड़ा का किला और कालिंजर का पहाड़ी किला गुप्त-पश्चात युग के दुर्ग स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरण है। कौशाम्बी मे हुए उत्खनन से प्राचीन भारत मे प्रासाद-स्थापत्य के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है। कोसम और भीटा मे की गई खुदाई से निजी एवं सार्वजनिक भवनो तथा बाजार हाट के निर्माण की विधि पर भी प्रकाश पड़ा है। घोसिताराम के अवशेषो मे प्रकाश मे आये स्तूप तथा भारहुत का स्तूप बौद्ध स्तूप स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरण है। कौशाम्बी मे खुदाई के फलस्वरूप घोसिताराम का जो नक्शा प्रकाश मे आया है वह उक्त विहार के हजार वर्षों मे हुए क्रमिक विकास को प्रकट करता है और यह बौद्ध विहारो का प्राचीनतम अत्यधिक पूर्ण एवं सरक्षित अधुनाज्ञात चित्र प्रस्तुत करता है। शैलकृत (चट्टान मे काटकर बनाये गये) स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरणो मे लगभग दूसरी शती ई० पू० मे निर्मित पभोसा स्थित जैन निशिद्या, दूसरी शती ई० मे बनी बान्धोगढ़ स्थित बौद्ध आवास-गुफाये और गुप्त काल मे निर्मित परन्तु १०६० ई० मे अन्तिम रूप प्राप्त कालिंजर स्थित नीलकण्ठ मन्दिर के नाम से विख्यात शिवालय को गिना जा सकता है। ईट चूने से बने मन्दिरो के विशिष्ट उदाहरण गढ़वा का वैष्णव मन्दिर और बड़ा कोटरा मे एवं मऊ के निकट स्थित शैव मन्दिर है जो सभी १२वीं-१३वीं शती ई० में निर्मित हैं।

मूर्त कला के अवशेषो मे चमकीली पालिश वाले अशोक के पाषाण स्तम्भ प्राचीनतम है। जैनों के आयाग-पट्ट, आसनपट्ट और मूर्तियां बौद्धों के आर्यपट्ट, बोधिसत्व एवं बुद्ध की मूर्तियाँ तथा भारहुत से प्राप्त प्रस्तरांकन, शिवलिंग और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ, विष्णु और उसके अवतारो की मूर्तियां, त्रिदेवो की मूर्तियाँ और कृष्ण की लीलाओ का प्रस्तरांकन इस प्रदेश मे प्राप्त मूर्तिकला के विविध उदाहरण प्रस्तुत करते है।

विशेष रूप से कोसम और भीटा से लगभग १००० ई० पूर्व मे १००० ई० के बीच निर्मित बहुत सी मृण्मूर्तियाँ मिली है जिनमे कुछ तो स्वतः पूर्ण मूर्तियाँ हैं और कुछ साँचे द्वारा बनाये गये पट्ट है। जिस पर विविध आकृतियाँ अंकित है। यह मृण्मूर्तिया सामाजिक जीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करती है। इनसे मिट्टी मे मूर्ति ढालने की कला के क्रमिक विकास का भी परिचय मिलता है कि किस प्रकार प्रारम्भ मे मूर्तियाँ हाथ से बनाई जाती थीं, फिर साँचे से बनाई जाने लगी और अन्ततः हस्त-कौशल द्वारा स्वाभाविक गढ़न प्रदान की जाने लगी।

अब तक प्राप्त वस्तुओं मे ऐसा प्रतीत होता है कि आभूषण तांबे, काँसे, सोने, शंख सीपी, हाथी दांत, शीशे, मूल्यवान पाषाणो और रत्नो के बनाये जाते थे परन्तु चाँदी के नहीं बनाए जाते थे। विभिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनो ही करते थे। मनको (गुरियो) का कितनी ही प्रकार से प्रयोग किया जाता था और वे शंख सीपी, शीशे, मूंगों कार्नेलियन, टोपाज, अगेट (सुलेमानी पत्थर), वैडूर्य (नीलम) और सोने के बनाए जाते थे तथा कभी-कभी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उन्हें चित्रित भी किया जाता था।

जो सिक्के इस प्रदेश मे प्राप्त हुए हैं उनमें चादी व ताँबे के पांच-मार्क सिक्के, बिना अभिलेख के ढले हुए सिक्के, नगर-निगम या श्रेणी के नाम से अंकित सिक्के तथा राजा के नाम से अंकित सिक्के सम्मिलित है। अशोक-पश्चात् व कनिष्क-पूर्व तथा कनिष्क-पश्चात् व समुद्रगुप्त-पूर्व युग के अधिकाश राजाओ का नाम मात्र इन्हीं सिक्कों के माध्यम से ज्ञात हुआ है।

मिट्टी, जवाहिरातों, धातु और हाथी दांत की बनी बहुत सी मुद्राएं भी मिली हैं जिन पर प्राय: मुद्रा के स्वामी का नाम उत्कीर्ण है और कुछ चिह्न भी अंकित हैं। ये मुद्राए लगभग तीसरी शती ई० पू० से १०वी शती ई० तक की हैं और इनमे धार्मिक, नैगमिक, राजकीय एवं निजी, सभी प्रकार की मुद्राएं सम्मिलित हैं जो राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं।

लगभग २६० ई० पूर्व से १२४८ ई० तक के एक सौ से भी अधिक अभिलेख यहां मिले है जो वत्स के ही इतिहास की नही वरन् सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की कितनी ही गुत्थियो को सुलझाने मे सहायता प्रदान करते है। अशोक के अहरौरा से प्राप्त अभिलेख ने उसके प्रथम लघु शिलालेख का सही आशय स्पष्ट करने मे सहायता दी है। उसके सघ भेद अभिलेख ने उसकी बौद्ध धर्म को सरक्षण प्रदान करने से सम्बन्धित साहित्यिक अनुश्रुतियो की पुष्टि की है। आषाढ़ सेन के पभोसा की गुफा में उत्कीर्ण लेखो ने अशोक-पश्चात् उत्तरी भारत के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। राजमित्र का यूप-अभिलेख कौशाम्बी मे सम्पन्न पुरुषमेध यज्ञ के होने की सूचना देता है। समुद्रगुप्त की इलाहाबाद-प्रशस्ति ही उसके कार्यकलापों का एकमात्र पूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है। मुसलमान इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित राजा बलिक-वो-मलिक को चीन्हने के लिए उद्दल देवी का अभिलेख एक अत्यन्त वाछनीय सूत्र प्रस्तुत करता है। अन्त में लक्ष्मण का अभिलेख गाहडवाल सवत् के प्रयोग का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

अपनी विविध प्रचुर सामग्री, भौगोलिक अवस्थिति से उद्भूत प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास के निर्माण मे अपनी आधारिक स्थिति, भारतीय धर्मों के विकास मे अपने योगदान, और सभ्यता के प्रारम्भ से ही हमारे शोधाधीन समय के अन्तिम दिनों तक भारतीय जन-जीवन को समृद्ध करने के लिए अपने निरन्तर प्रयास के कारण समग्र दृष्टि से देखने पर भारतीय इतिहास मे वत्स जनपद का अपना एक विशिष्ट एव स्पृहणीय स्थान है।

—ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में

प्रकाशक का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादकों का नाम	डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर, डा० प्रेमसागर, बडौत यशपाल जैन, दिल्ली, परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी सस्था	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागज, दिल्ली

मै प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-७१ ह० प्रेमचन्द

जैन दर्शन में आत्म-द्रव्य विचार

श्री मुक्ताप्रसाद जैनदर्शनाचार्य

मनुष्य की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही दुःख विनाश के प्रति उन्मुख रही है। इसलिए दृश्यमान् समस्त जगत् एवं तज्जन्य पर्यायों के प्राप्त सुख एवं दुःखों के आत्यन्तिक विनाश के उपरान्त परमश्रेय की प्राप्ति के उद्देश्य से विभिन्न ऋषियों ने अपने अपने दृष्टिकोणों से तत्तद्दर्शनो का निर्माण किया है। इन अनिश्चित सख्या वाले विभिन्न दर्शनों को प्रमुख दो आस्तिक एव नास्तिक श्रेणियो मे बाँटा जाता है। अभी तक के सिद्धांतो पर पर्यालोचन करने पर इसका अनौचित्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। क्योकि एक ओर तो उपनिषदो और गीता जैसे दार्शनिक ग्रन्थों को, जो कि वेदों के लौकिकत्व का प्रबल समर्थन करते है, तथा साख्य और वैशेषिक जैसे निरीश्वरवादियो को भी आस्तिक श्रेणी मे रखा गया है, जबकि दूसरी ओर परमाध्यात्मिक जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक श्रेणी में रखा गया है। इस सन्दर्भ मे प्रमुख सिद्धातो का समालोचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे विस्तार से किया गया है। कतिपय भारतीय एव पाश्चात्य विद्वान जैन दर्शन का प्रतिक्रियात्मक रूप मे मानते चले आ रहे है जब कि अनेक भारतीयों एवं पाश्चात्य विद्वानो ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है कि महावीर भगवान ने प्रतिक्रियात्मक रूप मे जैन दर्शन की स्थापना नही की, अपितु उन्होंने उसी प्राचीन दर्शन (एव धर्म) का प्रचार एव प्रसार किया है, जो कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के द्वारा प्रचारित एव प्रसारित किया गया था। इस प्रकार यह धर्म पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर (तेईसवे तीर्थङ्कर) से भी पूर्ववर्ती कई तीर्थङ्करों द्वारा विकास को प्राप्त होता रहा था। वस्तुतः इस धर्म के तथा दर्शन के संस्थापक के रूप में आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का होना केवल जैन शास्त्रों से ही नहीं बल्कि जैन धर्मेतर ग्रन्थों के भी सन्दर्भों एव विश्लेषणो द्वारा स्पष्टतः सिद्ध होता है। इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री प्रबंध में दी गयी है।

जीव को अपना अभीष्ट (मोक्ष) प्राप्त करने के लिए यह परमावश्यक हो जाता है कि उसे इस संसार की सृष्टि के मूल कारणभूत द्रव्यों का वास्तविक ज्ञान हो। इसी उद्देश्य से जैन दर्शन ने वस्तु के जो अनन्त धर्म माने हैं, वस्तुतः इनके दर्शन (साक्षात्कार) के अभाव मे इन द्रव्यों का स्वरूप सर्वथा अस्पष्ट रह जाता है। विज्ञान ने भौतिक जगत के सम्बन्ध मे जो कुछ भी जानकारियाँ देना प्रारम्भ किया है, चाहे वह अभी अपूर्ण ही क्यों न हों, किन्तु उनसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हम अभी तक जिस द्रव्य को 'एक रूप' मानते थे और यह सोचते थे कि इसका विभाजन असम्भव है, इसलिए इसके एकाधिक रूप नही हो सकते, यह धारणा एक ही द्रव्य के अन्य अनेक स्वरूपो एवं भेदों को प्रकट करके जैन दर्शन की उन मान्यताओं का प्रबल समर्थन कर दिया है जिनमे स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य सामान्य विशेष स्वरूप वाला, सद्रूप एव असद्रूप एकानेकात्मक, अनन्तधर्मात्मक (भावाभावात्मक), नित्यानित्यामक तथा भेदाभेदात्मक आदि अनेक स्वरूपो से प्रतिक्षण सम्बन्धित रहता है।

आधुनिक विज्ञान ने जैन दर्शन के द्रव्यो के निर्धारण के औचित्य को सिद्ध करने के लिए भी अपने आविष्कार 'ईथर' द्रव्य के द्वारा धर्मद्रव्य की सार्थकता का समर्थन कर दिया है। ईथर और धर्मद्रव्य सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक और जैन दार्शनिको के निर्णयात्मक विश्लेषण के स्वरूप को देखने पर ऐसा लगता है कि यह वही 'ईथर' द्रव्य है जो कि सहस्रों वर्ष पूर्व जैन दार्शनिको ने धर्मद्रव्य

† वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की विद्यावारिधि (Ph. D.) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सक्षिप्त सार।

माना था। आधुनिक विज्ञान ने जैन दर्शन द्वारा स्वीकृत शब्द की पौद्गलिकता (पार्थिवस्वरूप) को जिस हद तक अपने भौतिक यन्त्रों द्वारा शब्द को संगृहीत करके पुष्ट किया है उसके लिए जैन दार्शनिको को उपकृत समझना चाहिए। इस प्रकार गति के माध्यम के रूप मे एक नवीन द्रव्य धर्म की कल्पना, जो कि अन्य दार्शनिकों के लिए अभी तक दुखबोध बनी हुई है तथा शब्द की पौद्गलिकता जिसे अन्य दार्शनिक स्वीकार करना नहीं चाहते। जैन दार्शनिक सिद्धात, जो कि कालद्रव्य की वर्तना के बारे मे जैन दार्शनिको ने स्वीकृत करते समय निर्धारित किया था कि 'काल के विभाजन का व्यवहार मनुष्य क्षेत्र से बाहर के क्षेत्रों तथा अन्य लोकों में मनुष्य क्षेत्र के व्यवहार के आधार पर ही होता है' का प्रबल प्रमाण रूस और अमेरिका द्वारा प्रेषित 'लूना' तथा 'अपोलो' नामक चन्द्रयानों के कार्यक्रमो के काल-निर्धारण ने प्रतिपादित कर दिया है। द्रव्यो के विवेचन के इसी प्रसङ्ग मे अन्य दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित द्रव्यों का जैन दार्शनिक द्रव्यों मे अन्तर्भाव का निरूपण करते हुए अव्यवावयवियो, गुणपर्यायो के पृथक्-पृथक् मानने के सिद्धांतों का खण्डन तथा गुणों को भी स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे मानने की युक्तियों का उल्लेख भी स्पष्टत: कर दिया है।

जैन दर्शन के प्राणभूत 'स्याद्वाद' का विश्लेषण द्रव्यो के ज्ञान का अत्यावश्यक अग है। इसके समझे बिना, इसे स्वीकार किए बिना द्रव्यों की अनन्त धर्मात्मकता बुद्धि से परे ही रहती है। वास्तव मे जिस सिद्धात को हम अपने दैनिक व्यवहार मे कभी भी असंगत नही मानते है, हमे इस बात पर कभी भी आपत्ति नही होती है कि एक व्यक्ति जिसे अपना पिता समझता ही नही बल्कि अपने जीवन भर के तमाम आचरणों से सिद्ध करता है कि यह मेरा पिता है, उसी व्यक्ति को दूसरे लोग भाई, चाचा, मामा, साला, बहनोई सिद्ध करने मे अपना जीवन तक बाजी पर लगा देते है। इसी सिद्धात को मानने के लिए जब किसी विद्वान् के सामने पदार्थों को माध्यम बनाया जाता है तो वे क्यो हिचकिचाते है, समझ मे नही आता। जहाँ तक इसकी वैज्ञानिकता का प्रश्न है, आज बीसवी शताब्दी की विज्ञान को जो प्रमुख देन मानी जाती है वह है 'अपेक्षावाद' का सिद्धांत। यह सिद्धांत भी एक तरह से 'स्याद्वाद' का ही विज्ञान के माध्यम मे प्रस्तुत दूसरा रूप ही है और कुछ नही। इस सिद्धात की सरलता एव कठिनता के विश्लेषण के साथ इसके ज्ञान के द्वारो—सात नयों का भी विवेचन किया गया है जिसमे यह स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न स्वभाव वाले ये सातो नय यदि परस्पर निरपेक्ष हैं तो वे मिथ्या होने के कारण 'स्याद्वाद' के स्वरूप के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने मे सर्वथा असमर्थ रहते है। किन्तु जब यही परस्पर सापेक्ष रहते है तो सम्यक स्वरूप प्राप्त करके वस्तु के अनन्त धर्मों के व्यवस्थापक स्याद्वाद के बोधक हो जाते है। इस प्रकार जैन दर्शन मे आधुनिक विज्ञान के इस सिद्धात की भी चरितार्थता प्राप्त हो जाती है कि—'दो ऋण' मिलकर 'धन' बन जाते है अर्थात् दो निगेटिवों के सयोग को ही पोजीटिव माना गया है'। इसी प्रकार इन पृथक्-पृथक् मिथ्या नयो का (निरपेक्षता का) सयोग सापेक्षता (सम्यकत्व) का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

'आत्मा' का विवेचन शोध प्रबंध के तीसरे अध्याय से प्रारम्भ है, जो कि उपसंहार तक चलता है। इस विवेचन में जैन दर्शन सम्मत 'जीव' (ससारावस्था मे स्थित) तथा 'आत्मा' (सासारिक बन्धनो से रहित, विशुद्ध चैतन्यशक्ति) की व्युत्पत्ति मे आत्मा को ज्ञान शक्ति वाला (अतति = गच्छति इति आत्मा) तथा जीव को दश प्राणों से युक्त जीवन क्रिया वाला (दशभि: प्राणै सह योऽजीवन, जीवति, जीविष्यति च य सः जीवः) माना गया है। यहाँ पर विशेष स्मरणीय यह है कि 'प्राण' जैन दार्शनिको ने जीव के ही माने है, न कि आत्मा के। इन्ही प्राणो से किसी जीव को रहित कर देना 'हिंसा' है। आत्मा को प्राय. सभी दार्शनिक अछेद्य, अभेद्य, अमर मानते है इसलिए आत्मा का मरण तो कथमपि सम्भव नही होता। इस जीव का लक्षण जैन दार्शनिको ने 'देखने और जानने का स्वभाव' (उपयोग वाला) माना है। इसलिए जीव स्वभावतः जगत के प्रत्येक पदार्थ को देखते और जानते हुए जब उसमे रागात्मक प्रवृत्ति करने लगता है, तो उसका शुद्ध स्वरूप विकृत होने लगता है। और इसके साथ जब उसकी प्रवृत्ति मे नैरन्तर्य आ जाता है, तो उसकी इसी परिणति को विभाव परिणति कहा जाता है।

इस प्रकार हम स्वभाव परिणति वाले शुद्ध आत्मा को जब विभावप रिणति करते हुए देखते है, तभी मूर्त्त पुद्गलो से संश्लिष्ट होने के कारण आत्मा को 'मूर्त्त' भी कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः यह आत्मा अपने शुद्धरूप मे इन्द्रियों के माध्यम से न तो किसी पदार्थ को स्वयं ग्रहण करता है (अतीन्द्रिय-स्वभावात्) और न ही दूसरे जीव इसे इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण कर सकते है इसलिए इसको 'अलिङ्ग ग्रहणम्' भी कहा गया है। सांसारिक प्रवृत्ति मे सलग्न जीव अपने पुद्गल कर्मो का कर्त्ता होता है क्योंकि परिणाम और परिणामी मे अभेद मानने से जीव की समस्त परिणाम रूप क्रियाओं को जीव की ही क्रिया के रूप में मानना पडता है किन्तु जब इसी परिणाम को शुद्ध दृष्टि से देखा जाता है तो जीव इन समस्त परिणामो-क्रियाओका कर्त्ता सिद्ध नही होता है जीवको इसी प्रकार भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वरूप माना गया है। आत्मा के शरीर प्रमाण को अन्य दर्शनों से पृथक रूप मे मानते हुए जैन दार्शनिको ने स्पष्टतया प्रतिपादित कर दिया है कि आत्मा मे एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जिससे वह अपने प्रदेशो के यथावसर सकोच एवं विस्तार मे पूर्णतया समर्थ है। यही कारण है वह चीटी जैसे लघु शरीर से लेकर हाथी जैसे दीर्घ शरीर तक मे प्रविष्ट होकर अपने को सुस्थित रखता है। जब हम इसी सिद्धान्त के आधार पर दूसरे (जैनेतर) ग्रन्थो पर भी दृष्टिपात करते है तो पाते है कि महाभारत के श्री कृष्ण ने अपना विराट् स्वरूप जब अर्जुन को दिखलाया, तथा रामायण मे सुरसा राक्षसी और रामभक्त हनुमान ने अपने अपने शरीरों के विस्तार किए है तो उनके उन विस्तृत अङ्गो मे भी तो उसी तरह की चेतनशक्ति का विवरण दिया गया है जैसा कि उनके विस्तार से पूर्वके अङ्गो मे थी। यदि आत्मा मे उपसहार और प्रसर्पण की शक्ति न मानी जाये तो उन विस्तृत अङ्गोका क्या स्वरूप होगा? विचारणीय है! किन्तु कुछ अवसरो (वेदना-कषाय-विक्रिया आदि) मे आत्मा को देह प्रमाण नही माना गया है। क्योंकि इस अवस्था मे आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर भी निकलकर जाते है। इसी आत्मा को संवित्ति समुत्पन्न-केवलावस्था मे व्यवहार से (ज्ञान की अपेक्षा से) लोक व्यापक भी माना है। इसी तरह समाधिकाल में पञ्चेन्द्रिय और मन के विकल्प से रहित होने के कारण आत्मा को 'जड़' भी माना गया है। यही आत्मा अपनी जगत्प्रवृतिमें उलझ जाने के कारण ससरण करता हुआ अनेक जन्म धारण करता हुआ एक देह से दूसरे देह मे प्रविष्ट होता रहता है। इसी ससरण से युक्त आत्मा को 'संसारी' की संज्ञा दी गयी है। यह जब तक जगत् के प्रत्येक पदार्थ को 'अपना' समझता रहता है तब तक इसे जैन दार्शनिकों के अनुसार 'बहिरात्मा' कहा जाता है, जब यही आत्मा अपनी सासारिक दृष्टि को बदलकर 'सम्यग्दृष्टि' स्वरूप को प्राप्त करता है तब इसे 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। तथा अपने इसी वैराग्य को प्रगतिशील रहते हुए जब समस्त घातिकर्मो का विनाश तथा जगत् के समस्त पदार्थों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब इसे 'परमात्मा' (सकल) कहते है और इसके बाद घाति तथा अघाति सभी कर्मों के विनाशोपरान्त शरीर रहित होकर सिद्धत्व को प्राप्त करता है, तब इसे 'परमात्मा' (विकल) कहते है इस अवस्था को प्राप्त होने पर ही जीव का 'ऊर्ध्वगति स्वभाव' सार्थक होता है।

जन्म-मरणादि अवस्थाओं मे ससरण करता हुआ जीव, अनेक प्रकार के कर्मों के करने से विभिन्न प्रकार के जन्म मरणादि के आश्रयभूत शरीरों को प्राप्त करता हुआ अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों मे जन्म ग्रहण करता है। इन्ही योनियो के आधार पर सासारिक जीव को चार श्रेणियो—देव, मनुष्य, नारक एवं तिर्यञ्च—मे विभाजित करके, जैन दार्शनिको ने एक पुष्ट सिद्धान्त स्थापित कर दिया है कि सत्कर्मो (पुण्यो) से सम्प्राप्त देवयोनि ही हमारा चरम लक्ष्य नही है जैसा कि कुछ वैदिक दर्शन मानते है। बल्कि वह भी सासारिक जीवो की एक उच्च या श्रेष्ठ (अपेक्षाकृत) श्रेणी ही है। इन चारो ही प्रमुख विभागों के विश्लेषण के प्रसङ्ग मे प्रत्येक विश्लेषण की प्रमुख विशेषताओं का भी उल्लेख सूक्ष्मरूपेण किया गया है। जैसे देवों के विभाजन में उनकी उन समस्त श्रेणियों का मनुष्य क्षेत्र की श्रेणियो (राजा से लेकर सेवको तक की श्रेणियो) की तरह स्पष्ट विवेचन, और उनमे अन्य मनुष्य आदि श्रेणियो की अपेक्षा श्रेष्ठता का कारण नारकियो मे तदितर श्रेणियों की अपेक्षा गर्हता, नीचता एव अशुभता के साथ इनके भी आवास आदि की श्रेणियो का प्रतिपादन, मनुष्यों के विवेचन मे मनुष्य-क्षेत्र मनुष्यों की जातियों आदि का

तथा तिर्यञ्चों में भी इनके प्रमुख विशेषणों के स्पष्टीकरण द्वारा मनुष्य को (जीव को) संसार की उन तमाम दुःखद परिस्थितियों से परिचित कराना आवश्यक समझा जाता है, जिससे कि वह अपने को उनसे सुरक्षित रखता हुआ वास्तविक स्वरूप (परमात्मत्व) की प्राप्ति की ओर उन्मुख हो सके।

जैन दर्शन में अन्य धार्मिक ग्रन्थों की तरह ८४००००० लाख योनियों को प्रतिपादित किया गया है, किन्तु अन्तर यही है कि जैन दार्शनिकों ने इन योनियो मे से प्रत्येक योनि में पैदा होने वाले जीवों का लेखा निश्चित करके रख दिया है, जो अपनी एक विशेषता रखता है। संसार की इन दुःखद अवस्थाओं मे जीव को स्वेच्छा से नही, बल्कि उसके द्वारा अर्जित जगत की पराधीनता से ही भ्रमण करना पड़ता है। इस पारतन्त्र्य के मूल मे जगत के प्रति जीव का राग, द्वेष, मिथ्यात्व, आर्त्त, रौद्र-ध्यान, सकाषयत्व (क्रोध, मान, माया, लोभ-युक्तता) ही कार्य करता है। जिसके कारण एक जन्म से जन्मान्तर प्राप्ति के समय सम्मूर्च्छन-गर्भ और उपपाद जैसे कष्ट-दायक जन्मों को ग्रहण करना है। इम भवान्तर प्राप्ति के समय (जन्म से जन्मान्तर प्राप्ति के पूर्व तक के समय) के मध्य जीव किन-किन श्रेणियो से होकर गुजरता है, किस जन्म मे पहुँचने के लिए जीव को बीच मे कितनी बार 'आहार' ग्रहण करना पड़ता है, किन जन्मो की प्राप्ति के लिए जीव को 'अनाहारक' रहना पडता है, इसका भी विवेचन जैन दार्शनिकों के द्वारा अन्य दर्शनो से विशिष्ट रूप मे सूक्ष्म रीति मे किया है।

जिस प्रकार मदिरा आदि मादक द्रव्यो के सेवन करने वाले की मादकता (मतवालेपन) का कारण मदिरा आदि मादक द्रव्य होते है उसी तरह रागद्वेषादि कषायो द्वारा जीव को भी परिणमनशील होना पड़ता है। चूकि जीव मे रागद्वेषादि से युक्त होने के कारण प्रतिक्षण परिस्पन्द-रूपा क्रिया होती रहती है, इसलिए वह इस क्रिया के परिणाम के रूप मे अनेक प्रकार के कर्मों को अपने मे आस्रवित करता रहता है। जिससे यह कर्मबन्धन के नैरन्तर्य मे जकडता जाता है। इस प्रकार जीव जब-जब रागद्वेषादि से उत्तप्त हो कर हलन-चलन क्रियाओ से युक्त होता है, तब-तब अपने पास की पुद्गलकार्माणवर्गणाओं को उसी तरह अपनी ओर आकृष्ट करता है, जिस तरह अग्नि से उत्तप्त लौह-गोलक पानी में पड़ने पर अपने समीपस्थ जलाणुओं को ग्रहण करता है। इन ग्रहीत कर्मों में से कुछ का उपभोग तो अपने परिणमन काल में ही करता रहता है, शेष कर्म जो कि आत्मा के चतुर्दिक् अपना जाल-सा बना लेते है, संश्लिष्ट हो जाते है, और उन कुछ कर्मों के उपभोग के समय पुन: जीव अपने परि-णमन द्वारा नूतन कर्मों को पूर्ववत् ग्रहण करता रहता है। जिससे यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि यह कर्म परम्परा किसी निर्धारित समय से न तो प्रारम्भ हुई है, और न ही भविष्य में कोई ऐसा समय आ सकता है जबकि जगत् की कार्माणवर्गणाओं का ग्रहीता कोई भी जीव अवशिष्ट न रहे।

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि यह संसार अनादि है, क्योकि इससे प्रतिक्षण अनन्तानन्त जीव अपना बन्ध प्राप्त करते रहते है, जिनका क्रम कभी भी समाप्त होना असम्भव है। दूसरी यह कि प्रत्येक जीव अपने संसार का निर्माण स्वयं करता है, जैसे वह कर्म करता है तदनुकूल ही परिणाम उसको मिलेगा। किन्तु फिर भी यदि जीव चाहे तो वह अपने इस ससरण से स्वयं को बचा सकता है। चूंकि आत्मा स्वभावत: ज्ञान-दर्शन शक्ति युक्त है। और उसे जब अपनी इस शक्ति का आश्रय थोडी सी भी मात्रा मे मिलना आरम्भ हो जाना है, तब उसे यह आभास होने लगता है कि 'मैं' पृथक् हूँ, और मेरे से बधे हुए यह 'कर्म' पृथक् है। इसी लिए मै इनसे मुक्त हो सकता हू। जब जीव अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न प्रारम्भ करता है, तभी जैन दर्शन के इस सिद्धान्त की सार्थकता समझ में आती है कि यह जीव (आत्मा) यद्यपि अनादि काल से ही अशुद्ध रूप वाला है, किन्तु प्रयोगों द्वारा यह शुद्ध भी हो सकता है। इन प्रयोगों द्वारा ही जीव की ज्ञान-दर्शन शक्तियों पर पड़े हुए आवरण धीरे-धीरे हटने लगते है, और यह पुन: अपनी उन शक्तियों को प्राप्त करने लगता है।

यद्यपि जीव और पुद्गल क्रमश: 'चेतन' और 'अचेतन' रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थ है, फिर भी स्वभावतः उन

दोनों का पारस्परिक बन्ध होता है, इसी से यह जगत स्थित है। और इस जगत का कोई भी प्रदेश ऐसा नही है जहाँ पर कि बद्ध जीव न हो, इससे यह भी निश्चित तौर पर मानना पड़ता है कि जीव और पुद्गल चूकि सत्स्वभाव वाले है इसी लिए इन दोनों की बन्ध प्रक्रिया भी सद्रूप है। इस 'बन्ध' का लक्षण जैनदर्शनाचार्यों ने एक-सा नही माना है। उत्तराध्ययन सूत्र की नेमिचन्द्रीय टीका में 'जीव और कर्मों का सश्लेष बन्ध है' माना है, जब कि स्थानाङ्गसूत्र की टीका मे 'जीव के द्वारा स्वभावत: कर्मयोग्य पुद्गलो के ग्रहण' को बन्ध कहा गया है। अभयदेवसूरि ने स्थानाङ्ग की ही टीका मे हथकडी' आदि के बन्धन को 'द्रव्यबन्ध' और कर्मों के बन्धन को 'भावबन्ध' कहते हुए एक नया वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया है। तथा पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका मे कर्मों की और आत्मा का एक-दूसरे के प्रदेशो मे प्रदेश, अवगाहन को 'द्रव्यबन्ध' के रूप में स्वीकार किया है।

कुछ भी हो इन स्वीकृतियो से इतना ही निश्चित हो पाता है कि यह बन्ध अपने प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है क्योंकि अभी तक यह निर्णय नही हो सका है कि जीव पहले उत्पन्न हुआ, या कर्म। जिस तरह बन्ध का लक्षण कई रूपों में मिलता है उसी तरह बन्ध के हेतुभूत कारणो का भी वैभिन्य जैनदार्शनिको का दृष्टिपथ मे अनायास ही आ जाता है। स्थानाङ्गसूत्र मे केवल राग और द्वेष को ही बन्ध हेतुरूप माना है। किन्तु टीकाकार ने यहाँ पर राग से माया और लोभ का तथा द्वेष से क्रोध और मान का ग्रहण किया है। इसी टीका मे आगे 'प्रकृतिबन्ध' और 'प्रदेशबन्ध' के हेतुरूप मे 'योग' को, तथा 'स्थिति' और 'अनुभाग' बन्ध के हेतुरूप मे 'कषाय' को प्रतिपादित किया है। जिससे 'योग' और 'कषाय' ही बन्ध-हेतु ठहराते है। यहीं पर आगे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को बन्धहेतुत्व का निर्देश मिलता है। यहाँ पर 'प्रमाद' का ग्रहण नही किया है जबकि अन्य आगमग्रंथों (भगवतीसूत्र) मे तथा उमास्वामि(ति) ने भी अपने तत्त्वार्थसूत्र मे इसका ग्रहण किया है। इस प्रकार बन्धहेतु के रूप मे कुछ जैन दार्शनिक केवल एक (संश्लेष-जीव और कर्मों का), या दो (राग और द्वेष, या कषाय और योग) कुछ दार्शनिक चार (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग) तथा कुछ दार्शनिक इन्हीं चारों को प्रमाद के साथ बन्ध के पाच हेतुओं के रूप में मानते है। किन्तु यहाँ पर इतना अवश्य स्मरणीय है कि जिन्होंने बन्ध के केवल चार ही हेतुओ को (प्रमाद को छोड़कर) माना है, उन्होने प्रमाद और कषाय को अभेदरूप माना है, इसलिए कर्मप्रकृति' आदि ग्रन्थों मे भी केवल चार ही बन्धुहेतुओ का निर्देश मिलता है। इनमे-जो पदार्थ जिस वास्तविक रूप मे स्थित है उसको उसी रूप मे न स्वीकारना ही 'मिथ्यात्व' है। हिसा अनृत, अस्तेय, अब्रह्म और परिग्रह रूप पाच पापो से विरत न होना 'अविरति' है। 'प्रमाद' के बारे मे पूज्यपाद ने केवल 'कुशलेश्नादा: प्रमाद:' कह कर इति कर दी, जब कि भट्टाकलङ्क ने 'सयम' और धर्मों के प्रति अनुत्साह या अनादर को, तथा उमास्वामि (ति) ने स्मृत्यनवस्थान, योगदुष्प्रणिधान तथा कुशलों मे अनादर को 'प्रमाद' माना है। जीव के बोधादिरूप परिणामो को 'कषाय रूप माना गया है। 'योग' को आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन के रूप मे, तथा काय, वाङ् और मन की प्रवृत्ति के रूप मे भी माना है। इनके अवान्तर भेदो का विश्लेषण, तथा विवेचन प्रसङ्गवशात् कर दिया गया है। इन हेतुओ की विभिन्नता के कारण बन्ध का भी विभिन्नरूपो मे होना स्वाभाविक है। इसलिए इनके द्वारा होने वाले बन्धो को भी जैनाचार्यों ने प्रमुख चार बन्धे—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (अनुभाव), और प्रदेश, के रूप मे बाँटा है। इनमे जीवों से अपने स्वाभावानुसार कर्मो का जो बन्ध होता है वह 'प्रकृतिबन्ध' है, किन्तु प्रत्येक प्रकृतिबन्ध द्वारा बधे हुए कर्म एक निश्चित अवधि तक ही जीव से बधे रहते है, इसी लिए तात्कालिकबन्ध को आचार्यो ने 'स्थितिबन्ध' की संज्ञा दी है। प्रकृतिबन्ध के समय जब कर्म जीव मे बधते हैं तभी 'वे अपने उदयकाल मे कितना तीव्र या मन्द परिणाम देगे', निर्धारित हो जाता है, उस समय का यह अनुभव ही 'अनुभावबन्ध' नाम से स्वीकृत किया है। आत्मा के असंख्य प्रदेशो मे से प्रत्येक प्रदेश मे अनन्तानन्त कर्म वर्गणाओ का सग्रह अर्थात् जीव और कर्मपुद्गलो का एक-दूसरे के प्रदेशों मे अवगाहन पूर्वक स्थित हो जाना 'स्थितबन्ध' है। इन

सभी के विशेष ज्ञान के लिए अवान्तर भेदो (कर्मप्रकृतियों) का विवरण भी दे दिया गया है।

उपर्युक्त बन्धहेतुभूत कर्मों का आस्रव जब तक आत्म-प्रदेशों मे होता रहता है तब तक यह कर्म निरन्तर बंधते रहते है। किन्तु आत्मा स्वभाव मे अतिविशुद्ध और निर्मल है इसलिए जब वह अपने इस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह इन बन्धहेतुओ के विनाशकहेतुओं का आश्रय ग्रहण करने लगता है। और जब उसे यह ज्ञान होता है कि इन-इन कर्मों से बन्धन का आस्रव तब होता है वह उनके निरोध के उपाय अपनाने लगता है इन्ही उपायों को जैनाचार्यों ने 'सवर' की सज्ञा दी है। बन्धहेतुओ के आस्रव को जिस प्रकार 'द्रव्य' और 'भाव' भेद से दो प्रकार का माना है। उसी प्रकार उन-उन मिथ्यादर्शनादि आस्रवो के निरोधो को भी उपर्युक्त दो भेद रूप माना है। जिसमे भवान्तरप्राप्ति रूप ससार का निरोध 'भावसवर' तथा इस निरोध से आने वाले कर्मों का निरोध 'द्रव्यसवर' कहा गया है। इस प्रकार निरोध (सवर) के माध्यम से क्रमपूर्वक जब जीव अपने समस्त आगत कर्मो को भी विनष्ट कर चुकता है तभी वह अपने शुद्ध वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करके 'सिद्ध' कहलाने मे समर्थ होता है। इस बन्धविनाश के पूरे समय को कुछ विशिष्ट श्रेणियो मे विभाजित किया गया है, जिनके नाम से ही उस श्रेणी मे ही स्थित जीव के कितने कर्मो का किस अवधि (सीमा) तक विनाश हो गया है। इसका ज्ञान हो जाता है।

सासारिक जीव की जब से कर्मो के विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब से सिद्धत्व प्राप्ति तक कुल १४ श्रेणियाँ निर्धारित की गई है। वे है—१. मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानम्, २. सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, ३. सम्यङ्-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, ४. असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, ५. सयतासयतगुणस्थानम्, ६. प्रमत्तसयतगुणस्थानम्, ७. अप्रमत्तसयतगुणस्थानम्, ८. अपूर्वकरण (उपशमक्षपक) गुणस्थानम्, ९. अनिवृत्तिकरण (बादरोपशमकक्षपक) गुणस्थानम्, १०. सूक्ष्मसाम्पराय (उपशमक्षपक) गुणस्थानम्, ११. उपशान्तकषाय (वीतरागछद्मस्थ) गुणस्थानम्, १२. क्षीणकषाय (वीतरागछद्मस्थ) गुणस्थानम्, १३. सयोगकेवलिगुणस्थानम्, १४. अयोगकेवलिगुणस्थानम्।

इन गुणस्थानों मे सम्यक्त्व से युक्त (चतुर्थगुणस्थानिक) 'श्रावक', पञ्चमगुणस्थानिक 'देशविरत', षष्ठम और सप्तम स्थानिक 'विरत', तथा अष्टम से एकादश तक के स्थानिक जीव 'उपशमकक्षयक', द्वादशतमस्थानिक 'क्षयक', त्रयोदशतमस्थानिक जिन' (सयोगकेवलि), एवं चतुर्दशतमस्थानिक भी 'जिन' (किन्तु अयोगकेवलि) सज्ञाओ से अभिहित होते है। इस प्रकार कर्मों के क्रमशः उपशम एव क्षय से अन्त मे केवलित्व को प्राप्त कर लेने पर जीव ससार मे तब तक ठहरता है जब तक कि उसको 'निर्वाण' (सासारिक शरीर की निवृत्ति) नहीं प्राप्त होता है। तभी वह 'मोक्ष' प्राप्त करके लोक के अग्र भाग मे स्थित होकर 'जीव' की चरमोत्कर्षता का प्रमाण बनता है।

'मोक्ष' क्या है? इसकी व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिको ने कहा है कि—'जीव का समस्त कर्मो से छुटकारा प्राप्त करना (कृत्स्नकर्मविप्रयोग.) ही 'मोक्ष है। चूँकि आत्मा अनादि काल से ही बन्ध को प्राप्त करते हुए पारतन्त्र्य को अनुभव करता रहता है इसलिए 'मोक्ष' के प्रति उसकी प्रवृत्ति, और 'मोक्ष' की प्राप्ति ही 'मोक्ष' की सत्ता (सद्भाव) को सिद्ध कर देती है। जैनेतर दार्शनिको ने 'मोक्ष प्राप्ति' का कारण 'तत्तत् पदार्थों के ज्ञान' को ही माना है, किन्तु जैनाचार्यों ने इस ज्ञान की परिपक्वता के लिए इससे पूर्व उन-उन पदार्थों के प्रति 'सच्ची श्रद्धा' (सम्यग्दर्शन) तथा दर्शनपूर्वक होने वाले ज्ञान की चरितार्थता के लिए ज्ञानपूर्वक आचरण' (सम्यक्चारित्र) को भी मोक्षप्राप्ति के लिए परमावश्यक माना है। इस प्रकार इन तीनो की चरमपरिणति का सयुक्तरूप ही मोक्षमार्ग के रूप मे मानकर अन्य दार्शनिको के ज्ञान मात्र को मोक्षमार्ग मानने की अपूर्ण पद्धति को पूर्णता प्रदान करने का श्रेय इसी दर्शन को है। 'मोक्षमार्ग' के प्रमुख तीन क्रम २९ जैनागमो मे पाए जाते है जिनका विशेष विवरण यथाप्रसङ्ग प्रबन्ध मे प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही जब मोक्ष के स्वरूप का विवेचन जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया तो उन्होने इन बातो का स्पष्टतः खण्डन किया है कि मोक्ष मे 'दीपक के निर्वाण की तरह आत्मा का भी

निर्वाण (समाप्ति) हो जाता है', या 'ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छेद हो जाता है।' बल्कि उन्होने यह स्पष्ट किया है कि मोक्ष में न तो 'आत्मा' (जीव) का ही विनाश होता है और न ही कर्म पुदगलों का विनाश होता है, क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य-दृष्टि से नित्य है। इसलिए इनका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। मोक्ष में जो आत्मा के चतुर्दिक कर्मपुद्गल बधे हुए (सश्लिष्ट) थे, उनकी स्थिति आत्मा के समीप से सर्वथा समाप्त हो जाती है। इसीलिए आत्मा पुनः अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष का सरल अर्थ है—आत्मा और कर्मपुद्गलो का जो सम्मिलित रूप (जीव) था उसमे से कर्मपुद्गल पृथक् हो गए और आत्मा पृथक् हो गया। यही आत्मा की स्वतन्त्रता, है, यही कृत्स्नकर्मो का विप्रयोग है जोकि मोक्ष के लक्षण रूप मे माना गया है। इस प्रकार यह जीव पदार्थो के यथावस्थित स्वरूप के प्रति श्रद्धालु एवं जिज्ञासु होता हुआ उनके ज्ञानानुरूप अपना आचरण करके ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। किसी भी एक के अभाव में यह सम्भव नही होता। दूसरे शब्दों मे हम इस बन्ध व मोक्ष को (कृत्स्नकर्म विप्रयोग को) 'आत्मा के अपने गुणो के साक्षात्कार' रूप मे मान सकते है। ऐसी आत्माओ को भी जैनाचार्यों ने पाच स्वरूपो मे माना है। इन पाचो रूपो (साधु, उपाध्याय, आचार्य, सिद्ध एवं अर्हन्तो) मे चित्त का नैर्मल्य, शान्तत्व, शिवत्व और निरञ्जनत्व स्वभावतः रहता है। यही परमात्मा के गुण प्रायः सभी दार्शनिक मानते है।

जैन दर्शन के आत्म-सम्बन्धी विचारो की जब हम अन्य दर्शनों से तुलना करते है तो ज्ञात होता है कि—चार्वाक केवल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रहकर पुत्र, धन, देह, इन्द्रियादि रूपो मे ही आत्मा को खोजता हुआ भटकता रहता है और बौद्धो की बुद्धि मे यही निश्चित न हो सका कि वे आत्मा को माने या न मानें। इसीलिए गौतम बुद्ध भी आत्मा के बारे मे कोई निश्चित मत स्थापित नहीं कर सके। वेदों मे वर्णित आत्मा का स्वरूप कभी एकेश्वरवाद में, तो कभी बहुदेववाद मे निश्चित किया जाता रहा है। किन्तु कुछ स्थलों पर आत्मा का वैसा ही चित्र (स्वरूप) प्रगट किया हुआ मिलता है जैसा कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का प्राप्त होता है। उपनिषदों में आत्मा के विभिन्न रूपों के सूक्ष्म विश्लेषण के माध्यम से आत्मा और जगत् दोनों के ज्ञान को आवश्यक बतला कर अनेकता में एकता के समन्वय का (जीवन की विभिन्न धाराओं के मोक्ष मे विलय का) सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

नैयायिकों ने आत्मा को मोक्ष में भी मन के साथ 'स्वरूप योग्यता' से युक्त माना है जिससे यदि वहां पर भी किसी तरह वे आवश्यक साधन आत्मा को प्राप्त हो जाएँ जो जीवात्मा ससार मे प्राप्त करता रहता है, तो इन दोनो मे कोई भी अन्तर न रह जाय। इसी प्रकार साख्य का पुरुष भी विवेक बुद्धि (भेद-बुद्धि) को प्राप्त करके कैवल्य को प्राप्त करता है। यही अशेष दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है। किन्तु कैवल्य प्राप्ति के बाद भी उसको प्रकृति का द्रष्टा मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि उसको सत्वगुण से वहाँ पर भी पृथकत्व प्राप्त नही हुआ। अन्यथा वह प्रकृति का द्रष्टा नही हो सकेगा। मीमासक का आत्मा एक तो जड़रूप है, उस पर भी इनके यहाँ स्वर्ग से भिन्न मोक्ष नही है। इससे मीमांसकों का विवेचन पारलौकिक न होकर ऐहलौकिक ही रह जाता है और अद्वैत वेदान्त मे तो माया, जगत् के संश्लेष से कोई फर्क ही नही पड़ता, क्योकि सभी ब्रह्ममय है। यदि ऐसा वास्तव मे हो तो फिर यह कैसे समझ मे आ सकता है कि—ब्रह्मरूप जीवात्मा से ब्रह्मरूप माया एवं जगत् का अभाव (विनाश) हो सकता है? क्योकि इस अभाव से तो स्वय ब्रह्म के स्वरूप के ही अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि ये दर्शन आत्मा एव मोक्ष के स्वरूप के आंशिक विवेचक ही है, इनमे पूर्णता किसी में भी दिखलाई नहीं पड़ती। जबकि जैन दर्शन जीव की प्रारम्भिक अवस्था (सांसारिक अवस्था) से मुक्ति पर्यन्त तक के प्रत्येक पहलू का सूक्ष्मतम एवं विशद तथा व्यवस्थित विवेचन करके यह दिखलाता है कि एक संसारी जीव (चाहे वह किसी भी श्रेणी में स्थित हो) किस तरह परमात्मत्व (अपने वास्तविक स्वरूप) को प्राप्त कर सकता है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों मे इस तरह कह सकते हैं कि—"जैनदर्शन आत्मा के द्वारा परमात्मत्व को प्राप्त करने तक की यात्रा का विवेचक है।'

—संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

जैनॉलॉजिकल रिसर्च सोसाइटी के तत्त्वावधान में आयोजित—

राजस्थान सेमिनार

संयोजक—प्रो० प्रेम सुमन जैन; प्रकाश परिमल, बीकानेर

२६, ३० नवम्बर '७० को बीकानेर में राजस्थान इतिहास कांग्रेस के चतुर्थ अधिवेशन के अवसर पर जैनॉलॉजिकल रिसर्च सोसायटी के तत्त्वावधान में स्थानीय सदस्यों द्वारा १ दिसम्बर १६७० को एकदिवसीय राजस्थान सेमिनार का आयोजन किया गया। लगभग ४० प्रतिनिधियों ने सेमिनार मे भाग लिया। उनमें प्रमुख थे—डॉ० दशरथ शर्मा जोधपुर, डॉ० गोपीनाथ शर्मा जयपुर, श्री बलवन्त सिंह मेहता उदयपुर, डॉ० जगतनारायण आसोपा जयपुर, डॉ० रामचन्द्र राय, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डॉ गोपीचन्द वर्मा, श्री रामवल्लभ सोमानी, डॉ० वशिष्ठ, कु. फूलकुवर जैन, कु. सुनीता जोहरी, सत्यनारायण पारीख, कु. पद्मजा, डॉ० मनोहर शर्मा, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री ज्ञान भारिल्ल, श्री देवकुमार जैन, प्रो० विजयकुमार जैन, श्री प्रीतमचन्द जैन, डॉ० त्रिलोकचन्द जैन, श्रीमती डॉ० किरण जैन, श्री प्रकाश परिमल, श्री रमेश जैन, श्री ज्ञानचन्द सुराना, श्री नरेन्द्रसिंह कोठारी, श्री सुमेरचन्द जैन, श्री शान्तिलाल जैन, डॉ० महावीर राज गेलड़ा, श्री सत्यनारायण स्वामी, श्री रामप्रसाद जैन, डॉ० बी० के० जैन, श्री जी० एस० जैन तथा श्री महेन्द्रकुमार जैन आदि।

उद्घाटन समारोह :

सेमिनार का उद्घाटन समारोह, १ दिसम्बर १६७० को प्रातः १०½ बजे श्री मगनमल कोचर द्वारा णमोकार मन्त्र एवं सरस्वती वन्दना से प्रारम्भ हुआ। स्थानीय जैन समाज के प्रमुख व्यापारी एवं जैनकला प्रेमी श्री मोतीचन्द्र खजाची ने सेमिनार में सम्मिलित सभी प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए कहा कि सरकार को जैन कला अवशेषों की सुरक्षा मे रुचि लेना चाहिए। क्यों कि जैन कला और दर्शन ने भारतीय कला और दर्शन को जीवित रखा है। सेमिनार का उद्घाटन डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली के द्वारा होना निश्चित था। किन्तु उनके न आ पाने से मेवाड़ इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् एवं राजस्थान सरकार के भूतपूर्व मंत्री श्री बलवन्तसिंह मेहता ने उद्घाटन किया। आपने कहा कि राजस्थान में जैन विद्याओं की सामग्री पग-पग पर बिखरी पड़ी है। उसकी पूरी सुरक्षा होनी चाहिए। क्योंकि यदि राजस्थान के इतिहास मे से जैन संस्कृति के सहयोग को निकाल दिया जाय तो वह फीका पड़ जाएगा। जैन विद्याओ के, अध्ययन-अनुसन्धान को यदि पर्याप्त गति यहाँ मिली तो अनेक संघर्ष स्वयमेव समाप्त हो सकते हैं। जैन समाज के कार्यकर्ताओं को अधिक सजग रहने की आवश्यकता है कि उनके शास्त्रो एवं मूर्तियों का व्यापार न हो पाये।

सेमिनार के संयोजक प्रो० प्रेम सुमन जैन ने जैनॉलॉजिकल रिसर्च सोसायटी का प्रगति विवरण प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि सोसायटी की स्थापना जैन विद्याओं के उच्चस्तरीय अध्ययन-अनुसंधान को सही दिशा प्रदान करने एवं विद्वानों में सहयोग-सम्पर्क बनाये रखने के लिए हुई है। सोसायटी शीघ्र ही एक पत्रिका प्रकाशित कर रही है, जिसमें जैन विद्याओं के अध्ययन अनुसंधान का अपटूडेट विवरण प्रस्तुत किया जायगा। मई १६७१ में दिल्ली में समर इन्स्टीट्यूट ऑफ जैनॉलाजिकल स्टडीज का आयोजन करने का विचार किया जा रहा है।

उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष डॉ० गोपीनाथ शर्मा, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ने सेमिनार के आयोजन का स्वागत करते हुए कहा—राजस्थान के प्रामाणिक इतिहास निर्माण के लिए यह एक शुभ प्रयास है। राजस्थान की संस्कृति को जैन-आचार्यों ने अपने साहित्य में सुरक्षित रखा है। उन्होंने प्रेस के अभाव को अपनी कार्य क्षमता के कारण अनुभव नहीं होने दिया। उनके साहित्य में केवल जैनधर्म के सिद्धांत ही वर्णित नहीं है, अपितु जिन बातों से जन कल्याण हो सकता था उन सबको उन्होंने अपने साहित्य में स्थान दिया है। जैनाचार्यों की भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को यह अमूल्य देन है। राजस्थान में जैन विद्याओं

के अध्ययन को गति मिले इसमें मेरा पूरा सहयोग रहेगा। मैं चाहता हूँ कि प्रति वर्ष राजस्थान इतिहास कांग्रेस के साथ यह सेमिनार आयोजित हो ताकि विद्वान् इतिहास अध्ययन में जैन शास्त्रों का उपयोग करने के लिए प्रेरित हों।

प्रथम बैठक :

सेमिनार की प्रथम बैठक के विद्वान् वक्ताओं ने "राजस्थान में जैन विद्याओं का अध्ययन : एक सर्वेक्षण" विषय पर अपने विचार व्यक्त किए। प्रो० नरोत्तम स्वामी ने कहा कि राजस्थान शोध-कर्ताओं के लिए कामधेनु है। बहुमूल्य ग्रन्थों की सुरक्षा में जैनों का विशेष योगदान है। इसका मूल्यांकन होना चाहिए। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर ने सेमिनार की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों को सामग्री के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया डा० रामचन्द्र राय जयपुर ने जैन शिलालेखों एवं मूर्त्तियों के अध्ययन के दौरान घटित अपने संस्मरण सुनाए तथा यह अपील की कि जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान को गति देने के लिए जैन समाज को अपना दृष्टिकोण विशाल करना होगा जैन शिलालेखों के अध्ययन से राजस्थान की जनभाषा एवं लोक संस्कृति का अच्छा अध्ययन हो सकता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक डा० जगतनारायण आसोपा ये राजस्थान मे जैनविद्याओं के अनुसंधान को प्रगति के लिए यह आवश्यक बतलाया कि विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के जानकार विद्वान् रखे जाने चाहिए। इससे शोधार्थियों एवं रुचिशील प्राध्यापको को जैन साहित्य मे कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी। सहयोग भी। टीमवर्क भी प्रारम्भ किया जा सकता है।

प्रथम बैठक के कार्यकारी अध्यक्ष श्री अगरचन्द नाहटा ने विद्वान् वक्ताओं द्वारा उठाई गई समस्याओ पर अपने विचार व्यक्त किए। आपने अपने अनुभव के आधार पर खेद व्यक्त करते हुए कहा कि जिन जैन स्रोतो को मैने ३० वर्ष पूर्व देखा था, आज वे नष्ट हो रहे है। यह स्थिति जैन विद्याओं के अध्ययन के लिए शुभ नही है। सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों तरह के प्रयत्न होना चाहिए। दूसरी बात यह कि राजस्थान के इतिहास लेखन मे ५ स्रोतों का उपयोग बहुत कम हुआ है। अतः पुनः जैन स्रोतों के आधार पर राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास लिखा जाना चाहिए। राजस्थान सेमिनार के आयोजन से मुझे कई आशाए हैं। तदनन्तर सयोजक द्वारा धन्यवाद ज्ञापन के बाद प्रथम बैठक समाप्त हुई।

द्वितीय बैठक :

दोपहर के भोजन के बाद सेमिनार की द्वितीय बैठक ३ बजे प्रारम्भ हुई। अध्यक्ष थे डा० दशरथ शर्मा, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर। इस बैठक मे विचार-विमर्श का प्राधान्य रहा। सर्वप्रथम श्री अगरचन्द नाहटा ने जैन कथा कोश के निर्माण की बात कही। आपने जैन कथा साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उसमें लोकतांत्रिक अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। डा० गोपीचन्द्र वर्मा जयपुर ने कहा कि भारतीय संस्कृति का अध्ययन जैन विद्याओ के बिना एकांगी है। विद्वानों को इसमे स्वयं रुचि और लगन से कार्य करना चाहिए। क्योंकि जैन विद्या का अध्ययन करना किसी समाज विशेष पर अहसान करना नही है। यदि कार्य ठीक होगा तो सुविधा स्वयं मिलेगी। आपने जैनॉलॉजिकल रिसर्च सोसायटी को व्यापक होने की कामना की एव इसका नाम हिन्दी मे रखे जाने का सुझाव दिया। श्री रामवल्लभ सोमानी जयपुर ने जैन स्तम्भ लेखों का उपयोग इतिहास निर्माण के लिए अपरिहार्य है, इस पर बल दिया। श्री दीनदयाल ओझा, बीकानेर ने जैसलमेर जैसे उपेक्षित जैन विद्या के क्षेत्र की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया एवं वहां एक शोध-सस्थान स्थापित करने का सुझाव दिया। डा० महावीरराज गेलड़ा, बीकानेर ने कहा कि जैन विद्याओ पर कार्य करने वालो को सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त होनी चाहिए। तथा जैन-शोध का समाज के लिए भी उपयोग हो तभी प्रचुरता से कार्य हो सकेगा। आपने प्रचार के लिए अग्रेजी माध्यम को अपनाने का सुझाव दिया।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल जयपुर ने अपभ्रंश साहित्य के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किए जाने पर जोर दिया तथा कहा कि हिन्दी और प्राकृत के बीच की कड़ी स्पष्ट होनी चाहिए। तभी लोग जैन विद्याओं के महत्त्व को समझेंगे। विचारकों के अन्त मे पं० विद्याधर जी शास्त्री ने कहा कि इस प्रकार के आयोजन बीकानेर में और पहले

प्रारम्भ हो जाना चाहिए थे। जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान प्रत्येक शोधार्थी को आवश्यक है। जैनदर्शन की महानता ही लोगों से शोध करवा लेगी। चिन्तित होने की जरूरत नहीं है।

अध्यक्षीय भाषण देते हुए डा० दशरथ शर्मा ने जैन कथाग्रन्थों के उद्धरण देते हुए कहा कि जैन साहित्य में वह जन-जीवन चित्रित है जो वास्तव में इतिहास कहलाने योग्य है। इस दृष्टि से जैन विद्याओं का अध्ययन-अनुसंधान आज के युग के लिए अनिवार्य हो गया है। न केवल इतिहास और संस्कृति के ज्ञान के लिए अपितु जीवन में सामञ्जस्य और शान्ति के लिए भी जैन धर्म दर्शन के सिद्धांत अधिक व्यावहारिक हैं। मानव का चारित्रिक विकास जैनधर्म के अनुकरण से अधिक सुलभ है। किन्तु जैन समाज में जो जैनत्व नजर नहीं आ रहा उसके लिए विद्वानों को भी अपना दायित्व समझना होगा। विद्वान् विचारकों ने अभी अपने-अपने विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उनमें से किसी को भी तुरन्त लिया जा सकता है। जैन कथा कोश तैयार करने के साथ-साथ जैनकथाओं के विकास-क्रम का भी अध्ययन होना चाहिए। राजस्थान-सेमिनार के आयोजन से आपने जैन धर्म के संबध में लोगों को इतना सब सुनने समझने का अवसर दिया। मै चाहता हूँ कि युवक कार्यकर्त्ता आगे आकर कुछ ठोस कार्य हाथ मे ले और इन्हे पूरा करें।

निष्कर्ष-ज्ञापन :

द्वितीय बैठक के अन्त मे जे. आर. एस. के स्थानीय सदस्य श्री प्रकाश परिमल, उप-निदेशक सादूल राजस्थानी रिचर्स इन्स्टीट्यूट, ने सेमिनार मे रखे गए विभिन्न सुझावों को संक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया—

१. जैनविद्या के ग्रन्थों की वर्णनात्मक सूचियों का निर्माण किया जाय।
२. प्रत्येक युगके जैन साहित्यका इतिहास लिखा जाय।
३. पुरातत्त्व एवं अभिलेखीय सामग्री की सुरक्षा की व्यवस्था हो।
४. विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्यापन प्रारम्भ हो।
५. अपेक्षित शोध-कार्यकी विषय सूचियां प्रकाशित हों।
६. जैनकथाओंका विकास-क्रमसे अध्ययन किया जाय।
७. राजस्थान की जैन विद्याओं से सम्बन्धित सामग्री का किसी एक संस्थान में संग्रह किया जाय, जहां विद्वान् आकर कार्य कर सके।
८. जैन विद्या पर शोध निबंध पढ़ने वाले विद्वानों को पर्याप्त सुविधाएं जुटाई जाये।
९. जैन स्रोतों के आधार पर राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास लिखा जाय।
१०. प्रति वर्ष राजस्थान इतिहास कांग्रेस के अवसर पर यह राजस्थान-सेमिनार आयोजित किया जाय।

समापन :

अन्त मे सेमिनार के संयोजक प्रो० प्रेम सुमन जैन ने दोनो बैठकों के अध्यक्षो, मुख्य अतिथि तथा प्रतिनिधियों का आभार मानते हुए तथा समाज की सहयोगी संस्थाओं एव सहकर्मियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करते हुए सेमिनार का समापन किया।

स्वागत सहयोग :

बीकानेर में राजस्थान सेमिनार के संयोजन में स्थानीय श्री आत्मानन्द जैन सभा, श्री श्वे० तेरापथी महासभा, श्री जैन साधुमार्गी सघ तथा श्री दिगम्बर जैन समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा। व्यक्तिगत रूप से श्री मोतीचन्द खजाची, श्री रामप्रसाद जैन, श्री ए. के. जैन, आदि का आर्थिक सहयोग भी रहा। जे. आर. एस. के स्थानीय सदस्यो ने तो, दिन-रात एक करके इस सेमिनार को सफल बनाया। सोसायटी इन सब महानुभावों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती है।

जैन विद्याओं के उच्चस्तरीय अध्ययन-अनुसन्धान को गति देने की दिशा में जैनालॉजिकल रिसर्च सोसाइटी के तत्त्वावधान में आयोजित इस सेमिनार से यह प्रेरणा मिलती है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान के जो प्रयत्न चल रहे है, उनमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने, अनुसंधान कार्य को सही दिशा देने तथा अनुसन्धाताओं को विभिन्न प्रकार से सहयोग देने की दृष्टि से इस प्रकार के आयोजन सभी क्षेत्रों में अपेक्षित हैं। ★

साहित्य-समीक्षा

[समीक्षार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां प्राप्त होना आवश्यक है।]

भरत और भारत—ले० डा० प्रेमसागर जैन, प्रकाशक—दि० जैन कालेज प्रबन्ध समिति, बडौत (मेरठ) आकार डिमाई, पृष्ठ संख्या ४८।

भारत यह नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत सम्राट के नाम से प्रसिद्ध हुआ है या दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम से, यह विवाद कुछ समय से चल रहा है। विद्वान् लेखक ने अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, नारद पुराण, स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत और महापुराण के उद्धरणों को देकर यह सिद्ध किया है कि यह क्षेत्र ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है। उक्त सभी ग्रन्थो मे इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है। लिंगपुराण (४७।१९-२३) मे तो यहां तक कहा गया है कि "नाभि ने मरुदेवी पत्नी से अतिशय बुद्धिमान् ऋषभ नामक उस पुत्र को उत्पन्न किया जो सब क्षत्रियों मे श्रेष्ठ था। ऋषभ के सौ पुत्र हुए, जिनमे भरत ज्येष्ठ था। ऋषभ ने भरत का राज्याभिषेक किया और स्वय वैराग्य को प्राप्त होते हुए इन्द्रिय-सर्पो को जीतकर और परमात्मा को अन्तःकरण मे स्थापित कर वस्त्र का परित्याग करते हुए नग्नता को स्वीकार किया। इस प्रकार वे शैव पद (मुक्ति) को प्राप्त हुए। उन्होंने हिमाद्रि—हिमालय—के दक्षिण दिशागत क्षेत्र को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान् इसे भारतवर्ष कहते है।" इनके अतिरिक्त एकनाथी भागवत, सूरसागर, शिवपुराण, मत्स्यपुराण, पुरुदेव चम्पू और वसुदेव हिण्डी आदि के अन्य भी कितने ही प्रमाण दिये गये है।

'वीरभोग्या वसुन्धरा' शीर्षक में क्षत्रिय धर्म पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। अन्त मे अभिधान राजेन्द्र कोश के आधार से ऋषभ के १०० पुत्रो के नामों का भी निर्देश किया गया है। ऋषभ के १९ पुत्रों के नाम श्रीमद्भागवत के अनुसार भी दिए गए हैं। ऐसी उपयोगी पुस्तक के प्रस्तुत करने में लेखक का परिश्रम पूर्णतया सफल हुआ। कागज व छपाई आदि सभी अच्छी हैं।

सुसंगीत जैन पत्रिका—सम्पादक डा० जयकिशन प्रसाद खडेलवाल, आगरा। प्रकाशक श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ, देहली-मेरठ। पृष्ठ संख्या १००। साईज २२ × ३६ = ८। मूल्य २ रुपये।

जैन साहित्य में संगीत अधिक प्रतिष्ठित रहा है, इसकी पोषक प्रस्तुत पत्रिका है। इसके प्रारम्भ में डा० प्रेमसागर का एक लेख है—'संगीत की निष्पत्ति हर शिव से।' इसमें संगीतोपनिषद् सारोद्धार के एक श्लोक (२।४) के आशय से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि संगीत की उत्पत्ति तीर्थङ्कर ऋषभदेव से हुई है। उक्त श्लोक में प्रयुक्त हर (शंकर) शब्द वृषभनाथ का वाचक है। उनके १००८ नामों मे शिव, शंकर व हर आदि है। लेख पठनीय है। 'जैन परिप्रेक्ष्य मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' शीर्षक मे जो भारतेन्दु जी की कविता दी गई है, वह परम अहिंसा धर्म का आचरण करने वालों को 'नास्तिक' कहने एवं 'हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जिनमन्दिरम्' जैसी उक्ति गढ़ने वालों की विवेकहीनता की परिचायक है। श्री मुनि विद्यानन्द जी का 'भाषा एवं शब्द' शीर्षक लेख में महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। अन्य सभी लेख उपयोगी हैं। अन्त में सुप्रभात स्तोत्र, दृष्टाष्टक स्तोत्र, महावीराष्टक, भावाष्टक (मराठी) और कुछ आध्यात्मिक भजन प्रस्तुत किए गए है। मुखपृष्ठ पर जो सरस्वती का चित्र दिया गया है वह अतिशय मनोहर है। पत्रिका की साज-सज्जा व छपाई आदि सभी उत्तम है। इसमें जिन-जिन महानुभावों का सहकार रहा है उनके लिए धन्यवाद देना चाहिए।

दिल्ली जैन डायरेक्टरी—सम्पादक श्री सतीशकुमार जैन आदि। प्रकाशक जैन सभा, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या ३२८। आकार २० × ३० = ८। मूल्य १२ रुपये।

प्रस्तुत डायरेक्टरी का यह संस्करण विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। इसमें जैन मन्दिर, जैन स्थानक, धर्मशाला, पाठशाला, औषधालय, पुस्तकालय आदि अनेक संस्थाओं का परिचय कराया गया है। साथ ही केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों, दिल्ली प्रशासन, नगर निगम एवं बैंक आदि में काम करने वाले जैनों का अलग अलग नाम निर्देश भी किया गया है। इसके अतिरिक्त जैनों द्वारा संचालित अनेक प्रकार के उद्योगों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों के परिचय के साथ ही प्रमुख वैज्ञानिक, साहित्यकार, विद्वान् और समाजसेवियों का भी परिचय कराया गया है। इसके प्रारम्भ में दिया गया 'दिल्ली और जैन समाज : ऐतिहासिक अवलोकन' लेख खोजपूर्ण है। इस प्रकार से इसमें सभी महत्त्वपूर्ण विषय समाविष्ट हैं। यह गुरुतर कार्य सम्पादक के कठिन परिश्रक का सूचक है। इस सर्वोपयोगी प्रकाशन के लिए सम्पादक मण्डल व जैन सभा दिल्ली के अधिकारी आदि अतिशय धन्यवाद के पात्र है। पुस्तक की छपाई आदि भी आकर्षक है।

—बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

लक्षणावली के प्रथम भाग का प्रकाशन

वीर सेवा मंदिर को स्थापना के कुछ ही समय बाद लक्षणावली के निर्माण और प्रकाशन की योजना बनी थी और उसके बाद अनेक विद्वान इसकी तैयारी में लगे रहे। जैन वाङ्मय के तीन सौ से अधिक विशिष्ट ग्रन्थों से जैन पारिभाषिक शब्दों के लक्षणों का मूल संस्कृत, प्राकृत में संकलन, सम्पादन, संयोजन और हिन्दी अनुवाद का श्रम और समय साध्य कार्य अनेक व्यवधानों के बाद भी चलता रहा।

अब तक जो सामग्री संकलित हुई है उसके आधार से बड़े आकार के ३१२ पृष्ठों में स्वर भाग छप चुका है। पुस्तक रूप में इसका शीघ्र प्रकाशन होगा। अपनी प्रति के लिए लिखें—

व्यवस्थापक : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली-६

वीर शासन संघ के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द — ५-००

कसायपाहुड सुत्त : मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... — २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द — ६-००

जैन निबन्ध रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया — ५-००

प्राप्ति स्थान : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली-६

अनेकान्त के तेईसवें वर्ष की पूर्ण विषय-सूची

अगरचन्द नाहटा
मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्व २३।२।८६
जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत के शब्दकोश २३।३।११५
खम्भात के श्वे० भण्डार में प्राप्त तीन दि० ताड़पत्रीय प्रतियाँ २३।४।१४६

आ० ने० उपाध्ये (डा०)
भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य २३।१।३
,, २३।२।५०
,, २३।३।९८
विलासवई कहा : एक परिचयात्मक अध्ययन २३।४।१५३
धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य २३।५-६।१९५

कस्तूरचन्द कासलीवाल (डा०)
जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उनका साहित्य २३।३।१३९
जयपुर के प्रमुख दि० जैन मन्दिर २३।४।१६६

कन्हैयालाल मुनि
कथनी और करनी २३।२।७१

कस्तूरचन्द जैन
भीमपुर का जैन अभिलेख २३।१।१५

के० भुजबली शास्त्री
आराधना समुच्चय का रचना स्थल २३।५-६।२३४

गंगाराम गर्ग (डा०)
ढूंढाड़ी भाषा की जैन रचनाएं २३।१।२२
ढूंढाड़ी कवि ब्रह्मनाथू की रचनाएं २३।३।११९
ज्ञात कवियों की कतिपय हिन्दी रचनाएँ २३।५-६।२४०

गोकुलचन्द्र जैन (डा०)
शान्तिवर्णीकृत प्रमेयकण्ठिका २३।५-६।२२५

गोपीलाल 'अमर'
देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन २३।२।६१

चम्पालाल सिंघई
जैनों में सती प्रथा २३।२।७०

दरबारीलाल कोठिया (डा०)
भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों की देन २३।५-६।२०७

दलसुख मालवणिया
षड्दर्शन समुच्चय का नया संस्करण २३।४।१८२

देवेन्द्रकुमार शास्त्री (डा०)
अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विचार २३।५-६।२१२

परमानन्द शास्त्री
सत्य से आदर्श की ओर २३।१।३१
साहित्य के प्रति उपेक्षा क्यों? २३।१।४०
सर्वोषधि दान २३।१।४६
साहित्य समीक्षा—जैन साहित्य का वृहत् इतिहास २३।१।४८
तिजारा : एक ऐतिहासिक परिचय २३।२।६५
माली रासो २३:२।६८
गोम्मटसार की पंजिका टीका २३।२।७२
दिल्ली पट्ट के मूल संघीय भट्टारक प्रभाचन्द्र २३।३।१२९
मथुरा के सेठ मनीराम २३।३।१३१
१३वीं शताब्दी के विद्वान हरिभद्र । एक अध्ययन २३।३।१३७
वीर शासन जयन्ती २३।२।८३
साहित्य समीक्षा—१. जैन शोध और समीक्षा
२. आराधना समुच्चय
३. जिन सहस्रनाम प्रदीप
४. महावीर जयन्ती स्मारिका
५. अणुव्रत (साधना विशेषांक) २३।२।९६
ब्रह्म यशोधर २३।३।१४१

पन्नालाल अग्रवाल
हिन्दी भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ २३।२।८२

पद्मनन्दि मुनि
जिनतरस्तवनम् २३।३।९७

प्रेमचन्द्र जैन
वीर शासन जयन्ती २३।२।९२

प्रेमचन्द धन्नूसा जैन
चित्तौड़ का जैन कीर्ति स्तम्भ २३।१।२०

प्रेम सुमन जैन (प्रो०)
कुवलयमाला मे उल्लिखित राजा अवन्ति २३।५-६।२२१
बालचन्द्र एम० ए०
आत्म समर्पण २३।२।७६
बालचन्द्र सिद्धांतशास्त्री
साहित्य समीक्षा
भारत और भारत २३।५-६।
सुसङ्गीत जैन पत्रिका २३।५-६
दिल्ली जैन डायरेक्टरी २३।५-६।
भागचन्द्र जैन 'भास्कर' (डा०)
ब्रह्म साधारण की पहली कृति कोइल पचमी कहा २३।१।२५
धर्म की कहानी : अपनी जबानी २३।१।३६
भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' (डा०)
इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे पवाजी २३।१।११
मंगलराम चिलकानावासी
उद्बोधक पद २३।३।१२१
महेन्द्रकुमार मुनि
पावा कहाँ ? गगा के दक्षिण में या उत्तर में २३।३।६८
श्री मारुतिनन्दन तिवारी
दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर की प्रतिमाएँ २३।५-६।२४२
मुक्ताप्रसाद जैनदर्शनाचार्य
जैन दर्शन मे आत्मद्रव्य विचार २३।५-६।२५१
मोहलाल बाठियां
चतुर्मास मध्य विहार : आचार्य श्री तुलसी २३।३।१४३
रतनलाल कटारिया
नलपुर का जैन शिलालेख २३।२।११०
नलपुर का जैन शिलालेख २३।४।१७४
रमेश जैन
राजस्थानी लोक-कथाओ में अभिप्राय और कथानक रूढ़ियों की सीमा रेखाएँ २३।३।१३३
रामवल्लभ सोमाणी
जंबूसामिचरिउ मे वर्णित गुर्ज्जरता प्रदेश २३।१।२
ऊपर गाँव का अप्रकाशित जैन लेख २३।२।८६
जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माता शाह जीजा २३।४।१५१
रायप्पा धरणप्पा टीकण्णवर
प्रमाणप्रमेयकलिका के रचयिता नरेन्द्रसेन २३।१ ४१
रूपचन्द कवि
एक पद २३।१।३५
वर्णीजी
आत्म-विश्वास २३।१।४५
विद्याधर जोहरापुरकर
गुणकीर्तिकृत विवेक विलास २३।२।६४
वी० के० आर० वी० राव (डा०)
तमिल व कन्नड़ साहित्य के निर्माण मे जैनाचार्यों का विशेष योगदान २३।१।३६
वीरेन्द्रकुमार जैन (डा०)
तिलक मजरी : एक प्राचीन कथा २३।५-६।२३५
शशिकान्त डा०
वत्स जनपद का राजनैतिक तथा सास्कृतिक इतिहास २३।५-६।२४६
समन्तभद्र आचार्य
श्रीवर्धमान जिनस्तुति २३।१।१
नमिजिनस्तुति २३।२।४९
आदिजिनस्तवनम् २३।४।१४५
श्रीअरिष्टनेमिजिनस्तवनम् २३।५-६।१९३
सुबोधकुमार जैन
वैदेही सीता २३।१।२५
शृगाल से सिद्ध २३।२।७६
सम्राट का अधूरा सपना २६।३।१२२
संकटाप्रसाद शुक्ल (डा०)
मृण्मूर्तिकला में नैगमेष २३।४।१७२

संस्थान समाचार

अनेकान्त की ओर से आप के लिए :

प्रस्तुत अङ्क के साथ अनेकान्त अपने २३ वर्ष पूर्ण कर रहा है। इस अवसर पर अनेकात की ओर से इसके पाठको, अनुशंसको, लेखको और आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले महानुभावो के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते है और आशा करते है कि आगामी वर्षों के लिए भी सभी की शुभ-कामनाएँ और सहयोग पूर्ववत् प्राप्त होगा।

अनेकान्त को और अधिक व्यापक तथा उपयोगी बनाने के उद्देश्य से विशेष दृष्टि सम्पन्न और अनुभवी विद्वानो का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे है और आशा है कि २४वे वर्ष के आरम्भ से ही अनेकात को विशेष स्वरूप दिया जा सकेगा।

पर इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आपका सहयोग। अनेकान्त की ग्राहक सख्या अत्यल्प है। इसलिए संचालक समिति मे कई बार यह प्रश्न आता है कि इसे चलाया जाये या बन्द कर दिया जाये। यदि किन्ही परिस्थितियों मे अनेकान्त को बन्द करने का निर्णय लिया गया तो निश्चय ही जैन विद्याओ के विविध क्षेत्रो मे अनुसधान करने वालो के लिए एक अपूरणीय क्षति होगी।

अतएव आपसे अनुरोध है कि आप अपना ग्राहक शुल्क तो तत्काल भेजे ही, अपने मित्रो तथा सम्बद्ध सस्थाओ को भी इसका ग्राहक बनने को प्रेरित करे। और यदि आप अनेकात के लिए विशेष आर्थिक सहयोग दे सके या अपने मित्रों से दिला सके तो हम आपके अत्यन्त कृतज्ञ होगे। आपसे यह भी अनुरोध है कि आप अपना बहुमूल्य अभिमत भी अवश्य भेजे कि अनेकान्त को और अधिक व्यापक, उपयोगी तथा स्वावलम्बी बनाने के लिए क्या प्रयत्न किए जाये।

वीर सेवा मन्दिर को केन्द्रीय शोध-संस्थान बनाने का संकल्प :

हमारी हार्दिक इच्छा है कि वीर सेवा मन्दिर को जैन विद्याओ के उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसधान के लिए केन्द्रीय शोध सस्थान के रूप मे विकसित किया जाये तथा इसके द्वारा सचालित होने वाले शोध कार्यो को और अधिक व्यापकता देने के लिए इसे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किया जाये।

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक स्व० आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार साहब तथा बहुत समय तक सस्था के कार्य का सचालन करने वाले अध्यक्ष स्व० बाबू छोटेलाल जी ने प्राचीन जैन साहित्य, सस्कृति, पुरातत्त्व के अन्वेषण के जो महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ किए थे उनको आगे बढाने तथा कार्य की नयी योजनाएँ बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सस्था को एक ओर जैन-दर्शन, साहित्य, सस्कृति और पुरातत्त्व के विशिष्ट विद्वानो का सहयोग प्राप्त हो, दूसरी ओर ऐसे श्रीमानो का सहयोग उपलब्ध हो जो इन योजनाओ को आगे बढाने तथा पूरा कराने मे आर्थिक सहयोग करे।

वीर सेवा मन्दिर की वर्तमान कार्य-प्रवृत्तियो को किस प्रकार गति दी जाए तथा केन्द्रीय शोध सस्थान के रूप मे विकसित करने के लिए क्या प्रयत्न किए जाएँ, इस सम्बन्ध मे विचार करने और रिपोर्ट देने के लिए कार्य-समिति की पिछली बैठक मे एक उपसमिति बनायी गयी थी, जिसके चार सदस्य थे— डा० आ० ने० उपाध्ये, डा० गोकुलचन्द्र जैन, श्री यशपाल जैन, श्री बंशीधर शास्त्री। उपसमिति की रिपोर्ट प्राप्त हो गई है तथा उसे क्रियान्वित करने के सम्बन्ध मे अपेक्षित कार्रवाई की जा रही है।

समाज के विद्वानो और श्रीमानो से विनम्र अनुरोध है कि राजधानी मे जैन विद्याओ के अध्ययन-अनुसन्धान के लिए वीर सेवा मन्दिर को केन्द्रीय शोध सस्थान का स्वरूप देने मे अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करे।

—व्यवस्थापक

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद मे युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक ·१६

अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।